श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान प्रकाशन : १

आचार्य समन्तभद्र द्वारा विरचित

आप्तमीमांसा

की

तत्त्वदीपिका

नामक व्याख्या

लेखक तथा सम्पादक

प्रो० उदयचन्द्र जैन एम० ए०

जैनदर्शनाचार्य, बौद्धदर्शनाचार्य, सर्वदर्शनाचार्य

सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ

प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान संकाय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान

प्रकाशक
श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान
नरिया, वाराणसी



प्रथम संस्करण १०००
वीर नि० सं० २५०१



मूल्य : बीस रुपये



मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कॉलोनी
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी—१

TATTVADIPIKA

A Commentary with Introduction etc.

On

ĀPTAMIMAMSA

Of

Acharya Samantabhadra

by

Prof. Udayachandra Jain M. A.
Acharya (Jaindarshan, Bauddhadarshan & Sarvadarshan)
Siddhantashastri, Nyayatirtha
Faculty of Oriental Learning & Theology
Banaras Hindu University

SHREE GANESH VARNI D. JAIN SANSTHAN

श्री वर्णी संस्थान ग्रन्थ प्रकाशन लिये
दान ाताओं द्वारा स्वीकृत दान-सूची

१. श्री श्रीमन्त सेठ भगवान दास, शोभालालजी द्वारा प्राप्त श्री भगवानदास शोभालाल चेरिटेबिल ट्रस्ट १००१), इन्द्रानी बहू ट्रस्ट ५०१), अमव... एक एक धर्मबन्धु १०५)	१६०७)
२. सतना के कतिपय धर्मबन्धु	१००१)
३. श्री सेठ रूपचन्द्र जी जबलपुरवाले, विदिशा	७५१)
४. श्री पं० ...लाबचन्द्र जी दर्शनाचार्य, जबलपुर	५०१)
५. श्री स० सि० धन्य...मारजी, कटनी	२०१)
६. श्री सिंघई श्रीन...लालजी जैन रईस, बीना	१२५)
७ श्री नायक ...भालालजी, बीना	१०१)
८. श्री पं० गोरेलाल ...मलालजी, सा० ललितपुर	१०१)
९. श्री डॉ० अरविन्द ...मारजी	१०१)
	४४८९)

ग्रन्थानुक्रम

समन्तभद्र-स्तवन

[१]

गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती॥

—आचार्य वीरनन्दि

[२]

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः॥

—[illegible]

[३]

समन्तभद्रादिमहाकवीश्वरा कुवादिविद्याजयलब्धकीर्तयः।
सुतर्कशास्त्रामृतसारसागरा मयि प्रसीदन्तु कवित्वकांक्षिणि॥

—वर्धमानसूरि

[४]

सरस्वती-स्वैरविहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः।
जयन्ति वाग्वज्रनिपातपाटितप्रतीप-सिद्धान्तमहीध्रकोटयः॥

—महाकवि वादीभसिंह

[५]

समन्तभद्रोऽजनि भद्रमूर्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य।
यदीयवाग्वज्रकठोरपातश्चूर्णीचकार प्रतिवादिशैलान्॥

—श्रवणबेल्गोल, शिलालेख नं० १०८

[६]

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते॥

—वादिराजसूरि

[७]

समन्तभद्रः संस्तुत्यः कस्य न स्यान्मुनीश्वरः।
वाराणसीश्वरस्याग्रे निर्जिता येन विद्विषः॥

—[illegible] ८, शिलालेख नं० ५

जिन गुरुवर श्री गणेशप्रसाद वर्णी महाराजने जैन-संस्कृतिके अप्रतिम उद्गम श्री स्याद्वाद महाविद्यालयकी स्थापना करके उसका छात्रत्व अंगीकार किया था और अपने विद्यागुरु श्री पं० अम्बादासजी शास्त्रीके पास 'आप्तमीमांसा' और उसकी टीका अष्टसहस्री' का पाठ समाप्त होने पर—

'यदि मेरे पास राज्य होता तो मैं उसे भी आपके चरणों-में समर्पित कर तृप्त नहीं होता'

कहते हुए महार्घ हीरेकी अँगूठी उनके चरणोंमें समर्पित कर दी—

उन्हीं

गुरूणां गुरु, परम त्यागी, आध्यात्मिक सन्त

श्री १०८ गणेश वर्णी महाराजकी

पुण्य स्मृतिमें

उनके जन्मशती पर्व पर—

'आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका' नामक कृति

सविनय समर्पित

वर्णी-परिचय

महान् आध्यात्मिक सन्त उदारमना पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज इस युगके सर्वप्रिय लोकोन्नायक महापुरुष हुए हैं। यद्यपि वर्णीजीका जन्म एक साधारण वैश्य कुलमें हुआ था, किन्तु उनको जैनधर्ममें कुछ ऐसी विशेषताएँ प्रतीत हुईं जिनके कारण उन्होंने दस वर्षकी अल्प आयुमें ही रात्रि-भोजनके त्यागपूर्वक जैनधर्मको विधिवत् अंगीकार कर लिया था। जैन-वाङ्मयका परिचय प्राप्त करनेके लिए उन्होंने युवावस्थामें ही माता, पत्नी आदिके प्रति ममत्व छोड़कर शास्त्रज्ञ और त्यागी विद्वानोंके साथ धर्मचर्चामें अधिकांश समय बिताया तथा धर्ममाता चिरोंजाबाईका असाधारण मातृत्व प्राप्त करके ज्ञानपिपासाकी शान्तिके लिए जयपुर, खुरजा, नवद्वीप आदि प्रमुख विद्याकेन्द्रोंमें पहुँचकर संस्कृत-वाङ्मयके विविध अंगोंका विशेष अध्ययन किया। और अन्तमें वाराणसी में श्री स्याद्वाद महाविद्यालयकी स्थापना कर स्वयं उसके प्रथम छात्र बने। तथा न्यायाध्यापक गुरु अम्बादासजी शास्त्रीके पास न्यायशास्त्रका विधिवत् अध्ययन किया। और समग्र जैन-समाजमें संस्कृत-साहित्य, व्याकरण, न्याय, दर्शन, धर्म आदि विविध विषयोंके सांगोपांग अध्ययन-अध्यापनके लिए सागर, जबलपुर, द्रोणगिरि आदि अनेक स्थानोंमें विद्याकेन्द्रोंकी स्थापना की।

आज समाजमें जो प्रतिष्ठित विद्वान् दृष्टिगोचर हो रहे हैं उन सबकी वर्णीजीके साक्षात् शिष्यों और शिष्य-परम्परामें गणना होती है। वर्णीजी ने समाज और संस्कृतिकी महती सेवा की है। उनका जीवन एक आदर्श जीवन रहा है। लघुसे महान् कैसे बना जाता है यह उनके जीवनसे सीखा जा सकता है। वर्णीजी जहाँ ज्ञानके धनी थे वहीं सत्य और स्वतंत्र विचारोंमें भी सुदृढ़ थे। सन् १९४५ में जबलपुरमें आजाद हिन्द सेनाके सैनिकोंके रक्षार्थ सम्पन्न हुई सभामें वर्णीजीने अपने ओढ़नेकी चादर-को समर्पित करके कहा था कि आजाद हिन्द सेनाके सैनिकोंका बाल भी बाँका नहीं हो सकता है। और वही हुआ जो उन्होंने कहा था।

वर्णीजीका जन्म हँसेरा (झाँसी) में वि० सं० १९३१ में हुआ था और वि० सं० २०१८ में ईसरी (बिहार) में वे समाधिमरणपूर्वक स्वर्गवासी हुए। उनके समग्र जीवनको अनुगम करनेके लिए उनके द्वारा लिखित 'मेरी जीवन-गाथा' (दो भाग) पठनीय है तथा उनके सद्‌विचारों-का मनन करनेके लिए वर्णी-वाणी (चार भाग) स्वाध्याय करने योग्य है।

प्रकाशकीय

श्री प्रो० उदयचन्द्रजी सितम्बर '७४ के द्वितीय सप्ताहमें अपनी रचना 'आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका' की पाण्डुलिपि लेकर मेरे पास आये और कहने लगे कि वर्णी-शताब्दीके अवसर पर इसका प्रकाशन हो जाय तो उत्तम रहेगा। मैं इनकी योग्यता तथा बुद्धिमत्तासे पहलेसे ही परिचित हूँ। आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिकाकी पाण्डुलिपिको देखकर यह अनुभव हुआ कि यह कृति प्रकाशनके सर्वथा योग्य है। अतः मैंने श्री वर्णी-संस्थान के अध्यक्षकी अनुमतिपूर्वक वर्णी-संस्थान द्वारा इसके प्रकाशनको स्वीकार कर लिया। वर्णी-संस्थान एक नूतन संस्था है और अभी इसके पास प्रकाशनके लिए कोई पृथक् कोष नहीं है। प्रायः शोध-छात्रवृत्ति कोष ही इसके पास है। अतः मैंने यह निश्चय किया कि छात्र-वृत्ति कोषमेंसे धन खर्च न करके इसके प्रकाशनके लिए पृथक्से धनकी व्यवस्था होनी चाहिए। और इसी निश्चयके अनुसार इसका प्रकाशन किया गया है।

यह कृति कैसी है इसका विशेष निर्णय तो पाठक ही करेंगे, किन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि इसके लिखनेमें लेखकने विशेष श्रम किया है। जो अध्येता विद्वान् जैनदर्शनके सिद्धान्तोंको समझना चाहते हैं उन्हें इसके अध्ययनसे अवश्य ही लाभ होगा। जैन विद्वानों तथा जिज्ञासुओंको भी इसके अध्ययनसे अन्य दर्शनोंके साथ जैनदर्शनके सिद्धान्तोंके समझनेमें सरलता होगी, ऐसा मुझे विश्वास है। यह कृति स्वतः इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसके महत्त्वको ध्यानमें रखकर ही जैनदर्शनके प्रकाण्ड विद्वान् पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने इसका प्राक्कथन लिखा है। तथा बौद्धदर्शन और पालिके ख्यातिप्राप्त विद्वान् भिक्षु जगदीश जी काश्यपने इसका मूल्यांकन लिखा है। साथ ही पाश्चात्य दर्शनके विद्वान् डॉ० रमाकान्तजी त्रिपाठीने अंग्रेजीमें भूमिका, भारतीय दर्शनके विद्वान् पं० केदारनाथजी त्रिपाठीने संस्कृतमें 'शुभाशंसनम्' और बौद्धदर्शनके विद्वान् पं० जगन्नाथजी उपाध्यायने पुरोवाक् लिखा है। तथा श्री बाबूलालजी फागुल्लने अल्प समयमें ही इसका आकर्षक मुद्रण करके इसके शीघ्र प्रकाशनमें पूर्ण योग दिया है।

आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका ग्रन्थका प्रकाशन वर्णी संस्थानसे हो जाय इस आशयका प्रस्ताव मेरे सामने उपस्थित होने पर मैंने तत्काल समाज-

के श्रीमन्त सेठ भगवानदास शोभालालजी सागर, श्री सेठ … बीड़ीवाले विदिशा, श्री पं० … लालचन्द्रजी … एम० ए०, जबलपुर तथा सतना, कटनी और बीनाके अपने मित्रोंसे सम्पर्क स्थापित किया। परिणामस्वरूप इस ग्रन्थके प्रकाशनके लिए उक्त तथा दूसरे महानुभावोंसे दानस्वरूप जो द्रव्य प्राप्त हुआ उसके लिए हम उनके विशेष आभारी हैं। द्रव्य-दाताओं द्वारा प्राप्त दानकी सूची पृथक्से मुद्रित है।

हर्षकी बात है कि भगवान् महावीरकी पच्चीसवीं निर्वाण-शताब्दी वर्षमें वर्णी-शताब्दीके अवसर पर वर्णी-संस्थान द्वारा इसका प्रकाशन हुआ है। यह वर्णी-संस्थानका प्रथम प्रकाशन है। आशा है राष्ट्रभाषामें लिखित इस महत्त्वपूर्ण दार्शनिक कृतिका दर्शनके अध्येताओं द्वारा समुचित समादर होगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि अभीतक आप्तमीमांसा पर हिन्दीमें जो व्याख्याएँ लिखी गयी हैं उनमें इस व्याख्याकी कुछ महत्त्वपूर्ण ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण यह सबके लिए लाभप्रद तथा प्रिय होगी। और अन्य दार्शनिक विद्वान् भी इसका समुचित मूल्यांकन कर जैनदर्शनकी दार्शनिक मीमांसाको अनुगम करनेमें समर्थ होंगे।

वाराणसी
२५-१-७५

उपाध्यक्ष
श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान

आत्म-निवेदन

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमालाकी प्रबन्धकारिणी समितिने अनेक वर्ष पूर्व एक प्रस्ताव पास करके मेरे द्वारा लिखित 'आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका' को प्रकाशनार्थ स्वीकार कर लिया था। कई वर्ष तक इसकी पाण्डुलिपि वर्णी ग्रन्थमालाके मंत्रीजीके पास प्रकाशनार्थ रक्खी भी रही। किन्तु अभी तक वर्णी ग्रन्थमालाकी ओरसे इसका प्रकाशन नहीं किया गया। अतः सितम्बर '७४ में मैंने वर्णी ग्रन्थमालाके मंत्रीजी-से अपनी रचनाकी पाण्डुलिपि वापिस ले ली। मेरी इच्छा थी कि भगवान् महावीरकी पच्चीसवीं निर्वाण-शताब्दी वर्षमें पूज्य १०८ गणेश वर्णी महाराजकी जन्म-शताब्दीके पुण्य पर्व पर इसका प्रकाशन हो जाय तो उत्तम रहेगा। और यह सब पूज्य वर्णीजीके पुण्य-प्रताप और आशीर्वाद-का ही फल है जिसके कारण इस ग्रन्थका प्रकाशन इतने शीघ्र सम्भव हो सका है। उत्तर कालमें ही नहीं किन्तु विद्यार्थी जीवनमें भी मुझे पूज्य वर्णीजीका स्नेह और आशीर्वाद प्राप्त रहा है। और उनके द्वारा संस्थापित श्री स्याद्वाद महाविद्यालयमें अध्ययन करके ही मैं कुछ योग्य बन सका हुँ। अतः वर्णी-शतीकी पुनीत मंगल वेलामें श्री व[illegible]स्थान-की ओरसे इसके प्रकाशन द्वारा प्रातःस्मरणीय पूज्य वर्णीजीकी पुण्य-स्मृतिमें इसको समर्पित करके मैं अपनेको कृत्यकृत्य अनुभव कर रहा हूँ।

वर्णी-ग्रन्थमालाके मंत्रीजीसे पाण्डुलिपि प्राप्त करनेके अनन्तर मैंने श्री गणेश वर्णी जैन संस्थानके उपाध्यक्ष श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पं० फूल-चन्द्रजी शास्त्रीसे इसके प्रकाशनके लिए निवेदन किया। परम हर्षकी बात है कि आपने मेरे निवेदन पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया और [illegible] प्रकाशनकी व्यवस्था करके जिस महती श्रुतनिष्ठा और आत्मीयताका परिचय दिया उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। आप मेरे गुरुतुल्य हैं और प्रारम्भसे ही मेरी प्रगतिके लिए तन, मन और धनसे सदैव उद्यत रहे हैं।

श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री तो मेरे विद्यागुरु और पथ-प्रदर्शक रहे हैं। मैं जो कुछ भी हूँ वह आपकी ही [illegible] प्रतिफल है। प्रारम्भसे ही मेरे ऊपर आपका विशेष स्नेह रहा है और आपका आशीर्वाद तो मुझे सदा ही प्राप्त रहा है। काशीको अपना कार्य-

ग्रन्थ लेखन करनेमें भी आपकी पवित्र प्रेरणा ही मूलमें रही है। आप्त-मीमांसाके कई कठिन स्थलोंके विषयमें मैंने आपसे अनेक बार घण्टों तक परामर्श किया और आपने कई दिन तक अपना अमूल्य समय देकर अनेक उपयोगी परामर्श दिये। प्राक्कथन लिखकर तो आपने मेरे ऊपर जो अनुग्रह किया है वह चिरस्मरणीय रहेगा।

आदरणीय भिक्षु जगदीशजी काश्यप काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें मेरे केवल अध्यापक ही नहीं रहे, किन्तु प्रारम्भसे ही विशेष स्नेहके कारण परम हितैषी भी रहे हैं। यही कारण है कि जब आपने सन् १९५१ में बिहार शासनके सहयोगसे नालन्दामें पालि-संस्थानकी स्थापना की और आप उसके प्रथम निदेशक हुए तो उस समय उस संस्थामें मुझे नियुक्त करनेके विषयमें आपने मुझे लिखा था। यतः मैं उस समय धार (म० प्र०) में था अतः अपनी विवशताके कारण नालन्दा नहीं पहुँच सका था। फिर भी आप मुझे भूले नहीं, और सन् १९६१ में आपने मुझे नव नालन्दा महाविहारकी महापरिषद्का सदस्य बनाया। इससे आपकी मेरे प्रति आत्मीयताका आभास मिलता है। प्रसन्नताकी बात है कि आपने मेरे अनुरोधको स्वीकार करके अस्वस्थ होते हुए भी प्रस्तुत कृति पर मूल्यांकन लिख कर मुझे अनुगृहीत किया है। आपकी यह आत्मीयता और स्नेह सदा ही अविस्मरणीय रहेंगे।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें दर्शन-विभागके प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष डॉ० रमाकान्तजी त्रिपाठीने अंग्रेजीमें Foreword (भूमिका) लिखनेका अनुग्रह किया है, तथा प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान संकायमें दर्शन-विभागाध्यक्ष पं० केदारनाथजी त्रिपाठीने संस्कृतमें 'शुभाशंसनम्' लिखनेकी कृपा की है, और संस्कृत विश्वविद्यालयके प्रोफेसर एवं पालि-विभागाध्यक्ष पं० जगन्नाथजी उपाध्यायने पुरोवाक् लिखकर अनुगृहीत किया है। इस प्रकार उच्च कोटिके पाँच विद्वानों द्वारा लिखित मूल्यांकन, प्राक्कथन आदिसे निश्चित ही यह कृति समन्वित हुई है।

श्रीमान् प्रो० खुशालचन्द्रजी गोरावालाका प्रारम्भसे ही मेरे ऊपर अनुज तुल्य स्नेह रहा है। वे हम सबके आदरणीय बड़े भाई हैं। इसलिए हम लोग उनको 'भाई साहब' ही कहते हैं। आपने गत वर्ष कई बार कहा कि 'आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका' को प्रकाशित करनेके लिए क्यों नहीं कहते। यदि वर्णी ग्रन्थमालासे इसका प्रकाशन सम्भव न हो तो इसके लिए कोई दूसरी व्यवस्था की जा सकती है। आपकी उत्कट

अभिलाषा थी कि इसका प्रकाशन शीघ्र हो। अतः इसके प्रकाशनमें तथा [illegible] महत्त्वपूर्ण बनानेमें आपका विशेष योग रहा है। अन्तमें अपने प्रारम्भिक गुरु और अग्रज सहयोगी डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया का साभार स्मरण किये बिना इस प्रकाशन-प्रकरणको पूर्ण करना मेरे लिए सम्भव नहीं है।

श्री भाई बाबूलाल जी फागुल्ल मेरे सहपाठी हैं। हम लोगोंमें प्रारंभ से ही दो भाइयोंकी तरह स्नेहपूर्ण सम्बन्ध रहा है, जो उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया है। आपने बड़ी ही तत्परतासे मेरी रचनाको शीघ्र मुद्रित करनेकी जो कृपा की है वह सदैव स्मरणीय रहेगी। यह कहनेकी तो कोई आवश्यकता नहीं है कि आपके प्रेसमें कलापूर्ण, सुन्दर तथा आकर्षक मुद्रण होता है।

मैं उक्त सभी गुरुजनों और हितैषी महानुभावोंका आभार किन शब्दोंमें व्यक्त करूँ। मैं तो यही अनुभव करता हूँ कि मैंने जो कुछ सीखा तथा अपने जीवनमें जो कुछ थोड़ी-सी प्रगति की वह सब अपने गुरुजनों और हितैषी महानुभावोंके आशीर्वाद और कृपाका ही फल है।

आप्तमीमांसा, अष्टशती और अष्टसहस्री इन तीनोंका विषय अत्यन्त क्लिष्ट है। मैंने अष्टशती और अष्टसहस्रीके प्रकाशमें आप्त-मीमांसाके तत्त्वोंको तत्त्वदीपिकामें स्पष्ट करनेका प्रयास किया है। फिर भी विषयकी क्लिष्टता तथा गूढ़ताके कारण अनेक स्थलोंमें त्रुटियोंका होना सम्भव है। अतः विज्ञ पाठकोंसे अनुरोध है कि वे मेरी त्रुटियोंके विषयमें मुझे सूचित करनेकी कृपा करें जिससे भविष्यमें उनको सुधारा जा सके।

वाराणसी
२६ जनवरी, १९७५

उदयचन्द्र जैन

प्राक्कथन

भगवान् बुद्धने अपने अनुयायियोंसे कहा था—

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्॥

अर्थात् हे भिक्षुओ! ये बुद्धके वचन हैं इस कारण इन्हें कभी ग्रहण न करो, किन्तु स्वर्णकी तरह इनकी परीक्षा करनेके बाद ही इन्हें स्वीकार करो। उन्होंने यह भी कहा था कि बोधिसत्त्वको युक्तिशरण होना चाहिए, पुद्गलशरण नहीं। अर्थात् युक्तिकी सहायतासे तथ्यका निर्णय करना चाहिए, किसी पुरुष विशेषका आश्रय लेकर नहीं। इसी प्रकार आचार्य समन्तभद्रने भी देवागमादि विभूतियोंके कारण तथा तीर्थंकरत्वादि विशेषताओंके कारण अपने आप्तको स्तुत्य स्वीकार नहीं किया। किन्तु उनके वीतरागता, सर्वज्ञता आदि गुणोंकी परीक्षा करनेके बाद ही उन्हें आप्त (यथार्थ वक्ता) के रूपमें स्वीकार किया है। यही आप्तमीमांसाका सार है।

प्रिय शिष्य श्री उदयचन्द्र जैन द्वारा लिखित 'आप्तमीमांसा' की 'तत्त्वदीपिका' नामक व्याख्याका अवलोकन कर चित्तमें अत्यन्त आनन्द-का अनुभव हुआ। ये जैनदर्शन तथा बौद्धदर्शनके प्रौढ़ विद्वान् तो हैं ही, साथ ही अन्य भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शनके भी विद्वान् हैं। आचार्य समन्तभद्रकी आप्तमीमांसामें केवल जैनदर्शनके ही सिद्धान्तोंका विवेचन नहीं है, किन्तु इसमें पूर्वपक्षके रूपमें बौद्ध, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त आदिके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करके जैनदर्शनके प्रमुख सिद्धान्त स्याद्वादन्यायके अनुसार उनका समन्वय किया गया है। श्री उदयचन्द्रजीने तत्त्वदीपिकामें उन सब विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला है जो आप्तमीमांसामें केवल सूत्ररूपमें उपलब्ध होते हैं, किन्तु उसकी टीका अष्टशती और अष्टसहस्रीमें जिनका विस्तारसे प्रतिपादन किया गया है। इन्होंने इस ग्रन्थमें सरल भाषामें आप्तमीमांसाके जिन निगूढ़ दार्शनिक तत्त्वोंकी विशद व्याख्या की है उससे इनकी सर्वदर्शनीय गहन विद्वत्ता तथा अध्ययनशीलता परिलक्षित होती है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थके अध्ययनसे न केवल जैन, बौद्ध, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त आदिकी दार्शनिक मान्यताओंका ज्ञान प्राप्त होगा, अपि तु दार्शनिक क्षेत्रमें प्रस्तुत ग्रन्थका एक नितान्त महत्त्वपूर्ण रचनाके रूपमें समादर होगा।

सारनाथ
२५–१२–७४

मू० पू० निदेशक
नव नालन्दा महाविहार

प्राक्कथन

वक्ताकी प्रामाणिकतासे ही वचनोंकी प्रामाणिता मानी जाती है। इसीसे आचार्य माणिक्यनन्दिने अपने 'परीक्षामुख' नामक सूत्र-ग्रन्थमें आप्तके वचन आदिसे होनेवाले ज्ञानको आगम प्रमाण कहा है और परीक्षामुखके व्याख्याता आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने व्याख्या-ग्रन्थ 'प्रमेय-कमलमार्तण्ड' में 'जो जिस विषयमें अवंचक है वह उस विषयमें आप्त है', ऐसा कहा है। अतः किसी धर्मपर श्रद्धा करनेसे पूर्व विचारशील व्यक्ति उसके प्रवक्ताकी प्रामाणिकताकी परीक्षा करे तो यह उचित ही है।

जैनधर्म न तो किसी अनादि शाश्वत ऐसे ईश्वरकी ही सत्ता स्वीकार करता है, जो इस विश्वको रचता है और प्राणियोंको उनके कर्मानुसार स्वर्ग या नरक भेजता है, और न तथोक्त अपौरुषेय वेदको ही प्रमाण मानता है। अतः जैनधर्म इन दोनोंकी उपज न होकर ऐसे महामानवकी देन है, जो निर्दोष शुद्ध परमात्मपद प्राप्त कर चुका है, किन्तु अभी मुक्त नहीं हुआ है। उसे ही अर्हन्, तीर्थंकर आदि कहते हैं। उसका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

> मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
> ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

अर्थात् जो मोक्षमार्गका नेता है, कर्मरूपी पर्वतोंका भेदन करनेवाला है और विश्वके तत्त्वोंका ज्ञाता है उसे उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए मैं नमस्कार करता हूँ।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि संसारमें परिभ्रमण करनेवाला जीव जब मोक्षमार्गमें लगकर अपने प्रयत्नोंसे कर्मोंकी शृंखलाको तोड़ देता है तब वह वीतराग और विश्वतत्त्वोंका ज्ञाता (सर्वज्ञ-सर्वदर्शी) होकर मोक्षके मार्गका उपदेश करता है। वह मोक्षमार्ग ही धर्म कहा जाता है।

असत्य प्रतिपादनका कारण अज्ञान तो है ही, किन्तु राग-द्वेषके वशीभूत होकर ज्ञानी भी असत्य बोलता है। जो अज्ञानवश असत्य बोलता है वह तो क्षम्य हो सकता है, परन्तु जो राग-द्वेषवश असत्य बोलता है वह अक्षम्य है। अतः पूर्ण ज्ञानके साथ पूर्ण वीतराग भी

होना आवश्यक है। इसके बिना जैन आप्तता सम्भव नहीं है। वेद-प्रामाण्यवादी ऐसे पुरुषकी सत्ता स्वीकार नहीं करते और धर्ममें केवल वेदके ही प्रामाण्यको स्वीकार करते हैं। कुमारिलने अपने पूर्वज जैनाचार्य समन्तभद्रके द्वारा प्रस्थापित पुरुषकी सर्वज्ञताका विस्तारसे खण्डन किया है, और कुमारिलका खण्डन समन्तभद्रके व्याख्याकार अकलंक और विद्यानन्दने विस्तारसे किया है।

आचार्य समन्तभद्रने 'आप्तमीमांसा' के नामसे ११४ कारिकाओंमें एक प्रकरण ग्रन्थ रचा है, जिसमें आप्तकी मीमांसा करते हुए एकान्तवादी दर्शनोंकी समीक्षा की है। साथ ही अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा की है। इसीसे उन्हें स्याद्वादका प्रतिष्ठाता तक कहा जाता है। उनके इस ग्रन्थ पर आचार्य अकलंकने, जिन्हें जैन प्रमाणव्यवस्थाका प्रतिष्ठाता कहा जाता है, अष्टशती नामक भाष्य रचा है और उस भाष्यको आत्मसात् करते हुए आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके रूपमें एक अमूल्य निधि प्रदान की है। ये तीनों ही आचार्य प्रखर तार्किक थे।

आचार्य विद्यानन्दका मन्तव्य है कि आप्तके स्वरूपको दर्शानेवाले ऊपर उद्धृत मंगल श्लोकको ही दृष्टिमें रखकर समन्तभद्रने आप्तमीमांसा की रचना की है। उक्त श्लोक 'तत्त्वार्थसूत्र' की सभी हस्तलिखित प्रतियोंके प्रारम्भमें पाया जाता है और तत्त्वार्थसूत्रकी आद्य वृत्ति सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमें भी पाया जाता है। अतः जब एक पक्ष उसे सूत्रकारकी कृति मानता है, तब एक पक्ष ऐसा भी है जो उसे वृत्तिकारकी कृति मानता है, और इस तरह वह पक्ष आचार्य समन्तभद्रको पूज्यपाद देवनन्दिके, जो सर्वार्थसिद्धिके रचयिता हैं, पश्चात्‌का मानता है। किन्तु आचार्य विद्यानन्दके उल्लेखोंसे यही स्पष्ट होता है कि वे उक्त मंगल श्लोकको सूत्रकारकी ही कृति मानते हैं।

आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके प्रारम्भमें श्री वर्धमान स्वामीको नमस्कार करते हुए अपनी कृतिको 'शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसित' कहा है। इस पदकी व्याख्या करते हुए उन्होंने 'शास्त्रावताररचितस्तुति' का अर्थ 'मङ्गलपुरस्सरस्तव' किया है। उसकी व्याख्या करते हुए कहा है—मंगल है पूर्वमें जिसके उसे मंगलपुरस्सर कहते हैं। अर्थात् शास्त्रके अवतारकालमें रची गई स्तुति 'मङ्गलपुरस्सरस्तव' है, ऐसी उसकी व्याख्या है। अतः मंगलपुरस्सरस्तवका विषयभूत जो परम आप्त है उसके गुणातिशयकी परीक्षाको तद्विषयक आप्तमीमांसित जानना चाहिए।

इस तरह 'शास्त्रावतार रचित स्तुतिगोचराप्तमीमांसित' पदकी व्याख्या करनेके पश्चात् आचार्य विद्यानन्द कहते हैं—

'इस प्रकार निःश्रेयसशास्त्र (मोक्षशास्त्र) के आदिमें मंगलके लिए तथा मोक्षका निमित्त होनेसे मुनियोंके द्वारा संस्तुत निरतिशय-गुणशाली भगवान् आप्तके द्वारा 'देवागमादि विभूतियोंसे मैं स्तुत्य क्यों नहीं हूँ' मानों ऐसा पूँछा जानेपर आत्महित मोक्षमार्गको चाहनेवाले मुमुक्षुजनोंके सम्यक् और मिथ्या उपदेशकी प्रतिपत्तिके लिए आप्तमीमांसाकी रचना करनेवाले आचार्य समन्तभद्र कहते हैं'।

यह आप्तमीमांसाके प्रथम श्लोककी उत्थानिका है। इस उत्थानिका-में निःश्रेयसशास्त्रके आदिमें मुनियोंके द्वारा संस्तुत जो आप्त कहा गया है वह तत्त्वार्थसूत्रको लक्ष्य करके ही कहा गया है। इसीका दूसरा नाम मोक्षशास्त्र भी है। तत्त्वार्थसूत्रकी व्याख्या सर्वार्थसिद्धिका नाम मोक्ष-शास्त्र नहीं है।

अपनी आप्तपरीक्षामें भी विद्यानन्दने कहा है—

इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तुतिगोचरा।
प्रणीताप्तपरीक्षेयं विवादविनिवृत्तये॥

अर्थात् तत्त्वार्थशास्त्रके आदिमें किये गए जिनदेवके स्तवनको लेकर यह आप्तपरीक्षा विवादको दूर करनेके लिए रची गई है।

इस प्रकार आचार्य विद्यानन्दके मन्तव्यानुसार समन्तभद्राचार्यने तत्त्वार्थसूत्र अपरनाम मोक्षशास्त्रके आदिमें संस्तुत आप्तकी मीमांसा करने के लिए आप्तमीमांसा रची थी। अतः वे सूत्रकारके पश्चात् और वृत्तिकार देवनन्दिसे पूर्वमें हुए हैं।

कुमारिलके पूर्वज शबरस्वामीने अपने शाबर भाष्यमें कहा है—

'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थमवगमयितुमलम्।' (शा० भा० १।१।२)

अर्थात् वेद भूत, वर्तमान, भावी तथा सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंका ज्ञान करानेमें समर्थ है।

आचार्य समन्तभद्रने कहा है—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥

—आप्तमीमांसा का० ५।

अर्थात् सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती अर्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं, अनुमेय होनेसे। जैसे अग्नि। इस प्रकार सर्वज्ञकी सम्यक् स्थिति सिद्ध होती है।

शबरस्वामी जो श्रेय वेदको देते हैं वही श्रेय समन्तभद्र पुरुष विशेष-को देते हैं और वही उनका आप्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि शाबर-भाष्यकी उक्त पंक्तिका उत्तर देनेके लिए ही समन्तभद्रने आप्तमीमांसा रची है। शबरस्वामीका समय २५०–४०० ई० माना जाता है और यही समय समन्तभद्रका भी है।

आप्तमीमांसामें विभिन्न एकान्तोंकी परीक्षाके द्वारा जैन आप्त-प्रतिपादित स्याद्वादन्यायकी प्रतिष्ठा की गई है। यद्यपि स्वामी समन्त भद्रने अपने आप्तको निर्दोष और युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् बतलाया है तथा निर्दोष पदसे 'कर्मभूभृद्भेतृत्व' और 'युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्' पदसे सर्वज्ञत्व उन्हें अभीष्ट है और दोनोंकी सिद्धि भी उन्होंने की है। किन्तु उनकी सारी शक्ति तो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्के समर्थनमें ही लगी है। उनका आप्त इसलिए आप्त नहीं है कि वह कर्मभूभृद्भेत्ता है या सर्वज्ञ है। वह तो इसीलिए आप्त है कि उसका इष्ट तत्त्व प्रमाणसे बाधित नहीं होता है। अपने आप्तकी इसी विशेषताको दर्शाते-दर्शाते तथा उसका समर्थन करते-करते वे ११३वीं कारिका तक आ पहुँचते हैं, जिसका अन्तिम चरण है—'इति स्याद्वादसंस्थितिः।' यह स्याद्वाद-संस्थिति ही उन्हें अभीष्ट है और यही आप्तमीमांसाका मुख्य ही नहीं किन्तु एकमात्र प्रतिपाद्य विषय है।

आचार्य समन्तभद्रकी इस आप्तमीमांसाकी हिन्दीमें कई व्याख्याएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। सम्भवतः यह चतुर्थ व्याख्या है। इसके लेखक प्राध्यापक श्री उदयचन्द्र जी जैनदर्शन, बौद्धदर्शन और सर्वदर्शनके आचार्य होनेके साथ दर्शनशास्त्रमें एम० ए० भी हैं। और १४ वर्षोंसे हिन्दू विश्वविद्यालयके संस्कृत महाविद्यालयमें बौद्धदर्शनके प्राध्यापक हैं। उनको 'आप्तमीमांसा', 'अष्टशती' और 'अष्टसहस्री' में चर्चित सभी दर्शनोंका तलस्पर्शी ज्ञान है। उन्होंने आप्तमीमांसाके विशेषार्थोंमें अष्ट-शती और अष्टसहस्रीका उपयोग करके इस व्याख्याको विशेष उपयोगी बनानेका प्रयत्न किया है। प्रारम्भकी तृतीय कारिकाकी व्याख्यामें उन्होंने सभी दर्शनोंका सामान्य परिचय करा दिया है। इससे पाठकोंको सब दर्शनोंके मन्तव्योंको समझनेमें सुगमता होगी।

आप्तमीमांसा केवल आप्तकी ही मीमांसा नहीं है, किन्तु आप्तके व्याजसे समस्त दर्शनोंकी मीमांसा है। साथ ही जैनदर्शनके प्राण स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, सप्तभंगीवाद और नयवादको समझनेकी तो कुञ्जी है। इस एक ग्रन्थके अवगा[illegible]नसे समस्त भारतीय दर्शनोंका सम्यक् रूप दृष्टि पथमें आ जाता है। आशा है इस व्याख्यासे इसके पठन-पाठनको और भी अधिक बल मिलेगा तथा विद्वद्गण इस कृतिका मूल्यांकन सम्यक्-रीतिसे कर सकेंगे।

वाराणसी
११–१२–७४

[illegible] शास्त्री
अधिष्ठाता
श्री स्याद्वाद महाविद्यालय

[illegible]भाशंसनम्

आप्तवाक्यमागमप्रमाणं शब्दप्रमाणं वेत्यत्र प्रत्यक्षैकप्रमाणवादि-चार्वाकमन्त[illegible] सर्वेषां दार्शनिकानामस्त्यैकमत्य[illegible]। किन्तु आप्तस्य वाक्यमाप्तवाक्यम् आप्तं वा वाक्यमाप्तवाक्यमिति विग्रहेऽस्ति मतभेद-स्तेषामपि। तत्रेश्वरा[illegible]कश्रुतिसाधारण्येन शब्दप्रमाणस्वरूपं वर्णयन्तो मीमांसकाः सांख्याश्च आप्तञ्च तद् वाक्यमा[illegible]क्यमिति कर्मधारय-समासम[illegible]वन्ति। श्रुतिमीश्वर[illegible]तां मन्यमाना नैयायिकादयः षष्ठी-त[illegible]रुषसमासमाश्रित्य आप्तस्य वाक्यमाप्तवाक्यमिति [illegible]यन्ति। जैन-दार्शनिका अपि सर्व[illegible]वर्णनास्तत्र षष्ठीत[illegible]रुषमेव स्वी[illegible]वन्ति। अत एव वाचस्पतिमिश्रैः "[illegible] तु" इति सांख्यकारि-कांशव्याख्यायामुक्तम्—"आप्ता प्राप्ता युक्तेति यावत्। आप्ता चासौ श्रुतिश्चेति आप्तश्रुतिः। श्रुतिः वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्। तच्च स्वतः प्रमाणम्। अपौरुषेयवेदवाक्यजनितत्वेन सकलदोषाश[illegible]विनि[illegible]युक्तं भवति। एवं वेदमूलस्मृतीतिहास[illegible]णवाक्यजनितमपि ज्ञानं प्रमाणं भवति।" [illegible]—"आप्ता नाम [illegible]ग[illegible]दवि[illegible]क्तस्या [illegible]माणका[illegible]ति[illegible]" (सांख्यका० ५) अपौरुषेयवेदवादि-मीमांसकानामपि सम्मतोऽयं पक्षः।

नैयायिकास्तु वेदपौरुषेयत्ववादिन आप्तस्य वाक्यमिति विगृह्णाना ईश्वरादिव्यक्तिपरतयैवाप्तपदार्थं विवृण्वन्ति तदुक्तम्—"आप्तोपदेशः शब्दः" इति न्यायसूत्रभाष्ये—"आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्या-र्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः, तया प्रवर्तते इत्याप्तः। [illegible]र्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्। तथा च सर्वेषां व्यवहाराः प्रवर्तन्त इति।" (अ० १ आ० १ सू० ७)

वाचस्पतिमिश्राश्च तत्रत्यतात्पर्यटीकायाम[illegible]:—"दर्शनाद् ऋषिः [illegible] साक्षात्कृत[illegible]लोक[illegible]तिप्रमेयमात्रः। आराद् यातः पातकेभ्य इत्यार्यो मध्यलोकः। म्लेच्छाः प्रसिद्धाः। म्लेच्छा अपि हि [illegible]वधारयन्तः [illegible]न्तसर्वस्य मार्गाख्याने हेतुदर्शनशून्या [illegible]ता इति। भाष्ये 'चिख्यापयिषया प्रयुक्त' इत्यनेन वीतरागता उक्ता। प्रयुक्तः—उत्पादितप्रयत्नः, तेनालसत्वं नि[illegible]।[illegible]

इत्यनेन प्रतिपादनकौशलं करणपाटवाविच्छिन्नम् । वीतरागत्वमपि प्रति-पाद्य एवार्थे इष्यतेऽन्यथा सर्वथार्वीतरागत्वानुपलंभात् लोके दृश्यमान आप्तोक्तिनिबन्धो व्यवहार एव लुप्येत" इति ।

तत्रैव "स्वर्गापवर्गादयोऽप्यतीन्द्रिया यद्यपि नास्माकं प्रत्यक्षास्तथापि कस्यचित् सर्वज्ञस्य प्रत्यक्षाः सन्त्येव" इति सामान्यविशेषवत्त्वात्, आश्रितत्वात्, परार्थत्वात्, वस्तुत्वात्, [illegible], [illegible], इति हेतुभिः संसाध्य आप्तोपदेशात्मकवेदात्मकशब्दस्य प्रमाणत्वं व्यवस्थापयामासुः न्यायवार्तिककाराः ।

आप्तस्वरूपप्रतिपादनप्रसङ्गे ऽकलंकदेवोऽप्याह अष्टशत्याः षष्ठ-परिच्छेदे—'आप्तिः साक्षात्करणादिगुणः' इति । एवंविधाप्त्या सह वर्तमान एवाप्त इति तदभिप्रायः । सर्वज्ञातिरिक्तजनसाधारणमपि आप्तत्वमाह—'यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तस्ततोऽपरोऽनाप्त' इति । (अष्टशती प० ६ का० ७८) अष्टसहस्रीकारा अपि एतदेवाप्तस्वरूपं विस्तरेण आहुः । इत्थञ्च जैनदार्शनिकानामाप्तस्वरूपनिर्वचनं नैयायिक-वन्नास्तीति प्रतीयते । भेदस्तु इयदंशे विद्यते यत् नैयायिकाः सर्वथाऽऽप्तं सर्वज्ञमलौकिकमीश्वरमभ्युपगच्छन्ति । आर्हताश्च लौकिकं पुरुषमेव कमपि क्षीणकर्मराशिं सर्वथा वीतरागं सर्वज्ञं मन्यन्त इति ।

अस्तु, प्रस्तुतग्रन्थ आप्तमीमांसाभिधः श्रीमदाचार्यसमन्तभद्रप्रणीत आप्तस्वरूपनिर्वचनप्रसङ्गेन जैनदर्शनस्य मूलसिद्धान्तान् स्याद्वादानेकान्त-वादसप्तभंगीवादनयवादप्रभृतीन् आञ्जस्येन प्रतिपादयति । तदुपरि अकलंकदेवस्य अष्टशती, तदुपरि च श्रीमद्विद्यानन्दस्वामिप्रणीता अष्ट-सहस्री च महता समारोहेण तान् सिद्धान्तान् समर्थयत इति जैनसम्प्रदाये [illegible] आप्तमीमांसेति नात्र संदेहः ।

अत्रत्यः प्रारम्भिकः "देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ।" इति श्लोको नूनम् । "न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः । ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥" इति मनुस्मृतिश्लोक (अ० २ श्लो० १५४) [illegible] प्रतीयते । तत्रापि 'महान्' इति पदेन आप्त एव वर्णितो यथाऽत्रत्ये प्रथम श्लोके । तत्र 'अनूचानः' इति पदस्य [illegible] इत्यर्थः । अर्थात् [illegible] एव [illegible] महान् (आप्तः) [illegible] इति । आप्तमीमांसायाः [illegible] श्लोकेः युक्ति-[illegible] [illegible] च सर्वज्ञत्व-

वीतरागत्वसाधनपुरस्सरं सर्वज्ञो वीतराग एव महान् आप्तः स आगमस्य प्रणेतेति व्यवस्थापितम् ।

अस्याः सूत्ररूपायाः आप्तमीमांसाया उपरि अष्टशतीनाम्नी व्याख्या अकलङ्ककृता गभीरार्थाऽपि नातिविस्तृता, अष्टसहस्री च सुविशदाऽपि न सर्वगम्येति विभाव्य काशीहिन्दूविश्वविद्यालये प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान-संकायस्य दर्शनविभागे बौद्धदर्शनशास्त्राध्यापकः पण्डितश्रीमदुदयचन्द्रो जैनः महता परिश्रमेण दुर्बोधमपि विषयं निजया प्रतिभया सरलया च शैल्या पाठकानां सुबोधं कुर्वन् राष्ट्रभाषायां तत्त्वदीपिकानाम्ना व्याख्या-ग्रन्थं रचितवान् इति महतः सन्तोषस्य विषयः । नूनमनेन कार्येण अस्य विदुषः न केवलं जैनदर्शनस्य प्रत्युत इतरभारतीयदर्शनानामपि मर्मज्ञता अभिव्यक्ता भवति । अस्य विदुष उत्तरोत्तरामभिवृद्धि हृदयेनाभिकामयते—

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः
बाराणसी
१०-१-७५

केदारनाथत्रिपाठी
दर्शनविभागाध्यक्षः
प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञानसंकाये

Foreword

It gives me great pleasure to write a few words in connection with the work of Shri Udaya Chandra Jain who is a mature scholar and experienced teacher. He is a scholar not only of Jainism but also of Buddhism and other Indian systems and his scholarship is reflected in this work which is a Hindi commentary on the Āptamimāmsā of Ācharya Samantabhadra. The author has profusely drawn upon the Aṣṭaśati of Ācārya Akalanka as well the Aṣṭasāhasri of Ācārya Vidyananda in his commentary. He has also availed of every opportunity to discuss other systems too. I am happy to say that he has done his job excellently well and deserves our congratulations.

Though Āptamimamsa is primarily concerned with the object of examining the problems concerning the Āpta (authoritative person) its aim is also to lead us to *syādvāda* as it tries to distinguish between *samyak upadeśa* and *mithyā upadeśa*. Jainism and Buddhism both reject the authority of the Vedas and both deny the existence of creator God, but both agree in accepting the authority of the Āpta. The question therefore arises as to who can be regarded as an Āpta. The Jaina answer is that an Āpta is a person who has three qualities : he knows, he is free from raga-dveśa and is interested in the good of others. A person lacking any one of these virtues is likely to be unreliable consciously or unconsciously. The main problem here is concerning the knowledge of the *Āpta*. Can any person who is less than omniscient be reliable ? It seams to us that anyone who is not omniscient can neither know the truth nor can he know what is really good. This is why it has become necessary for all religions to accept the possibility of omniscience whether as belonging to spiritually advanced souls or to Iśvara.

The Mimāmsakas attribute omniscience to Vedas but reject the possibility of omniscience for man or any such being as Iśvara. Probably they fear that if the possiblity of human omniscience is accepted, the Vedas would become redundant. The advaitin admits

the possibility of omniscience for man without fearing that it would make the Śruti redundant, because it holds that man can be *sarvajña* only with the help of Śruti. It may be, however, noted that *sarvajñatva* is understood in two senses as seems to be hinted in the expression *yo sarvajñaḥ sarvavit*. Sarvajñatva may mean knowing the essence or reality of everything. Knowing Brahman as the reality of everything (*satyasya satyam*) is knowing everything. Sarvajñatva may also mean knowing the particular details of everything. The mimamsa objects to the concept of *sarvajñatva* in the latter sense. Is it possible for man with all his finitude to know everything ? If it is possible, can one *sarvajña* deffer from another *sarvajña* ? That Kapil and Gautam differ shows that neither is *sarvajña*. While this objection seems to be sound, there is a counter-objection which is worth considering. How is it possible to deny *sarvajñatva* in the case of all ? One may deny it in the case of A, B and C but how can anyone deny it in the case of all ? It seems that it requires a *sarvajña* to deny *sarvajñatva* in the case of all persons,-past, present and future. This is how the debate goes on and it seems to us that one has to depend only on faith for the acceptance of *sarvajñatva*. But so far as *sarvajñatva* in the sense of knowing the essence or reality of everything is concerned, it seems to be quite intelligible even intellectually.

A word may be said about *syādvāda*, because the last few chapters of the book are devoted to a vindication of this doctrine. Most of the systems of Indian philosophy are realists—Sāmkhya-Yoga, Nyāya-Vaiśesika, Purvamimāmsā, the theistic schools of Vedānta and the Hinayāna systems of Buddhism. Jainism too belongs to the same class. Every realism has two features : it is empiricistic and it is not able to accept anything as unreal or false. Jainism too shares those features; its additional feature is that it regards other schools as ekāntavādin. I think this is a fitting reply to other realists. If all experience has to be accepted, then syādvāda becomes invevitable. The credit of Jainism is that it develops a complete logic for it. The only question that arises in this context is whether the logic applies to absolutism also. Absolutism of the type of Advaitism and the Mādhyamika is not one view (bhanga) among other views and does not refer to one thing or one aspect among other

things or aspects. Rather it is a transcendence of all views, while Janism may be regarded as a synthesis of all views. If realism is to be accepted why not syādvāda ?

Shri Udaya Chandraji has earned the gratitude of all interested in Indian Philosophy and specially those interested in Jainism by writing this valuable book. I am sure it will be appreciated by all, the general readers as well as by specialists.

R. K. Tripathi. D. Litt.
Professor & Head of the
Department of Philosophy
Banaras Hindu University

Varanasi
15-1-75

हिन्दी-सार

प्रौढ़ विद्वान् और अनुभवी प्राध्यापक श्री उदयचन्द्र जैनके इस कार्यके विषय में कुछ लिखनेमें मुझे आनन्दका अनुभव हो रहा है। वे केवल जैनदर्शनके ही विद्वान् नहीं हैं किन्तु बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शनोंके भी विद्वान् हैं और आचार्य समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाकी प्रस्तुत हिन्दी व्याख्यामें उनकी विद्वत्ता प्रतिविम्बित हुई है। लेखकने इस व्याख्यामें आचार्य अकलंककी अष्टशती और आचार्य विद्यानन्दकी अष्ट-सहस्रीका व्यापकरूपसे उपयोग किया है। मुझे यह कहनेमें प्रसन्नता हो रही है कि उन्होंने इस कार्यको बहुत ही उत्तमरूपसे सम्पन्न किया है और इसके लिए वे बधाईके पात्र हैं। श्री उदयचन्द्र जैनने इस मूल्यवान् ग्रन्थको लिखकर उन सबकी कृतज्ञता प्राप्त कर ली है जो भारतीय दर्शनमें और विशेषरूपसे जैनदर्शनमें रुचि रखते हैं।

आप्तमीमांसाका विषय आप्तविषयक समस्याओंकी समीक्षा करना है। इसका उद्देश्य स्याद्वादकी संस्थिति भी है। जैनदर्शन और बौद्ध-दर्शन दोनों ही वेदके प्रामाण्यका तथा सृष्टिकर्ता ईश्वरका निषेध करते हैं, किन्तु दोनों ही आप्तकी सत्ताको स्वीकार करते हैं। जैनदर्शनके अनुसार आप्तमें सर्वज्ञता, वीतरागता और हितोपदेशकता ये तीन गुण होना आवश्यक हैं। जो सर्वज्ञ नहीं है वह सत्य और शिवको नहीं जान सकता है। मीमांसक पुरुषकी सर्वज्ञताका निषेध करके वेदकी अपौरुषेयताका प्रतिपादन करते हैं। उन्हें भय है कि यदि पुरुषकी सर्वज्ञताको मान लिया जाय तो वेद व्यर्थ हो जायेंगे।

'सर्वज्ञता' शब्दका प्रयोग दो अर्थोंमें किया जा सकता है—(१) प्रत्येक वस्तुके सार (मूल तत्त्व) को जान लेना सर्वज्ञता है। जैसे 'ब्रह्म प्रत्येक वस्तुका सार है' ऐसा जान लेना प्रत्येक वस्तुका ज्ञान लेना है और यही सर्वज्ञता है। (२) प्रत्येक वस्तुके विषयमें विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना सर्वज्ञता है। मीमांसक दूसरे प्रकारकी सर्वज्ञताका निषेध करते हैं। उनके अनुसार पुरुष अपनी सीमित शक्तियोंके कारण सर्वज्ञ नहीं हो सकता है। यहाँ यह विचारणीय है कि कुछ व्यक्तियोंके विषयमें सर्वज्ञताका निषेध किया जा सकता है, किन्तु सबकेविषयमें सर्वज्ञताका निषेध नहीं किया जा सकता। क्योंकि सबके विषयमें सर्वज्ञताका निषेध सर्वज्ञ ही कर सकता है।

स्याद्वादके विषयमें भी कुछ कहना आवश्यक है। क्योंकि स्याद्वादकी संस्थिति आप्तमीमांसाका उद्देश्य है। सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, पूर्व-मीमांसा, वेदान्त और हीनयान ये यथार्थवादी दर्शन हैं। जैनदर्शन भी यथार्थवादी दर्शन है। यथार्थवादकी दो विशेषताएँ हैं—(१) यह अनुभववादी होता है और (२) यह किसी वस्तुको असत्य या मिथ्या नहीं मानता है। जैनदर्शन भी इन विशेषताओंको मानता है। इसके अतिरिक्त जैनदर्शनकी विशेषता यह भी है कि वह अन्य दर्शनोंको एकान्तवादी मानता है और मेरे विचारसे ऐसा मानना यथार्थवादियोंके लिए उचित उत्तर है। क्योंकि यदि सब अनुभवोंको स्वीकार करना है तो स्याद्वादको मानना अनिवार्य है। और यह सुप्रसिद्ध है कि जैनदर्शनने स्याद्वादविषयक न्यायशास्त्रका पूर्ण विकास किया है। स्याद्वादको स्वीकार किये बिना यथार्थवादको स्वीकार नहीं किया जा सकता है। जैनदर्शनमें स्याद्वादके अनुसार अन्य समस्त दृष्टियोंका समन्वय उपलब्ध होता है।

वाराणसी
१५–१–७५

(डॉ०) रमाकान्त त्रिपाठी
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शनविभाग
काशी हिन्दु विश्वविद्यालय

पुरोवाक्

किसी दर्शनके प्रस्थान को सम्यक् रूपसे समझनेके लिये सर्वप्रथम उसकी अस्तित्व सम्बन्धी अवधारणाको समझना आवश्यक होता है। अस्तित्वसे अभिप्राय जीवनके अस्तित्वसे है। जीवनकी व्याख्याके लिये जगत्की भी व्याख्या करनी पड़ती है। इसलिये जीवन और उससे सम्बद्ध जगत की व्याख्यासे पूरे अस्तित्वकी व्याख्या हो जाती है। यदि जीवन-अस्तित्व-दृष्टि शाश्वतवादी या स्थिरवादी है तो अवश्य ही जीवन और जगत्के उपादान कारणोंमें शाश्वत एवं स्थिर तत्त्व स्वीकार करने पड़ेंगे। यदि जीवन-दृष्टि अनित्यवादी एवं परिवर्तनशील है, तो उसके कारण भी अवश्य ही अनित्य, क्षणिक एवं गतिशील होंगे। भारतीय दर्शनोंमें वस्तुकी व्याख्याके द्वारा साक्षात् या परम्परया जीवनकी ही व्याख्या की जाती है। भारतीय दर्शनोंमें वस्तु या सत्ताके सम्बन्धमें कुछ सिद्धान्त सामान्यवस्तुवादी हैं और कुछ विशेषवादी। सामान्यवादी सत्ता को अनुगत या साधारण रूपमें देखता है, और विशेषवादी वस्तुओंकी सत्ता को उसकी असाधारणता या ऐकान्तिक विशेषतामें पहचानता है। सामान्यवादी दर्शनोंका परिणमन अन्ततोगत्वा महासामान्य (अखण्डता) में होता है, और विशेषवाद कालिक तथा दैशिक सूक्ष्मताके साथ-साथ अन्ततोगत्वा अनस्तित्ववादमें पर्यवसित होता है। मोटे तौरसे कहा जाय तो सामान्यवाद सांख्य, न्याय और मीमांसासे चलकर वेदान्तके महासामान्य-सत्तामें विकसित हुआ और विशेषवाद वैशेषिक, वैभाषिक और सौत्रान्तिकके मार्गसे आचार्य नागार्जुनके अनस्तित्ववादमें पर्यवसित हुआ।

उपर्युक्त दोनों प्रमुख दार्शनिक यात्राओंका प्रारम्भ हुआ था, बाह्य-जगत्के अस्तित्वको परमार्थतः सत्य मानकर, किन्तु पर्यवसान हुआ जगत्के मिथ्यात्व या अलीकत्वमें। इस स्थितिमें प्रश्न यह उठता है कि जगत्के मिथ्यात्व या अलीकत्वको स्वीकार करनेपर क्या जीवनकी पूरी व्याख्या सम्पन्न हो जाती है? इसका दार्शनिक उत्तर 'हाँ' और 'न' दोनों हो सकता है। यदि यह मानकर चलें कि जगत्की पारमार्थिक सत्ताके बिना जीवनकी व्याख्या नहीं हो सकती तो इस स्थितिमें केवल

सामान्यवाद और केवल विशेषवादीके पास उसका समुचित उत्तर नहीं रह जाता। इसके सम्यक् समाधानके लिए अन्य दर्शनोंको एकान्तवादी दृष्टिसे हटकर अनेकान्तवादकी शरण लेनी पड़ेगी।

अनेकान्तवाद स्वीकार करनेके साथ ही अस्तित्वका एक ऐसा स्वरूप सामने आता है, जो सामान्यवाद और विशेषवादसे अत्यन्त भिन्न है। उस अपरिचित तत्त्वको समझानेके लिए जैन आचार्योंने नयी परिभाषा तथा शब्दावलियोंका आविष्कार किया। स्याद्वाद और उसका सप्तभङ्गी-नय उसी अस्तित्वकी व्याख्या करनेमें सचेष्ट हैं। किन्तु इन सारी उप-पत्तियोंसे अस्तित्वकी वास्तविकताका सम्यक् आकलन हो जाय तथा तत्त्व-निश्चयके लिये अन्तिम प्रमाणके रूपमें उसे स्वीकार कर लिया जाय, इस पर अनेकान्तवादी आचार्योंको भी पूरा भरोसा नहीं था। इस तथ्य को वे समझते थे कि तत्त्वावगाहन एक आध्यात्मिक प्रतिभाका क्षेत्र है, जिसके साक्षात्कारमें शाब्दिक एवं तार्किक उपपत्तियाँ एक सीमाके बाद चरितार्थ नहीं होतीं। इसके लिए उन्होंने 'सर्वज्ञता' को प्रमाणके रूपमें स्वीकार किया। प्रमाणभूत सर्वज्ञतासे उनका अभिप्राय ईश्वर या वेदोंकी सर्वज्ञतासे नहीं था, अपि तु आवरण-प्रक्षीणताके आधार पर मानव-सर्वज्ञतासे रहा है, जिसे प्राप्त कर वर्धमान 'महावीर' हुए थे।

इस प्रकारकी सर्वज्ञतासे प्रमाणित अनेकान्त तत्त्वको सर्वसामान्यके समक्ष प्रस्तुत करनेके लिए शास्त्रोंमें सप्तभङ्गीनयका प्रयोग-कौशल दिखाया गया है। अनेकानेक दृष्टि-बन्धोंमें उलझी हुई जनताको अने-कान्तके अध्यात्मतत्त्वको समझानेके प्रसंगमें आचार्योंने उसे भेदाभेदात्मक, सामान्यविशेषात्मक, भावाभावात्मक, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक और द्रव्य-पर्यायात्मक आदि शब्दोंसे अभिहित किया और उसे युक्तिसंगत करनेके लिए तार्किक उपपत्तियोंका भरपूर उपयोग किया। इन शब्दोंके प्रयोगके विना जैन-दर्शनके प्रस्थानको समझना एक ओर कठिन था तो दूसरी ओर उन्हीं शब्दोंके प्रयोग करनेसे यह भ्रम भी होने लगा कि स्याद्वाद परस्पर विरोधी तत्त्वोंके एकत्रीकरणका तार्किक प्रयासमात्र है। इन्हीं विरोधी परि-स्थितियोंके बीच स्याद्वाद पर संभावनावादी, कदाचिद्वादी और अपेक्षा-वादी होनेका आक्षेप खड़ा किया जाता है। इस भ्रमसे अनेकान्तवादका पृथक् दार्शनिक प्रस्थानके रूपमें अस्तित्वकी और जीवन दृष्टिको जो उत्तम अवधारणा है, उसमें कमी आना संभव है। वास्तवमें अनेकान्तवाद एकान्त-वादी दृष्टियोंकी व्यावृत्तिके द्वारा विनिश्चित अनेकान्तकी आध्यात्मिक

तात्त्विकताको संकेतित करनेकी एक सक्षम दार्शनिक प्रक्रिया है। आचार्य समन्तभद्रका आप्तमीमांसा-ग्रन्थ अनेकान्तवाद की उस विशेष भूमिकाको स्पष्ट करनेके लिए अपने प्रतिपाद्य अनेकान्तमूलक आप्तत्वका अनिवार्य सम्बन्ध सर्वज्ञतासे जोड़ता है। इसी प्रस्थान-भूमिसे चलकर समन्तभद्र एक ओर अनेकान्तके अन्तरंग आयामोंके उत्कर्षको प्रकट किया है और दूसरी ओर अस्तित्वकी वास्तविक अवधारणामें अन्य दर्शनोंकी अक्षमताको प्रकट किया है। आचार्य समन्तभद्रके इस गूढाभिप्रायको समझना बहुत ही कठिन होता यदि अकलंकदेव और विद्यानन्द स्वामी जैसे अनेकानेक दर्शनोंके पारदृश्वा आचार्योंने अपने प्रौढ़ ग्रन्थ अष्टशती और अष्टसहस्री द्वारा उसका पुङ्खानुपुङ्ख आलोचन न किया होता। आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें आठवीं-नवमीं शताब्दी तकके समस्त प्रमुख भारतीय दार्शनिकोंके वादोंका अत्यन्त प्रामाणिक उत्थापन किया है और अपनी दृष्टिसे उनकी प्रौढ़ आलोचना की है। इस प्रकार यह ग्रन्थ प्रामाणिक सूचनाकी दृष्टिसे दर्शनोंका आकर-ग्रन्थ है।

आप्तमीमांसा, अष्टशती और अष्टसहस्रीका सम्यक् आलोडन कर श्री उदयचन्द्र जैनने संक्षेपमें हिन्दी माध्यमसे आचार्य समन्तभद्र, अकलंक और विद्यानन्दके दर्शन-वैभवका जो प्रस्तुतीकरण किया है, वह उनके दर्शनसम्बन्धी गम्भीर ज्ञानका महत्त्वपूर्ण निदर्शन है। दार्शनिक जटिलताको संक्षेप और सुबोध बनाकर वास्तवमें उन्होंने इस विषयमें प्रवेशके लिए राजमार्ग खोल दिया है।

वाराणसी
२०-१-७५

जगन्नाथ उपाध्याय
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, पालि विभाग,
संस्कृत विश्वविद्यालय

प्रस्तावना-विषय-अनुक्रमणिका

आप्तमीमांसाके रचयिता आचार्य समन्तभद्र

अष्टशतीके रचयिता आचार्य अकलङ्क

प्रस्तावना विषय-सूची

नय विमर्श

अनेकान्त विमर्श

स्याद्वाद विमर्श

सप्तभंगी विमर्श

●

प्रस्तावना

ग्रन्थ-नाम

आचार्य समन्तभद्रने अपनी इस कृतिका नाम 'आप्तमीमांसा' बतलाया है[1]। इसीको अष्टशती-भाष्यकार अकलंकदेवने 'सर्वज्ञ-विशेष-परीक्षा' कहा है[2]। अष्टसहस्रीके रचयिता आचार्य विद्यानन्दने भी इसका 'आप्तमीमांसा' यह नाम स्वीकार किया है[3]।

इसका दूसरा नाम देवागम भी है। प्राचीन ग्रन्थकारोंने प्रायः इसी नामसे इसका उल्लेख किया है। अकलंकदेवने अष्टशती-भाष्यके प्रारंभमें इसका यही नाम दिया है[4]। आचार्य विद्यानन्दने भी अष्टसहस्रीमें इसका देवागम नाम स्वीकार किया है[5]।

इसीप्रकार वादिराज[6], हस्तिमल्ल[7], शुभचन्द्र[8] आदि ग्रन्थकारोंने भी समन्तभद्रकी इस महत्त्वपूर्ण कृतिका इसी नामसे उल्लेख किया है। यथार्थमें जैसे भक्तामर, कल्याणमन्दिर, एकीभाव आदि स्तोत्र आद्य पदोंसे प्रारम्भ होनेके कारण उन नामोंसे प्रसिद्ध हैं, वैसे ही 'देवागम' इस पदसे प्रारम्भ होनेके कारण यह कृति देवागम नामसे प्रसिद्ध है। आचार्य समन्तभद्रकी अन्य कृतियाँ भी दो नामोंसे प्रसिद्ध हैं। जैसे युक्त्यनुशासन (वीरजिनस्तोत्र), स्वयम्भूस्तोत्र (समन्तभद्रस्तोत्र),

---

१. इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम्। आप्तमी० का० ११४

२. इतीयमाप्तमीमांसा सर्वज्ञविशेषपरीक्षा। अष्टश० अष्टस० पृ० २९४

३. शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलंक्रियते मयास्य।
अष्टस० पृ० १

निःश्रेयसमन्तभद्रस्वामिभिर्देवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्।
आप्तपरीक्षा पृ० २६२

४. कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतः। अष्टशती प्रारम्भिक पद्य २

५. इति देवागमाख्ये स्वोक्तपरिच्छेदे शास्त्रे। अष्टस० पृ० २९४

६. स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते॥ पार्श्वनाथचरित

७. देवागमनसूत्रस्य श्रुत्वा सद्दर्शनान्वितः। विक्रान्तकौरव

८. समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारतभूषणः।
देवागमेन येनात्र व्यक्तो देवागमः कृतः॥ पाण्डवपुराण

स्तुतिविद्या (जिनशतक) और रत्नकरण्डश्रावकाचार (समीचीनधर्मशास्त्र)। आप्तमीमांसा दश परिच्छेदोंमें विभक्त है और ये परिच्छेद विषय-विभाजन की दृष्टिसे बनाये गये हैं। अकलंकदेवने भी इन परिच्छेदोंका समर्थन किया है[1]। यह कृति पद्यात्मक है और दार्शनिक शैलीमें रची गयी है। उस समय दार्शनिक रचनाएँ प्रायः पद्यात्मक और इष्टदेव की स्तुतिरूपमें रची जाती थीं। नागार्जुन, वसुबन्धु आदि दार्शनिकोंकी रचनाएँ इसीप्रकारकी उपलब्ध होती हैं। अतः आचार्य समन्तभद्रने स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन और आप्तमीमांसा ये तीन स्तोत्र पद्यात्मक एवं दार्शनिक शैलीमे बनाये हैं।

आप्तमीमांसाकी व्याख्याएँ

वर्तमानमें आप्तमीमांसा पर संस्कृतमें तीन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं—१ अष्टशती (आप्तमीमांसाभाष्य) २ अष्टसहस्री (आप्तमीमांसालंकार, देवागमालंकार) और ३ आप्तमीमांसावृत्ति (देवागमवृत्ति)

१. अष्टशती—इसके रचयिता आचार्य अकलंक हैं। यह अत्यन्त क्लिष्ट और गूढ़ रचना है। प्रत्येक परिच्छेदके अन्तमे समाप्तिसूचिका-वाक्यमें इसका 'आप्तमीमांसाभाष्य'के नामसे उल्लेख हुआ है[2]। आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके तृतीय परिच्छेदके प्रारम्भमें ग्रन्थकी प्रशंसामें जो पद्य दिया है, उसमें उन्होंने इसका नाम अष्टशती निर्दिष्ट किया है[3]। संभवतः आठ सौ श्लोक प्रमाण रचना होनेसे इसे उन्होंने अष्टशती कहा है। इसका प्रत्येक स्थल अत्यन्त क्लिष्ट और गूढ़ है। इसके तात्पर्यको अष्टसहस्रीके द्वारा ही जाना जासकता है।

२. अष्टसहस्री—यह आचार्य विद्यानन्दकी महत्त्वपूर्ण रचना है।

---

१. स्तोत्रे परिच्छेदे शास्त्रे। अष्टस० अष्टस० पृ० २९४

२. इत्याप्तमीमांसाभाष्ये प्रथमः परिच्छेदः।

३. अष्टशती प्रथितार्था साष्टसहस्री कृतापि संक्षेपात्।
विलसदकलङ्कधिषणैः प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्या॥

४. सबसे पहले इसका प्रकाशन सन् १९१५में सेठ नाथारंगजी गांधीके पुत्रों द्वारा निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे हुआ था। प्रसन्नताकी बात है कि पूज्य आर्यिका १०५ ज्ञानमती माताजी कृत हिन्दी अनुवादके साथ अब इसका प्रकाशन श्री जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा कई भागोंमें हो रहा है। और इसके प्रथम भागका विमोचन अक्टूबर १९७४ में हो चुका है।

इसका आप्तमीमांसालंकार, आप्तमीमांसालंकृति, देवागमालंकार और देवागमालंकृति इन नामोंसे भी उल्लेख किया गया है। प्रत्येक परिच्छेदके अन्तमें जो पुष्पिकावाक्य आते हैं उनमें इसका नाम आप्तमीमांसालंकृति दिया है[1]। द्वितीय परिच्छेदके प्रारम्भमें व्याख्याकारने जो पद्य दिया है उसमें इसका नाम 'अष्टसहस्री' कहा है[2]। संभवतः आठ हजार श्लोक प्रमाण रचना होनेसे इसका नाम अष्टसहस्री हुआ है। आप्तपरीक्षामें इसे आप्तमीमांसालंकृति और देवागमालंकार भी कहा है[3]। यह व्याख्या अत्यन्त विस्तृत और प्रमेयबहुल है। इसमें अष्टशतीको आत्मसात् कर लिया गया है। मुद्रित अष्टसहस्री में यदि कोई भेद सूचक चिह्न न रखा जाय तो पृथक्से अष्टशतीकी पहिचान होना कठिन है। अष्टसहस्रीके विना अष्टशतीका गूढ रहस्य समझमें नहीं आसकता है। इन व्याख्याओंके अतिरिक्त अष्टसहस्रीपर लघु समन्तभद्र (विक्रमकी १३वीं शताब्दी) ने 'अष्टसहस्रीविषमपदतात्पर्यटिप्पण', और श्वेताम्बर विद्वान् यशोविजय (१८वीं शताब्दी) ने 'अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण' नामक टीकाएँ लिखी हैं, जो अष्टसहस्रीके गूढ पदों, वाक्यों और स्थलों का स्पष्टीकरण करती हैं।

३. आप्तमीमांसावृत्ति[4]—यह आप्तमीमांसाकी अल्प परिमाणकी व्याख्या है। यह न तो अष्टशतीके समान गूढ है और न अष्टसहस्रीके समान विशाल और गम्भीर है। इसके रचयिता आचार्य वसुनन्दि हैं। इन्होंने वृत्तिके अन्तमें स्वयं लिखा है कि मैंने अपने उपकारके लिए ही इस देवागमका संक्षिप्त विवरण लिखा है[5]।

आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके अन्तमें अकलंकदेवके समाप्ति

---

१. इत्याप्तमीमांसालंकृतौ प्रथमः परिच्छेदः।

२. श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायते ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः॥ अष्टस० पृ० १९७

३. आप्तपरीक्षा पृ० २३३, २६२

४. सनातन जैन ग्रन्थमाला काशीसे सन् १९१४में अकलंकदेवकी अष्टशतीके साथ आचार्य वसुनन्दिकी वृत्तिका प्रकाशन हुआ था।

५. श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्राचार्यस्य देवागमाख्यायाः कृतेः संक्षेपभूतं विवरणं कृतं श्रुतविस्मरणशीलेन वसुनन्दिना जडमतिना आत्मोपकाराय।
आप्तमीमांसावृत्ति पृ० ५०

मंगलके पूर्व 'केचिदिदं मङ्गलवचनमनुमन्यन्ते' क्योंकि साथ [illegible] किसी व्याख्याकारका 'जयति जगति' आदि समाप्ति मंगल पद दिया है। उससे प्रतीत होता है कि अकलंकसे पूर्व भी आप्तमीमांसापर किसी आचार्यकी व्याख्या रही है। लघु समन्तभद्रने अपने टिप्पणमें वादीभसिंह द्वारा आप्तमीमांसाके उपलालन करनेका उल्लेख किया है[1]। इससे प्रतीत होता है कि वादीभसिंहने आप्तमीमांसापर कोई व्याख्या लिखी थी, किन्तु वह वर्तमानमें अनुपलब्ध है।

आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके अन्तमें एक श्लोक लिखा है,[2] जिसमें अपनी अष्टसहस्रीको कुमारसेनकी उक्तियोंसे वर्धमान बतलाया है। इसका तात्पर्य यही है कि कुमारसेन नामक आचार्यने आप्तमीमांसा-पर कुछ लिखा था, और विद्यानन्दने उससे लाभ उठाया था। उसी श्लोकमें अष्टसहस्रीको कष्टसहस्री भी कहा है। इससे ज्ञात होता है कि अष्टसहस्रीकी रचनामें हजारों कष्टोंको सहन करना पड़ा था। इसका अध्ययन भी कष्टकारी है। अर्थात् कोई जिज्ञासु हजारों कष्ट उठाकर ही अष्टसहस्रीका अध्ययन कर सकता है।

आप्तमीमांसाकी हिन्दी व्याख्याएँ

इसके पहले आप्तमीमांसाकी तीन हिन्दी व्याख्याएँ लिखी गयी हैं—

१. हिन्दी वचनिका—विक्रमकी उन्नीसवीं शताब्दीके प्रसिद्ध विद्वान् जयपुर निवासी पं० जयचन्द्र जी छावड़ाने विक्रम सम्वत् १८८६ में आप्तमीमांसाकी हिन्दी वचनिका लिखी थी। इसका प्रकाशन ५० वर्ष पूर्व अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बईसे हुआ था। इसकी भाषा ढूढारी (राज-स्थानी हिन्दी) है। और अब यह प्राय: अप्राप्य है।

२. हिन्दी भाष्य—विक्रमकी बीसवीं शताब्दीके प्रसिद्ध साहित्य-सेवी तथा समन्तभद्र-भारतीके मर्मज्ञ पं० जुगलकिशोर जी मुख्तारने देवागम अपर नाम आप्तमीमांसाका हिन्दी भाष्य (पद्यानुवाद हिन्दी अनुवाद) लिखा है। इसका प्रकाशन वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टसे सन् १९६७ में हुआ है।

३. हिन्दी विवेचन—श्री पं० मूलचन्द्र जी शास्त्रीने आप्तमीमांसा-

---

१. श्रीमता वादीभसिंहेनोपलालितामाप्तमीमांसाम्। अष्टस० टिप्पण पृ० १

२. कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्।
शश्वदभीष्टसहस्री कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था॥

का हिन्दी विवेचन किया है। इसका प्रकाशन भी वीर सेवा मन्दिर दि० जैन संस्थान द्वारा सन् १९७० में हुआ है।

'तत्त्वदीपिका' नामक प्रस्तुत व्याख्या

आप्तमीमांसाकी तत्त्वदीपिका नामक प्रस्तुत हिन्दी व्याख्यामें आप्त-मीमांसा, अष्टशती और अष्टसहस्रीमें समाविष्ट तत्त्वों (दार्शनिक विषयों) का सुव्यवस्थित प्रतिपादन किया गया है। यह व्याख्या न तो अष्टशतीका अनुवाद है और न अष्टसहस्रीका। किन्तु इस व्याख्यामें इस बातका पूर्ण ध्यान रखा गया है कि अष्टशती और अष्टसहस्रीमें प्रतिपादित कोई भी मुख्य तत्त्व (विषय) छूटने न पाये। जो व्यक्ति संस्कृत नहीं जानते हैं तथा जिनका दर्शनशास्त्रमें प्रवेश नहीं है, वे भी इस व्याख्याको पढ़कर अष्टशती और अष्टसहस्रीके हार्दको सरलता पूर्वक समझ सकते हैं।

'तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः' इस कारिकामें बुद्ध, कपिल आदि तीर्थङ्करोंके समयों (आगमों)में पारस्परिक विरोधकी बात कही गयी है। अतः उक्त विरोधका स्पष्टरूपसे प्रतिपादन करनेके लिए इस कारिकाकी व्याख्यामें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध, चार्वाक, तत्त्वोपप्लववादी और वैनयिकके सिद्धान्तोंका संक्षिप्त विवेचन कर दिया गया है। ऐसा करनेसे आचार्य विद्यानन्दकी निम्न-लिखित उक्ति—

> श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
> विज्ञायते ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः ॥

चरितार्थ हो जाती है। अर्थात् जिज्ञासुओंको उक्त कारिकाकी व्याख्यामें प्रतिपादित न्याय आदि दर्शनोंके मूल सिद्धान्तोंका बोध सरलतासे हो सकता है। अतः कारिका संख्या ३ की व्याख्याको पढ़कर स्वसमय (अनेकान्तसिद्धान्त) और परसमय (न्याय आदि दर्शन)का संक्षेपमें किन्तु स्पष्ट बोध प्राप्त किया जा सकता है। वैसे तो आप्तमीमांसाकी प्रत्येक कारिकामें स्वसमय और परसमयका प्रतिपादन करके स्याद्वाद-न्यायके अनुसार स्वसमयकी स्थापना की गयी है। इस दृष्टिसे प्रत्येक कारिकाकी व्याख्या द्वारा उसमें प्रतिपादित किसी विशिष्ट स्वसमयका स्पष्ट ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अतः स्वसमय और परसमयको जाननेके लिए अष्टसहस्रीकी तरह 'तत्त्वदीपिका'का अध्ययन भी लाभप्रद

होगा। क्योंकि यह व्याख्या अष्टशती और अष्टसहस्रीके आलोकमें लिखी गयी है।

आप्तमीमांसाका मूलाधार

यद्यपि आचार्य समन्तभद्रने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया है कि आप्तमीमांसाकी रचनाका आधार 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगल श्लोक है, किन्तु आचार्य विद्यानन्दके अनेक उल्लेखोंसे यह सिद्ध होता है कि आचार्य समन्तभद्रने उसी आप्तकी मीमांसा की है, जिसकी उक्त मंगल श्लोकमें वन्दना की गयी है। अकलंकदेवने भी इस विषयमें कुछ नहीं लिखा है। हो सकता है कि आचार्य विद्यानन्दको वैसा लिखनेके लिए कोई आधार प्राप्त रहा हो अथवा उनका स्वयंका कोई अनुमान हो। फिर भी आचार्य विद्यानन्दके निम्नलिखित उल्लेख ध्यान देने योग्य हैं।

१. "शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिः"

अष्टस० पृ० १

२. "शास्त्रारंभेऽभिष्टुतस्याप्तस्य........ भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विहिता।" अष्टस० पृ० २९४

३. "श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य, प्रोत्थानारंभकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्। स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्, विद्यानन्दैः स्वशक्त्या......"

—आप्तपरीक्षा का० १२३ पृ० २६२

४. "इति संक्षेपतः शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवैर्विधीयमानस्य........ ...प्रपञ्चतस्तदन्वयस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिर्देवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्।"

—आप्तपरीक्षा का० १२० पृ० २६१

'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगल श्लोक तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण है या नहीं इस विषयमें विद्वानोंमें मतभेद है। कुछ विद्वान् इसे तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण मानते हैं, तो दूसरे विद्वान् कहते हैं कि यह सर्वार्थसिद्धिका मंगलाचरण है। किन्तु डा० दरबारीलालजी कोठियाने अनेक प्रमाणोंके आधारसे यह सिद्ध कर दिया है[1] कि उक्त मंगल श्लोक

१. 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक दो लेख, अनेकान्त वर्ष ५ किरण ६, ७, १०, ११।

तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण है। मैं भी इस मतसे सहमत हूँ। निम्न उल्लेखसे भी उक्त मतका समर्थन होता है—'...तत्त्वार्थशास्त्रत्वादौ 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादिना ...नमस्कारस्यैव परमागम... प्रथम... त्वात्।' —गो० जी० म० प्र० टी० पृ० ४

यह उल्लेख गोमट्टसार जीवकाण्डकी मन्दप्रबोधिनी टीकाके रचयिता सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य अभयचन्द्र (१२ वीं–१३ वीं शताब्दी) का है।

उक्त उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) के आरम्भमें जिन 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि तीन असाधारण विशेषणोंसे आप्तकी वन्दना शास्त्रकारने की है उसी आप्तकी मीमांसा स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें की है।

आप्तमीमांसाके रचयिता आचार्य समन्तभद्र

समन्तभद्रका व्यक्तित्व

युग प्रधान आचार्य समन्तभद्र स्याद्वादविद्याके संजीवक तथा प्राणप्रतिष्ठापक रहे हैं। उन्होने अपने समयके समस्त दर्शनशास्त्रोंका गंभीर अध्ययन करके उनका तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था। यही कारण है कि वे समस्त दर्शनों अथवा वादोंका युक्ति पूर्वक परीक्षण करके स्याद्वादन्यायके अनुसार उन वादोंका समन्वय करते हुए वस्तुके यथार्थ स्वरूपको बतलानेमें समर्थ हुए थे। इसीलिए आचार्य विद्यानन्दने युक्त्यनुशासनटीकाके अन्तमे—

"श्रीमद्वीरजिनेश्वरामलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणैः।
साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीक्ष्याखिलम्" ॥

इस वाक्यके द्वारा उन्हें परीक्षेक्षण अर्थात् परीक्षारूपी नेत्रसे सबको देखनेवाला कहा है। यथार्थमें समन्तभद्र बहुत बड़े युक्तिवादी और परीक्षाप्रधान आचार्य थे। उन्होंने भगवान् महावीरकी युक्तिपूर्वक परीक्षा करनेके बाद ही उन्हें 'आप्त' के रूपमें स्वीकार किया है। वे दूसरोंको भी परीक्षाप्रधान होनेका उपदेश देते थे। उनका कहना था कि किसी भी तत्त्व या सिद्धान्तको परीक्षा किये बिना स्वीकार नहीं करना चाहिए। और समर्थ युक्तियोंसे उसकी परीक्षा करनेके बाद ही उसे स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिए।

यद्यपि आचार्य समन्तभद्रमें अनेक उत्तमोत्तम गुण विद्यमान थे किन्तु उन गुणोंमें वादित्व, गमकत्व, वाग्मित्व और कवित्व ये चार गुण तो

जगतमें परम प्रकर्षको प्राप्त थे। उस समय जितने वादी (शास्त्रार्थ करनेमें प्रवीण) थे, गमक (दूसरे विद्वानोंकी रचनाओंके मर्मको समझने और दूसरोंको समझानेमें समर्थ) थे, वाग्मी (अपने वचनचातुर्यसे दूसरोंको वशमें करनेवाले) थे और कवि (काव्य या साहित्यकी रचना करनेवाले) थे, आचार्य समन्तभद्र उन सबके सिर पर चूड़ामणिके समान सर्वश्रेष्ठ थे। इसीलिए जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें कहा है—

कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते॥

समन्तभद्र सबसे बड़े वादी थे। उनके वादका क्षेत्र संकुचित नहीं था। उन्होंने प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्षका भ्रमण किया था और सर्वत्र ही उन्हें वादमें विजय प्राप्त हुई थी। वे कभी इस बातकी प्रतीक्षामें नहीं रहते थे कि कोई दूसरा उन्हें वादके लिए निमंत्रण दे। इसके विपरीत उन्हें जहाँ कहीं किसी महावादी अथवा वादशालाका पता चलता था तो वे वहाँ पहुँचकर और वादका डंका बजाकर विद्वानोंको वादके लिए स्वतः आमन्त्रित करते थे। वहाँ स्याद्वादन्यायकी तुलामें तुले हुए उनके युक्तिपूर्ण भाषणको सुनकर श्रोता मुग्ध हो जाते थे और किसीको भी उनका कुछ भी विरोध करते नहीं बनता था। इस प्रकार आचार्य समन्तभद्र भारतके पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तरके प्रायः सभी प्रमुख स्थानोंमें एक अप्रतिद्वन्दी सिंहके समान निर्भयताके साथ वादके लिए घूमे थे। एक बार वे घूमते हुए करहाटक नगरमें पहुँचे थे और उन्होंने वहाँके राजाके समक्ष अपना वादविषयक जो परिचय दिया था वह श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५४ में निम्न प्रकारसे उपलब्ध है—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटम्,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्॥

वे करहाटक पहुँचनेसे पहले पाटलिपुत्र (पटना) मालव, सिन्धु, ठक्क (पंजाब) कांचीपुर (कांजीवरम्) और वैदिश (विदिशा)में पहुँच चुके थे। समन्तभद्रके देशाटनके सम्बन्धमें एम० एस० रामास्वामी आयंगर अपनी (Studies in South Indian Jainism) नामक पुस्तकमें लिखते हैं—

"यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र एक बहुत बड़े धर्म प्रचारक थे,

जिन्होंने जैन सिद्धान्तों और जैन आचार्यों को दूर-दूर तक विस्तारके साथ फैलानेका उद्योग किया है। और जहाँ-जहाँ वे गये वहाँ उन्हें दूसरे सम्प्रदायोंकी ओरसे किसी भी विरोधका सामना नहीं करना पड़ा।"

समन्तभद्र वाराणसी भी गये थे। काशी नरेशके सामने अपना परिचय देते हुए उन्होंने कहा था—

> आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहम्,
> दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम्।
> राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
> माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम्॥

हे राजन्! मैं आचार्य हूँ, कवि हूँ, शास्त्रार्थियोंमें श्रेष्ठ हूँ, पण्डित हूँ, ज्योतिषी हूँ, वैद्य हूँ, मान्त्रिक हूँ, तान्त्रिक हूँ। अधिक क्या, इस सम्पूर्ण पृथिवीमें मैं आज्ञासिद्ध और सिद्धसारस्वत हूँ।

आचार्य समन्तभद्रके उक्त दश विशेषणोंमेंसे अन्तिम दो विशेषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। आज्ञासिद्धका अर्थ है कि जो आज्ञा दें अर्थात् कहें वही सिद्ध हो जाय। सिद्धसारस्वतका अर्थ है कि उन्हें सरस्वती देवी सिद्ध थी। समन्तभद्रकी सर्वत्र सफलता अथवा विजयका रहस्य भी इसी में छिपा हुआ है। उनके वचन स्याद्वादकी तुलामें तुले हुए होते थे। दूसरोंको कुमार्गपर चलते हुए देखकर उन्हें बड़ा ही कष्ट होता था। अतः स्वात्महित साधन करनेके बाद दूसरोंका हित साधन करना ही उनका प्रधान कार्य था।

विक्रमकी नवमी शताब्दीके आचार्य जिनसेनने हरिवंशपुराणमें समन्तभद्रके वचनोंको वीर भगवान्‌के वचनोंके समान प्रकाशमान बतलाया है[1]। अकलंकदेवने अष्टशतीके प्रारम्भमें यह स्पष्ट घोषित किया है[2] कि समन्तभद्रके वचनोंसे उस स्याद्वादरूपी पुण्योदधि तीर्थका प्रभाव कलिकालमें भी भव्य जीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेके लिए सर्वत्र व्याप्त हुआ है, और जो सर्व पदार्थों तथा

1. वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते।
2. तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधेः,
   भव्यानामकलंकभावकृतये प्राभावि काले कलौ।
   येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः सन्ततम्,
   कृत्वा विविच्यते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतः॥

तत्त्वोंको अपना विषय किये हुए है। उन्होंने समन्तभद्रको भव्यैकलोक-नयन अर्थात् भव्यजीवोंके हृदयोंमें स्थित अज्ञानान्धकारको दूर करके अन्तःप्रकाश करने तथा सन्मार्ग दिखलानेवाला अद्वितीय सूर्य और स्याद्वाद मार्गका पालक भी बतलाया है[1]। शिवकोटि आचार्यने समन्तभद्रको भगवान् महावीरके शासनरूपी समुद्रको बढानेवाला चन्द्रमा लिखा है[2]। वीरनन्दी आचार्यने चन्द्रप्रभचरितमे लिखा है कि मोतियोकी मालाकी तरह समन्तभद्र आदि आचार्योंकी भारती दुर्लभ है[3]।

तिरुमकुडलुनरसीपुरके शिलालेख नं० १०५ में भी समन्तभद्रका स्तवन इस प्रकार किया गया है—

समन्तभद्रः सस्तुत्यः कस्य न स्यान्मुनीश्वरः।
वाराणसीश्वरस्याग्रे निर्जिता येन विद्विषः॥

अर्थात् वे समन्तभद्र मुनीश्वर किसके द्वारा संस्तुत्य नही हैं जिन्होंने बाराणसीके राजाके समक्ष शत्रुओ (जिनशासनसे द्वेष रखनेवाले प्रतिवादियों)को पराजित किया था।

उपरिलिखित उल्लेखोंसे समन्तभद्रके व्यक्तित्वका ज्ञान पूर्णरूपसे हो जाता है। किन्तु यह जिज्ञासा बनी ही रहती है कि इतने प्रभावशाली मूर्धन्य आचार्यका जन्म कहाँ हुआ था, उनके माता-पिता कौन थे, उनका कुल, जाति आदि क्या थी। इन प्रश्नोंका उत्तर सरल नही है। इसका कारण यह है कि ख्यातिकी चाहसे निरपेक्ष प्राचीन शास्त्रकारोंने अपने किसी भी ग्रंथमे अपना कुछ भी परिचय नही लिखा है। फिर भी उपलब्ध अन्य किंचित् सामग्रीके आधारपर समन्तभद्रके विषयमें जो थोड़ीसी जानकारी प्राप्त हुई वह निम्न प्रकार है।

श्रवणबेलगोलके विद्वान् श्री दोर्बलि जिनदास शास्त्रीके शास्त्रभण्डारमें सुरक्षित आप्तमीमांसाकी एक प्राचीन ताडपत्रीय प्रतिके निम्नलिखित पुष्पिकावाक्य —'इति श्री फणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः

---

1. श्रीवर्धमानमकलंकमनिन्द्यवन्द्यपादारविन्दुयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना।
भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तं स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम्॥ अष्टशती

2. जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचन्द्रमाः। रत्नमाला

3. गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती॥ चन्द्रप्रभचरित

श्रीस्वामीसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्'से ज्ञात होता है कि समन्तभद्र फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुरके राजाके पुत्र थे। उरगपुर चोल राजाओंकी प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी रही है। पुरानी त्रिचनापल्ली भी इसीको कहते हैं। कन्नड़ भाषाकी 'राजावली कथे'में समन्तभद्रका जन्म उत्पलिका ग्राममें हुआ लिखा है। संभव है कि उत्पलिका उरगपुरके अन्तर्गत ही कोई स्थान हो। उनके पिता एक राजा थे। अतः इतना निश्चित है कि समन्तभद्र एक राजपुत्र थे और दक्षिणके निवासी थे। इनका प्रारंभिक नाम शान्तिवर्मा था। डा० पं० पन्नालालजीने रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनामें यह सिद्ध किया है कि स्तुतिविद्याके अन्तिम पद्यसे 'शान्तिवर्मकृतं जिनस्तुतिशतं' ये दो पद निकलते है।

आचार्य समन्तभद्र आत्मसाधना और लोकहितकी भावनासे ओतप्रोत थे। अतः कांची (दक्षिण काशी)में जाकर दिगम्बर साधु बन गये थे। उन्होंने निम्न परिचय-पद्यमें—

कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः,
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुः दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरंगस्तपस्वी,
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी॥

अपनेको कांचीका नग्नाटक (नग्नसाधु) और निर्ग्रन्थ जैनवादी लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ परिस्थितियोंवश उनको कुछ दूसरे भेष भी धारण करना पड़े थे। किन्तु वे सब अस्थायी थे।

समन्तभद्रका समय

समन्तभद्रके समयके विषयमें विद्वानोंमें मतभेद है। कुछ विद्वान् समन्तभद्रको पूज्यपाद देवनन्दि (पञ्चम शताब्दी) के बादका मानते हैं, तो दूसरे विद्वान् पञ्चम शताब्दीके पहलेका। किन्तु प्रसिद्ध अन्वेषक और इतिहासज्ञ विद्वान् स्व० जुगलकिशोर जी मुख्तारने अपने स्वामी समन्तभद्र नामक महानिबन्धमें सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि समन्तभद्र गृद्धपिच्छके बाद तथा पूज्यपादके पहले विक्रमकी दूसरी या तीसरी शताब्दीमें हुए हैं। पूज्यपादने अपने जैनेन्द्रव्याकरणमें 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' (४।५।१४०) सूत्रके द्वारा समन्तभद्रका उल्लेख किया है। अतः वे पूज्यपादसे निश्चित ही पूर्ववर्ती हैं।

समन्तभद्रकी कृतियाँ

१. आप्तमीमांसा, २. युक्त्यनुशासन, ३. स्वयम्भूस्तोत्र,
४. स्तुतिविद्या, और ५ रत्नकरण्डश्रावकाचार

ये पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं और प्रकाशित हो चुके हैं। इन उपलब्ध ग्रन्थोंके अतिरिक्त इनके द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रन्थोंके उल्लेख और मिलते हैं—

१ जीवसिद्धि, २ गन्धहस्तिमहाभाष्य,

इनमेंसे जिनसेनाचार्यने हरिवंशपुराणमें जीवसिद्धिका उल्लेख किया है[1]। चौदहवीं शताब्दीके विद्वान् हस्तिमल्लने अपने विक्रान्तकौरवकी प्रशस्तिमें गन्धहस्तिमहाभाष्यका निर्देश किया है[2]।

यह पहले बतलाया जा चुका है कि समन्तभद्र परीक्षाप्रधान आचार्य थे। साथ ही श्रद्धा और गुणज्ञता नामक गुण भी उनमें विद्यमान थे। उन्हे आद्य स्तुतिकार होनेका गौरव प्राप्त है। उनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें रत्नकरण्डश्रावकाचारको छोड़कर शेष चारों ग्रन्थ स्तुतिपरक ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थोंमें अपने इष्टदेवकी स्तुतिके व्याज (बहाना)से उन्होंने एकान्तवादोंकी आलोचना करके अनेकान्तवादकी स्थापना की है। वे 'स्वामी' पदसे अभिभूषित थे। स्वामी उनका उपनाम हो गया था। इसी कारण विद्यानन्द और वादिराजसूरि जैसे कितने ही आचार्यों तथा पं० आशाधरजी जैसे विद्वानोंने अपने ग्रन्थोंमें अनेक स्थानोंपर केवल स्वामी पदके प्रयोग द्वारा ही उनका नामोल्लेख किया है। उन्होंने अपने जन्मसे इस भारत भूमिको पवित्र किया था। इसीलिए शुभचन्द्राचार्यने पाण्डवपुराणमें उनके लिए जो 'भारतभूषण' विशेषणका प्रयोग किया है[3] वह सर्वथा उचित है।

जैनदर्शनके इतिहासमें आचार्य समन्तभद्रका स्थान

अनेकान्त और स्याद्वाद जैनदर्शनके प्राण हैं। और आचार्य समन्तभद्र स्याद्वादविद्याके संप्रतिष्ठापक हैं। यह कहा जा सकता है कि आचार्य समन्तभद्रके पहले जिन तत्त्वोंकी प्रतिष्ठा आगमके आधार

---

१. जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम् ।

२. तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्तकः ।
स्वामी समन्तभद्रोऽभूद् देवागमनिदेशकः ॥

३. समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारतभूषणः :

पर प्रचलित थी, आचार्य समन्तभद्रने उन्हीं तत्त्वोंको दार्शनिक शैलीमें स्याद्वादनय अथवा प्रमाण और नयके आधारपर प्रतिष्ठित किया है। स्याद्वादकी सिद्धि करना ही उनका मुख्य ध्येय था। यद्यपि उन्होंने न्यायशास्त्रके विषयमें विशेष नहीं लिखा है, फिर भी अनेकान्त, स्याद्वाद, सप्तभंगी, प्रमाण और नयकी स्पष्ट व्याख्या करके जैन न्यायकी नींव अवश्य रक्खी है। इन्हींके ग्रन्थोंमें 'न्याय' शब्दका प्रयोग सबसे पहले देखा जाता है। उपेयतत्त्वके साथ ही उपायतत्त्व आगमवाद और हेतुवाद में अनेकान्तको योजना करके उन्होंने अनेकान्तके क्षेत्रको व्यापक बनाया है। उनके समयमें हेतुवाद आगमवादसे पृथक् हो गया था। अतः उन्हें हेतुवादके आधारपर आप्तकी मीमांसा करना उचित प्रतीत हुआ। उन्होंने प्रमाणको स्याद्वादनयसंस्कृत बतलाकर श्रुतज्ञानको स्याद्वाद शब्दसे सम्बोधित किया है। सुनय और दुर्नयकी व्यवस्था, प्रमाणका दार्शनिक दृष्टिसे व्यवस्थित लक्षण, प्रमाणके फलका निरूपण, और अनेकान्तमें भी अनेकान्तकी योजना, यह सब सर्व प्रथम समन्तभद्रने ही किया है। इन सब बातोंके कारण जैनदर्शनके इतिहासमें समन्तभद्र-का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

समन्तभद्रके समयमें दार्शनिक विचारधारा

समन्तभद्रका समय भारतीय दर्शनके क्षेत्रमें एक बहुत बड़ी क्रांतिका समय था। उस समय प्रत्येक दर्शनके क्षेत्रमें महान् दार्शनिकोंने जन्म लेकर तत्कालीन प्रचलित विचारधाराको अपनी-अपनी तर्कबुद्धिके द्वारा अपने-अपने मतानुसार मोड़नेका प्रयत्न किया था। उस समय भावैकान्त, अभावैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, हेतुवाद, अहेतुवाद, अपेक्षावाद, अनपेक्षावाद, दैववाद, पुरुषार्थवाद आदि अनेक प्रकारके एकान्तवादोंका प्राबल्य था। समन्तभद्र के पहले भावैकान्त, अभावैकान्त आदि अनेक एकान्तोंका स्थूलरूपसे आगममें उल्लेख मिलता है। समन्तभद्रने उन्हीं अनेक एकान्तोंका सूक्ष्मरूपसे परीक्षण करके युक्तिके द्वारा उनका निराकरण किया है। परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनेक धर्मोंके समुदायरूप वस्तुकी सिद्धि सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्रके ग्रन्थोंमें ही उपलब्ध होती है। समस्त एकान्तवादोंका स्याद्वादन्यायके द्वारा समन्वय करना समन्तभद्रकी अपनी विशेषता है।

आचार्य समन्तभद्रकी दार्शनिक उपलब्धियाँ

सर्वज्ञसिद्धि—जैनदर्शनके इतिहासमें यह प्रथम अवसर है जब आचार्य समन्तभद्रने युक्ति और तर्कके द्वारा सर्वज्ञको सिद्ध किया है। इसके पहले आगममें सर्वज्ञका प्रतिपादन अवश्य किया गया है और यह भी बतलाया गया है कि केवलज्ञानका विषय समस्त द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्याएँ हैं। सर्वप्रथम षट्खण्डागममें सर्वज्ञताका स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगोचर होता है[1]। आचार्य कुन्दकुन्दने भी उसीका अनुसरण करते हुए प्रवचनसारमें केवलज्ञानको त्रिकालवर्ती समस्त अर्थों का जाननेवाला बतलाया है[2]। आचार्य कुन्दकुन्दके अनन्तर आचार्य गृद्धपिच्छने भी केवलज्ञानका विषय सर्व द्रव्योकी सब पर्यायोंको बतलाया है[3]।

आचार्य समन्तभद्रने उपर्युक्त आगममान्य सर्वज्ञताको तर्ककी कसौटी पर कसकर दर्शनशास्त्रमे सर्वज्ञकी चर्चाका अवतरण किया है। 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः अनुमेयत्वात्, अग्न्यादिवत्' 'सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ अनुमेय होनेसे अग्नि आदिकी तरह किसीके प्रत्यक्ष अवश्य है, इस अनुमान द्वारा सामान्यरूपसे सर्वज्ञसिद्धि करके पुनः—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्ट ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥

इस कारिका द्वारा युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्व हेतुसे अर्हन्तमें सर्वज्ञत्व (आप्तत्व) की सिद्धि कीगयी है। समन्तभद्रने आप्तको निर्दोष और युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् बतलाया है। और आप्तमें युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्व के समर्थनमें उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी है। उनका आप्त इसलिए आप्त है कि उसका इष्ट तत्त्व प्रसिद्ध (प्रमाण) से बाधित नही होता है।

---

१. सहं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी...सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्म समं जाणदि पस्सदि विहरदित्ति। षट्खं० पयडि० सू० ७८

२. जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं॥ प्रवचनसार १।४७

३. सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य। तत्त्वार्थसूत्र १।२९

जीवसिद्धि—आचार्य समन्तभद्रने 'जीवसिद्धि' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थकी रचनाकी थी, ऐसा उल्लेख पाया जाता है। किन्तु वह वर्तमानमें उपलब्ध नहीं है। उक्त ग्रन्थमें विस्तारसे जीवकी सिद्धि कीगयी होगी। आप्तमीमांसामें भी निम्नप्रकारसे जीवकी सिद्धि कीगयी है।

'जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वाद्धेतुशब्दवत्' जीव शब्द अपने बाह्य अर्थ सहित है, क्योंकि वह एक संज्ञाशब्द है। जो संज्ञा शब्द होता है उसका बाह्य अर्थ भी पाया जाता है, जैसे हेतुशब्द। जिसप्रकार हेतुशब्दका धूमादिरूप बाह्य अर्थ पाया जाता है, उसीप्रकार जीवशब्दका भी जीवशब्दसे भिन्न चेतनरूप बाह्य अर्थ विद्यमान है। इस प्रकार संक्षेपमें जीवसिद्धि कीगयी है।

वस्तुमें उत्पादादित्रयकी सिद्धि—आचार्य समन्तभद्रके पहले आचार्य कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छने द्रव्यको केवल सामान्यरूपसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप बतलाया था। उसका युक्ति और दृष्टान्तके द्वारा विशेषरूपसे प्रतिपादन समन्तभद्रकी अपनी विशेषता है। उन्होंने बतलाया है कि वस्तुका सामान्यरूपसे न तो उत्पाद होता है और न विनाश। किन्तु उत्पाद और विनाश विशेषरूपसे ही होता है। अर्थात् द्रव्यका उत्पाद और विनाश नहीं होता है। उत्पाद और विनाश केवल पर्यायका ही होता है। तथा विनष्ट और उत्पन्न पर्यायोंमें द्रव्यका अन्वय बराबर बना रहता है।

स्याद्वाद और सप्तभंगीकी सुनिश्चित व्यवस्था

समन्तभद्रके पहले आगममें 'सिया अत्थि दव्वं, सिया णत्थि दव्वं' इत्यादिरूपसे स्याद्वाद और सप्तभंगीका उल्लेख अवश्य मिलता है[१], किन्तु उसकी निश्चित व्याख्या, अनेक एकान्तोंमें सप्तभंगीका प्रयोग और युक्तिके बलपर वस्तुको अनेकान्तात्मक सिद्ध करना समन्तभद्रकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और उन अनन्त धर्मोंका प्रतिपादन स्याद्वादके द्वारा किया जाता है। समन्तभद्रने बतलाया है कि वस्तुमें सत्, असत्, उभय और अनुभय ये चार कोटियाँ ही नहीं हैं, किन्तु सात कोटियाँ (सप्तभंगी) हैं। प्रत्येक धर्मका प्रतिपादन उसके प्रतिपक्षी

---

१. सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि॥

पञ्चास्तिकाय गाथा १४

धर्मकी अपेक्षासे सात प्रकारसे किया जा सकता है। यतः वस्तुमें अनन्त धर्म हैं, अतः उन अनन्त धर्मोंकी अपेक्षासे प्रत्येक वस्तुमें अनन्त सप्तभंगियाँ बन सकती हैं।

अनेकान्तमें अनेकान्तकी योजना

सर्वप्रथम समन्तभद्रने ही अनेकान्तमें भी अनेकान्तकी योजना की है। जब उनसे कहा गया कि सब पदार्थोंके अनेकान्तात्मक होनेसे अनेकान्तको भी अनेकान्तरूप होना चाहिए तो उन्होंने उत्तर दिया कि प्रमाण और नयकी अपेक्षासे अनेकान्तमें भी अनेकान्त पाया जाता है[१]। अर्थात् अनेकान्त सर्वथा अनेकान्त नहीं है, किन्तु कथंचित् एकान्त और कथंचित् अनेकान्त है। प्रमाणदृष्टिसे जब समग्र वस्तुका विचार किया जाता है तब वह अनेकान्त कहलाता है। और नयदृष्टिसे जब वस्तुके किसी एक धर्मका विचार किया जाता है तब वही एकान्त हो जाता है।

सर्वोदय तीर्थ

वर्तमान समयमें सर्वोदयका नाम बहुत सुना जाता है। गांधीयुगमें भी सर्वोदयका बहुत प्रचार हुआ। किन्तु इस बातको कम ही लोग जानते हैं कि गांधीजीसे सत्रह सौ वर्ष पहले उत्पन्न हुए आचार्य समन्तभद्रने वास्तविक सर्वोदयके सिद्धान्तको जनताके समक्ष रखते हुए भगवान् महावीरके तीर्थको सर्वोदय तीर्थ कहा था[२]। सर्वोदयका अर्थ है कि जिसके द्वारा सबका उदय, अभ्युदय या उन्नति हो। किसी भी तीर्थको सर्वोदयी होनेके लिए आवश्यक है कि उसका आधार समता और अहिंसा हो। भगवान् महावीरका शासन ऐसा ही था। उनके शासनमें जाति, कुल, वर्ण आदिके भेदभावके बिना सब मनुष्योंको ही नहीं किन्तु प्राणिमात्रको धर्मसाधन करने तथा आत्म विकास करनेका समान अवसर प्राप्त है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहके सिद्धान्तों द्वारा सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रमें भी सर्वोदयके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है। इन बातोंके अतिरिक्त सर्वोदयके लिए और क्या चाहिए।

---

१. अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥ स्वयम्भूस्तोत्र १०३

२. सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥ युक्त्यनुशासन ६१

इस प्रकार आचार्य समन्तभद्रकी कुछ दार्शनिक उपलब्धियोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया है। वास्तवमें उन्होंने एक युगपुरुषके रूपमें दर्शनके क्षेत्रमें अनेक उपलब्धियाँ प्रस्तुत करके अपने उत्तरवर्ती दार्शनिकोंके लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था। यही कारण है कि समन्तभद्रने जिन बातोंको सूत्ररूपमें कहा था उन्हीं बातोंका उनके उत्तरवर्ती अकलंक, विद्यानन्द आदि आचार्योंने उनकी वाणीको हृदयङ्गम करके भाष्य या टीकाके रूपमें विस्तारसे विवेचन किया है।

अष्टशतीके रचयिता आचार्य अकलङ्क

अकलङ्कका व्यक्तित्व

जैनन्यायके प्रतिष्ठापक अकलङ्क एक युगप्रधान आचार्य हुए हैं। बौद्धदर्शनमें धर्मकीर्तिका और मीमासादर्शनमें कुमारिल भट्टका जो स्थान है वही स्थान जैनदर्शनमें अकलक देवका है। आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेनके बाद अकलङ्कने जैनन्यायको सुप्रतिष्ठित किया है। इसी-लिए उनके नामके आधार पर जैनन्यायको अकलङ्कन्याय भी कहा जाता है। आचार्य समन्तभद्रके सूत्ररूप वचनोके आधार पर अकलंक देवने जैन न्याय और प्रमाणशास्त्रकी पूर्णरूपसे प्रस्थापना की है। वे इनके लिए स्याद्वादपुण्योदधिप्रभावक, भव्यैकलोकनयन और स्याद्वादवर्त्मपरिपालक के रूपमें श्रद्धेय रहे है, और उनके द्वारा प्रदर्शित मार्गपर चलकर इन्होंने अकलंकन्यायका भव्य भवन निर्मित किया है। तथा इनके द्वारा मान्य व्यवस्थामे उत्तरवर्ती किसी भी आचार्यने किसी भी प्रकारके परिवर्तनकी आवश्यकता अनुभव नही की।

अकलंक इतने प्रसिद्ध और प्रभावशाली आचार्य हुए हैं कि इनकी प्रशंसा और स्तुति अनेक ग्रन्थों और शिलालेखोंमें पायी जाती है। न्याय-कुमुदचन्द्रके तृतीय परिच्छेदके अन्तमें आचार्य प्रभाचन्द्रने इन्हें समस्त अन्यमतवादिरूपी गजेन्द्रोंका दर्प नष्ट करने वाला सिंह बतलाया है[1]। अष्टसहस्रीके टिप्पणकार लघु समन्तभद्रने लिखा है[2] कि सम्पूर्ण तार्किक

---

१. इत्थं समस्तमतवादिकरीन्द्रदर्पमुन्मूलयन्नमलमानदृढप्रहारैः ।
स्याद्वादकेसरसटाशततीव्रमूर्तिः पञ्चाननो भुवि जयत्यकलंकदेवः ॥

२. सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकितचरणनखकिरणो भगवान् भट्टाकलंकदेवः ।
—अष्टस० टिप्पण पृ० १

अन उनके चरणोंकी वन्दना करते थे जिससे उनके चूड़ामणिकी किरणोंके द्वारा अकलंकके चरणोंके नखोंकी किरणें नाना रूप धारण कर लेती थीं। स्याद्वादरत्नाकरके रचयिता श्वेताम्बराचार्य देवसूरिने उन्हें [illegible]के दोषोंका उद्भावक बतलाया है[1]।

महाकवि वादिराज सूरि लिखते हैं[2] कि वे तर्कभूवल्लभ अकलंक जयवन्त हों, जिन्होंने जगतकी वस्तुओंके अपहर्ता शून्यवादी बौद्ध दस्युओंको दण्डित किया। शुभचन्द्राचार्यने तो मुग्ध होकर उनकी पुण्य सरस्वतीको अनेकान्त गगनकी चन्द्रलेखा लिखा है[3]। इसी प्रकार ब्रह्मचारी अजितने अकलंकको बौद्धबुद्धिवैधव्यदीक्षागुरु बतलाया है[4]। अर्थात् अकलंक द्वारा बौद्धोंकी बुद्धि विधवा हो गयी या उनकी बुद्धिको वैधव्यकी दीक्षा दी गयी। पद्मप्रभमलधारिदेवने नियमसारकी तात्पर्यवृत्तिके प्रारंभमें उन्हें 'तर्काब्जार्क' अर्थात् तर्करूपी कमलोंके विकासके लिए सूर्य बतलाया है।

इसीप्रकार अनेक शिलालेखोंमे वादिसिंह, स्याद्वादामोघजिह्व, समयदीपक, उद्बोधितभव्यकमल, ताराविजेता, जिनमतकुवलयशशांक, बौद्धवादिविजेता शास्त्रविदग्रेसर, मिथ्यान्धकारभेदक, महर्धिक और देवागमके भाष्यकारके रूपमें अकलंकका स्मरण किया गया है।

श्रवणबेलगोलामें हुण्डिसिद्दन चिक्कके खेतके पास एक पाषाण पर उत्कीर्ण लेखमें लिखा है[5] कि उस अकलंकदेवकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है, जिसके वचनरूपी खड्ग (तलवार)के प्रहारसे आहत होकर बुद्ध बुद्धिरहित होगया।

जिस समय अकलंकने कार्यक्षेत्रमें पदार्पण किया वह समय बौद्धयुग-

---

१. प्रकटिततीर्थान्तरीयकलंकोऽप्यकलंकोप्याह। —स्याद्वादरत्नाकर

२. तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलंकधीः।
जगद्द्रव्यमुषो येन दण्डिता शाक्यदस्यवः॥ —पार्श्वनाथचरित

३. श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती।
[illegible] चन्द्रलेखायितं यया॥ —ज्ञानार्णव

४. [illegible]कलंकपदेश्वरः।
बौद्धानां बुद्धिवैधव्यदीक्षागुरुरुदा[illegible]तः॥ —हनुमच्चरित

५. तस्याकलङ्कदेवस्य महिमा केन वर्ण्यते।
यद्वाक्यखड्गघातेन हतो बुद्धो विबुद्धिः सः॥

का मध्याह्न काल था। इसी कारण अकलंकके ग्रन्थोंमें बौद्धदर्शनकी आलोचना विशेष रूपसे हुई है। अकलंक बौद्धोंके प्रबल विपक्षी थे। इसका कारण सिद्धान्त भेद था, मनकी दूषित वृत्ति नहीं। वे समन्तभद्रके समान परीक्षाप्रधान पुरुष थे। उन्होंने अष्टशतीमें लिखा है[1] कि आज्ञाप्रधान पुरुष देवोंके आगमन आदिको परमात्माका चिह्न मान सकते हैं, हमलोग नहीं। फिर भी उनमें श्रद्धाका अभाव न था, किन्तु उनकी श्रद्धा परीक्षा-मूलक थी। वे न केवल हेतुवादके अनुयायी थे और न केवल आज्ञावाद-के। उनके अनुसार आज्ञावाद तभी प्रमाण हो सकता है जब वह आज्ञा (आगम) किसी आप्त पुरुषकी हो[2]।

शास्त्रार्थी अकलङ्क

अकलंकका युग विद्वत्समाजमें शास्त्रार्थ करनेका युग था। शास्त्रार्थ धर्मप्रचार करनेका मुख्य साधन समझा जाता था। चीनी यात्री फाहियान और ह्यूनत्सांगने अपनी अपनी यात्राके वर्णनमें कई शास्त्रार्थोंका उल्लेख किया है। ह्यूनत्सांग सातवीं शताब्दीके मध्यमें भारत आया था। और बहुत समय तक नालन्दा विश्वविद्यालयमें रहा था। उसने नालन्दा विश्वविद्यालयमें सम्पन्न हुए शास्त्रार्थोंका रोचक वर्णन लिखा है। अक-लंककी प्रसिद्धि शास्त्रार्थी तथा बौद्धवादिविजेताके रूपमें रही है। उस समयके शास्त्रार्थ प्रायः राज्य सभाओंमें हुआ करते थे और राजा तथा प्रजा उसमें समानरूपसे रुचि रखते थे। अकलंकने भी कई राज्य सभाओं में जाकर बौद्धोंके साथ शास्त्रार्थ किया था।

बौद्धसम्प्रदायमें तारादेवीका महत्त्वपूर्ण स्थान है। और अकलंककी ताराविजेताके रूपमें प्रसिद्धि है। बौद्धोंकी इष्ट देवी तारा परदेकी ओटमें घटके अन्दर बैठकर शास्त्रार्थ करती थी और उस तारादेवीको अकलंक-ने शास्त्रार्थमें पराजित किया था। कलिंग देशके राजा हिमशीतलकी सभामें अकलंकके शास्त्रार्थ और तारादेवीकी पराजयका उल्लेख श्रवण-बेलगोलकी मल्लिषेण प्रशस्तिमें इस प्रकारसे किया गया है—

तारा येन विनिर्जिता घटकुटी गूढावतारा समम्,
बौद्धैर्या धृतपीठपीडितकुदृग्देवात्तसेवाञ्जलिः।

---

१. आज्ञाप्रधाना हि त्रिदशागमादिकं परमेष्ठिनः परमात्मचिह्नं प्रतिपद्येरन् नास्मदादयः। —अष्टश० अष्टस० पृ० २

२. सिद्धं पुनराप्तवचने यथा हेतुवादस्तथा आज्ञावादोऽपि प्रमाणम्। —अष्टश० अष्टस० पृ०

...दिवसमिवांध्रिवा...रजः स्नानं च यस्याचर-
द्दोषाणां सुगतः स कस्य विषयो देवाकलंकः कृतिः ॥

पाण्डव...राणमें तारादेवीके घटको पैरसे ठुकरानेका उल्लेख इस प्रकार है—

अकलंकोऽकलंकः स कलौ कलयतु श्रुतम् ।
पादेन ताडिता येन मायादेवी घटस्थिता ॥

इसीप्रकार मान्यखेटके राजा साहसतुगकी सभामें अकलंकके जानेका उल्लेख भी मल्लिषेण प्रशस्तिमें है। उक्त उल्लेखोंसे सिद्ध होता है कि अकलंक देव एक महावादी और शास्त्रार्थी थे।

अकलंक परिचय

अन्य आचार्योंकी तरह अकलक देवने भी अपने किसी ग्रन्थमें अपना कुछ भी परिचय नहीं लिखा है। किन्तु अन्य स्रोतोंके आधार पर उनके विषयमें जो जानकारी प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है।

प्रभाचन्द्रके गद्य कथाकोश, ब्रह्मचारी नेमिदत्तके पद्य कथाकोश और कन्नड़ भाषाके 'राजावली कथे' नामक ग्रन्थोंमें अकलंककी जीवन कथा मिलती है। कथाकोशके अनुसार अकलंककी जन्मभूमि मन्यखेट थी और वे वहांके राजा शुभतुगके मंत्री पुरुषोत्तमके पुत्र थे। मान्यखेट नगर एक समय राष्ट्रकूटवंशी राजाओंकी राजधानी था और राष्ट्रकूटवंशी राजाओंमेंसे कृष्णराज प्रथम शुभतुग नामसे प्रसिद्ध था। तथा उसके भतीजे दन्तिदुर्गका दूसरा नाम साहसतुग था। और अकलंक साहसतुगकी सभामे गये थे। राजावली कथेके अनुसार अकलङ्क काञ्चीके जिनदास नामक ब्राह्मणके पुत्र थे। काञ्ची नगर इतिहासमें प्रसिद्ध है। यह द्रविण देशकी राजधानी था। इसे दक्षिण भारतकी काशी कहा जाता है।

अकलंकदेवके तत्त्वार्थराजवार्तिक नामक ग्रन्थके प्रथम अध्यायके अन्तमें एक श्लोक पाया जाता है जिसमे उन्हे लघुहव्व नृपतिका पुत्र बतलाया गया है। वह श्लोक निम्न प्रकार है—

जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः ।
अनवरतनिखिलजननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः ॥

इससे ज्ञात होता है कि अकलंक एक राजपुत्र थे और उनके पिताका नाम लघुहव्व था। यह भी निश्चित प्रतीत होता है कि अकलङ्क दक्षिण भारतके निवासी थे। भट्ट इनकी उपाधि थी। इस उपाधिका प्रयोग इनके नामके पहले किया जाता है। और नामके आगे 'देव' शब्दका प्रयोग भी देखा जाता है। इससे प्रतीत होता है कि वे देवके समान पूज्य थे।

अकलङ्कका समय

अकलङ्कदेवने भर्तृहरि, कुमारिल तथा धर्मकीर्तिकी आलोचनाके साथ ही साथ प्रज्ञाकर गुप्त, कर्णकगोमि, धर्मोत्तर आदिके विचारोंका भी आलोचन किया है। अतः अकलंकका समय इन सबके बादका है। श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्रीने न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भागकी प्रस्तावनामें अकलंकका समय ईस्वी सन् ६२० से ६८० निर्धारित किया है। किन्तु पं० महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्यने अकलंकग्रन्थत्रयकी प्रस्तावनामें अकलंकका समय सन् ७२० से ७८० तक सिद्ध किया है।

अकलङ्ककी रचनाएँ

अकलङ्ककी दो प्रकारकी रचनाएँ उपलब्ध हैं—१. पूर्वाचार्योंके ग्रन्थोंपर भाष्यरूप रचना और २. स्वतंत्र रचना। इनमेंसे अष्टशती और तत्त्वार्थराजवार्तिक ये दो भाष्यरूप रचनाएँ हैं। और लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, सिद्धिविनिश्चय आदि स्वतंत्र रचनाएँ हैं।

अष्टशती

स्वामी समन्तभद्रके आप्तमीमांसा नामक प्रकरण ग्रन्थका यह भाष्य है। गहनता, संक्षिप्तता तथा अर्थगाम्भीर्यमें इसकी समानता करनेके योग्य कोई दूसरा ग्रन्थ दार्शनिक क्षेत्रमें दृष्टिगोचर नहीं होता। अष्टशतीमें उन सब विषयोंपर तो प्रकाश डाला ही गया है जो आप्तमीमांसामें उल्लिखित हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त इसमें नये विषयोंका भी समावेश किया है। इसमें सर्वज्ञको न मानने वाले मीमांसक और चार्वाकके साथ साथ सर्वज्ञ-विशेषमें विवाद करनेवाले बौद्धोंकी भी आलोचना की गयी है। सर्वज्ञसाधक अनुमानका समर्थन करते हुए उन पक्षदोषों और हेतुदोषोंका उद्भावन करके खण्डन किया गया है जिन्हें दिग्नाग आदि बौद्ध नैयायिकोंने माना है। इच्छाके विना वचनकी उत्पत्ति, बौद्धोंके प्रति तर्क प्रमाणकी सिद्धि, धर्मकीर्ति द्वारा अभिमत निग्रहस्थानकी आलोचना, स्वलक्षणको अनिर्देश्य माननेकी आलोचना, स्वलक्षणमें अभिलाप्यत्वकी सिद्धि, ईश्वरके सृष्टि-कर्तृत्वकी आलोचना, सर्वज्ञमें ज्ञान और दर्शनकी युगपत् प्रवृत्तिकी सिद्धि आदि नूतन विषयों पर अष्टशतीमें अच्छा प्रकाश डाला गया है।

आचार्य अकलङ्ककी दार्शनिक उपलब्धियाँ

न्यायकी प्रतिष्ठा

अकलङ्क देवके पहले केवल आगमिक परम्पराके अनुसार सामान्य-रूपसे प्रमाण, नय, स्याद्वाद, सप्तभंगी आदिका सूत्ररूपमें उल्लेख दृष्टि-

गोचर होता है। सर्वप्रथम प्रथम शताब्दीके प्रमुख आचार्य कुन्दकुन्दने अपने प्रवचनसार नामक ग्रन्थमें प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणका सामान्य लक्षण करके तथा सातभंगोंके नाम गिनाकर न्यायके क्षेत्रमें दार्शनिक शैलीका सूत्रपात किया है। इसके अनन्तर आचार्य गृद्धपिच्छने अपने तत्त्वार्थसूत्रमें प्रमाण और नयकी चर्चा तथा षट्खण्डागमके अनुसार मतिज्ञानमें स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान) चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) का अन्तर्भाव करके न्यायोपयोगी सामग्रीको प्रस्तुत किया है। इसके बाद समन्तभद्रने अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगीके निरूपणमें ही अपनी सारी शक्ति लगा दी। इसके अनन्तर आचार्य सिद्धसेनने प्रमाण और नयका निरूपण करनेके लिए 'न्यायावतार' नामक एक स्वतंत्र प्रकरण ग्रन्थका निर्माण किया। अकलङ्क देवके पहले जैन न्यायकी यही रूपरेखा उपलब्ध होती है।

तदनन्तर अकलङ्क देवने न्यायके क्षेत्रमें अनेक नूतन बातोंको सम्मिलित करके जैन न्यायको सुव्यवस्थित किया है। सबसे पहले उनका ध्यान प्रमाणकी पद्धतिकी ओर आकृष्ट हुआ। आगममें प्रमाणके दो भेद बतलाये गये हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्षमें अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान सम्मिलित हैं। मति और श्रुत ये दो ज्ञान परोक्ष माने गये हैं। आगममें इन्द्रियजन्य ज्ञानको परोक्ष माना गया है, जबकि अन्य दार्शनिकोंने इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष माना है। अकलङ्क देवके सामने इन दोनोंमें सामञ्जस्य स्थापित करनेकी समस्या थी। उन्होंने इस समस्याका समाधान बहुत ही सुन्दर रीतिसे किया है। उन्होंने प्रत्यक्षके मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ये दो भेद करके इंद्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाले मतिज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कह कर प्रत्यक्षमें सम्मिलित कर लिया। ऐसा करनेसे प्राचीन परम्पराकी सुरक्षा भी हो गयी, और अन्य दार्शनिकोंके द्वारा अभिमत प्रत्यक्षकी परिभाषाके अनुसार लोकव्यवहारकी दृष्टिसे सामञ्जस्य भी हो गया।

पुनः सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके दो भेद किये—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। उन्होंने मतिज्ञानको इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा, तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान इन चार ज्ञानोंको अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष बतलाया[1]। उन्होंने एक नवीन बात यह भी बतलायी है कि मति आदि

१. इन्द्रियार्थज्ञानं अवग्रहेहावायधारणात्मकम्। अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताऽभिनिबोधात्मकम्। लघीयस्त्रय० का० ६१

ज्ञान तभी तक सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं जब तक उनमें शब्दयोजना नहीं की जाती। उनमें शब्दयोजना होने पर वे परोक्ष कहे जायेंगे और तब वे श्रुतज्ञानके भेद होंगे[1]। यहाँ यह ध्यातव्य है कि अकलङ्कदेव द्वारा प्रतिपादित प्रमाणके भेदोंको उत्तरकालीन ग्रन्थकारोंने विना किसी विवाद के स्वीकार कर लिया। किंतु उन्होंने स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञानको शब्दयोजनाके पहले जो अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है उसे किसी भी अन्य आचार्यने स्वीकार नहीं किया। प्रत्यक्षकी आगमिक परिभाषाके स्थानमें दार्शनिक परिभाषा करनेकी भी आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः अकलङ्क देवने विशद ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है[2]। किन्तु आगममें इन्द्रिय और मनकी अपेक्षाके विना आत्मामात्रसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको प्रत्यक्ष बतलाया गया है।

अविसंवादकी प्रायिक स्थिति

धर्मकीर्तिकी तरह अकलङ्क देवने भी अविसंवादी ज्ञानको प्रमाण माना है। अविसंवादको प्रमाणताका आधार मानकर भी उन्होंने एक विशेष बात बतलायी है कि हमारे ज्ञानोंमें प्रमाणता और अप्रमाणताकी संकीर्ण स्थिति है। कोई भी ज्ञान सर्वथा प्रमाण या अप्रमाण नहीं होता है। इन्द्रियदोपसे एक चन्द्रमें होनेवाला द्विचन्द्र ज्ञानभी चन्द्रांशमें प्रमाण और द्वित्वांशमें अप्रमाण है। एक चन्द्र ज्ञान भी चन्द्रांशमें ही प्रमाण है, पर्वत पर स्थित चन्द्ररूपमें नहीं। अतः प्रमाणताका निर्णय अविसंवादकी बहुलतासे किया जाना चाहिए। जैसे कि जिस पुद्गल द्रव्यमें गन्ध गुणकी प्रचुरता होती है उसे गन्ध द्रव्य कहते हैं[1]।

---

१. ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधनम्।
प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनम्॥ लघीयस्त्रय का० १०

२. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसांव्यवहारिकम्।
परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाण इति संग्रहः॥ लघीयस्त्रय का० ३

३. येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदस्तदपेक्षया प्रामाण्यमिति। तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या। प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्। तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलंभात्। तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धादिद्रव्यवत्। अष्टश० अष्टस० पृ० २७७
तिमिराद्युपप्लवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणं तथा तत्संख्यादौ विसंवादकत्वादप्रमाणम्। प्रमाणेतरव्यवस्थायास्तल्लक्षणत्वात्। लघीयस्त्रयस्ववृत्ति का० २२

अकलङ्क देवकी तरह प्रज्ञाकर गुप्तने भी पीतशंखादि ज्ञानको संस्थान मात्र अंशमें प्रमाण तथा पीतांशमें अप्रमाण माना है। उनका कहना है कि पीतशंखादि ज्ञानोंके द्वारा अर्थक्रिया नहीं होती है, अत: वे प्रमाण नहीं हैं। किंतु संस्थानमात्र अंशसे होनेवाली अर्थक्रिया तो उनसे भी हो सकती है, अतः उस अंशमें उन्हें अनुमानरूपसे प्रमाण मानना चाहिए। तथा अन्य अंशमें संशय मानना चाहिए। इस प्रकार एक ज्ञानमें आंशिक प्रमाणता और आंशिक अप्रमाणता सिद्ध होती है[1]। अष्टशतीमें अकलङ्क देवने प्रज्ञाकर गुप्तकी संस्थानमात्रमें अनुमान माननेकी बातका खण्डन किया है[2]।

परोक्ष प्रमाण वैशिष्ट्य

अकलङ्क देवने परोक्ष प्रमाणके प्रकरणमे नैयायिकके उपमान प्रमाणकी आलोचना करते हुए प्रत्यभिज्ञानके एकत्व, सादृश्य, प्रतियोगी आदि अनेक भेदोंका उपपादन किया है। और उपमानका सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमें अन्तर्भाव किया है। तथा सर्वदेशावच्छेदेन और सर्वकालावच्छेदेन व्याप्तिज्ञानके लिए तर्क प्रमाणकी आवश्यकता सिद्ध को है। साध्य और साध्याभासका स्वरूप स्थिर किया है[3]। हेतु और हेत्वाभासकी व्यवस्था की है। जैनाचार्योंने प्रारंभसे ही अन्यथानुपपन्नत्व या अविनाभावको साधनका एकमात्र लक्षण माना है। अकलङ्कने बौद्धोंके

---

१. पीतशंखादिविज्ञानं तु न प्रमाणमेव तथार्थक्रियाव्याप्तेरभावात्। संस्थानमात्रार्थक्रियाप्रसिद्धावन्यदेव ज्ञानं प्रमाणमनुमानम्, तथाहि

प्रतिभास एवम्भूतो यः स न संस्थानवर्जितः।
एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा च तत्॥

ततोऽनुमानं संस्थाने, संशयः परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाण च। अनेन मणिप्रभाया मणिज्ञानं व्याख्यातम्।

प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० ६

२. नापि लैङ्गिकं लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धाप्रतिपत्तेः अन्यथा दृष्टान्तेतरयोरेकत्वात् किं केन कृतं स्यात्।

अष्टश० अष्टस० पृ० २७७

३. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्।
साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः॥

न्यायविनिश्चय श्लो० १७२

त्रैरूप्यका निराकरण करके अन्यथानुपपन्नत्वका ही समर्थन किया है[1]। बौद्ध दार्शनिक हेतुके तीन भेद मानते हैं—स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि। अकलङ्क देवने कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचरको भी हेतु माना है। बौद्ध अनुपलब्धिको केवल प्रतिषेधसाधक मानते हैं[2]। किंतु अकलङ्क देवने उपलब्धि और अनुपलब्धि दोनोंको ही विधिसाधक और दोनोंको ही प्रतिषेधसाधक माना है। इसीलिए प्रमाणसंग्रहमें सद्भावसाधक ९ उपलब्धियों और अभावसाधक ६ अनुपलब्धियोंको लिखकर प्रतिषेध-साधक ३ उपलब्धियोंके भी उदाहरण दिये हैं।

बौद्ध दृश्यानुपलब्धिसे ही अभावकी सिद्धि मानते हैं। अदृश्यानुपलब्धि-से नहीं। किसी स्थान विशेषमें घटकी अनुपलब्धि दृश्यानुपलब्धि है और पिशाचकी अनुपलब्धि अदृश्यानुपलब्धि है। बौद्धोंके अनुसार सूक्ष्म आदि विप्रकृष्ट विषयोंकी अनुपलब्धि संशयहेतु होनेसे अभावसाधक नहीं हो सकती है[3]। बौद्धोंने दृश्यत्वका अर्थ केवल प्रत्यक्षविषयत्व किया है। इस विषयमें अकलङ्क देवका कहना है कि दृश्यत्वका अर्थ केवल प्रत्यक्ष-विषयत्व नही है, किंतु उसका अर्थ प्रमाणविषयत्व है। यही कारण है कि मृत शरीरमें स्वभावसे अतीन्द्रिय चैतन्यका अभाव भी हमलोग सिद्ध करते हैं। यदि अदृश्यानुपलब्धि एकान्ततः संशयहेतु मानी जाय तो मृत शरीर-में चैतन्यकी निवृत्तिका सन्देह सदा बना रहेगा। ऐसी स्थितिमें मृत शरीरका दाह करना कठिन हो जायगा और दाह करनेवालोंको पातकी बनना पड़ेगा। बहुतसे अप्रत्यक्ष रोगादिके अभावका भी निर्णय देखा-ही जाता है[4]।

---

१. सपक्षेणैव साध्यस्य साधर्म्यादित्यनेन हेतोस्त्रैलक्षण्यमविरोधादित्यन्यथानुप-पत्तिं च दर्शयता केवलस्य त्रिलक्षणस्यासाधनत्वमुक्तं तत्पुत्रादिवत्। एकलक्ष-णस्यतु गमकत्वम्। अष्टश० अष्टस० पृ० २८९

२. प्रतिषेधसिद्धिरपि यथोक्ताया एवानुपलब्धेः। सति वस्तुनि तस्या असंभवात्। न्यायबिन्दु पृ० ३२

३. विप्रकृष्टविषयानुपालब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा संशयहेतुः प्रमाण-निवृत्तावप्यर्थाभावासिद्धेः। न्यायबिन्दु पृ० ४४

४. अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धिरित्ययुक्तं परचैतन्यनिवृत्तावारेकापत्तेः, तत्संस्क-र्तॄणां पातकित्वप्रसङ्गात्। बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात्। अष्टश० अष्टस० पृ० ५२

अदृश्यपरचित्तादेरभावं लौकिका विदुः।
तदाकार विकारादेरन्यथानुपपत्तितः॥ लघीयस्त्रय का० १५

अकलङ्कदेवने जब अन्यथानुपपन्नत्वको ही हेतुका एकमात्र लक्षण माना है तब स्वभावत: उनके मतसे अन्यथानुपन्नत्वके अभावमें एक ही हेत्वाभास होना चाहिए। उन्होंने स्वयं कहा है[1] कि वस्तुत: एक असिद्ध ही हेत्वाभास है। यत: अन्यथानुपपत्तिका अभाव अनेक प्रकारसे होता है, अत: विरुद्ध, असिद्ध, सन्दिग्ध और अकिञ्चित्करके भेदसे चार हेत्वाभास भी हो सकते हैं। एक स्थानमे तो उन्होंने विरुद्ध आदिको अकिंचित्करका ही विस्तार कहा है[2]। वास्तवमें हेत्वाभास और जातिका जैसा विवेचन आचार्य अकलंकके ग्रन्थोंमें मिलता है वैसा उससे पहले किसी जैन ग्रन्थमें नहीं मिलता। अकलङ्कने ही प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगीके भेदसे सप्तभंगीके दो भेद किये हैं।

जय पराजय व्यवस्था

न्यायदर्शनमें जल्प और वितण्डामें छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असत् उपायोंका अवलम्बन लेना भी न्याय्य माना गया है। क्योंकि जल्प और वितण्डाका उद्देश्य तत्त्व सरक्षण करना है। और तत्त्वका संरक्षण किसी भी उपायसे करनेमें कोई आपत्ति नही मानी गयी है। नैयायिकोंने जब जल्प और वितण्डामे छल, जाति और निग्रहस्थानका प्रयोग स्वीकार कर लिया तो बादमें भी उन्हीके आधारपर जयपराजयकी व्यवस्था बन गयी। न्यायदर्शनमें प्रतिज्ञाहानि आदि २२ निग्रहस्थान माने गये हैं।

धर्मकीर्तिने 'वादन्याय'में छल, जाति और निग्रहस्थानके आधारसे होनेवाली जय पराजयकी व्यवस्थाका खण्डन करते हुए वादीके लिए असाधनांगवचन और प्रतिवादीके लिए अदोषोद्भावन ये दो ही निग्रह-स्थान माने हैं[3]। वादीका कर्तव्य है कि वह पूर्ण और निर्दोष साधन बोले और प्रतिवादीका कर्तव्य है कि वह यथार्थ दोषोंका उद्भावन करे। इतना कहनेके बाद धर्मकीर्तिने असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावनके अनेक अर्थ किये हैं। उन्होंने कहा है कि अन्वय या व्यतिरेक किसी

---

१. अन्यथासंभवाभावभेदात् स बहुधा मत:।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरै: ॥ —न्यायविनि० २।२६५

२. अकिञ्चित्कारकान् सर्वान् तान् वयं संगिरामहे। —न्यायविनि० २।३७१

३. असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयो:।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते ॥ —वादन्याय० पृ० १

एक दृष्टान्तसे ही जब साध्यकी सिद्धि संभव है तब दोनों दृष्टान्तोंका प्रयोग करना असाधनांगवचन है[1]। प्रतिज्ञा, निगमन आदि साधनके अङ्ग नहीं हैं, उनका कथन असाधनांगवचन है[2]।

आचार्य अकलंकने सत्य और अहिंसाकी दृष्टिसे छल, जाति और निग्रहस्थानके प्रयोगको सर्वथा अन्याय्य माना है। वे असाधनांगवचन और अदोषोद्भावनके चक्करमें भी नहीं पड़े। उन्होंने तो स्पष्टरूपसे इतना ही कहा कि वादीको अविनाभावी साधनसे स्वपक्षकी सिद्धि और परपक्षका निराकरण करना चाहिए। इसी प्रकार प्रतिवादीको वादीके पक्षमें यथार्थ दूषण देना चाहिए और अपने पक्षकी सिद्धि करना चाहिए। एककी जय और दूसरेकी पराजयके लिए इतना ही पर्याप्त है। इससे अधिक और किसी बातकी आवश्यकता नहीं है। एककी स्वपक्षसिद्धि हो जानेसे ही दूसरेका निग्रह हो जाता है[3]। अतः असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावनसे क्रमशः वादी और प्रतिवादीका निग्रह मानना ठीक नहीं है। इसके साथ ही अकलंकने यह भी बतलाया है कि अन्वय और और व्यतिरेक दोनों दृष्टान्तोंके प्रयोग करनेसे निग्रहस्थान नहीं होता है[4]। अतः आवश्यकतानुसार दोनों दृष्टान्तोंका प्रयोग किया जा सकता है। इसी प्रकार पक्षादिवचनको भी निग्रहस्थान मानना ठीक नहीं है। यदि वादमें प्रतिज्ञाका प्रयोग अनुपयोगी है तो शास्त्रमें भी उसका प्रयोग

१. एकेनापि वाक्येनान्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन वा प्रयुक्तेन सपक्षापक्षयोर्लिङ्गस्य सदसत्त्वख्यापनं कृतं भवतीति नावश्यं वाक्यद्वयप्रयोगः।

—न्यायबिन्दु पृ० ५७

२. द्वयोरप्यनयोःप्रयोगे नावश्यं पक्षनिर्देशः। —न्यायबिन्दु पृ०५८

३. स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः।
नासाधनांगवचनं नादोषोद्भावनं द्वयोः॥ —अष्टस० पृ० ८७
असाधनांगवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।
निग्रहस्थानमिष्टं चेत् किं पुनः साध्यसाधनैः॥ —सिद्धिवि० ५।१०

४. [illegible] तावदुभयमाह मतान्तरप्रतिक्षेपार्थं वा, यदाह धर्मकीर्तिः—साधर्म्यवैधर्म्ययोरन्यतरेणार्थगतौ उभयप्रतिपादनं पक्षादिवचनं वा निग्रहस्थानमिति। न तद् युक्तम्, साधनसामर्थ्यविपक्षव्यावृत्तिलक्षणेन पक्षं प्रसाधयतः केवलं वचनाधिक्योपालम्भ[illegible] [illegible]: स्वयं निराकृतपक्षेण प्रतिपक्षिणा कथनीया।

—अष्टश: अष्टस० पृ० ८१

नहीं करना चाहिए'। इस प्रकार अकलंक देवने जय-पराजयकी निर्दोष प्रणाली बतलायी है।

आलोचन कौशल्य

उस समय अन्य दर्शनों तथा दार्शनिकोंकी आलोचना करते समय आलोचक मर्यादाका अतिक्रमण कर जाते थे। और अपने विपक्षियों-के लिए पशु, अह्रीक (निर्लज्ज) आदि शब्दोंका प्रयोग करते थे। किन्तु निर्मलमना आचार्य अकलंक द्वारा की गयी विपक्षियोंकी आलोचना-में उस कटुताके दर्शन नही होते। उन्होने प्रायः प्रतिपक्षीका उत्तर उसीके शब्दोंमें दिया है। और कही प्रतिपक्षीकी भूलको पकड़कर उसका उपहास करते हुए उत्तर दिया है। जैसे—

धर्मकीर्ति कहते हैं—

सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति॥ —प्रमाणवा० ३।१८२

अर्थात् यदि प्रत्येक वस्तु उभयात्मक है और किसी वस्तुमे कोई विशेषता नही है तो दधिको खानेके लिए कहा गया मनुष्य ऊँटको क्यों नही खा लेता।

अकलंकदेव उत्तर देते हैं—

पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः
सुगतोऽपि मृगो जातः मृगोऽपि सुगतः स्मृतः।
तथापि सुगतो वंद्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति॥
—न्यायविनि० २०३, २०४

अर्थात् पूर्व पक्षको ठीकसे न समझ सकनेके कारण दूषण देनेवाला विदूषक ही है। सुगत मृग हुए थे और मृग भी सुगत हुआ। फिर भी बौद्ध सुगतकी वन्दना करते हैं और मृगको खाद्य मानते हैं। ठीक उसी प्रकार पर्याय भेदसे दही और ऊँटके शरीरमें भेद है। अतः दही खाने-के लिए कहा गया मनुष्य दहीको ही खाता है, ऊँटको नहीं। यहाँ 'दूषकोऽपि विदूषकः' वाक्य ध्यान देने योग्य है।

अनेकान्तकी आलोचना करते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं—

भेदानां बहुभेदानां तत्रैकस्मिन्नयोगतः। —प्रमाणवा० ३।९०

१. अपि च—पक्षोक्ते शास्त्रादिष्वपि नाभिधीयेत, विशेषाभावात्।
—अष्टश० अष्टस० पृ० ८३

अकलंक देव उत्तर देते हैं—

भेदानां बहुभेदानां तत्रैकत्रापि संभवात् । —न्यायविनि० १।१२१

विज्ञप्तिमात्रातासिद्धिके प्रकरणमें प्रमाणविनिश्चयमें धर्मकीर्ति कहते है —

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः ।

अकलङ्क देव उत्तर देते है—

सहोपलम्भनियमान्नाभेदो नीलतद्धियोः ।

वादन्यायके प्रारंभमें धर्मकीर्ति लिखते है—

असाधनांगवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते ॥

अकलङ्क उत्तर देते हैं—

असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनंद्वयोः ।
न युक्त निग्रहस्थानमर्थापरिसमाप्तितः ॥

—न्यायविनि० २।२०८

इस प्रकार शालीनतापूर्वक उत्तर देनेकी प्रक्रियासे अकलङ्कके आलोचन कौशल्यका सहजही अनुमान किया जा सकता है ।

अष्टसहस्रीके रचयिता आचार्य विद्यानन्द

विद्यानन्दका व्यक्तित्व

जैनन्यायके प्रतिष्ठापक अकलङ्कके बाद विद्यानन्द एक ऐसे प्रतिभाशाली आचार्य हुए हैं जिन्होंने समस्त दर्शनोंका तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करके स्वनिर्मित ग्रन्थोंमें अपने उच्चकोटिके पाण्डित्यका परिचय दिया है । उन्हें तार्किकशिरोमणि कहनेमे कोई अत्युक्ति नहीं है । आचार्य विद्यानन्दने अकलंकदेवको अपना आदर्श बनाया है तथा उन्हींके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर अकलंक न्यायको सर्व प्रकारसे पल्लवित और पुष्पित किया है । आचार्य विद्यानन्दने कणाद, प्रशस्तपाद और व्योमशिव इन वैशेषिक विद्वानोंके, अक्षपाद, वात्स्यायन और उद्योतकर, इन नैयायिक विद्वानोंके, जैमिनि, शबर, कुमारिलभट्ट और प्रभाकर इन मीमांसकोंके, मण्डनमिश्र और सुरेश्वरमिश्र इन वेदान्तियोंके, कपिल, ईश्वर कृष्ण, और पतंजलि इन सांख्य-योगके आचार्योंके तथा नागार्जुन, वसुबन्धु दिग्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर और धर्मोत्तर इन बौद्ध दार्शनिकोंके ग्रन्थोंका

सर्वाङ्गीण अभ्यास किया था। इसके साथ ही जैन दार्शनिक तथा आगमिक साहित्य भी उन्हें विपुलमात्रामें प्राप्त था। अतः अपने समयमें उपलब्ध जैनवाङ्मय तथा जैनेतर वाङ्मयका सांगोपांग अध्ययन और मनन करके आचार्य विद्यानन्दने यथार्थमें अपना नाम सार्थक किया था। यही कारण है कि उनके द्वारा रचित ग्रन्थोंमें समस्त दर्शनोका किसी न किसी रूपमें उल्लेख मिलता है। आचार्य विद्यानन्दने अपने पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थकारों-के नामोल्लेख पूर्वक और कही कही विना नामोल्लेखके उनके ग्रन्थोंसे अपने ग्रन्थोंमें अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। तथा पूर्वपक्षके रूपमें अन्य दार्शनिकोंके सिद्धान्तोंको प्रस्तुत करके प्राञ्जल भाषामें उनका निरसन किया है। उनके ग्रन्थोंका प्रायः बहुभाग बौद्धदर्शनके मन्तव्योंकी विशद आलोचनाओंसे भरा हुआ है। अकलंकदेवके तो आचार्य विद्यानन्द प्रमुख टीकाकार हैं। अकलंकदेवकी अष्टशती इतनी गहन और गूढ है कि यदि आचार्य विद्यानन्द इस पर अष्टसहस्री न बनाते तो इसका रहस्य इसीमें छिपा रह जाता। इसीलिए आचार्य वादिराजने अपने न्यायविनिश्चय विवरणमें विद्यानन्दका स्मरण करते हुए लिखा है[1] कि यदि गुणचन्द्रमुनि, अनवद्यचरण विद्यानन्द और सज्जन अनन्तवीर्य ये तीनों विद्वान् अकलंक देवके गंभीर शासनके तात्पर्यकी व्याख्या न करते तो कौन उसे समझनेमें समर्थ था। इसी प्रकार पार्श्वनाथ चरितमें उन्होंने विद्यानन्दके तत्त्वार्था-लंकार और देवागमालंकारकी प्रशंसा करते हुए लिखा है[2]—आश्चर्य है कि विद्यानन्दके इन दीप्तिमान् अलंकारोंको सुनने वालोंके भी अंगोमें दीप्ति (कान्ति) आ जाती है। उन्हे धारण करने वालोंकी तो बात ही क्या है।

आचार्य प्रभाचन्द्रने भी प्रमेयकमलमार्तण्डके प्रथम परिच्छेदके अन्तमें 'विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम्' इस श्लोकांशमें श्लिष्टरूपसे विद्यानन्दका नामोल्लेख किया है। पत्रपरीक्षाकी प्रशस्तिमें एक श्लोक निम्न प्रकार है—

जीयान्निरस्तनिःशेषसर्वथैकान्तशासनम्।
सदा श्रीवर्धमानस्य विद्यानन्दस्य शासनम्॥

---

१. देवस्य शासनमतीवगभीरमेतत्तात्पर्यतः क इह बोद्धुमतीवदक्षः।
विद्वान्न चेद् सद्गुणचन्द्रमुनिर्न विद्यानन्दोऽनवद्यचरणः सदनन्तवीर्यः॥

२. ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मयः।
शृण्वतामप्यलङ्कारं दीप्तिरंगेषु रंगति॥ —पार्श्वना० चरि० श्लो० २२

इस श्लोकमें भी श्लेषके द्वारा विद्यानन्दके नामका बोध होता है। जिसने समस्त एकान्त शासनोंका निरास कर दिया है ऐसा महावीर तथा विद्यानन्दका शासन है। अर्थात् विद्यानन्दने समस्त एकान्तोंका निराकरण करके महावीरके शासनको अनेकान्तरूप सिद्ध किया है।

विद्यानन्दका परिचय

ऐसे प्रख्यात और प्रतिभाशाली आचार्यका कुछ भी परिचय उनके ग्रन्थोंमें नहीं मिलता है। अनुमान किया जाता है कि इनका जन्म दक्षिण भारतके किसी प्रदेशमें, संभवतः मैसूरमें ब्राह्मण कुलमें हुआ होगा। इन्होंने नन्दिसंघके किसी जैन मुनि द्वारा जैन साधुकी दीक्षा ग्रहण की थी। क्योंकि एक शिलालेखमें नन्दिसघके मुनियोंमें विद्यानन्दको भी गिनाया है। आचार्य विद्यानन्दने अपने ग्रन्थोमे भर्तृहरि, कुमारिल, प्रभाकर, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर, मण्डनमिश्र, सुरेश्वर आदिका खण्डन किया है। अतः विद्यानन्दका समय इन सबके बादका सिद्ध होता है।

आचार्य विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके अन्तमें प्रशस्तिरूपमें एक पद्य दिया है, जिसकी एक पंक्ति निम्न प्रकार है—

'जीयात् सज्जनताश्रयः शिवसुधाधारावधानप्रभुः'

इसके द्वारा विद्यानन्दने 'शिवमार्ग'—मोक्षमार्गका जयकार तो किया ही है, साथ ही अपने समयके गङ्गनरेश शिवमार द्वितीयका भी जयकार किया है, ऐसा प्रतीत होता है। शिवमार द्वितीय पश्चिमी गंगवंशी श्रीपुरुष नरेशका उत्तराधिकारी और उसका पुत्र था, जो ईस्वी सन् ८१० के लगभग राज्याधिकारी हुआ था। इस शिवमारका भतीजा तथा विजयादित्यका पुत्र राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम शिवमारके राज्यका उत्तराधिकारी हुआ था तथा ईस्वी सन् ८१६ के लगभग राजगद्दीपर बैठा था। विद्यानन्दने अपने अन्य ग्रंथोंमें[1] 'सत्यवाक्य'के नामसे उसका उल्लेख किया है, ऐसा अनुमान किया जाता है। उक्त उल्लेखोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य विद्यानन्द गङ्गनरेश शिवमार द्वितीय

---

१. शश्वत्संस्तुतिगोचरोऽनघधियां श्रीसत्यवाक्याधिपः।
विद्यानन्दबुधैरलंकृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः॥

—युक्त्यनुशासनालंकारप्रशस्ति।

सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दा जिनेश्वराः। —प्रमाणपरीक्षा मंगलपद्य

और राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथमके समकालीन थे। और उन्होंने अपनी कृतियाँ प्रायः उन्हींके राज्य कालमें बनायी थीं। विद्यानन्दका कार्यक्षेत्र भी गंगवंशका गंगवाडि प्रदेश रहा होगा। गंग राजाओंका राज्य मैसूर प्रान्तमें था। शिलालेखों और दानपत्रोंसे ज्ञात होता है कि इस राज्यके साथ जैनधर्मका घनिष्ट सम्बन्ध था। श्रीमान् पं० डॉ० दरबारीलालजी कोठियाने आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावनामें विद्यानन्दका समय ईस्वी सन् ७७५ से ८४० तक सिद्ध किया है।

आचार्य विद्यानन्दकी रचनाएं

अकलंकदेवकी तरह आचार्य विद्यानन्दकी रचनाएँ भी दो प्रकार की हैं—टीकात्मक और स्वतन्त्र। अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और युक्त्यनुशासनालंकार ये तीन टीकात्मक रचनाएँ हैं। आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र और विद्यानन्द-महोदय ये छह स्वतन्त्र रचनाएँ है। इनमेंसे अन्तिम रचनाको छोड़कर शेष सब उपलब्ध तथा प्रकाशित है। अन्तिम रचना अनुपलब्ध है।

अष्टसहस्री

यह आचार्य समन्तभद्र द्वारा विरचित आप्तमीमांसापर विस्तृत और महत्त्वपूर्ण व्याख्या है। इस व्याख्यामें अकलंकदेव द्वारा रचित अष्टशती को इस प्रकारसे आत्मसात् कर लिया गया है, जैसे वह अष्टसहस्रीका ही अंग हो। यदि आचार्य विद्यानन्द अष्टसहस्रीको न बनाते तो अष्टशतीका रहस्य समझमें नही आ सकता था। क्योंकि अष्टशतीका प्रत्येक पद और वाक्य इतना जटिल और गूढ है कि अष्टसहस्रीके बिना विद्वान् का भी उसमें प्रवेश होना अशक्य है। आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें अपनी सूक्ष्म बुद्धिसे आप्तमीमांसा और अष्टशतीके हार्दको विशेषरूपसे स्पष्ट किया है। आप्तमीमांसा और अष्टशतीमें निहित तथ्योंके उद्घाटनके अतिरिक्त अष्टसहस्रीमें अनेक नूतन विचारोंका भी समावेश किया गया है। हम कह सकते हैं कि अष्टसहस्रीमें पूर्वपक्ष या उत्तरपक्षके रूपमें समस्त दर्शनोंके सिद्धान्तोंका विवेचन किया गया है। इसीलिए आचार्य विद्यानन्दने साधिकार कहा है[1] कि हजार शास्त्रोंके सुननेसे

१. श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायते ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः॥ —अष्टस० पृ० १५७

क्या लाभ है। केवल इस अष्टसहस्रीको सुन लीजिए। इतने मात्रसे ही स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्तका ज्ञान हो जायगा।

आचार्य विद्यानन्दकी दार्शनिक उपलब्धियाँ

यह पहले बतलाया जा चुका है कि आचार्य विद्यानन्दको समस्त दर्शनोंका तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त था। जैनवाङ्मयमें भावना, विधि और नियोगकी चर्चा सर्वप्रथम विद्यानन्दकी अष्टसहस्री और तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिकमें ही विस्तारसे देखनेको मिलती है। कुमारिलभट्ट भावनावादी हैं, प्रभाकर नियोगवादी हैं और वेदान्ती विधिवादी हैं। इनके ग्रन्थोंके सूक्ष्म अध्ययनके विना भावना आदिका इतना गहन और विस्तृत विवेचन असंभव है। तत्त्वोपप्लववादका पूर्व पक्ष और उसका विस्तारसे निराकरण सर्वप्रथम इन्हींके ग्रथोंमें देखा जाता है। जयसिंहराशिका 'तत्त्वोपप्लवसिंह' नामक ग्रन्थ कुछ वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हुआ है। उसका निम्न श्लोक—

तदतद्रूपिणो भावास्तदतद्रूपहेतुजाः।
तद्रूपादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम्॥

अष्टसहस्रीमें पृ० ७८ पर उद्धृत हुआ है।

आचार्य विद्यानन्दने मीमांसक कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिकसे प्रभावित होकर तत्त्वार्थसूत्रपर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककी रचना की थी। इसमें प्रथम अध्यायके अन्तिम सूत्रपर १०० श्लोकोंमें नयोंका सुन्दर विवेचन किया गया है। और अन्तमें लिखा है[1] कि विस्तारसे नयोंका स्वरूप जाननेके लिए नयचक्रको देखना चाहिए। इस नयचर्चामें आचार्य विद्यानन्दने सिद्धसेन दिवाकरके षड्नयवादको स्वीकार नहीं किया है। उनका कहना है कि नैगम नयका अन्य किसी नयमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सिद्धसेनने नैगम नयको पृथक् नहीं माना है। आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें भी (पृ० २८७) नयोंका सामान्यरूपसे उल्लेख करके लिखा है—

'बहुविकल्पा नया नयचक्रतः प्रतिपत्तव्याः।

---

१. संक्षेपेण नयास्तावद् व्याख्यातास्तत्र सूचिताः।
तद्विशेषाः प्रपञ्चेन संचिन्त्या नयचक्रतः॥

—त० श्लो० वा० पृ० २७६

इसी प्रकार आचार्य विद्यानन्दने तत्त्वार्थसूत्रके पाँचवें अध्यायके 'गुण-पर्ययवद् द्रव्यम्' इस सूत्रकी व्याख्यामे सिद्धसेनकी तरह गुण और पर्यायमे अभेद मान कर भी एक ऐसा तथ्य फलित किया है जो अनेकान्तदर्शनके इतिहासमे उल्लेखनीय है। उन्होने लिखा है[1] कि सहानेकान्तकी सिद्धिके लिए 'गुणवद् द्रव्यम्' कहा है, तथा क्रमानेकान्तके बोधके लिए 'पर्यायवद् द्रव्यम्' कहा गया है। अर्थात् अनेकान्त दो प्रकारका है—सहानेकान्त और क्रमानेकान्त। गुण सहभावी होते हैं और पर्याय क्रमभावी। अतः एकसे सहानेकान्त फलित होता है और दूसरेसे क्रमानेकान्त।

आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमे अनेक प्रसिद्ध दार्शनिकोके ग्रन्थोमे नामोल्लेख पूर्वक और विना नामोल्लेखके भी अनेक उद्धरण दिये है। तदुक्तं भट्टेन अथवा तदुक्त लिख कर कुमारिलकी मीमांसाश्लोकवार्तिक के अनेक श्लोकोको उद्धृत किया गया है। धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिकसे अनेक श्लोकोको उद्धृत करके उनके सिद्धान्तोकी समालोचना की गयी है धर्मकीर्तिके टीकाकार प्रज्ञाकरकी भी कई बार नाम लेकर समालोचना की है। भर्तृहरिके वाक्यपदीयसे 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके' इत्यादि श्लोक, शकराचार्यके शिष्य सुरेश्वरके बृहदारण्यकवार्तिकसे 'आत्मापि सदिद ब्रह्म' इत्यादि श्लोक, तथा ईश्वरकृष्णको साख्यकारिकासे भी कई श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

महाभारत वनपर्वसे 'तर्कोऽप्रतिष्ठ. श्रुतयो विभिन्ना:' इत्यादि श्लोक (पृ० ३६ पर) उद्धृत है। ज्ञानश्रीमित्रकी अपोहसिद्धिसे 'अपोह. शब्दलिङ्गाभ्या न वस्तु विधिनोच्यते' यह श्लोकाश (पृ० १३० पर) उद्धृत है। गौतमके न्यायसूत्रसे 'दु:खजन्मप्रवृत्ति' इत्यादि सूत्र (पृ० १६३ पर) उद्धृत है। शावरभाष्यसे 'चोदना हि भूत भवन्त भविष्यन्तम्' इत्यादि 'तथा ज्ञाते त्वर्थेऽनुमानादवगच्छति बुद्धिम्' (पृ० ४९ तथा ५८ पर) उद्धृत है। योगदर्शनसे 'चैतन्य पुरुषस्य स्वरूपम्' (पृ० १७८ पर) तथा 'बुद्ध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते' (पृ० ६६ पर) उद्धृत है। अकलकके न्यायविनिश्चय, प्रमाणसग्रहआदि ग्रन्थोसे अनेक श्लोक उद्धृत हैं। आचार्य कुन्द-कुन्दके पञ्चास्तिकायसे 'सत्ता सव्वपयत्था' इत्यादि गाथाकी सस्कृत छाया (पृ० ११३ पर) उद्धृत है। तत्त्वार्थसूत्रसे अनेक सूत्र उद्धृत हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकसे भी अनेक श्लोकोंको उद्धृत किया गया है।

---

१. गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।
तथा पर्यायवद्द्रव्य क्रमानेकान्तवित्तये ॥ —त० श्लो० वा० पृ० ४३८

अष्टसहस्रीमें अनेक दार्शनिकोंका नामोल्लेख करके उनके सिद्धान्तोंकी आलोचना कीगयी है। उनमेंसे कुछ नाम इस प्रकार हैं—

तदतदनालोचिताभिधानं [illegible] (पृ० १८), एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं यदुक्तं धर्मकीर्तिना (पृ० २५), यदाह धर्मकीर्तिः (पृ० ८१), इति धर्मकीर्तिदूषणम् (पृ० १२२), ततो विवक्षारूढ एवार्थो वाक्यस्य न पुनर्भावना इति प्रज्ञाकरः' (पृ० २१), 'नेदं [illegible]' (पृ० २२), 'यदप्यवादि प्रज्ञाकरेण' (पृ० २४), 'तदेतदपि प्रज्ञापराधविजृम्भितं प्रज्ञाकरस्य' (पृ० २६), 'इति कश्चित् सोऽप्यप्रज्ञाकर एव' (पृ० ११३), 'इति प्रज्ञाकरमतमप्यपास्तम्' (पृ० २७७)।

इस प्रकार अनेक ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंके सिद्धान्तोंका उल्लेख अष्टसहस्रीमें उपलब्ध होता है। यही कारण है कि अष्टसहस्रीके अध्ययनसे स्वसमय और परसमयका बोध सरलतापूर्वक हो सकता है।

आप्तमीमांसाकी कारिकाओंका प्रतिपाद्य विषय

आप्तमीमांसामें दश परिच्छेद हैं और उनमें कुल ११४ कारिकाएँ हैं। इसका मुख्य विषय है—आप्तकी मीमांसा।

प्रथम परिच्छेद

प्रथम परिच्छेदमें २३ कारिकाएं हैं। प्रथम तीन कारिकाओंमें देवागमन आदि, निःस्वेदत्व आदि अन्तरङ्ग अतिशय और गन्धोदकवृष्टि आदि बहिरङ्ग अतिशय, तथा तीर्थंकरत्व आदि उन विशेषताओंकी मीमांसा की गयी है, जिनके कारण कोई अपनेको आप्त मान सकता है। चौथी कारिकामें किसी पुरुषमें दोष और आवरणकी सम्पूर्ण हानि सिद्ध की गयी है। पाँचवीं कारिकामें अनुमेयत्व हेतुसे सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंमें प्रत्यक्षत्व (सर्वज्ञत्व) सिद्ध किया गया है। अर्थात् सामान्यसे सर्वज्ञ सिद्धि की गयी है। छठवीं कारिकामें 'युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्व' हेतुसे अर्हन्तमें निर्दोषत्व और आप्तत्व सिद्ध किया गया है। सातवीं कारिकामें बतलाया गया है कि सर्वथा एकान्त वादियोंका इष्ट तत्त्व प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है। आठवीं कारिकामें बतलाया है कि एकान्तवादियोके मतमें पुण्य-पाप कर्म, परलोक आदि कुछ भी नहीं बन सकता है। ९ से ११ तक तीन कारिकाओं द्वारा यह बतलाया गया है कि भावैकान्त मानने पर प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभावका निषेध हो जायगा। और ऐसा होने पर कार्यद्रव्यमें अनादिता, अनन्तता, सर्वात्मकता और अचेतनमें चेतनताका

तथा चेतनमें अचेतनताका प्रसंग प्राप्त होगा। बारहवी कारिकामें कहा गया है कि अभावैकान्त मानने पर न बोध प्रमाण हो सकता है और न वाक्य। और प्रमाणके अभावमे स्वपक्षसिद्धि तथा परपक्षदूषण सभव नही है। तेरहवी कारिकामे कहा गया है कि वस्तुको सर्वथा भावरूप और सर्वथा अभावरूप अर्थात् दोनो एकान्तरूप नही माना जा सकता। तथा उसे सर्वथा अवाच्य भी नही कहा जा सकता। १४ से १६ तक तीन कारिकाओ द्वारा स्याद्वादनयकी अपेक्षासे वस्तुको कथचित् सत्, असत्, उभय, अवाच्य, सदवाच्य, असदवाच्य और सदसदवाच्य सिद्ध किया गया है। १७ से २१ तक पाँच कारिकाओ द्वारा यह बतलाया गया है कि अस्तित्व नास्तित्वका अविनाभावी है और नास्तित्व अस्तित्वका अविनाभावी है। और अस्तित्व-नास्तित्वरूप वस्तु ही शब्दका विषय होती है। जो वस्तु विधि और निषेधरूप नही है वह अर्थक्रिया भी नही कर सकती है। अर्थात् सर्वथा एकान्तरूप वस्तु अर्थक्रिया नही करती है। बाईसवी कारिकामे बतलाया गया है कि अनन्तधर्मात्मक वस्तुके प्रत्येक धर्मका अर्थ (प्रयोजन) भिन्न होता है। और उनमेसे किसी एक धर्मके मुख्य होने पर शेष धर्म गौण हो जाते है। तेईसवी कारिकामे कहा गया है कि सत्त्व-असत्त्वकी तरह एकत्व-अनेकत्व आदि धर्मोमे भी पूर्वोक्त सप्तभगीकी प्रक्रियाकी योजना कर लेना चाहिये।

द्वितीय परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेदमे २४ से ३६ तक १३ कारिकाएँ हैं। चौबीसवी और पच्चीसवी कारिका द्वारा अद्वैतैकान्तकी समीक्षा करते हुए बतलाया गया है कि वस्तुको सर्वथा एक मानने पर कारक-भेद, क्रिया-भेद, पुण्य-पापरूप कर्मद्वैत, सुख-दु:खरूप फलद्वैत, इहलोक-परलोकरूप लोकद्वैत, विद्या और अविद्याका द्वैत तथा बन्ध और मोक्षका द्वैत, यह सब नही बन सकेगा। २६वी कारिका द्वारा कहा गया है कि हेतुसे अद्वैतकी सिद्धि करने पर हेतु और साध्यका द्वैत हो जायगा। और हेतुके विना सिद्धि मानने पर वचनमात्रसे ही सबकी इष्ट सिद्धि हो जायगी। २७वी कारिकामें बतलाया गया है कि विना द्वैतके अद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रतिषेध्यके विना (द्वैतके अभावमें) सज्ञी (द्वैत) का प्रतिषेध नही किया जा सकता है। २८वी कारिका द्वारा सर्वथा पृथक्त्ववादी (भेदैकान्तवादी) वैशेषिकोंकी आलोचना करते हुए बतलाया गया है कि पृथक्त्व गुणसे द्रव्यादिको अपृथक् नही माना जा सकता है, क्योंकि गुण और गुणी

में भेद माना गया है। और यदि द्रव्यादिसे पृथक्त्व गुणको पृथक् माना जाय तो द्रव्यादि परस्परमें अपृथक् हो जाँयगे और पृथक्त्व भी गुण नहीं रह सकेगा, क्योंकि अनेक द्रव्यादिमें रहनेके कारण ही वह पृथक्त्व कहलाता है।

२९वीं कारिका द्वारा बौद्धोंके निरन्वय क्षणिकरूप पृथक्त्वकी समालोचना करते हुए यह बतलाया गया है कि अनेक क्षणोंमें एकत्वके न मानने पर सन्तान, समुदाय, साधर्म्य और प्रेत्यभाव (परलोक) नहीं बनेंगे। ३०वीं कारिकामें कहा गया है कि यदि ज्ञान ज्ञेयसे सत्त्वकी अपेक्षासे भी भिन्न है, तो दोनों असत् हो जाँयगे। तथा ज्ञानके अभावमें बाह्य और अन्तरङ्ग ज्ञेय भी नहीं बन सकेगा। ३१वीं कारिकामें बौद्धोंके अन्यापोहवादका निराकरण करते हुए बतलाया गया है कि जिनके यहाँ शब्दोंका वाच्य केवल सामान्य है, विशेष (स्वलक्षण) नही, उनके यहाँ वास्तविक सामान्यके अभावमें समस्त वचन मिथ्या ही हैं। ३२वीं कारिकामें कहा गया है कि वस्तुको सर्वथा एक और सर्वथा अनेक (उभयेकान्त) माननेमें विरोध है, और सर्वथा अवाच्य माननेमें अवाच्य शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता है। ३३वीं कारिकामें यह बतलाया है कि निरपेक्ष होने पर पृथक्त्व और एकत्व दोनों अवस्तु हो जाँयगे। परस्पर सापेक्ष होनेपर वही वस्तु एक होती है और वही अनेक। ३४वीं कारिका द्वारा बतलाया गया है कि अभेदकी विवक्षा होनेपर सत्सामान्यकी अपेक्षासे सब पदार्थ एक हैं, और भेदकी विवक्षा होनेपर द्रव्यादिके भेदसे सब पदार्थ पृथक्-पृथक् हैं। ३५वीं कारिकामें कहा गया है कि अनन्तधर्मात्मक विशेष्यमें जो विवक्षा और अविवक्षाकी जाती है, वह सत् विशेषणकी ही होती है, असत्की नहीं। ३६वीं कारिका द्वारा यह बतलाया गया है कि भेद और अभेद दोनों वास्तविक हैं, काल्पनिक नहीं, क्योंकि वे प्रमाणके विषय होते हैं। तथा गौण और मुख्यकी विवक्षासे वे दोनों एक ही वस्तुमें अविरोधरूपसे रहते हैं।

तृतीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेदमें ३७से६० तक २४ कारिकाएँ हैं। ३७वीं और ३८वीं कारिका द्वारा सांख्यदर्शन के नित्यत्वैकान्तकी आलोचनामें कहा गया है कि सर्वथा नित्य पक्षमें कारकोंका अभाव होनेसे किसी प्रकारकी विक्रिया नहीं बन सकती है, प्रमाण तथा प्रमाणका फल भी नहीं बन सकते हैं। प्रमाण और प्रधानके सर्वथा नित्य होनेसे उनका पदार्थोंकी अभिव्यक्तिके

लिए व्यापर भी सभव नही है। ३९वी और ४०वी कारिकामें बतलाया है कि यदि कार्य सर्वथा सत् है, तो पुरुषकी तरह उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसके अतिरिक्त नित्यैकान्तवादियोंके यहाँ पुण्य-पापकी क्रिया, प्रेत्यभाव (जन्मान्तर) कर्मफल, बन्ध और मोक्ष नही बन सकते हैं। ४१वी कारिकामे कहा गया है कि क्षणिकैकान्त पक्षमे भी प्रेत्यभाव आदिका असंभव है। और प्रत्यभिज्ञान आदिके अभावमे ज्ञानरूप कार्यका आरम्भ भी नही हो सकता है। ४२वी कारिकामे कहा गया है कि यदि कार्य सर्वथा असत् है, तो आकाशपुष्पके समान वह उत्पन्न नही हो सकता है, उपादान कारणका कोई नियम नही बन सकता है और कार्यकी उत्पत्तिमे कोई विश्वास भी नही किया जा सकता है। ४३वी कारिकामे यह बतलाया है कि क्षणिकैकान्तमे पूर्वोत्तरक्षणोमे अन्वय न होनेके कारण हेतुभाव और फलभाव नही बन सकते हैं। सन्तानियोसे पृथक् एक सन्तानकी सिद्धि भी नही हो सकती है। ४४वी कारिका द्वारा यह कहा गया है कि यदि संतान संवृति है तो वह मिथ्या होगी। और यदि वह मुख्य अर्थ है तो संवृति नही हो सकती है। क्योंकि मुख्य अर्थके विना संवृति नही होती है। ४५वी और ४६वी कारिकामे कहा गया है कि यदि सब धर्मोमे चतुष्कोटि विकल्पका कथन शक्य न होनेसे सन्तान और संतानीमे एकत्व और नानात्वको अवाच्य माना जाय तो ऐसा मानना ठीक नही है। क्योकि जो सब धर्मोसे रहित है, वह अवस्तु है तथा उसमे विशेषण-विशेष्यभाव भी नही बन सकता है। ४७वी कारिकामे कहा गया है कि जो सञ्ज्ञी सत् होता है उसीका पर द्रव्य आदिकी अपेक्षासे निषेध किया जाता है। जो सर्वथा असत् है वह विधि-निषेधका विषय नही हो सकता है। ४८वी कारिका द्वारा यह बतलाया गया है कि जो सब धर्मोसे रहित है वह अवस्तु है और अवस्तु होनेसे अनभिलाप्य भी है। तथा पर द्रव्यादिकी अपेक्षासे वस्तु ही अवस्तु हो जाती है। ४९वी कारिकामे यह कहा है कि यदि सब धर्म अवक्तव्य हैं, तो उनका कथन कैसे हो सकता है। और उनके कथनको संवृतिरूप माननेपर वह कथन मिथ्या ही होगा, परमार्थ नही। ५०वी कारिका द्वारा पूँछा गया है कि तत्त्व अवाच्य क्यों है। अशक्यता या अबोधके कारण तो उसे अवाच्य नही कहा जा सकता है। अतः यही कहना चाहिए कि अभाव होनेसे तत्त्व अवाच्य है। ५१वीं कारिकामें कहा गया है कि क्षणिकैकान्त पक्षमें कृतनाश और अकृताभ्यागमका प्रसंग आता है। हिंसाके अभिप्रायसे रहित व्यक्ति हिंसा करता है और हिंसाके अभिप्रायसे युक्त व्यक्ति हिंसा नही करता

है। जिस चित्तने न हिंसाका अभिप्राय किया और न हिंसाकी, वह बन्ध को प्राप्त होता है, और जो बन्धको प्राप्त हुआ है वह मुक्त नहीं होता है। ५२वीं कारिकामें निर्हेतुक विनाश मानने वाले बौद्धोंकी आलोचना की गयी है। नाशका कोई कारण न होनेसे हिंसक प्राणीको हिंसाका कारण नहीं माना सकता और चित्त सन्ततिके नाशरूप जो मोक्ष है वह अ[illegible]तुक नहीं हो सकता है। ५३वीं कारिका द्वारा कहा गया है कि विसदृश कार्यकी उत्पत्तिके लिए हेतुका समागम मानना ठीक नहीं है। क्योंकि हेतु समागम नाश और उत्पाद दोनोंका कारण होनेसे दोनोंसे अभिन्न है। ५४वीं कारिकामें बतलाया है कि स्कंधोंकी संततियाँ भी संवृतिसत् होनेसे अकार्यरूप हैं। अत: उनमें [illegible]की तरह स्थिति, उत्पत्ति और व्यय नहीं बन सकते हैं। ५५वीं कारिकामें बतलाया गया है कि विरोध आनेके कारण नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों एकान्तोंका ऐकात्म्य (उभयैकान्त) नहीं बन सकता है। और अवाच्यतैकान्तमें अवाच्य शब्दके द्वारा वस्तुका कथन नहीं हो सकता है। ५६वीं कारिका द्वारा कहा गया है कि 'यह वही है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान होनेसे वस्तु कथंचित् नित्य है और कालभेद होनेसे कथंचित् अनित्य है। ५७वीं कारिकामें यह कहा है कि सामान्यसे न तो द्रव्यका उत्पाद होता है और न विनाश, किन्तु विशेषकी अपेक्षासे ही उत्पाद और विनाश होता है। ५८वीं कारिकामें यह बतलाया है कि उपादान कारणका नाश ही कार्यका उत्पाद है। नाश और उत्पाद कथंचित् भिन्न हैं और कथंचित् अभिन्न हैं। ५९वीं और ६०वीं कारिकामें दो महत्त्वपूर्ण दृष्टान्तों (लौकिक और लोकोत्तर) द्वारा वस्तुमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी सिद्धि की गयी है।

चतुर्थ परिच्छेद

इसमें ६१ से ७२ तक १२ कारिकाएँ हैं। इनमें पहले वैशेषिकोंके भेदैकान्तकी और बादमें सांख्योंके अभेदैकान्तकी समीक्षा की गयी है। ६१वीं और ६२वीं कारिकामें कहा गया है कि यदि कार्य और कारणमें, गुण और गुणीमें तथा सामान्य और सामान्यवान्में सर्वथा अन्यत्व है, तो एक (अवयवी आदि)का अनेकों (अवयवों आदि)में रहना सम्भव नहीं है। क्योंकि एककी अनेकमें वृत्ति न तो एकदेशसे बन सकती है और न सर्वदेशसे। ६३वीं कारिकामें यह बतलाया है कि अवयव आदि और अवयवी आदिमें सर्वथा भेद मानने पर उनमें देशभेद और कालभेद भी मानना पड़ेगा। तब उनमें अभिन्नदेशता कैसे बन सकती है। ६४वीं कारिकामें कहा गया है कि यदि समवायियोंमें आश्रय-आश्रयीभाव होनेसे स्वातन्त्र्य

नहीं है तो उन दोनों (अवयव और अवयवी)से असम्बद्ध समवाय एकका दूसरेके साथ सम्बन्ध कैसे करा सकता है। ६५वी कारिकामें बतलाया गया है कि सामान्य और समवाय आश्रयके विना नहीं रह सकते हैं। और यदि वे प्रत्येक पदार्थमें पूर्णरूपसे रहते हैं, तो नष्ट और उत्पन्न होने-वाले पदार्थोंमें उनकी वृत्ति कैसे बनेगी। ६६वी कारिकामें यह कहा है कि सामान्य और समवायमे कोई सम्बन्ध नही है। तथा अर्थके साथ भी उनका कोई सम्बन्ध सिद्ध नही होता है। तब सामान्य, समवाय और द्रव्यादि अर्थ ये तीनों ही खपुष्पके समान अवस्तु ठहरते हैं। ६७वी कारिका द्वारा बतलाया गया है कि कुछ लोग (वैशेषिक विशेष) परमाणुओंमें पाक न माननेके कारण अणुओंमे अनन्यतैकान्त मानते हैं। यदि ऐसा है, तो संघात अवस्थामें भी वे विभाग अवस्थाकी तरह असहृत ही रहेगे और तब भूतचतुष्क भ्रान्तरूप ही सिद्ध होगा। ६८वी कारिकामें कहा है कि कार्यके भ्रान्त होनेसे उसके कारण परमाणु भी भ्रान्तरूप होंगे। और दोनोंके भ्रान्त होनेसे उनमें रहने वाले गुण, जाति आदिका सद्भाव भी सिद्ध नही होसकेगा।

६९वीं कारिका द्वारा सांख्यके अनन्यतैकान्तकी आलोचना करते हुए कहा गया है कि यदि कार्य (महदादि) और कारण (प्रधान) सर्वथा अनन्य (एक) हैं तो उनमेंसे एकका ही अस्तित्व रहेगा। तब कार्य और कारणकी द्वित्वसंख्या भी नही बनेगी और संवृतिसे द्वित्वसंख्या मानना ठीक नहीं है। ७०वी कारिकामें कहा गया है कि विरोध आनेके कारण कार्य-कारण आदिमें सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद नही माना जासकता है। और अवाच्यतैकान्त पक्षमें अवाच्य शब्दका प्रयोग नहीं किया जा-सकता है। ७१वी और ७२वी कारिका द्वारा यह बतलाया गया है कि गुण-गुणी आदिमें किस अपेक्षासे भेद है और किस अपेक्षासे अभेद है। इस प्रकार भेद और अभेदके विषयमें सप्तभंगी प्रक्रियाकी योजना करके उनमें स्याद्वादन्यायके अनुसार समन्वय किया गया है।

पञ्चम परिच्छेद

इस परिच्छेदमें ७३से७५ तक तीन कारिकाएँ हैं। इसमें वस्तु स्वरूप-की सर्वथा आपेक्षिक सिद्धि और सर्वथा अनापेक्षिक सिद्धि माननेकी समीक्षा की गयी है। ७३वीं कारिकामें कहा गया है कि यदि धर्म, धर्मी आदिकी आपेक्षिक सिद्धि मानी जाय तो दोनोंकी ही व्यवस्था नहीं बन सकती है। और अनापेक्षिक सिद्धि माननेपर उनमें सामान्य-विशेषभा-

नहीं बनता है। ७४वीं कारिका द्वारा सर्वथा उभयैकान्तमें विरोध तथा अ॰।च्यतैकान्तमें अवाच्य शब्दके द्वारा कथन न हो सकनेकी बात कही गयी है। ७५वी कारिकामें यह बतलाया गया है कि धर्म और धर्मीका अविनाभाव ही एक दूसरेकी अपेक्षासे सिद्ध होता है, स्वरूप नहीं। स्वरूप तो कारकाङ्ग और ज्ञापकाङ्गकी तरह स्वतः सिद्ध है।

षष्ठ परिच्छेद

इस परिच्छेदमें ७६से७८ तक तीन कारिकाएँ हैं। ७६वीं कारिकामें यह बतलाया गया है कि हेतुसे सब वस्तुओंकी सर्वथा सिद्धि माननेपर प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोसे उसका ज्ञान नही होसकेगा। और आगमसे सर्वथा सिद्धि माननेपर परस्पर विरुद्ध मतोकी भी सिद्धि हो जायगी। ७७वी कारिका द्वारा यह कहा गया है कि सर्वथा उभयैकान्तमें विरोध आता है और अवाच्यतैकान्तमें अवाच्य शब्दका प्रयोग नही किया जा सकता है। ७७वी कारिका मे यह कहा गया है कि स्याद्वादनयके अनुसार हेतु तथा आगमसे वस्तुकी सिद्धि किस प्रकार होती है। जहाँ वक्ता आप्त न हो वहाँ हेतुसे साध्यकी सिद्धि करना चाहिए। और जहाँ वक्ता आप्त हो वहाँ आगमसे वस्तुकी सिद्धि की जाती है।

सप्तम परिच्छेद

इस परिच्छेदमें ७९ से ८७ तक ९ कारिकाएँ हैं। इसमें अन्तरंगार्थतैकान्त (ज्ञानाद्वैत) और बाह्यार्थैकान्तकी समीक्षा तथा स्याद्वादनयके अनुसार उनका समन्वय करते हुए जीव अर्थकी सिद्धि की गयी है। ७९वीं कारिका द्वारा बतलाया गया है कि यदि सर्वथा ज्ञानमात्र ही तत्त्व है तो सभी बुद्धियाँ और वचन मिथ्या हो जाँयगे। और मिथ्या होनेसे वे प्रमाणाभास कहलाँयगे। किन्तु प्रमाणके विना उन्हें प्रमाणाभास भी कैसे कहा जा सकता है। ८०वीं कारिकामें यह कहा है कि साध्य-साधनके ज्ञानसे अर्थात् अनुमानसे भी विज्ञप्तिमात्र तत्त्वको सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि साध्य-साधनकी विज्ञप्तिको भी विज्ञप्तिमात्र होनेके कारण प्रतिज्ञादोष और हेतुदोष आनेसे न कोई साध्य हो सकता है और न कोई हेतु हो सकता है। ८१वीं कारिकामें यह बतलाया गया है कि केवल बाह्यार्थकी सत्ता मानने पर प्रमाणाभासका लोप हो जायगा। और ऐसा होनेसे प्रत्यक्षादिविरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवाले सभी लोगोंके मतोंकी सिद्धि हो जायगी। ८२वीं कारिकामें कहा है कि विरोध दोषके कारण उभयैकान्त नहीं बन सकता है और अवाच्यतैकान्तमें

अवाच्य शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता है। ८३वीं कारिका द्वारा बतलाया गया है कि स्वसंवेदनकी अपेक्षासे कोई ज्ञान प्रमाणाभास नहीं है। और बाह्य प्रमेयकी सत्यतासे प्रमाण तथा असत्यतासे प्रमाणाभासकी व्यवस्था होती है।

८४वी कारिका द्वारा जीव अर्थकी सिद्धि की गयी है। संज्ञा होनेसे जीव शब्द बाह्यार्थ सहित है। इसी प्रकार माया आदि भ्रान्ति संज्ञाओं-का भी अपना बाह्यार्थ होता है। ८५वी कारिकामें बतलाया गया है कि प्रत्येक अर्थकी तीन संज्ञाएँ होती है—बुद्धिसंज्ञा, शब्दसंज्ञा और अर्थसंज्ञा। तथा ये तीनों संज्ञाएँ बुद्धि, शब्द और अर्थ इन तीनकी क्रमशः वाचक होती हैं। और तीनोसे श्रोताको उनके प्रतिविम्बात्मक बुद्धि, शब्द और अर्थरूप तीन बोध होते हैं। ८६वी कारिकामे कहा गया है कि वक्ताका बोध, श्रोताका वाक्य और प्रमाताका प्रमाण ये तीनो पृथक्-पृथक् हैं। तथा प्रमाणके भ्रान्त होनेपर अन्तर्ज्ञेय और बहि-र्ज्ञेयरूप बाह्यार्थ भी भ्रान्त होगे। ८७वी कारिका द्वारा यह बतलाया गया है कि बुद्धि और शब्दमें प्रमाणता बाह्य अर्थके होनेपर होती है, और बाह्य अर्थके अभावमे अप्रमाणता होती है। अर्थकी प्राप्ति होनेपर बुद्धि और शब्द दोनोंमे सत्यकी और अर्थकी प्राप्ति न होनेपर असत्यकी व्यवस्था की जाती है।

अष्टम परिच्छेद

इस परिच्छेदमें ८८ से ९१ तक चार कारिकाएँ हैं। इसमे दैव और पुरुषार्थके विषयमे विचार किया गया है। ८८वी कारिकामे यह कहा है कि यदि दैवसे ही अर्थकी सिद्धि मानी जाय तो दैवकी सिद्धि पौरुषसे कैसे होगी। और दैवसे दैवकी निष्पत्ति माननेपर मोक्षका अभाव हो जायगा। और तब मोक्षके लिए पुरुषार्थ करना निष्फल है। ८९वी कारिका द्वारा बतलाया गया है कि यदि पुरुषार्थसे ही अर्थकी सिद्धि मानी जाय तो पुरुषार्थ दैवसे कैसे होगा। और यदि पुरुषार्थरूप कार्यकी सिद्धि भी पौरुषसे ही मानी जाय तो सब प्राणियोंमें पुरुषार्थको सफल होना चाहिए। ९०वी कारिकामें बतलाया गया है कि उभयैकान्त माननेमें विरोध आता है और अवाच्यतैकान्तमें अवाच्य शब्दका प्रयोग नही किया जासकता है। ९१वो कारिका द्वारा दैव और पुरुषार्थका समन्वय करते हुए यह बतलाया है कि जहाँ इष्ट और अनिष्ट वस्तुओंकी प्राप्ति बुद्धिके व्यापारके विना होती है वहाँ उनको प्राप्ति दैवसे मानना चाहिए। और

जहाँ उनकी प्राप्ति बुद्धिके व्यापार पूर्वक होती है वहाँ उनकी प्राप्ति पुरुषार्थसे मानना चाहिए।

नवम परिच्छेद

इस परिच्छेदमें ९२से९५ तक चार कारिकाएँ हैं। इसमें पुण्य और पापके बन्धके विषयमें विचार किया गया है। ९२वीं कारिकामें कहा गया है कि यदि परको दुःख देनेसे पापका बन्ध और सुख देनेसे पुण्यका बन्ध माना जाय तो अचेतन पदार्थ और कषाय रहित जीवभी परके सुख-दुःखमें निमित्त होनेसे बन्धको प्राप्त होंगे। ९३वीं कारिका द्वारा यह बतलाया गया है कि यदि अपनेको दुःख देनेसे पुण्यका बन्ध और सुख देनेसे पापका बन्ध माना जाय तो वीतराग तथा विद्वान् मुनि भी अपने सुख-दुःखमें निमित्त होनेसे बन्धको प्राप्त होगे। ९४वी कारिकामें कहा गया है कि विरोध आनेके कारण उभयेकान्त मानना ठीक नहीं है। तथा अवाच्यतैकान्तमें अवाच्य शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता है। ९५वीं कारिका द्वारा पुण्यबन्ध और पापबन्धके कारणोंका समन्वय करते हुए कहा गया है कि यदि स्व तथा परमें होने वाला सुख और दुःख विशुद्धि तथा संक्लेशका अंग है, तो वह क्रमशः पुण्यबन्ध तथा पापबन्धक कारण होता है। और यदि वह विशुद्धि और संक्लेश दोनोंमेंसे किसीका भी अंग नहीं है तो वह बन्धका कारण नहीं होता है।

दशम परिच्छेद

इस परिच्छेदमें ९६से११४ तक २० कारिकाएँ हैं। ९६वीं कारिकामें बन्ध और मोक्षके कारणके विषयमें विचार किया गया है। यदि अज्ञानसे बन्धका होना अवश्यंभावी माना जाय तो ज्ञेयोंकी अनन्ताके कारण कोई भी केवली नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार यदि अल्प ज्ञानसे मोक्ष माना जाय तो बहुत अज्ञानके कारण बन्ध होता ही रहेगा और मोक्ष कभी नहीं हो सकेगा। ९७वी कारिका द्वारा उभयेकान्तमें विरोध तथा अवाच्यतैकान्तमें अवाच्य शब्दके द्वारा भी उसका कथन न हो सकनेका दोष दिया गया है। ९८वीं कारिकामें स्याद्वादन्यायके अनुसार बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था बतलाते हुए कहा गया है कि मोहसहित अज्ञानसे बन्ध होता है मोहरहित अज्ञानसे नहीं। इसी प्रकार मोहरहित अल्प ज्ञानसे मोक्ष सभव है, किन्तु मोहसहित ज्ञानसे मोक्ष नहीं होता है। ९९वीं कारिकामें बतलाया गया है कि प्राणियोंके नाना प्रकारके इच्छादिरूप कार्योंकी उत्पत्ति उनके कर्मबन्धके अनुसार होती है। और वह कर्म भी उनके राग

द्वेषादिरूप परिणामोंसे होता है। कर्मबन्ध करने वाले जीव शुद्धि और अशुद्धिके भेदसे दो प्रकारके हैं। १००वी कारिका द्वारा यह कहा गया है कि पाक्य और अपाक्य शक्तिकी तरह शुद्धि और अशुद्धि ये दो शक्तियाँ हैं, और इनको व्यक्ति (अभिव्यक्ति) क्रमश सादि और अनादि है।

१०१वी कारिकामे प्रमाणका स्वरूप बतलाकर उसके अक्रमभावी और क्रमभावी ये दो भेद किये गये हैं तथा उन्हे स्याद्वादनयसंस्कृत बतलाया गया है। १०२वी कारिकामे प्रमाणका फल बतलाया गया है। केवलज्ञानका साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है और परम्पराफल उपेक्षा है। मति आदि ज्ञानोका साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है और परम्पराफल आदानबुद्धि हानबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि है। १०३वी कारिका द्वारा बतलाया गया है कि 'स्याद्वाद' शब्दके अन्तर्गत 'स्यात्' शब्द एक धर्मका वाचक होता हुआ अनेकान्तका द्योतक होता है। १०४वी कारिकाम कहा गया है कि सर्वथा एकान्तका त्याग कर देनेसे स्याद्वाद सात भगो और नयोंकी अपेक्षा सहित होता है। तथा वह हेय और उपादेयमे भेद कराता है। १०५वी कारिकामे स्याद्वाद (श्रुतज्ञान) के महत्त्वको बतलाते हुए कहा गया है कि स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनो सर्वतत्त्वप्रकाशक है। उनमें केवल यही अन्तर है कि केवलज्ञान साक्षात् तत्त्वोका प्रकाशक है और स्याद्वाद असाक्षात् उनका प्रकाशक है। १०६वी कारिकामे हेतु तथा नयका स्वरूप बतलाया गया है। १०७वी कारिकामे द्रव्यका स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि नय और उपनयोके विषयभूत त्रिकालवर्ती धर्मोंके समुच्चयका नाम द्रव्य है। १०८वी कारिका द्वारा एक महत्त्व पूर्ण शकाका समाधान किया गया है। शंका यह है कि एकान्तोंके समूह का नाम अनेकान्त है और एकान्त मिथ्या हैं तब उनका समूह अनेकान्त भी मिथ्या होगा। शकाका समाधान करते हुए कहा गया है कि निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय अर्थक्रियाकारी होते हैं। अत सापेक्ष एकान्तोका समूह अनेकान्त मिथ्या नही है। १०९वी कारिका द्वारा यह बतलाया गया है कि अनेकान्तात्मक अर्थका वाक्य द्वारा नियमन कैसे होता है। जो लोग विधिवाक्यको केवल विधिका और निषेधवाक्यको केवल निषेधका नियामक मानते हैं, उनकी समीक्षा करते हुए कहा गया है कि चाहे विधिवाक्य हो, और चाहे निषेधवाक्य दोनो ही विधि और निषेधरूप अनेकान्तात्मक अर्थका बोध कराते हैं। ११०वी कारिकामे 'वाक्य विधिके द्वारा ही वस्तुतत्त्वका नियमन करता है' ऐसे एकान्तका निराकरण करते हुए कहा गया है कि वस्तु तत् और अतत्‌रूप है। जो उसे

सर्वथा तत्रूप ही कहता है उसका कहना सत्य नहीं है। १११वीं कारिका द्वारा 'वाक्य निषेधके द्वारा ही अर्थका नियमन करता है' ऐसे एकान्तका निराकरण करते हुए कहा गया है कि वाणीका यह स्वभाव है कि वह अन्य वचनों द्वारा प्रतिपाद्य अर्थका निषेध करती हुई अपने सामान्य-का भी प्रतिपादन करती है। जो वाणी ऐसी नहीं होती है वह खपुष्पके समान मिथ्या है। ११२वी कारिका द्वारा अन्यापोहवादियोंका निराकरण करते हुए बतलाया गया है कि अन्यव्यावृत्ति मृषा होनेसे शब्दका वाच्य नहीं हो सकती है। ११३वी कारिकामें बतलाया गया है कि जो अभी-प्सित अर्थका कारण है और प्रतिषेध्यका अविनाभावी है, वही शब्दका विधेय है और वही आदेय है तथा उसका प्रतिषेध्य हेय है। इस प्रकारसे स्याद्वादकी सम्यक् स्थितिका प्रतिपादन किया गया है। स्याद्वादकी संस्थिति ही ग्रन्थकारका मुख्य प्रयोजन है। ११४वी कारिकामें ग्रन्थकारने आप्त-मीमांसाकी रचनाका प्रयोजन बतलाते हुए कहा है कि अपने कल्याणके इच्छुक लोगोंको सम्यक् और मिथ्या उपदेशमें भेदका ज्ञान करानेके लिए इसकी रचना की गयी है।

इसप्रकार आप्तमीमासाकी कारिकाओंके प्रतिपाद्य विषयका संक्षेपमें निर्देश करके अब उन्हीमेसे कुछ विशेष विषयोंपर विशद प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

सर्वज्ञ विमर्श

धर्मज्ञ और सर्वज्ञ

प्राचीन कालसे ही सर्वज्ञताका सम्बन्ध मोक्षके साथ रहा है। यह विचारणीय विषय रहा है कि मोक्षके मार्गका कोई साक्षात्कार कर सकता है या नहीं। मोक्षमार्गको धर्मशब्दसे भी कहा जाता है। अतः विवादका विषय यह था कि धर्मका साक्षात्कार हो सकता है या नहीं। कुछ लोगोंका कहना था कि धर्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थोंको कोई भी पुरुष प्रत्यक्षसे नहीं जान सकता है। इस कारण उन्होंने सर्वज्ञताका अर्थात् प्रत्यक्षसे होनेवाली धर्मज्ञताका निषेध किया। दूसरे लोगोंका कहना था कि धर्मका साक्षात्कार सम्भव है, धर्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थोंका भी प्रत्यक्ष होता है। अतः उन्होंने धर्मज्ञताका समर्थन किया। इसप्रकार कुछ लोगों ने सर्वज्ञताको धर्मज्ञताके अर्थमें ही लिया है।

चार्वाक और मीमांसक सर्वज्ञके सद्भावको नहीं मानते हैं। चार्वाक-

दर्शनमें शरीरके अतिरिक्त कोई आत्मा नही है और प्रत्यक्षके अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नही है। अतः चार्वाकमतमें सर्वज्ञके सद्भाव या असद्भावका कोई प्रश्न ही नही उठता है। किन्तु मीमांसकदर्शन आत्माको स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता है। अतः मीमांसकमतमें सर्वज्ञके होने या न होनेका प्रश्न उपस्थित होता है।

मीमांसा-दर्शन और सर्वज्ञता

शबर, कुमारिल आदि मीमांसकोंका कहना है कि धर्म जैसी अतीन्द्रिय वस्तुको हम लोग प्रत्यक्षसे नही जान सकते। धर्ममें तो वेद ही प्रमाण है[1]। उन्होंने पुरुषमे राग, द्वेष आदि दोषोंके पाये जानेके कारण अतीन्द्रियार्थ-प्रतिपादक वेदको पुरुषकृत न मानकर अपौरुषेय माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारिलको सर्वज्ञत्वके निषेधसे कोई प्रयोजन नही है, किन्तु धर्मज्ञत्वका निषेध करना ही उनका मुख्य प्रयोजन है। उनका कहना है[2] कि यदि कोई पुरुष ससारके समस्त पदार्थोंको जानता है तो इसमे हमे कोई आपत्ति नही है किन्तु धर्मका ज्ञान केवल वेदसे ही होता है, प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे नही।

मीमांसाकोने वेद प्रतिपादित अर्थको धर्म[3] बतलाकर कहा है कि धर्म जैसे अतिसूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंका ज्ञान वेद द्वारा ही संभव है। इन पदार्थोंको पुरुष प्रत्यक्षसे नही जान सकता है। शबर-स्वामीने शाबरभाष्यमें लिखा है[4] कि वेद भूत, वर्तमान, भविष्यत्, सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंका ज्ञान करानेमें समर्थ है। रागदि दोषोंसे दूषित होनेके कारण पुरुषमें ज्ञान और वीतरागताकी पूर्णता सभव नही है। यही कारण है कि वह अतीन्द्रियदर्शी नही हो सकता है। इस-प्रकार मीमांसकोंने पुरुषमें धर्मज्ञत्वका निषेध करके सर्वज्ञत्वका भी निषेध

१. धर्मे चोदनैव प्रमाणम्।

२. धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते॥
तत्त्वसं० का० ३१२८ (कुमारिल के नाम से उद्धृत)

३. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। मी० सू० १।१।२

४. चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलम्। शाबरभाष्य १।१।२

किया है। क्योंकि उसे भय था कि यदि पुरुषमें सर्वज्ञता सिद्ध हो गयी तो धर्मके विषयमें वेदका ही जो एकमात्र अधिकार है उसका आधार ही समाप्त हो जायगा। सर्वज्ञताके सम्बन्धमें मीमांसकमतको विशेष रूपसे जाननेके लिए कुमरिल भट्टकी मीमांसाश्लोकवार्तिकको देखना चाहिए।

बौद्धदर्शन और सर्वज्ञता

प्राचीन बौद्ध दार्शनिकोंने बुद्धको धर्मज्ञ माना है। किन्तु उत्तर-कालीन बौद्ध दार्शनिकोंने बुद्धको धर्मज्ञके साथ सर्वज्ञ भी बतलाया है। बुद्धके समयमें न तो स्वयं बुद्धने अपनेको सर्वज्ञ कहा है और न उनके अनुयायियोंने ही उनके लिए सर्वज्ञ शब्दका प्रयोग किया है। व्यावहारिक होनेके कारण बुद्धका प्रधान लक्ष्य धर्मका उपदेश देना था, शुष्क तर्कके द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वोंकी व्याख्या करना नही। इसीलिए यह जगत् नित्य है या अनित्य ? जीव तथा शरीर एक हैं या भिन्न ? इत्यादि प्रश्नों-को वे अव्याकृत (अनिर्वचनीय) कहकर टाल देते थे। इससे यही सिद्ध होता है कि बुद्ध धर्मज्ञ थे, सर्वज्ञ नहीं। उन्होंने दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्योंका साक्षात्कार किया था और उनका उपदेश दिया था। अतः जब कुमारिलने प्रत्यक्षसे धर्मज्ञताका निषेध करके धर्मके विषयमें वेदका ही एकमात्र अधिकार सिद्ध किया तो धर्म-कीर्तिने प्रत्यक्षसे ही धर्मज्ञताका साक्षात्कार मान करके प्रत्यक्ष सिद्ध धर्मज्ञताका समर्थन किया। धर्मकीर्तिने कहा[1] कि उपदेष्टामें धर्मसे सम्बन्धित आवश्यक बातोंके ज्ञानका विचार हमें करना चाहिए। उसमें समस्त कीड़े-मकोड़ेकी संख्याके ज्ञानका हमारे लिए क्या उपयोग है। जो उपायसहित हेय और उपादेय तत्त्वका ज्ञाता है वही हमें प्रमाणरूपसे इष्ट है, न कि जो सब पदार्थोंका ज्ञाता है वह प्रमाण है[2]। बुद्धने हेय तत्त्व दुःख, उसका उपाय समुदय (दुःखका कारण) उपादेय तत्त्व निरोध (मोक्ष) और उसका कारण मार्ग (अष्टांगमार्ग) इन चार आर्यसत्यों-का साक्षात्कार कर लिया था। इसलिये बुद्ध और बुद्धके वचन प्रमाण हैं। मुख्य बात इष्ट तत्त्वको जानने की है। कोई व्यक्ति दूरकी वस्तुको जाने या न जाने, इससे कोई प्रयोजन नहीं है। दूरकी वस्तु न जाननेसे

---

१. तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥ —प्रमाणवा० १।३२

२. हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः ।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥ —प्रमाणवा० १।३३

उसकी प्रमाणतामें कोई बाधा नहीं आती है। यदि दूरदर्शीको प्रमाण माना जाय तो गृद्धोंकी भी उपासना करना चाहिए[1]।

इससे यही सिद्ध होता कि धर्मकीर्तिने बुद्धको धर्मज्ञ ही माना है, सर्वज्ञ नहीं। किन्तु धर्मकीर्तिकी प्रमाणवार्तिकके भाष्यकार प्रज्ञाकरने बुद्धको धर्मज्ञके साथ सर्वज्ञ भी सिद्ध किया है और बतलाया है कि बुद्ध-की तरह अन्य योगी भी सर्वज्ञ हो सकते हैं। आत्माके वीतराग हो जाने-पर उसमें सब पदार्थोंका ज्ञान संभव है। वीतरागताकी तरह सर्वज्ञताके लिए प्रयत्न करनेपर सब वीतरागोंमें सर्वज्ञता भी हो सकती है। जो वीतराग हो चुके हैं वे थोड़ेसे प्रयत्नसे ही सर्वज्ञ बन सकते हैं[2]।

आचार्य शान्तरक्षित भी धर्मज्ञताके साथ सर्वज्ञताका समर्थन करते हैं और सर्वज्ञताको सभी वीतरागोंमें मानते हैं। उन्होंने बतलाया है कि नैरात्म्यका साक्षात्कार कर लेनेपर नैरात्म्यके विरोधी दोषोंकी स्थिति नहीं रह सकती है। जैसे कि प्रदीपके सद्भावमें तिमिरकी स्थिति नहीं रहती है। अतः नैरात्म्यके साक्षात्कारसे सब आवरणोंके दूर हो जाने पर सर्वज्ञत्वकी प्राप्ति हो जाती है। आवरणोंका नाश हो जानेसे वीतरागमें इस प्रकारकी शक्ति रहती है कि वह जब चाहे तब किसी भी वस्तुका साक्षात्कार कर सकता है[3]। शान्तरक्षितने यह भी बतलाया है कि सर्वज्ञके सद्भावका बाधक कोई भी प्रमाण नहीं है, प्रत्युत उसके साधक प्रमाण

१. दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं पश्यतु।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेत गृध्रानुपास्महे॥ —प्रमाणवा० १।३४

२. ततोऽस्य वीतरागत्वे सर्वार्थज्ञानसंभवः।
समाहितस्य सकलं चकास्तीति विनिश्चितम्॥
सर्वेषां वीतरागाणामेतत् कस्मान्न विद्यते।
रागादिक्षयमात्रे हि तैर्यत्नस्य प्रवर्तनात्॥
पुनः कालान्तरे तेषां सर्वज्ञगुणरागिणाम्।
अल्पयत्नेन सर्वज्ञस्य सिद्धिरवारिता॥ प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० ३२९

३. प्रत्यक्षीकृतनैरात्म्ये न दोषो लभते स्थितिम्।
तद्विरुद्धतया दीप्ते प्रदीपे तिमिरं यथा॥३३३८॥
साक्षात्कृतिविशेषाच्च दोषो नास्ति सवासनः।
सर्वज्ञत्वमतः सिद्धं सर्वावरणमुक्तितः॥३३४९॥
यद् यदिच्छति बोद्धुं वा तत्तद्वेत्ति नियोगतः।
शक्तिरेवंविधा तस्य प्रहीणावरणो ह्यसौ॥३६२८॥ —तत्त्वसंग्रह

विद्यमान हैं। ऐसा होने पर भी मूर्ख लोग सर्वज्ञके विषयमें क्यों विवाद करते हैं[1]।

जैनदर्शन और सर्वज्ञता

जैनदर्शनने सदा से ही त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंके प्रत्यक्ष दर्शनके अर्थमें सर्वज्ञता मानी है, और सभी जैन दार्शनिकोंने एक स्वरसे उस सर्वज्ञताका समर्थन किया है। जैनदर्शनमें धर्मज्ञता और सर्वज्ञताके विषयमें कोई भेद नहीं माना गया है। धर्मज्ञता तो सर्वज्ञताके अन्तर्गत स्वतः ही फलित हो जाती है। ऋषभनाथसे लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर सर्वज्ञ हुए हैं। महावीरके समयमें उनकी प्रसिद्धि सर्वज्ञके रूपमें थी। उस समय लोगोंमें यह चर्चा थी कि महावीर अपनेको सर्वज्ञ कहते हैं। पालित्रिपिटकोंमें भी महावीरकी सर्वज्ञताका उल्लेख पाया जाता है। धर्मकीर्तिने भी दृष्टान्ताभासोंके उदाहरणमें ऋषभ और वर्धमानकी सर्वज्ञताका उल्लेख किया है[2]। इस प्रकार जैनदर्शनमें चौबीस तीर्थंकर तो सर्वज्ञ हुए ही हैं। इनके अतिरिक्त अन्य असंख्य आत्माओंने भी चार घातिया कर्मोंका नाश करके सर्वज्ञताको प्राप्त किया है। और भविष्यमें भी कोई भी भव्य जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार कर्मका क्षय होनेपर सर्वज्ञ हो सकता है।

जैन आगममें त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायोंके साक्षात् ज्ञाताके रूपमें सर्वज्ञताका प्रतिपादन किया गया है। सबसे पहले षट्खण्डागममें सर्वज्ञताका उल्लेख मिलता है[3]। आचारांगसूत्रमें भी इसी प्रकार सर्वज्ञताका प्रतिपादन किया गया है[4]।

---

१. तस्मात् सर्वज्ञसद्भावबाधकं नास्ति किंचन ॥३३०७॥
ततश्च बाधकाभावे साधने सति च स्फुटे।
कस्माद्विप्रतिपद्यन्ते सर्वज्ञे जड़बुद्धयः ॥३३१०॥ —तत्त्वसंग्रह

२. यः सर्वज्ञः आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्, तद् यथा ऋषभवर्धमानादिरिति। —न्यायबिन्दु पृ० ९८

३. सइं भगवं उप्पण्णणाणदरिसी सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्म समं जाणदि पस्सदि विहरदित्ति। —षट्खं० पयडि सू० ७८

४. से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी सव्वलोए [illegible] जाणमाणे पासमाणे एवं च णं विहरइ —आचारांगसू० २।३ पृ० ४२५

इसके अनन्तर आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमें आत्माकी सर्वज्ञताको सम्यक्‌रूपसे सिद्ध किया है। उन्होंने इसकी विशद व्याख्या करते हुए केवलज्ञानको त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्योंको जाननेवाला बतलाकर यह भी कहा है कि जो अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्यको नही जानता वह सबको कैसे जान सकता है, और जो सबको नही जानता वह अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्यको पूरी तरह कैसे जान सकता है[1]। आचार्य गृद्धपिच्छने भी केवलज्ञानका विषय समस्त द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंको बतलाया है[2]। इस प्रकार जैनाचार्योंने आगममे सर्वज्ञके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन किया है।

आत्मज्ञ और सर्वज्ञ

कोई कह सकता है कि मोक्षमार्गका उपदेश देनेके लिए सर्वज्ञ होनेकी क्या आवश्यकता है। मोक्षमार्गका उपदेश देनेके लिए तो आत्मज्ञ होना ही पर्याप्त है। इसके उत्तरमे यह कहा गया है कि जो एकको जानता है वह सबको जानता है। आत्मा ज्ञानमय है और ज्ञानमय होनेके नाते उसका सम्बन्ध समस्त ज्ञेयोंसे है। अत. अनन्त द्रव्योंके ज्ञायक स्वरूप आत्माको जानना ही सबको जानना है। आत्मज्ञ होनेसे सर्वज्ञता स्वतः प्राप्त हो जाती है। इसका तात्पर्य यही है कि आत्मज्ञतामेंसे सर्वज्ञता फलित होती है। आत्माको जानना मुख्य है और आत्माको जाननेसे सबका ज्ञान स्वय प्राप्त हो जाता है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसारमें बतलाया है कि केवली भगवान् व्यवहारनयसे समस्त पदार्थोंको जानते और देखते हैं, परन्तु निश्चयनयसे वे आत्मस्वरूपको ही जानते और देखते हैं[3]। यहाँ कोई भ्रमवश ऐसा न समझ ले कि आचार्य कुन्दकुन्दने केवलज्ञानीको मात्र आत्मज्ञानी माना है। उनके मतसे आत्मज्ञ

१. जो ण विजाणादि जुगवं अत्थे तेकालिके तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेकं वा ॥
दव्वमणंतपज्जयमेकमणंताणि दव्वजादाणि।
णवि जाणदि अदि जुगवं कध सो दव्वाणि जाणादि ॥
—प्रवचनसार १।४८,४९

२. सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य। —तत्त्वार्थसूत्र १।२९

३. जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥
—नियमसार (शुद्धोपयोगाधिकार) गा० १५८

और सर्वज्ञ ये दोनों शब्द विभिन्न दृष्टिकोणोंसे एक ही अर्थके प्रतिपादक हैं। क्योंकि उन्होंने यह भी तो बतलाया है कि जो सबको नहीं जानता वह एकको नहीं जान सकता और जो एकको नहीं जानता वह सबको नहीं जान सकता। तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ शब्दमें सब पदार्थ मुख्य हो जाते हैं और आत्मा गौण हो जाता है। तथा आत्मज्ञ शब्दमें आत्मा मुख्य हो जाता है और शेष सब पदार्थ गौण हो जाते हैं। निश्चयनयसे आत्मा आत्मज्ञ है और व्यवहारनयसे सर्वज्ञ है। आत्मज्ञतामेंसे सर्वज्ञता फलित होती है। क्योंकि मोक्षार्थी आत्मज्ञताके लिए प्रयत्न करता है, सर्वज्ञताके लिए नहीं। अध्यात्मशास्त्रमें आत्मज्ञानके ऊपर ही विशेष बल दिया गया है, और इसीलिए आत्मज्ञ होना मनुष्यका आध्यात्मिक और नैतिक कर्तव्य है। जो आत्मज्ञ है वह सर्वज्ञ तो है ही। इस प्रकार आत्मज्ञ और सर्वज्ञमें कोई विरोध नहीं है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्दने स्वकी अपेक्षासे आत्मज्ञ कहा है और परकी अपेक्षासे सर्वज्ञ कहा है। अर्थात् नयभेदसे केवलीको आत्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनों कहा है।

जैनदर्शन और सर्वज्ञसिद्धि

सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्रने आगममान्य सर्वज्ञताको तर्ककी कसौटी-पर कसकर दर्शनशास्त्रमें सर्वज्ञकी चर्चाका अवतरण किया है। उन्होंने बतलाया है कि आप्त वही हो सकता है जो निर्दोष और सर्वज्ञ हो तथा जिसके वचन युक्ति और आगमसे अविरुद्ध हों। आचार्य समन्तभद्रने बतलाया है कि सूक्ष्म (परमाणु आदि) अन्तरित (राम, रावण आदि) और दूरवर्ती (सुमेरु आदि) पदार्थ किसी पुरुषके प्रत्यक्ष अवश्य हैं। क्योंकि वे पदार्थ हमारे अनुमेय होते हैं। जो पदार्थ अनुमेय होता है वह किसीको प्रत्यक्ष भी होता है। जैसे हम पर्वतमें अग्निको अनुमानसे जानते हैं, किन्तु पर्वतपर स्थित पुरुष उसे प्रत्यक्षसे जानता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो पदार्थ किसीके अनुमानके विषय होते हैं वे किसीके प्रत्यक्षके विषय भी होते हैं। यतः हम लोग सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंको अनुमानसे जानते हैं अतः उनको प्रत्यक्षसे जानने वाला भी कोई अवश्य होना चाहिए। और जो पुरुष उनको प्रत्यक्षसे जानता है वही सर्वज्ञ है। आचार्य समन्तभद्रने सर्वज्ञकी सिद्धिमें ऊपर जो युक्ति दी है वह बड़े महत्त्व की है। उन्होंने किसी आत्मामें सम्पूर्ण दोषों और आवरणोंकी हानि युक्तिपूर्वक सिद्ध करके यह भी बतलाया है कि अर्हन्त-के वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्ध हैं, क्योंकि उनके द्वारा अभिमत तत्त्वोंमें किसी प्रमाणसे कोई बाधा नहीं आती है।

इस प्रकार आचार्य समन्तभद्रने युक्तिके द्वारा सर्वज्ञको सिद्ध किया है। और उनके उत्तरवर्ती अकलंक, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य आदि प्रख्यात दार्शनिकोंने समन्तभद्रकी शैलीमें ही सर्वज्ञताका पूरा पूरा समर्थन किया है। अकलंकदेवने न्यायविनिश्चयमें बतलाया है कि आत्मामें समस्त पदार्थोंको जाननेकी पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्थामें उसका ज्ञान ज्ञानावरण कर्मसे आवृत रहता है, अतः उसका पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता। किन्तु जब ज्ञानके प्रतिबन्धक कर्मका पूर्ण क्षय हो जाता है, तब उस ज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंके जाननेमें क्या बाधा है[1]। अकलंकदेवने सर्वज्ञसाधक अन्य भी कई तर्क प्रस्तुत किये हैं। उनमेंसे एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि सर्वज्ञके बाधक प्रमाणोंका असंभव सुनिश्चित होनेसे सर्वज्ञकी सत्तामें कोई संदेह नहीं है[2]। आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें एक श्लोक उद्धृत करके बतलाया है[3] कि आत्माका स्वभाव जाननेका है और जाननेमें जब कोई प्रतिबन्ध न रहे तब वह ज्ञेय पदार्थोंमें अज्ञ (न जाननेवाला) कैसे रह सकता है। जैसे अग्निका स्वभाव जलानेका है तो कोई प्रतिबन्धक न रहने पर वह दाह्य पदार्थको जलायेगी ही। उसी प्रकार ज्ञस्वभाव आत्मा प्रतिबन्धकके अभावमें सब पदार्थोंको जानेगा ही। आचार्य प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डमें लिखा है[4] कि कोई आत्मा सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात्कार करने वाला है। क्योंकि उसका स्वभाव उनको ग्रहण करनेका है और उसमें प्रतिबन्धके कारण नष्ट हो गये है। जिस प्रकार चक्षुका स्वभाव रूपके साक्षात्कार करनेका है और रूपके साक्षात्कार करनेमें प्रतिबन्धक कारणों (तिमिरादि)के अभावमें चक्षु रूपका साक्षात्कार अवश्य करती है, उसी प्रकार ज्ञानके प्रतिबन्धक कारणोंके अभावमें आत्मा भी समस्त पदार्थोंका साक्षात्कार अवश्य करता है।

---

१. दृष्टव्य—न्यायविनिश्चय का० नं० ३६१, ३६२, ४१०, ४१४, ४६५।

२. अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्।

—सिद्धिवि० टी० पृ० ४२१

३. ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने॥ —अष्टस० पृ० ५०

४. कश्चिदात्मा सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्, यद् यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययं तत्तत्साक्षात्कारि, यथापगततिमिरादिप्रतिबन्धं लोचनविज्ञानं रूपसाक्षात्कारि, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययश्च कश्चिदात्मेति।

—प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० २५५

अतः आत्मा कर्मोंका नाश हो जाने पर सर्वज्ञ और वीतराग होजाता है। सर्वज्ञ होनेसे उसके वचनोंमें अज्ञानजन्य असत्यता नही रहती है। और वीतराग होनेसे राग, द्वेष, लोभादिजन्य असत्यता भी नहीं रहती है। तभी वह अन्य जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश देनेमे समर्थ होता है। इसी लिए आचार्य समन्तभद्रने कहा है कि आप्तको नियमसे वीतरागी, सर्वज्ञ और आगमका उपदेष्टा होना ही चाहिए। इसके बिना आप्तता नहीं हो सकती है। इस प्रकार कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र आदि आचार्योंने एक मतसे त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों के ज्ञायकके रूपमें सर्वज्ञका आगम और युक्तिसे समर्थन किया है।

प्रमाण विमर्श

सामान्यरूपसे प्रमाणका लक्षण है—सम्यग्ज्ञान। जो ज्ञान सम्यक् अथवा समीचीन है वह प्रमाण कहलाता है। किन्तु आगमिक परम्परामें ज्ञानको सम्यक् तथा मिथ्या माननेका आधार दार्शनिक परम्परासे भिन्न है। आगमिक परम्परामें सम्यग्दर्शनसे सहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है और मिथ्यादर्शनसे युक्त ज्ञान मिथ्याज्ञान है। मिथ्यादृष्टि जीवका ज्ञान व्यवहारमें सत्य होने पर भी आगमकी दृष्टिमें मिथ्या है। परन्तु दार्शनिक परम्परामें ज्ञानके द्वारा प्रतिभासित विषयका अव्यभिचारी होना ही प्रमाणताकी कसौटी है। यदि ज्ञानके द्वारा प्रतिभासित पदार्थ उसीरूपमें मिल जाता है जिसरूपमें ज्ञानने उसे जाना था तो अविसंवादी होनेसे वह ज्ञान प्रमाण है[1] और इससे भिन्न ज्ञान अप्रमाण है। आगममें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि (विभंग) इन तीन ज्ञानोको मिथ्याज्ञान कहा है। और तत्त्वार्थसूत्रकारने संभवतः सबसे पहले सम्यग्ज्ञानके लिए प्रमाण शब्दका प्रयोग किया है।

प्रमाण का स्वरूप

प्रमाणका सामान्यरूपसे व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'प्रमीयते येन तत्-प्रमाणम्' अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान हो उसे प्रमाण कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' प्रमाके करण अर्थात् साधकतम कारण (साधकतमं कारणं करणम्) को प्रमाण कहा गया है। वस्तुके यथार्थ ज्ञानको प्रमा या प्रमिति कहते हैं। और उस प्रमाकी उत्पत्तिमें जो विशिष्ट

१. यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता। —सिद्धिवि० १।२०

कारण होता है। वही प्रमाण है। प्रमाणके इस सामान्य लक्षणमें विवाद न होने पर भी प्रमाके करणके विषयमें विवाद है।

बौद्ध सारूप्य (तदाकारता) और योग्यताको प्रमितिका करण मानते हैं। नैयायिक-वैशेषिक इन्द्रिय और इन्द्रियार्थसन्निकर्षको, प्राभाकर ज्ञाताके व्यापारको और मीमांसक इन्द्रियको प्रमाका करण मानते हैं। किन्तु जैन ज्ञानको ही प्रमाका करण मानते हैं। क्योंकि जाननेरूप क्रिया अथवा अज्ञाननिवृत्तिरूप क्रियाका साधकतम कारण चेतन ज्ञान ही हो सकता है, अचेतन सन्निकर्षादि नहीं। अज्ञानकी निवृत्तिमें अज्ञानका विरोधी ज्ञान ही करण हो सकता है, जैसे कि अन्धकारकी निवृत्तिमें अज्ञानका विरोधी प्रकाश कारण होता है। यतः प्रमाण हित प्राप्ति और अहित परिहार करनेमें समर्थ है, अतः वह ज्ञान ही हो सकता है[1]।

बौद्धदर्शनमें अज्ञात अर्थके ज्ञापक ज्ञानको प्रमाण माना गया है[2]। दिग्नागने विषयाकारता प्रमाण तथा स्वसंवित्तिको प्रमाणका फल माना है[3]। धर्मकीर्तिने न्यायबिन्दुमें अर्थसारूप्यको प्रमाण तथा अर्थप्रतीतिको फल कहा है[4]। इसके साथ ही धर्मकीर्तिने प्रमाणके लक्षणमें 'अविसंवादि' पदको जोड़कर दिग्नाग द्वारा प्रतिपादित लक्षणका ही समर्थन किया है[5]। तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षितने सारूप्य और योग्यताको प्रमाण माना है तथा विषयकी अधिगति (ज्ञान) और स्वसंवित्तिको फल कहा है[6]। मोक्षाकर गुप्तने अपनी तर्कभाषामें अपूर्व अर्थको विषय करनेवाले ज्ञानको प्रमाण कहा है[7]। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि बौद्धदर्शनमें ज्ञानको ही प्रमाण माना गया है, अज्ञानको नहीं। उनके यहाँ एक ही ज्ञान प्रमाण और फल दोनों होता है। यतः वह जिस विषयसे उत्पन्न होता है उसके

---

१. हिताहितप्राप्तिसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्। —परीक्षामुख १।२

२. अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम् —प्रमाणसमुच्चयटीका पृ० ११

३. स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः।
विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते॥ —प्रमाणसमुच्चय पृ० २४

४. अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्। तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलमर्थप्रतीतिरूपत्वात्। —न्यायबिन्दु पृ० १८

५. प्रमाणमविसंवादिज्ञानमर्थक्रियास्थितिः। अविसंवादनं शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात्॥ ... काशो वा। प्रमाणवा० १।३

६. विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते।
स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा॥ तत्त्वसंग्रह का० १३४४

७. प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम्। तर्कभाषा पृ० १

आकार हो जाता है और उस विषयका ज्ञान भी करता है, अतः विषयाकारका नाम प्रमाण और विषयकी अधिगतिका नाम फल है।

यहाँ यह विचारणीय है कि ज्ञानमें विषयाकारता संभव है या नहीं। यद्यपि ज्ञानगत सारूप्य ज्ञानस्वरूप ही है, फिरभी ज्ञानका विषयाकार होना एक जटिल समस्या है। क्योंकि अमूर्तिक ज्ञानका मूर्तिक पदार्थके आकार होना सम्भव नही है। तथा विषयाकारताको प्रमाण माननेसे संशय और विपर्यय ज्ञानको भी प्रमाण मानना पड़ेगा। क्योंकि वे ज्ञान भी तो विषयाकार होते हैं।

सांख्योंने श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी वृत्ति (व्यापार)को प्रमाण माना है[1]। किन्तु इन्द्रियवृत्तिको प्रमाण मानना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ अचेतन हैं। और इन्द्रियोंके अचेतन होनेसे उनका व्यापार भी अचेतन और अज्ञानरूपही होगा। अतः अज्ञानरूप व्यापार प्रमाका साधकतम कारण नहीं हो सकता है।

न्यायदर्शनमें न्यायसूत्रके भाष्यकार वात्स्यायनने उपलब्धि-साधनको प्रमाण कहा है[2]। उद्योतकरने भी उपलब्धिके साधनको ही प्रमाण स्वीकार किया है[3]। जयन्तभट्टने प्रमाके करणको प्रमाण कहा है[4]। उदयनाचार्यने यथार्थ अनुभवको प्रमाण माना है[5]। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि उदयनके पहले न्यायदर्शनमें अनुभव पद दृष्टिगोचर नहीं होता है। वैशेषिकदर्शनमें सर्वप्रथम कणादने प्रमाणके सामान्य लक्षणका निर्देश किया है। उन्होंने दोषरहित ज्ञानको विद्या (प्रमाण) कहा है[6]। कणादके बाद वैशेषिकदर्शनके अनुयायियोंने प्रमाके करणको ही प्रमाण माना है। इसप्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शनमें प्रमाके करणको प्रमाण माना गया है। तथा प्रत्यक्ष प्रमाके करण तीन माने गये हैं[7]—इन्द्रिय, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष और ज्ञान।

१. इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्। योगदर्शन-व्यासभाष्य पृ० २७

२. उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि। न्यायभाष्य पृ० १८

३. उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्। न्यायवार्तिक पृ० ५

४. प्रमाकरणं प्रमाणम्। न्यायमंजरी पृ० २५

५. यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते। न्यायकुसुमा० ४।१

६. अदुष्टं विद्या वैशेषिकसूत्र ९।२।१२

७. तस्याः करणं त्रिविधम्-कदाचिदिन्द्रियम्, कदाचिदिन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदाचिज्ज्ञानम्। तर्कभाषा पृ० ११

यहाँ यह विचारणीय है कि इन्द्रिय और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रमाके करण हो सकते हैं या नहीं। इन्द्रिय और इन्द्रियार्थसन्निकर्षको प्रत्यक्ष प्रमाका करण मानना उचित नहीं है, क्योंकि ये दोनों अज्ञानरूप हैं, अतः अज्ञानकी निवृत्तिरूप प्रमाके करण कैसे हो सकते हैं। अज्ञाननिवृत्तिमें अज्ञानका विरोधी ज्ञान ही करण हो सकता है। जैसे कि अज्ञानकी निवृत्ति में उसका विरोधी प्रकाश ही करण होता है। सन्निकर्षको प्रमाण माननेमें एक दोष यह भी है कि कही सन्निकर्षके रहनेपर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, और कही सन्निकर्षके अभावमे भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

वृद्ध नैयायिकोंने ज्ञानात्मक तथा अज्ञानात्मक दोनों ही प्रकारकी सामग्रीको प्रमाका करण माना है[1]। वे कारकसाकल्य अर्थात् इन्द्रिय, मन, पदार्थ, प्रकाश आदि कारणोंकी समग्रताको प्रमाण मानते हैं। इस विषयमे इतना ही कहना पर्याप्त है कि अर्थकी उपलब्धिमें साधकतम कारण तो ज्ञान ही है, और कारकसाकल्यकी सार्थकता उस ज्ञानको उत्पन्न करनेमें है, क्योंकि ज्ञानको उत्पन्न किये विना कारकसाकल्य अर्थकी उपलब्धि नही करा सकता है। अतः प्रमाका करण ज्ञान ही हो सकता है, अज्ञानरूप कारकसाकल्य आदि नही।

मीमांसादर्शनमें प्राभाकर और भाट्ट दो सम्प्रदाय हैं। उनमेंसे प्राभाकरोने अनुभूतिको प्रमाण माना है[2]। तथा ज्ञातृव्यापारको भी प्रमाण माना है[3]। किन्तु एक ही अर्थकी अनुभूति विभिन्न व्यक्तियोंको अपनी अपनी भावनाके अनुसार विभिन्न प्रकारकी होती है। इसलिए केवल अनुभूतिको प्रमाण नही माना जा सकता है। ज्ञातृव्यापारका प्रमाण माननेमें उनकी युक्ति यह है कि अर्थका प्रकाशन ज्ञाताके व्यापार द्वारा होता है, अतः ज्ञाताका व्यापार प्रमाण है। किन्तु ज्ञातृव्यापारको प्रमाण मानना ठीक नही है, क्योंकि ज्ञाताके व्यापारको अर्थके प्रकाशनमें या जाननेमें प्रमाण तभी माना जासकता है जब उसका व्यापार यथार्थ

१. अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्। न्यायमञ्जरी पृ० १२

२. अनुभूतिश्च नः प्रमाणम् बृहती १।१।५

३. तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते।
तदेव च प्रमाणरूपं तद्वती करणं च धीः॥
व्यापारो न यदा तेषां तदा नोत्पद्यते फलम्।
मीमांसाश्लो० वा० पृ० १५२

वस्तुबोधमें कारण नहीं होता है, प्रत्युत विपरीत ही बोध कराता है, वहाँ उसे प्रमाण कैसे माना जासकता है।

भाट्टोंने अनधिगत (अज्ञात) और तथाभूत (यथार्थ) अर्थका निश्चय करने वाले ज्ञानको प्रमाण माना है[1]। किन्तु यह लक्षण अव्याप्ति दोषसे दूषित है, क्योंकि उन्होंने स्वयं धारावाहिक ज्ञानको प्रमाण माना है। और धारावाहिक ज्ञानमें अनधिगत अर्थनिश्चायकत्व नहीं है, प्रत्युत गृहीतग्राहित्व है। मीमांसकोंने प्रमाणका एक और भी विस्तृत, विशद एवं व्यापक लक्षण बतलाया है। उन्होंने कहा है कि जो अपूर्व अर्थको जाननेवाला हो, निश्चित हो, बाधाओंसे रहित हो, निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न हुआ हो और लोकसम्मत हो, वह प्रमाण कहलाता है[2]। उक्त प्रमाण लक्षणमें यद्यपि आपत्तिजनक कोई बात प्रतीत नहीं होती है, फिर भी अन्य दार्शनिकोंने इस लक्षणकी आलोचना की है। यथार्थमें मीमांसकोंने ज्ञानको जो परोक्ष माना है, वही सबसे बड़ी आपत्ति की बात है। उनकी मान्यता है कि ज्ञानका प्रत्यक्ष नही होता है, किंतु अर्थका ज्ञान हो जानेपर अनुमानसे बुद्धिका ज्ञान किया जाता है[3]। तथा अर्थापत्ति प्रमाणसे भी ज्ञानको जाना जाता है। अर्थात् अर्थमें ज्ञातताकी अन्यथानुपपत्तिसे जनित अर्थापत्तिसे ज्ञान गृहीत होता है[4]। मीमांसकोंकी उक्त मान्यता युक्तिसंगत नही है। क्योंकि परोक्ष होनेके कारण जो ज्ञान स्वयंको नही जानता है वह पदार्थको कैसे जान सकता है, और प्रमाण कैसे होसकता है। अतः मीमांसकोंका प्रमाणरूप ज्ञानको परोक्ष मानना तर्कसंगत नहीं है।

जैनदर्शनमें प्रमाणका स्वरूप

आचार्य गृद्धपिच्छका तत्त्वार्थसूत्र जैनदर्शनका प्रमुख सूत्रग्रन्थ है। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रमें सम्यग्ज्ञानके भेदोंको बतलाकर 'तत्प्रमाणे' सूत्र द्वारा सम्यग्ज्ञानमें प्रमाणताका उल्लेख किया। है। तथा 'प्रमाणनयैरधिगमः' इस सूत्र द्वारा प्रमाण और नयको जीवादि तत्त्वोंके अधिगमका

---

१. अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकं प्रमाणम्। शास्त्रदी० पृ० १२३

२. तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥
उद्धृत, प्रमेयरत्नालंकार पृ० २१

३. ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति बुद्धिम्। शाबरभा० १।१।२

४. ज्ञातताऽन्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञानं गृह्यते। तर्कभाषा पृ० ४२

साधन बतलाया है। तत्त्वार्थसूत्रकारने प्रमाणका निर्देश तो किया है, किन्तु दार्शनिक दृष्टिसे उसका कोई लक्षण नहीं बतलाया। सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्रने प्रमाणका दार्शनिक लक्षण प्रस्तुत किया है। उन्होंने आप्तमीमांसामें तत्त्वज्ञानको प्रमाण बतलाकर उसके अक्रमभावी और क्रमभावी ये दो भेद किये हैं[1]। और तत्त्वज्ञानको स्याद्वादनयसंस्कृत बतलाया है। आचार्य समन्तभद्रने ही स्वयम्भूस्तोत्रमें स्व और परके अवभासक ज्ञानको प्रमाण बतलाया है[2]। इसके अनन्तर आचार्य सिद्धसेनने प्रमाणके लक्षणमें बाधवर्जित पद जोड़कर स्वपरावभासक तथा बाध-वर्जित ज्ञानको प्रमाण माना है[3]। तदनन्तर अकलंक देवने इस लक्षणमें अविसंवादी और अनधिगतार्थग्राही[4] इन दो नये पदोंका समावेश करके अवभासकके स्थानमें व्यवसायत्मक पदका प्रयोग किया है[5]। इस लक्षणके अनुसार स्व और परका निश्चय करनेवाला, अविसंवादी (संशयादिका निरसन करनेवाला) और अनधिगत (अज्ञात) अर्थको जाननेवाला ज्ञान प्रमाण होता है। आचार्य विद्यानन्दने प्रमाणपरीक्षामें पहले सम्यग्ज्ञानको प्रमाणका लक्षण बतलाकर पुनः उसे स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध किया है[6]। उन्होंने प्रमाणके लक्षणमें अनधिगत या अपूर्व विशेषण नहीं दिया है। क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान चाहे गृहीत अर्थको जाने या अगृहीतको वह स्वार्थव्यवसायात्मक होनेसे ही प्रमाण है[7]। इसके अनन्तर आचार्य माणिक्यनन्दिने प्रमाणके लक्षणमें अपूर्ण विशेषणका समावेश करके स्व और

---

१. तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम्।
   क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्॥ आप्तमीमांसा का० १०१

२. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्। स्वयम्भूस्तोत्र श्लो० ६३

३. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्। न्यायावतार श्लो० १

४. प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।
अष्टश० अष्टस० पृ० १७५

५. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्। लघीयस्त्रय का० ६०

६. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्। स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्।
प्रमाणपरीक्षा पृ० १

७. तत्स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं मानमितीयता।
   लक्षणेन गतार्थत्वाद् व्यर्थमन्यद्विशेषणम्॥
   गृहीतमगृहीतं वा यदि स्वार्थं व्यवस्यति।
   तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्॥ तत्त्वार्थश्लो० १।१०।७७,७८

अपूर्व अर्थके व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रमाण कहा है[1]। किन्तु उत्तरकालीन जैन आचार्योंने प्रमाणका लक्षण करते समय सम्यग्ज्ञान या सम्यक् अर्थ निर्णयको ही प्रमाण माना है[2]।

इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित प्रमाणके विभिन्न लक्षणोंसे यही फलित होता है कि प्रमाणको अविसंवादी या सम्यक् होना चाहिए। इस सम्यक् विशेषणमें ही अन्य सब विशेषण अन्तर्भूत हो जाते हैं। प्रमाणके विषयमें विशेष बात यही है कि ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, अज्ञानरूप सन्निकर्षादि नहीं। ज्ञान स्वसंवेदी होता है। और स्वको नहीं जाननेवाला ज्ञान परको भी नहीं जान सकता है। अतः मीमांसकोंका परोक्षज्ञानवाद ठीक नहीं है। प्रमाणको व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) भी होना चाहिए। जो स्वयं अनिश्चयात्मक है वह प्रमाण कैसे हो सकता है। बौद्धोंके द्वारा माना गया कल्पनापोढ (कल्पनारहित) प्रत्यक्ष ज्ञान अनिश्चयात्मक होनेसे प्रमाण ही नही हो सकता है। उसके प्रत्यक्ष होनेकी बात तो दूर ही है।

प्रमाणके भेद

जैन दर्शनमें प्रमाणके दो भेद किये है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। मति, श्रुत अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानोंका प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंके रूपमें विभाजन आगमिक परम्परामें पहलेसे ही रहा है। प्रथम दो ज्ञान परोक्ष तथा शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधका अन्तर्भाव भी मतिज्ञानमें ही किया गया है। आगममें प्रत्यक्षता और परोक्षताका आधार भी दार्शनिक परम्परासे भिन्न है। आगमिक परिभाषामें इन्द्रिय और मनकी सहायताके विना आत्मामात्रकी अपेक्षासे उत्पन्न होने वाले ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। 'अक्षं प्रतिगतं प्रत्यक्षम्' यहाँ अक्षका अर्थ आत्मा किया गया है[3]। और जिस ज्ञानमें इन्द्रिय, मन और प्रकाश आदि बाह्य साधनोंकी अपेक्षा होती है वह ज्ञान परोक्ष है। आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमें प्रत्यक्ष और परोक्षकी यही परि-

१. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। परीक्षामुख १।१

२. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्। न्यायदी० पृ० ३
सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्। प्रमाणमी० १।१।२

३. अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। सर्वार्थसि० पृ० ५९

माना की है[१]। किन्तु दार्शनिक परम्पराके अनुसार इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाले मति ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मान लिया गया है। अतः परसापेक्ष ज्ञानको प्रत्यक्षकी परिधिमें सम्मिलित कर लेनेसे प्रत्यक्षकी परिभाषामें भी परिवर्तन करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई।

प्रत्यक्षका लक्षण

आचार्य सिद्धसेनने अपरोक्षरूपसे अर्थके ग्रहण करनेवाले ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है[२]। इस लक्षणमे परोक्षके स्वरूपको समझे बिना प्रत्यक्षका स्वरूप समझमें नही आता है। अतः अकलंकदेवने लघीयस्त्रयमें विशद ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा[३]। और न्यायविनिश्चयमे स्पष्ट ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है[४]। उनके इस लक्षणमें 'साकार' और 'अञ्जसा' पदोंका भी प्रयोग हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि साकार ज्ञान जब अञ्जसा स्पष्ट अर्थात् परमार्थरूपसे विशद हो तब उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। जिस ज्ञानमें किसी अन्य ज्ञानकी अपेक्षा न हो वह विशद कहलाता है। इस प्रकार दार्शनिक परम्पराके अनुसार विशद ज्ञानको प्रत्यक्ष और अविशद ज्ञानको परोक्ष माना गया है।

प्रत्यक्षके भेद

प्रत्यक्षके दो भेद हैं—मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। मुख्य प्रत्यक्षके भी दो भेद हैं—सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष। सम्पूर्ण पदार्थों को युगपत् जाननेवाला केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। और नियत अर्थोंको पूर्णरूपसे जाननेवाले अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष कहलाते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके भी दो भेद हैं—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। स्पर्शनादि पांच इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। और मनसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष

१ जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु।
जं केवलेण णादं हवदि हु जीवेण पच्चक्खं॥ प्रवचनसार गाथा ५८

२. अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया॥ न्यायावतार श्लोक ४

३. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसांव्यवहारिकम्।
परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणं इति संग्रहः॥ लघीयस्त्रय श्लो० ३

४. प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा। न्यायविनि० श्लो० ३

है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञानके चारों भेद सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

परोक्षके भेद

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क अनुमान और आगम ये परोक्ष प्रमाणके पांच भेद हैं[1]। इनमेंसे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क इन तीन प्रमाणोंको अन्य दार्शनिकोंने नहीं माना है। नैयायिकों और मीमांसकोंने प्रत्यभिज्ञानके स्थानमें उपमानको प्रमाण माना है। किन्तु व्याप्तिग्राहक तर्कको तो किसीने भी प्रमाण नहीं माना है। जैन दार्शनिकोंने युक्तिपूर्वक यह सिद्ध किया है कि तर्कके विना अन्य किसी भी प्रमाणसे व्याप्तिका ग्रहण नहीं हो सकता है।

विभिन्न दार्शनिकोंने प्रमाणकी संख्या भिन्न भिन्न मानी है[2]। चार्वाक केवल एक प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानता है। बौद्ध और वैशेषिक दो प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। सांख्य तीन प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। नैयायिक उपमान सहित चार, प्राभाकर अर्थापत्ति सहित पाँच और भाट्ट अभाव सहित छह प्रमाण मानते हैं। किन्तु जैनन्यायमें उपमानका प्रत्यभिज्ञानमें, अर्थापत्तिका अनुमानमें और अभावका प्रत्यक्ष आदिमें अन्तर्भाव करके प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे प्रमाणकी द्वित्व संख्याका समर्थन किया गया है।

प्रामाण्य विचार

प्रमाण जिस पदार्थको जिसरूपमें जानता है उसका उसीरूपमें प्राप्त होना प्रमाणका प्रामाण्य कहलाता है। किसी पुरुषने किसी स्थानमें दूरसे जलका ज्ञान किया और वहाँ जाने पर उसे जल मिल गया तो उसके ज्ञानमें प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि इस प्रकारके प्रामाण्यका ज्ञान या निर्णय कैसे होता है। अर्थात् किसीने दूरसे जाना कि वहाँ जल है, तो उसे जो जलज्ञान हुआ वह सत्य है या असत्य इसका निर्णय कैसे होगा।

जैनन्यायमें बतलाया गया है कि प्रामाण्यका निर्णय अभ्यास अवस्थामें स्वतः और अनभ्यास अवस्थामें परतः होता है। आचार्य विद्यान- ने

---

१. प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम्। परीक्षामुख ३।२

२. जैमिनेः षट् प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिनः।
सांख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः॥

प्रमाणपरीक्षामें लिखा है[1] कि अभ्यास होनेसे प्रामाण्य स्वतः सिद्ध हो जाता है, और अनभ्यासके कारण प्रामाण्यका निर्णय परसे होता है। इसी बातको आचार्य माणिक्यनन्दि ने परीक्षामुखमें कहा है[2] कि कही प्रामाण्य का ज्ञान स्वतः होता है और कही परतः होता है। अर्थात् अभ्यस्त अवस्थामें तो जलज्ञानके प्रामाण्यका निर्णय स्वयं हो जाता है और अनभ्यस्त अवस्थामे शीतल वायुका स्पर्श, कमलोकी सुगन्ध, मेढकोंका शब्द आदि पर निमित्तोंसे जलज्ञानकी सत्यताका निर्णय किया जाता है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्यके ज्ञानके विषयमें अन्य दार्शनिकोंमें विवाद है। न्याय-वैशेषिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनोंको परतः, सांख्य दोनोंको स्वतः तथा मीमांसक प्रामाण्यको स्वतः और अप्रामाण्यको परतः मानते हैं। मीमांसकोंका कहना है कि जिन कारणोंसे ज्ञान उत्पन्न होता है उनके अतिरिक्त अन्य किसी कारणकी प्रामाण्यकी उत्पत्तिमे अपेक्षा नही होती है। उनके अनुसार प्रत्येक ज्ञान पहले प्रमाण ही उत्पन्न होता है। बादमें यदि ज्ञानके कारणोंमे दोषज्ञान अथवा बाधक प्रत्ययके द्वारा उसकी प्रमाणता दूर कर दी जाय तो वह अप्रमाण कहलाने लगता है। अतः जब तक कारणोंमें दोषज्ञान अथवा बाधक प्रत्ययका उदय न हो तब तक सब ज्ञान प्रमाण ही हैं। अतः ज्ञानमें प्रामाण्य स्वतः ही होता है। किन्तु अप्रामाण्यमें ऐसी बात नही है। अप्रामाण्यकी उत्पत्ति तो परतः ही होती है। क्योंकि उसमें ज्ञानके कारणोंके अतिरिक्त दोषरूप सामग्रीकी अपेक्षा होती है।

तत्त्वसंग्रहके टीकाकार कमलशीलने बौद्धोंका पक्ष अनियमवादके रूपमें बतलाया है[3]। वे कहते हैं 'प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः, दोनों परतः, प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्य परतः और अप्रामाण्य स्वतः प्रामाण्य परतः' इन चार नियम पक्षोंसे अतिरिक्त पाँचवाँ अनियम पक्ष भी है, जो प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनोंको अवस्थाविशेषमें स्वतः और अवस्थाविशेषमें परतः माननेका है। यही पक्ष बौद्धोंको इष्ट है।

---

१. प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात् परतोऽन्यथा। प्रमाणपरीक्षा

२. तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च। परीक्षामुख १।१३

३. नहि बौद्धैरेषां चतुर्णामेकतमोऽपि पक्षोऽभीष्टः, अनियमपक्षस्येष्टत्वात्। तथाहि-उभयमप्येतत् किञ्चित् स्वतः किञ्चित् परत इति पूर्वमुपवर्णितम्। अतएव पक्षचतुष्टयोपन्यासोऽप्ययुक्तः। पञ्चमस्यानियमपक्षस्य संभवात्।
—तत्त्वसं० प० का० ३१२३

नय विमर्श

अधिगमके उपायोंमें प्रमाणके साथ नयका निर्देश किया गया है। प्रमाण सम्पूर्ण वस्तुको ग्रहण करता है और नय प्रमाणके द्वारा गृहीत वस्तुके एक अंशको जानता है। आचार्य समन्तभद्रने प्रमाणको 'स्याद्वादनय-संस्कृत' बतलाकर श्रुतज्ञानको 'स्याद्वाद' शब्दसे अभिहित किया है[1]। अकलंक देवने भी उसीका अनुसरण करते हुए लघीयस्त्रयमें श्रुतके दो उपयोग बतलाये हैं[2]—एक स्याद्वाद और दूसरा नय।

नयका स्वरूप

अकलंकदेवने ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहा है[3]। धर्मभूषण यतिने 'प्रमाणके द्वारा गृहीत अर्थके एक देशको ग्रहण करनेवाले प्रमाताके अभिप्राय विशेषको नय कहा है[4]। देवसेनने नयचक्रमें कहा है कि जो वस्तुको नाना स्वभावोंसे व्यावृत्त करके एक स्वभावमें ले जाता है वह नय है[5]। आचार्य समन्तभद्रने स्याद्वादसे गृहीत अर्थके नित्यत्वादि विशेष धर्मके व्यंजकको नय कहा है[6]। आचार्य विद्यानन्दने बतलाया है कि जिसके द्वारा श्रुतज्ञानके विषयभूत अर्थके अंशको जाना जाता है वह नय है[7]। इन सब लक्षणोंका फलितार्थ यही है कि नय वस्तुके एक देश या एक धर्मको जानता है।

नय प्रमाणका एक देश है—

नय प्रमाण है या अप्रमाण? इस प्रश्नका उत्तर यही है कि नय न तो प्रमाण है और न अप्रमाण, किन्तु प्रमाणका एक देश है। जैसे घड़ेमें भरे हुए समुद्रके जलको न तो समुद्र कह सकते हैं और न असमुद्र ही। अतः जैसे घड़ेका जल समुद्रका एक देश है, असमुद्र नहीं, उसी प्रकार नय भी प्रमाणका एक देश है, अप्रमाण नहीं। नयके द्वारा ग्रहण की

---

१. स्याद्वादकेवलज्ञाने। आप्तमी० का० १०५
२. उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ। —लघीयस्त्रय श्लो० ६२
३. नयो ज्ञातुरभिप्रायः। —लघीयस्त्रय श्लो० ५५
४. प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही प्रमातुरभिप्रायविशेषः नयः। —न्यायदीपिका
५. नानास्वभावेभ्यः व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयतीति नयः। —नयचक्र पृ० १
६. स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः। —आप्तमी० का० १०६
७. नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः। —तत्त्वा० श्लो० वा० १।३३।६

गयी वस्तु न तो पूर्ण वस्तु कही जा सकती है और न अवस्तु, किन्तु वह वस्तुका एक देश ही हो सकती है[1]।

सुनय और दुर्नय

सुनय वह है जो अपने विवक्षित धर्मको मुख्यरूपसे ग्रहण करके भी अन्य धर्मोंका निराकरण नहीं करता है, किन्तु वहाँ उनकी उपेक्षा रहती है। दुर्नय वह है जो वस्तुमें अन्य धर्मोंका निराकरण करके केवल एक धर्मका अस्तित्व स्वीकार करता है। प्रमाण 'तत् और अतत्' उभय स्वभावरूप वस्तुको जानता है। नयमें मुख्यरूपसे 'तत्' या 'अतत्' किसी एक धर्मकी ही प्रतिपत्ति होती है। परन्तु दुर्नय प्रतिपक्षी अन्य धर्मोंका निराकरण करके केवल एक धर्मकी ही प्रतिपत्ति करता है[2]।

प्रमाण, नय और दुर्नयके भेदको बतलाने वाला निम्न श्लोक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः ।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतिः ॥

अनेक धर्मात्मक अर्थका ज्ञान प्रमाण है, अन्य धर्मोंकी अपेक्षा पूर्वक उसके एक देशका ज्ञान नय है, और अन्य धर्मोंका निराकरण करना दुर्नय है।

इसका तात्पर्य यही है कि निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं। तथा अन्य धर्मोंकी अपेक्षा रखने वाला नय ही वस्तुके अंशका वास्तविक बोध करा सकता है। सामान्यरूपसे जितने शब्द हैं उतने ही नय होते हैं[3]। फिर भी द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय, निश्चयनय, व्यवहारनय, ज्ञाननय, अर्थनय, शब्दनय आदिके भेदसे नयके अनेक भेद किये गये हैं।

अनेकान्त विमर्श

संसारके समस्त दर्शन दो वादोंमें विभाजित हैं। एकान्तवाद और अनेकान्तवाद। जैनदर्शन अनेकान्तवादी है और शेष एकान्तवादी।

---

१. नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः ।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ॥ [illegible]वा० १।६

२. [illegible]हानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्णयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च । प्रमाणात्तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेः तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च ।
—अष्टश० अष्टस० पृ० २९०

३. जावइया वयणपहा तावइया होंति णयवाया । —सम्मति० ३।४७

आचार्य समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें अनेकान्तवादी वक्ताको आप्त और एकान्तवादी वक्ताको अनाप्त बतलाते हुए सदेकान्त, असदेकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, अपेक्षैकान्त, अनपेक्षैकान्त, युक्त्येकान्त, आगमैकान्त, अन्तरङ्गार्थैकान्त, बहिरङ्गार्थैकान्त, दैवैकान्त, पौरुषैकान्त आदि एकान्तवादोंकी समालोचना करके स्याद्वादन्यायके अनुसार अनेकान्तकी स्थापना की है। यहाँ उसी अनेकान्तके स्वरूपका विचार किया जा रहा है।

'अनेकान्त' यह शब्द 'अनेक' और 'अन्त' इन दो पदोंके मेलसे बना है। 'अनेक'का अर्थ है—एकसे भिन्न, और 'अन्त'का अर्थ है—धर्म। यद्यपि 'अनेक' शब्द द्वारा दोसे लेकर अनन्त धर्मोंका ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु यहाँ दो धर्म ही विवक्षित हैं। प्रकृतमें अनेकान्तका ऐसा अर्थ इष्ट नहीं है कि अनेक धर्मों, गुणों और पर्यायोंसे विशिष्ट होनेके कारण अर्थ अनेकान्तस्वरूप है। अर्थको अनेकान्तस्वरूप कहना तो ठीक है, किन्तु केवल अनेक धर्म सहित होनेके कारण उसको अनेकान्तस्वरूप स्वीकार नहीं किया गया है। क्योंकि ऐसा स्वीकार करनेपर प्रकृतमें अनेकान्तका इष्ट अर्थ फलित नहीं होता है। प्रायः सभी दर्शन वस्तुको अनेकान्तस्वरूप स्वीकार करते ही हैं। ऐसा कोई भी दर्शन नहीं है जो घटादि अर्थोंको रूप, रसादि गुण विशिष्ट स्वीकार न करता हो। तथा आत्माको ज्ञानादि गुण विशिष्ट न मानता हो। जैनदर्शनकी दृष्टिसे भी प्रत्येक वस्तुमें विभिन्न अपेक्षाओंसे अनन्त धर्म रहते हैं। अतः एक वस्तुमें अनेक धर्मोंके रहनेका नाम अनेकान्त नहीं है, किन्तु 'प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्मके साथ वस्तुमें रहता है' ऐसा प्रतिपादन करना ही अनेकान्तका प्रयोजन है। अर्थात् 'सत् असत्का अविनाभावी है और एक अनेकका अविनाभावी है' यह सिद्ध करना ही अनेकान्तका मुख्य लक्ष्य है।

आचार्य अमृतचन्द्रने समयसारकी आत्मख्याति नामक टीकामें लिखा है[1] कि जो वस्तु तत्स्वरूप है वही अतत्स्वरूप भी है। जो वस्तु एक है वही अनेक भी है, जो वस्तु सत् है वही असत् भी है, तथा जो वस्तु नित्य है वही अनित्य भी है। इस प्रकार एक ही वस्तुमें वस्तुत्वके निष्पादक

१. यदेव तत् तदेव अतत्, यदेवैकं तदेवानेकम्, यदेव सत् तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यम्, इत्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः —समयसार (आत्मख्याति) १०।२४७

परस्पर विरोधी धर्मयुगलोंका प्रकाशन करना ही अनेकान्त है। अकलंक देवने अष्टशती नामक भाष्यमें लिखा है[1] कि वस्तु सर्वथा सत् ही है अथवा असत् ही है, नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, इस प्रकार सर्वथा एकान्तके निराकरण करनेका नाम अनेकान्त है।

उक्त कथनसे यह फलित होता है कि परस्परमें विरोधी प्रतीत होने वाले दो धर्मोंके अनेक युगल वस्तुमें पाये जाते हैं। इसलिए नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् इत्यादि परस्परमें विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक धर्मोंके समुदायरूप वस्तुको अनेकान्त कहनेमें कोई विरोधी नहीं है। वस्तु केवल अनेक धर्मोंका ही पिण्ड नही है, किन्तु परस्परमें विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक धर्मोंका भी पिण्ड है। प्रत्येक वस्तु विरोधी धर्मोंका अविरोधी स्थल है। वस्तुका वस्तुत्व विरोधी धर्मोंके अस्तित्वमें ही है। यदि वस्तुमें विरोधी धर्म न रहे तो उसका वस्तुत्व ही समाप्त हो जाय। अतः वस्तुमे अनेक धर्मोंके रहनेका नाम अनेकान्त नही है, किन्तु अनेक विरोधी धर्म युगलोके रहनेका नाम अनेकान्त है। कोई वस्तु सत् है, नित्य है, और एक है, इतना होनेसे वह अनेकान्तात्मक नही मानी जा सकती। किन्तु वह सत् और असत् दोनो होनेसे अनेकान्तात्मक है। इसी प्रकार नित्य और अनित्य, एक और अनेक होनेसे वह अनेकान्तात्मक है। तात्पर्य यह है कि अनेक विरोधी धर्मोंका पिण्ड होनेसे वस्तु अनेकान्तात्मक है। वस्तुमे विरोधी धर्मोंके एक साथ रहनेमे कोई विरोध भी नही है, क्योंकि उसमे प्रत्येक धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षासे रहता है।

एकान्तवादियोंकी समझमें यह बात नही आती है कि एक ही वस्तुमें अनेक विरोधी धर्म कैसे पाये जाते हैं। वे सोचते है कि वस्तुमे विरोधी धर्मोंका होना तो नितान्त असभव है। एकान्तवादी कहते हैं कि जो वस्तु सत् है वह असत् कैसे हो सकती है, जो वस्तु नित्य है वह अनित्य कैसे हो सकती है। सत् वस्तुके असत् होनेमें उन्हे विरोध आदि दोष प्रतीत होते हैं। इस प्रकार कहने वालोंके लिए आचार्य समन्तभद्रने उत्तर दिया है[2] कि स्वरूप आदि चतुष्टयकी अपेक्षासे सब वस्तुओको सत् कौन नहीं मानेगा और पररूप आदि चतुष्टयकी अपेक्षासे उनको असत् कौन नहीं

१. सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः।

—अष्टश० अष्टस० पृ० २८६

२. सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥ आप्तमीमांसा का० १५

स्वीकार करेगा। क्योंकि इस प्रकारकी व्यवस्थाके अभावमें किसी भी तत्त्वकी स्वतंत्र व्यवस्था नहीं बन सकती है।

अनेकान्तदर्शनकी उपयोगिता

प्रत्येक वस्तुके यथार्थ परिज्ञानके लिए अनेकान्तदर्शनकी महती आवश्यकता है। किसी वस्तु या बातको ठीक ठीक न समझ कर उसको अपने हठपूर्ण विचार या एकान्त अभिनिवेशवश सर्वथा एकान्तरूप स्वीकार करने पर बड़े-बड़े अनर्थोंकी संभावना रहती है। एकान्त दृष्टि कहती है कि तत्त्व ऐसा ही है, और अनेकान्त दृष्टि कहती है कि तत्त्व ऐसा भी है। यथार्थमें सारे झगड़े या विवाद ही के आग्रहसे ही उत्पन्न होते हैं। विवाद वस्तुमें नहीं है किन्तु देखने वालोंकी दृष्टिमें है। जिस प्रकार पीलिया रोगवालेको या जो धतूरा खा लेता है उसको सब वस्तुएँ पीली ही दिखती हैं, उसी प्रकार एकान्तके आग्रहसे जिनकी दृष्टि विकृत हो गयी है उनको वस्तु एकान्तरूप ही दिखती है। आग्रही व्यक्तिके विषयमें हरिभद्रसूरिने कितना युक्तिसंगत लिखा है[1] कि दुराग्रही व्यक्ति की बुद्धि जिस विषयमें जैसी होती है वह उस विषयमें वैसी युक्ति भी देता है, किन्तु पक्षपातरहित व्यक्ति उस बातको स्वीकार करता है जो युक्तिसिद्ध होती है।

यथार्थमें अनेकान्तदर्शन पूर्णदर्शी है। वह कहता है कि प्रत्येक वस्तु विराट् और अनन्तधर्मात्मक है। वह एकान्तवादियोंके मस्तिष्कसे दूषित एवं हठपूर्ण विचारोंको दूर करके शुद्ध एवं सत्य विचारके लिए मार्गदर्शन करता है। अनेकान्तदर्शनसे अनन्तधर्मसमताकी तरह मानवसमताका भी बोध हो सकता है और मानवसमताके बोधसे संसारकी वर्तमान अनेक समस्याओंका समाधान भी हो सकता है। अतः वस्तुस्थितिका ठीक ठीक प्रतिपादन करनेवाले अनेकान्तदर्शनकी संसारको अत्यन्त आवश्यकता है। अनेकान्तदर्शन विभिन्न विचारोंमें विरोधको दूर करके उनका समन्वय करता है। आचार्य अमृतचन्द्रने अनेकान्तके महत्त्वको बतलाते हुए लिखा है[2] कि परमागमके बीजस्वरूप जन्मान्ध पुरुषोंका हाथीके विषयमें विधान (एकान्त दृष्टि) का निषेध करने वाले और एकान्तवादियोंके विरोधको दूर करनेवाले अनेकान्तको नमस्कार हो।

1. आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥ —लोकतत्त्वनिर्णय

2. परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥—पुरुषार्थसि० श्लो० २

स्याद्वाद विमर्श

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। और स्याद्वाद उस अनन्तधर्मात्मक वस्तुके प्रतिपादन करनेका एक साधन या उपाय है। अनेकान्त और स्याद्वाद शब्द पर्यायवाची नहीं हैं। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है। स्याद्वाद भाषाकी वह निर्दोष प्रणाली है जो अनन्तधर्मात्मक वस्तुका सम्यक् प्रतिपादन करती है। 'स्याद्वाद' यह संयुक्त पद है, जो 'स्यात्' और 'वाद' इन दो पदोंके मेलसे बनता है। 'वाद' का अर्थ है कथन या प्रतिपादन। और 'स्यात्' शब्द कथंचित् (किसी सुनिश्चित अपेक्षा) के अर्थमे प्रयुक्त होता है, संशय, संभावना या कदाचित्के अर्थमे नही। स्यात् शब्दके अर्थको ठीकसे न समझ सकनेके कारण कुछ लोग स्यात्का अर्थ संशय, सभावना आदि करके स्याद्वादको संशयवाद, संभावनावाद या अनिश्चयवाद कहते हैं। किन्तु उनका ऐसा कहना 'स्याद्वाद'के अर्थको ठीकसे न समझ सकनेके कारण ही है। स्याद्वादके अर्थको ठीकसे समझनेके लिए जैन शास्त्रोंपर दृष्टि डालना आवश्यक है।

'स्यात्' शब्द तिङन्तप्रतिरूपक निपात (अव्यय) है। और यह अनेकान्तका द्योतन करता है। 'स्यादस्ति घटः' इस वाक्यमें 'अस्ति' पद वस्तुके अस्तित्व धर्मका वाचक है, और 'स्यात्' पद उसमें रहने वाले नास्तित्व आदि शेष धर्मोंका द्योतन करता है। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर आचार्य समन्तभद्रने कहा है[1] कि 'स्यात्' पद 'स्यात् सत्' इत्यादि वाक्योंमें अनेकान्तका द्योतक तथा गम्य (अभिधेय) अर्थका समर्थक होता है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि यह सर्वथा एकान्तका त्याग करके कथंचित्के अर्थ में प्रयुक्त होता है[2]। अकलंकदेवने बतलाया है[3] कि अनेकान्तात्मक अर्थके कथनका नाम स्याद्वाद है। आचार्य अमृतचन्द्रने कहा है[4] कि कथंचित्के अर्थमें 'स्यात्' निपात शब्दका प्रयोग होता

---

१. वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि॥ —आप्तमीमांसा का० १०३

२. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
—आप्तमीमांसा का० १०४

३. अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः। —लघीयस्त्रय स्वो० भा० ३।६२

४. सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तताद्योतकः कथंचिदर्थे स्यात् शब्दो निपातः।
—[illegible]काय टीका

है, जो एकान्तका निषेधक और अनेकान्तका द्योतक है। आचार्य मल्लिषेणने बतलाया है[1] कि 'स्यात्' यह अव्यय अनेकान्तका द्योतक है। इसलिए नित्य, अनित्य आदि अनेक धर्मरूप एक वस्तुका कथन स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है।

जैनाचार्योंके उपरिलिखित कथनसे यही अर्थ निकलता है कि 'स्यात्' शब्द निपात है, जो एकान्तका निराकरण करके अनेकान्तका द्योतन करता है। यथार्थ बात है कि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, और शब्दके द्वारा उस अनन्तधर्मात्मक वस्तुका प्रतिपादन एक ही समयमें संभव नहीं है। क्योंकि शब्दोंकी शक्ति नियत है। वे एक समयमें एक ही धर्मको कह सकते हैं। अतः अनेकान्तात्मक वस्तुका शब्दोंके द्वारा प्रतिपादन क्रमसे ही हो सकता है। अनेकान्तात्मक वस्तुके प्रतिपादन करनेका अन्य कोई उपाय नही है। स्याद्वादके विना वस्तुका प्रतिपादन हो ही नहीं सकता है। स्याद्वाद एक समयमें मुख्यरूपसे एक धर्मका ही प्रतिपादन करता है। और शेष धर्मोंका गौणरूपसे द्योतन करता है। जब कोई कहता है कि 'स्यादस्ति घटः' 'घट कथंचित् है' तो यहाँ स्यात् शब्द घटमें अस्तित्व धर्मकी अपेक्षाको बतलाता है कि घटका अस्तित्व किस अपेक्षासे है। वह कहता है कि स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षासे घटका अस्तित्व है। इसके साथ वह यह भी बतलाता है कि घट सर्वथा अस्तिरूप ही नही है, किन्तु अस्तित्व धर्मके अतिरिक्त उसमें नास्तित्व आदि अन्य अनेक धर्म भी विद्यमान है। उन्ही अनेक धर्मोंकी सूचना 'स्यात्' शब्दसे मिलती है।

स्याद्वादकी शैली

स्याद्वाद विभिन्न दृष्टिकोणोंसे वस्तुका प्रतिपादन करके पूरी वस्तु पर एक ही धर्मके पूर्ण अधिकारका निषेध करता है। वह कहता है कि वस्तुपर सब धर्मोंका समानरूपसे अधिकार है। विशेषता केवल यही है कि जिस समय जिस धर्मके प्रतिपादनकी विवक्षा होती है उस समय उस धर्मको मुख्यरूपसे ग्रहण करके अन्य अविवक्षित धर्मोंको गौण कर दिया जाता है। आचार्य अमृतचन्द्रने एक सुन्दर दृष्टान्त द्वारा स्याद्वादकी प्रतिपादन शैलीको बतलाया है[2] कि जिस प्रकार दधिमन्थन करने वाली

---

१. स्यादित्यव्ययमनेकान्तताद्योतकं ततः स्याद्वादः अनेकान्तवादः, नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत्। —स्याद्वादमंजरी

२. एकेनाकर्षयन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण। अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥—पुरुषार्थसि० श्लो० २२५

गोपी मथानेकी रस्सीके एक छोरको खींचती है और दूसरे छोरको ढीला कर देती है तथा रस्सीके आकर्षण और शिथिलीकरणके द्वारा दधिका मन्थन करके इष्ट तत्त्व घृतको प्राप्त करती है, उसी प्रकार स्याद्वाद-नीति भी एक धर्मके आकर्षण और शेष धर्मोंके शिथिलीकरण द्वारा अनेकान्तात्मक अर्थकी सिद्धि करती है।

भगवान् महावीरने इसी स्याद्वादनीतिके अनुसार उपदेश दिया था। वे स्याद्वादी, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। उन्होंने वस्तुका सर्वाङ्गीण साक्षात्कार किया था। वे न संजयकी तरह अनिश्चयवादी थे, न गोशालककी तरह भूतवादी, और न बुद्धकी तरह अव्याकृतवादी। मालुक्यपुत्रने बुद्धसे लोकके शाश्वत-अशाश्वत, सान्त-अनन्त, तथा जीव और देहकी भिन्नता अभिन्नता आदिके विषयमें दस प्रश्नोंको पूँछा था। और बुद्धने इन प्रश्नोंको अव्याकृत बतलाकर इनका कोई उत्तर नहीं दिया था। अव्याकृतका अर्थ है—व्याकरण अथवा कथनके अयोग्य। बुद्धने बतलाया था कि इन प्रश्नोंके विषयमें कुछ कहना न तो भिक्षुचर्याके लिए उपयोगी है और न निर्वेद, निरोध, शान्ति, परम ज्ञान या निर्वाणके लिए इनका कथन आवश्यक है। किन्तु भगवान् महावीरके समक्ष किसी प्रश्नको अव्याकृत कहनेका कोई अवसर ही नहीं आया। इसके विपरीत उन्होंने आत्मा, परलोक, निर्वाण आदिके विषयमें प्रत्येक प्रश्नका स्याद्वादनीतिके अनुसार सयुक्तिक, सार्थक और निश्चित उत्तर दिया। तथा विभिन्न दृष्टिकोणोंका स्याद्वादके अनुसार समन्वय किया।

समन्वयका मार्ग स्याद्वाद

यथार्थमें एक ही वस्तु विभिन्न दृष्टिकोणोंसे देखी जा सकती है। और उन अनेक दृष्टिकोणोंका प्रतिपादन तथा उनमें समन्वय स्याद्वादके द्वारा किया जाता है। यदि किसी वस्तुको पूर्णरूपसे समझना है तो इसके लिए विभिन्न दृष्टिकोणोंसे उसका समझना आवश्यक है। ऐसा किये विना किसी भी वस्तुका पूर्ण रूप समझमें नहीं आ सकता। किसी भी विषयपर विभिन्न दृष्टिकोणोंसे विचार करनेका ही नाम स्याद्वाद है। और एक दृष्टिकोणसे किसी विषयपर विचार करना एकान्तवाद है। एकान्तवादी अपने दृष्टिकोणसे निश्चित किये गये सत्यको पूर्ण सत्य मानकर अन्य लोगोंके दृष्टिकोणोंको मिथ्या बतलाता है। मतभेदों तथा संघर्षोंका कारण यही एकान्त दृष्टि है। विभिन्न मतावलम्बी एकान्तवादके कारण ही अपनेको सच्चा और दूसरोंको झूँठा मानते हैं। *किन्तु यदि विभिन्न दृष्टिकोणोंसे उन एकान्तों (धर्मों)को समझनेकी*

उदारता दिखलायी जाय तो किसी न किसी अपेक्षासे वे सब ठीक निकलेंगे।

द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे सांख्यका नित्यैकान्त और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे बौद्धका क्षणिकैकान्त ये दोनों ही ठीक हैं। सब धर्मोंके सिद्धान्तोंका समन्वय करनेके लिए स्याद्वादका सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। यह सिद्धान्त हमारे सामने समन्वयका मार्ग उपस्थित करता है। आचार्य समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें स्याद्वादन्यायके अनुसार विभिन्न एकान्तोंका समन्वय करके स्याद्वाद सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा की है। इसी आधारपर उन्होंने अपने आप्तको निर्दोष और युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् बतलाया है। उनका आप्त इसी कारण आप्त है कि उसका इष्ट तत्त्व किसी प्रमाणसे बाधित नहीं होता है। अपने आप्तकी इसी विशेषताका सब प्रकारसे समर्थन करके अन्तमें वे कहते हैं—'इति स्याद्वादसंस्थितिः' और यही स्याद्वादकी संस्थिति उन्हें अभीष्ट है।

स्याद्वादका सिद्धान्त सुव्यवस्थित, और व्यावहारिक है। यह अनन्त धर्मात्मक वस्तुकी विभिन्न दृष्टिकोणोंसे व्यवस्था करता है, तथा उस व्यवस्थामें किसी प्रमाणसे बाधा नहीं आती है। अतः यह सुव्यवस्थित है। सुव्यवस्थित होनेके साथ ही स्याद्वाद व्यावहारिक भी है। यह सदाकाल व्यवहारमें उपयोगी है। इसके विना किसी भी प्रकारका लोकव्यवहार नहीं चल सकता है। लोकमें जितना भी व्यवहार होता है वह सब आपेक्षिक होता है और आपेक्षिक व्यवहारका नाम ही स्याद्वाद है। पिता, पुत्र, माता, पत्नी आदि व्यवहार भी किसी निश्चित अपेक्षासे ही होता है। अतः अनेक विरोधी विचारोंका समन्वय किये विना लौकिक जीवनयात्रा भी नहीं बन सकती है। विरोधी विचारोंमें समन्वयके अभावमें सदा विवाद और संघर्ष होते रहेंगे तथा विवाद या संघर्षका अन्त तभी होगा जब स्याद्वादके अनुसार सब अपने अपने दृष्टिकोणोंके साथ दूसरोंके दृष्टिकोणोंका भी आदर करेंगे। अनेकान्तदर्शनसे मानससमता और विचारशुद्धि होती है, तथा स्याद्वादसे वाणीमें समन्वयवृत्ति और निर्दोषता आती है। इसीलिए आचार्य समन्तभद्रने स्याद्वादको 'स्यात्कारः सत्यलांछनः' कहकर सत्याद्वादको सत्यका चिह्न या प्रतीक बतलाया है।

सप्तभंगी विमर्श

स्याद्वाद वस्तुके अनन्त धर्मोंका प्रतिपादन सात भंगों और नयोंकी अपेक्षासे करता है[1]। प्रत्येक धर्मका प्रतिपादन उसके प्रतिपक्षी धर्मको

1. सप्तभंगनयापेक्षः स्याद्वादः। आप्तमी० का० १४

लेकर सात प्रकारसे किया जाता है। और प्रत्येक धर्मके सात प्रकारसे प्रतिपादन करनेकी शैलीका नाम सप्तभंगी है। इसमें सात भंग (विकल्प) होनेके कारण इसका नाम सप्तभंगी है। अकलंकदेवने कहा है[1] कि एक वस्तुमें अविरोधपूर्वक विधि और प्रतिषेधकी कल्पना (विचार) करना सप्तभंगी है। अस्तित्व एक धर्म है और नास्तित्व उसका प्रतिपक्षी धर्म है। अपने प्रतिपक्षी नास्तित्व सापेक्ष अस्तित्व धर्मकी अपेक्षासे सप्तभंगी निम्न प्रकार बनेगी।

१ स्यादस्ति घटः, २ स्यान्नास्ति घटः, ३ स्यादस्ति-नास्ति घटः, ४ स्यादवक्तव्यो घटः, ५ स्यादस्ति अवक्तव्यश्च घटः, ६ स्यान्नास्ति अवक्तव्यश्च घटः, ७ स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यश्च घटः।

१ घट कथंचित् है, २ घट कथंचित् नहीं है, ३ घट कथंचित् है, और नहीं है, ४ घट कथंचित् अवक्तव्य है, ५ घट कथंचित् है, और अवक्तव्य है, ६ घट कथंचित् नहीं है, और अवक्तव्य है। घट कथंचित् है, नहीं है, और अवक्तव्य है।

घट अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे है, तथा परद्रव्य क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे नहीं है। उक्त कथन पृथक् पृथक्रूपसे विभिन्न समयोंमे किया गया समझना चाहिये। अर्थात् कभी अस्तित्वका कथन किया गया हो और कभी नास्तित्वका कथन किया गया हो। घटमे अस्तित्वके कथनके बाद ही यदि नास्तित्वका कथन किया जाय तो घट उभयरूप (अस्ति और नास्तिरूप) सिद्ध होता है। यदि कोई उक्त दोनों धर्मोंको एक समयमें ही कहना चाहता है। तो ऐसा संभव नहीं है। क्योंकि शब्द एक समयमें एक ही धर्मका प्रतिपादन कर सकते हैं। ऐसी स्थितिमे घटको अवक्तव्य कहना पड़ता है। घट सर्वथा अवक्तव्य नहीं है, किन्तु किसी अपेक्षासे अवक्तव्य है। यदि वह सर्वथा अवक्तव्य होता तो 'घट अवक्तव्य है' ऐसा कथन भी नहीं हो सकता है। क्योंकि ऐसा कहनेसे वह कथंचित् वक्तव्य हो जाता है। घटमें पहले अस्तित्वकी विवक्षा हो और इसके बाद ही अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंकी युगपत् विवक्षा हो तो घट 'स्यादस्ति अवक्तव्य' होता है। पहले नास्तित्वकी विवक्षा होनेसे और इसके बाद ही अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंकी युगपत् विवक्षा होनेसे घट 'स्यान्नास्ति अवक्तव्य' होता है। पहले दोनों धर्मोंकी क्रमशः विवक्षा

---

१. प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी।

—तत्त्वार्थवार्तिक १।६।५

होनेसे और इसके बाद ही दोनोंकी युगपत् विवक्षा होनेसे घट 'स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य' सिद्ध होता है। इस प्रकार नास्तित्व धर्म सापेक्ष अस्तित्व धर्मकी अपेक्षासे सप्तभंगी बनती है। इसी प्रकार एकत्व-अनेकत्व नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मोंकी अपेक्षा से भी सप्तभंगीको समझ लेना चाहिए।

उक्त सात भंगोंमें पहला, दूसरा और चौथा ये तीन मूल भंग हैं और शेष चार संयोगज भंग हैं। ये मूल भंगोंके संयोगसे बनते हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि भंग सात ही क्यों होते हैं। इस प्रश्नका उत्तर दो प्रकारसे दिया जा सकता है—१ गणितके नियमके अनुसार, तथा २ प्रश्नोंकी संख्याके अनुसार। गणितके नियमके अनुसार तीन मूल भंगोंके अपुनरुक्त भंग सात ही होते है, अधिक नही। मूल भंग तीन हैं—१ अस्ति, २ नास्ति ३ अवक्तव्य। इनके द्विसंयोगी तीन भंग बनते हैं—४ अस्ति-नास्ति, ५ अस्ति-अवक्तव्य और ६ नास्ति-अवक्तव्य। और त्रिसंयोगी एक भंग बनता है—७ अस्ति-नास्ति अवक्तव्य।

प्रश्नोंकी संख्याके अनुसार सात भंगोंका नियम इस प्रकार है। तत्त्व-जिज्ञासु वस्तुतत्त्वके विषयमें सात प्रकारके प्रश्न करता है। सात प्रकारके प्रश्न करनेका कारण उसकी सात प्रकारकी जिज्ञासाएँ हैं। सात प्रकारकी जिज्ञासाओंका कारण उसके सात प्रकारके संशय हैं। और सात प्रकारके संशयोंका कारण उनके विषयभूत वस्तुनिष्ठ सात धर्म हैं। इस बातको आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें विस्तारसे समझाया है[1]। यतः सात प्रकारके प्रश्न होते हैं अतः उनका उत्तर भी सात प्रकारसे दिया जाता है। और ये सात उत्तर ही सप्तभंगी कहलाते हैं। वस्तुमें विरोधी प्रतीत होने वाले अनन्त धर्मयुगल रहते हैं। अतः प्रत्येक धर्मयुगलकी अपेक्षा-से वस्तुमें अनन्त सात-सात भंग होते हैं अथवा अनन्त सप्तभङ्गियाँ बनती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि अनन्त धर्मोंकी अपेक्षासे वस्तुमें अनन्त सप्तभङ्गियाँ तो बन सकती हैं, किन्तु अनन्तभङ्गी नहीं बनती है। क्योंकि प्रत्येक धर्मविषयक एक ही सप्तभङ्गी होती है। अतः अनन्त धर्मविषयक अनन्त सप्तभङ्गियाँ माननेमें कोई विरोध नहीं है।

१. अनन्तानामपि सप्तभंगीनामिष्टत्वात्। तत्रैकत्वानेकत्वादिकल्पनयापि सप्तानामेव भंगानामुत्पत्तेः। प्रतिपाद्यप्रश्नानां तावतामेव संभवात्। प्रश्नव-शादेव सप्तभंगीति नियमवचनात्। सप्तविध एव तत्र प्रश्नः कुत इति चेत् सप्तविधजिज्ञासाघटनात्। सापि सप्तविधा कुत इति चेत् सप्तधासंशयो-त्पत्तेः। सप्तधैव संशयः कथमिति चेत् तद्विषयवस्तुधर्मसप्तविधत्वात्।
—अष्टसहस्री पृ० १२५-१२६

प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगी

इन सात भङ्गोंका प्रयोग सकलादेश और विकलादेश इन दो दृष्टियों से होता है। अकलङ्कदेवने सकलादेश और विकलादेशके विषयमें बतलाया है कि श्रुतज्ञानके दो उपयोग हैं—एक स्याद्वाद और दूसरा नय। स्याद्वाद सकलादेशरूप होता है और नय विकलादेशरूप। सकलादेशको प्रमाण तथा विकलादेशको नय कहते हैं। ये सातों ही भङ्ग जब सकलादेशी होते हैं तब प्रमाण और जब विकलादेशी होते हैं तब नय कहे जाते हैं। इस प्रकार सप्तभंगी प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगीके रूपमें दो प्रकारकी हो जाती है। सकलादेश एक धर्मके द्वारा समस्त वस्तुको अखण्डरूपसे ग्रहण करता है। और विकलादेश एक धर्मको प्रधान तथा शेष धर्मोंको गौण करके वस्तुका ग्रहण करता है। 'स्याज्जीव एव' यह वाक्य अनन्तधर्मात्मक जीवका अखण्डभावसे बोध कराता है, अतः यह सकलादेशात्मक प्रमाणवाक्य है। और 'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्य में जीवके अस्तित्व धर्मका मुख्यरूपसे कथन होता है, अतः यह विकलादेशात्मक नयवाक्य है। सकलादेशमें धर्मिवाचक शब्दके साथ एवकारका प्रयोग होता है, और विकलादेशमें धर्मवाचक शब्दके साथ उसका प्रयोग होता है।

इस प्रकार अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगीके स्वरूपको समझकर तथा किसी पुरुष विशेषमें राग और दूसरेमें द्वेषको छोड़कर उसीके वचनको स्वीकार करना चाहिए जिसके वचन युक्तिसंगत हों, चाहे वे वचन महावीरके हों, या बुद्ध आदि अन्य किसी तीर्थंकर या महापुरुषके हों। इस विषयमें हमें हरिभद्र सूरिको निम्नलिखित सूक्तिको सदा स्मरण रखना चाहिए।

पक्षपातो न वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ... जैन
दीपावली
श्री वीरनिर्वाण सम्वत् २५०१
११ नवम्बर १९७४

विषय-अनुक्रमणिका

आप्तमीमांसा

तत्त्वदीपिका

आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका

मंगलाचरणं

णमो अरहन्ताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ।

चत्तारि मंगलं—अरहन्ता मंगल सिद्धा मगलं साहू मंगल केवलि-पण्णत्तो धम्मो मगलं ।

चत्तारि लोगुत्तमा—अरहन्ता लोगुत्तमा सिद्धा लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरहंते सरणं पव्वजामि सिद्धे सरणं पव्वज्जामि साहू सरण पव्वज्जामि केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ।

एसो पंच णमोयारो सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होइ मंगलं ॥

आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका

प्रथम परिच्छेद

अकलंक देवने आप्त[1]का अर्थ किया है कि जो जिस विषयमें अविसंवादक है वह उस विषयमें आप्त है। आप्तताके लिए तद्विषयक ज्ञान और उस विषयमे अविसंवादकता या अवंचकता अनिवार्य तत्त्व हैं। आप्तको वीतरागी और पूर्णज्ञानी होना आवश्यक है। ऐसा होनेसे उसके कथनमें न तो राग-द्वेषजन्य असत्यता रहती है और न अज्ञानजन्य असत्यता रहती है। जैनपरम्परामे धर्मतीर्थका प्रवर्तन तीर्थंकर करते हैं। धर्मरूपी तीर्थका प्रवर्तन करनेके कारण ही वे तीर्थंकर कहलाते हैं। वे अपनी साधनासे पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त कर अतीन्द्रिय पदार्थोंके भी साक्षात् द्रष्टा हो जाते हैं। इन्हे ही आप्त, अर्हन् इत्यादि विशेषणोंसे सम्बोधित किया जाता है। ऋषभ, महावीर आदिकी तरह सुगत, कपिल आदि भी तीर्थंकर या आप्त कहलाते थे। अतः परीक्षाप्रधानी और महान् दार्शनिक आचार्य समन्तभद्रने आप्तमीमांसा नामक ग्रन्थमें आप्तकी मीमांसा करके यह सिद्ध किया है कि जो निर्दोष हो तथा जिसका वचन युक्ति और आगमसे अविरुद्ध हो वही आप्त है। आचार्य हेमचन्द्रके अनुसार मीमांसा[2] शब्द आदरणीय विचारका वाचक है। आप्तमीमांसामें कपिल, कणाद, बृहस्पति, बुद्ध आदि सर्वथैकान्तवादी आप्तोंके मतोकी समीक्षा करके अनेकान्तवादी आप्त (अर्हत्) द्वारा प्रतिपादित स्याद्वादन्यायकी प्रतिष्ठा की गई है।

आगमके प्रकरणमें स्वामी समन्तभद्रने आप्तका लक्षण इस प्रकार किया है :—

> आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
> भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥
>
> —रत्नक० श्रावका० ५

१. यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः, ततः परोऽनाप्तः। तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः, तदर्थज्ञानात्। —अष्टश०, अष्टसह० पृ० २३६।

२. पूजितविचारवचनश्च मीमांसाशब्दः। —प्रमाणमी० पृ० २

आप्तको नियमसे वीतरागी, सर्वज्ञ और आगमका उपदेष्टा होना ही चाहिए। इन तीन गुणोंके विना आप्तता नहीं हो सकती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य समन्तभद्रके समयमें बाह्य विभूति और चमत्कारोंको ही आप्तका सूचक माना जाने लगा था। महान् परीक्षक आचार्य समन्तभद्रको यह बात उचित प्रतीत नही हुई। क्योंकि इससे साधारण जनता आप्तके असली गुणोंको भूलकर बाह्य विभूति और चमत्कारोंको ही आप्तत्वका चिह्न समझने लगी थी। इसी कारण उन्होंने 'आप्तमीमांसा' नामक ग्रन्थकी रचना की, जिसमें यह सिद्ध किया कि देवोंका आगमन, आकाशमें गमन आदिके द्वारा किसीको आप्त नहीं माना जा सकता। आप्तकी परीक्षा करनेवाले समन्तभद्राचार्यमें आप्तविषयक श्रद्धा और गुणज्ञता ये दो गुण स्वयंसिद्ध प्रतीत होते है। क्योंकि इन गुणोंके अभावमें वे आप्तकी परीक्षा करनेमें प्रवृत्त नही हो सकते थे।

भगवान् आप्त स्वामी समन्तभद्राचार्यसे पूछते हैं कि मैं देवागम आदि विभूतियोंके कारण क्यों स्तुत्य नही हूँ ?

इसके उत्तरमें वे कहते हैं—

> देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।
> मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

हे भगवन् ! देवोंका आगमन आदि, आकाशमें गमन आदि और चामर आदि विभूतियाँ आपमें पायी जाती हैं, इस कारण आप हमारे स्तुति करने योग्य नहीं हो सकते हैं। क्योंकि ये विभूतियाँ तो मायावी पुरुषोंमें भी देखी जाती हैं।

संसारमें दो प्रकारके पुरुष दृष्टिगोचर होते हैं—आज्ञाप्रधान और परीक्षाप्रधान। उनमेंसे जो आज्ञाप्रधान पुरुष हैं वे देवागमन आदिको आप्तके महत्त्वका सूचक मान सकते हैं। किन्तु समन्तभद्र सरीखे परीक्षाप्रधान पुरुष देवागमन आदिको आप्तके महत्त्वका सूचक कदापि नही मान सकते। क्योंकि देवागमन आदि विभूतियाँ मायावी मस्करी आदि पुरुषोंमें भी पायी जाती हैं। इन्द्रजालवाले पुरुष भी अपनी मायाके द्वारा देवागमन आदि विभूतियोंका प्रदर्शन करते हैं। अत: यदि देवागमनआदि चिह्नोंके द्वारा आप्तको स्तुत्य मानें तो मायावी मस्करी आदिको भी स्तुत्य मानना चाहिये। यहाँ यह दृष्टव्य है कि देवागम, नभोयान आदि चिह्नोंके द्वारा आप्तको स्तुत्य मानना आगमके आश्रित है। तथा इस स्तवका हेतु देवागमन आदि विभूति भी आगमाश्रित है। क्योंकि हमने

देवागमन आदिको प्रत्यक्ष देखा नहीं है। अतः जो लोग आगमको प्रमाण नहीं मानते हैं वे देवागमन आदिके द्वारा आप्तको स्तुतिके योग्य नहीं मान सकते। आगमको प्रमाण माननेवालोंके यहाँ भी देवागमन आदि चिह्न आप्तके महत्त्वका सूचक नहीं हो सकता है। क्योंकि उक्त चिह्न विपक्ष (मस्करी आदि)में भी पाया जाता है। इस प्रकार देवागमन आदि विभूतिके द्वारा भगवान् स्तुत्य सिद्ध नहीं होते हैं।

भगवान् पुनः प्रश्न करते हैं कि मस्करी आदिमें नहीं पाये जानेवाले अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग विग्रहादि महोदयके द्वारा मुझे स्तुत्य माननेमें क्या आपत्ति है ?

इसके उत्तरमें समन्तभद्र स्वामी कहते हैं—

अध्यात्मं बहिरप्येषविग्रहादिमहोदयः।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥

हे भगवन् ! आपमें शरीर आदिका जो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग अतिशय पाया जाता है वह यद्यपि दिव्य और सत्य है, किन्तु रागादियुक्त देवोंमें भी उक्त प्रकारका अतिशय पाया जाता है। अतः उक्त अतिशयके कारण भी आप स्तुत्य नहीं हो सकते हैं।

भगवान्के शरीरमें निःस्वेदत्व, मल-मूत्र रहितपना आदि जो अतिशय पाया जाता है वह अन्तरङ्ग अतिशय है, क्योंकि इसमें परकी अपेक्षा नहीं होती है। गन्धोदकवृष्टि, पुष्पवृष्टि आदि देवकृत होनेसे बहिरङ्ग अतिशय भी भगवान्में पाया जाता है। उक्त दोनों प्रकारका अतिशय मायावी मस्करी आदिमें नहीं पाया जाता है, अतः वह सत्य है। ऐसा अतिशय चक्रवर्ती आदिमें भी नहीं पाया जाता है, अतः वह दिव्य है। ऐसे सत्य और दिव्य अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग अतिशयोंके द्वारा भी हम भगवान्को स्तुत्य माननेमें असमर्थ हैं। क्योंकि उक्त प्रकारका अतिशय रागादि-संयुक्त देवोंमें भी पाया जाता है। यदि हम अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग विग्रहादि महोदयके द्वारा आप्तको स्तुत्य मानें तो देवोंको भी स्तुत्य मानना चाहिए। क्योंकि देव भी उक्त अतिशयवाले होते हैं। 'घातिया-कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला जैसा अतिशय आप्तमें पाया जाता है वैसा देवोंमें नहीं पाया जाता है। अतः आप्त ही स्तुत्य हैं, देव नहीं', इस प्रकारका कथन आगमाश्रित होनेके कारण युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है।

पुनः भगवान् कहते हैं कि यदि मैं देवागम आदि विभूति तथा विग्र-

हादि महोदयके द्वारा स्तुत्य नहीं हैं तो मोक्षमार्गरूप धर्मतीर्थका प्रवर्तन करनेके कारण मुझे स्तुत्य मान लीजिए।

इसके उत्तरमे आचार्य कहते हैं—

> तीर्थकृत्समयाना च परस्परविरोधतः ।
> सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

कपिल, सुगत आदि तीर्थङ्करोंके आगमोमे परस्पर विरोध पाये जानेकारणके सब तीर्थङ्करोमे आप्तत्व सभव नही है। अत उनमेसे कोई एक ही हमारा स्तुत्य हो सकता है।

हम धर्मरूपी तीर्थको करने या चलानेके कारण भी आप्तको स्तुत्य नही मान सकते। जिस प्रकार 'जिन'ने तीर्थको प्रचलित किया है उसी प्रकार 'सुगत' आदिने भी आगमरूप तीर्थको प्रचलित किया है। जिस प्रकार 'जिन'मे तीर्थंकर व्यपदेश होता है उसी प्रकार सुगत, कपिल आदिमे भी तीर्थंकर व्यपदेश होता है। अत यदि तीर्थको करनेके कारण 'जिन'को स्तुत्य मानें तो सुगत आदिको भी स्तुत्य मानना चाहिए।

यहाँ कोई कह सकता है कि जितने तीर्थको करनेवाले हैं उन सबको महान् मान लेनेमे क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि सब सर्वदर्शी या सर्वज्ञ नही हो सकते हैं, क्योकि उन्होने परस्पर विरुद्ध बातोका कथन किया है। तीर्थको करनेवालोंके जो समय या आगम हैं उनमे परस्परमे विरोध पाया जाता है।

कुमारिलने कहा भी है—

> सुगतो यदि सर्वज्ञो कपिलो नेति का प्रमा।
> तावुभौ यदि सर्वज्ञो मतभेदः कथं तयोः ॥

सुगत यदि सर्वज्ञ है तो कपिलके सर्वज्ञ न होनेमे क्या प्रमाण है। और यदि दोनों ही सर्वज्ञ हैं तो फिर उन दोनोमे मतभेद क्यो है।

अत सबमें आप्तपना सभव नही है। यही कारण है कि उनमेंसे कोई भी महान् या स्तुत्य नही हो सकता है।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और बौद्ध ये दर्शन सर्वज्ञ या ईश्वरको मानते हैं। मीमांसा आदि कुछ दर्शन ऐसे भी हैं जो ईश्वरको नही मानते हैं।

अब हम पहले सर्वज्ञको माननेवाले दर्शनोंका संक्षेपमें वर्णन करेंगे।

न्याय दर्शन

न्यायका[1] अर्थ है विभिन्न प्रमाणों द्वारा वस्तुतत्त्वकी परीक्षा करना। इन प्रमाणोंके स्वरूपके वर्णन करनेके कारण यह दर्शन न्यायदर्शन कहलाता है। प्रमाणोके द्वारा प्रमेयवस्तुका विचार करना और प्रमाणोंका विस्तृत विवेचन करना न्यायदर्शनका प्रधान उद्देश्य है। महर्षि गौतम न्याय दर्शनके सस्थापक हैं। इन्होने न्यायसूत्रमें न्यायदर्शनके प्रमुख तत्त्वोका प्रतिपादन किया है। न्यायसूत्र ५ अध्यायोंमें विभक्त है और प्रत्येक अध्यायमें २ आह्निक है। न्यायसूत्रका प्रथम सूत्र इस प्रकार है—

प्रमाणप्रमेयसशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासछलजातिनिग्रहस्थानाना तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः।

प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह सत् पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः इन सोलह पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

प्रमाण—प्रमाके करणको प्रमाण कहते हैं[2]। प्रमाण चार हैं[3]—प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और शब्द।

प्रमेय—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग ये बारह प्रकारके प्रमेय हैं[4]। इन प्रमेयोका ज्ञान मोक्षके लिए आवश्यक है।

संशय—समान धर्मोंकी उपलब्धि होनेसे, अनेकके धर्मकी उपलब्धि होनेसे, किसी विषयमें विवाद होनेसे, उपलब्धिकी व्यवस्था न होनेसे और अनुपलब्धिकी व्यवस्था न होनेसे विशेष धर्मकी अपेक्षा रखनेवाला विचार संशय कहलाता है[5]।

---

१. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। —वात्स्यायनन्या. भा० १।१।१।

२. प्रमाकरणं प्रमाणम्। —तर्कभाषा, पृ० ३।

३. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि। —न्या० सू० १।१।३।

४. आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्। —न्या० सू० १।१।९।

५. समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः। —न्या० सू० १।१।२३।

समानधर्मोंकी उपलब्धि होनेसे, यथा—

स्थाणु और पुरुषके समान धर्म ऊँचाई, स्थूलता आदिको देखनेवाला पुरुष जब उनके विशेष धर्मका निश्चय नही कर पाता है तब वहाँ सशय होता है।

अनेकके धर्मकी उपलब्धि होनेसे—

यहाँ अनेकका तात्पर्य समान जातीय और असमान जातीय पदार्थसे है। यथा—रूपादि अन्य गुण शब्दके समान जातीय हैं। तथा द्रव्य और कर्म शब्दके असमान जातीय हैं। अत रूपादि गुण, द्रव्य और कर्म अनेक हैं। यहाँ धर्मसे तात्पर्य व्यावर्तक धर्मसे है। शब्दमे जो विभागजन्यत्व धर्म है वह अनेकका व्यावर्तक धर्म है। क्योकि वह शब्दको रूपादि गुणोंसे तथा द्रव्य और कर्मसे पृथक् करता है। शब्द विभागजन्य होता है। शब्दकी यह ऐसी विशेषता है जो उसे अन्य गुणोसे पृथक् करती है तथा द्रव्य और कर्मसे भी पृथक् करती है। शब्दको छोडकर अन्य किसी गुणमे विभागजन्यता नही पायी जाती है। इसी प्रकार द्रव्य और कर्ममे भी विभागजन्यता नही पायी जाती है। अत शब्दमे विभाग-जन्यताके कारण यह सशय होता है कि वह द्रव्य, गुण और कर्ममेसे क्या है।

किसी विषयमे विवाद होनेसे, यथा—

कोई कहता है, 'आत्मा है'। दूसरा कहता है, 'आत्मा नही है'। यहाँ आत्माके विषयमे विवाद होनेसे संशय होता है।

उपलब्धिकी व्यवस्था न होनेसे, यथा—

विद्यमान पदार्थकी उपलब्धि देखी जाती है जैसे तालाब आदिमे जल-की, और अविद्यमान पदार्थकी भी उपलब्धि देखी जाती है जैसे मरी-चिकामें जलकी। अत उपलब्धिकी व्यवस्था न होनेसे उपलब्ध पदार्थोंके विषयमे संशय होता है।

अनुपलब्धिकी व्यवस्था न होनेसे, यथा—

विद्यमान पदार्थकी अनुपलब्धि देखी जाती है, जैसे पृथिवीके नीचे जल आदिकी। और अविद्यमान पदार्थकी भी अनुपलब्धि देखी जाती है, जैसे गगनकुसुमकी। अतः अनुपलब्धिकी व्यवस्था न होनेसे अनुपलब्ध पदार्थोंके विषयमें संशय होता है।

प्रयोजन—जिस अर्थके उद्देश्यसे कोई किसी कार्यमें प्रवृत्ति करता है

वह प्रयोजन कहलाता है[1]।

दृष्टान्त—लौकिक और परीक्षक पुरुषोंको जिस अर्थमें समान बुद्धि हो वह दृष्टान्त कहलाता है। जैसे पर्वतमें धूम हेतुसे वह्निको सिद्ध करनेमें भोजनशाला दृष्टान्त है[2]।

सिद्धान्त—सिद्धान्तके चार भेद हैं—सर्वतंत्रसिद्धान्त, प्रतितंत्रसिद्धान्त, अधिकरणसिद्धान्त और अभ्युपगमसिद्धान्त।

सब शास्त्रोंमें जो बात बिना किसी विरोधके पायी जाती है वह सर्वतंत्रसिद्धान्त है[3]। जैसे घ्राण आदि इन्द्रियाँ होती हैं, इस बातको प्रत्येक तंत्र (शास्त्र) मानता है।

जो बात स्वमतमें सिद्ध हो तथा परमतमें असिद्ध हो उसे प्रतितंत्रसिद्धान्त कहते हैं[4]। जैसे शब्दोंमें नित्यता मीमांसक मतमें ही सिद्ध है।

जहाँ किसी अर्थके सिद्ध होनेपर अन्य अर्थ स्वतः सिद्ध हो जाता है वह अधिकरणसिद्धान्त है[5]। जैसे आत्मा शरीर और इन्द्रियोंसे भिन्न है ऐसा सिद्ध होनेपर यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि इन्द्रियाँ नाना हैं, वे नियत विषय हैं आदि।

अपरीक्षित अर्थको मानकर उसकी विशेष परीक्षा करना अभ्युपगमसिद्धान्त है[6]। अर्थात् जो बात सूत्रमें नहीं कही गयी है उसको मान लेना, जैसे मनको इन्द्रिय मानना।

अवयव—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये अनुमानके पाँच अवयव हैं[7]।

तर्क—अविज्ञात अर्थमें सयुक्तिक कारणोंके द्वारा तत्त्वज्ञानके लिए

---

१. यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्। —न्या० सू० १।१।२४।

२. लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः। —न्या० सू० १।१।२५।

३. सर्वतंत्राविरुद्धस्तंत्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतंत्रसिद्धान्तः। —न्या० सू० १।१।२८।

४. समानतंत्रसिद्धः परतंत्रासिद्धः प्रतितंत्रसिद्धान्तः। —न्या० सू० १।१।२९।

५. यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः। —न्या० सू० १।१।३०।

६. अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः। —न्या० सू० १।१।३१।

७. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः। —न्या० सू० १।१।३२।

जो विचारविमर्श किया जाता है वह तर्क है[1]।

निर्णय—विचारपूर्वक पक्ष और प्रतिपक्षके द्वारा अर्थका निर्णय करना निर्णय है[2]।

वाद—प्रमाण और तर्कसे जहाँ साधन और दूषण दिखाया जाता है, जो सिद्धान्तसे अविरोधी होता है और जो पाँच अवयवोंसे सहित होता है, ऐसे पक्ष और प्रतिपक्षका स्वीकार करना वाद है[3]।

जल्प—जल्पका लक्षण वादके लक्षणके समान ही है। जल्पमे इतनी विशेषता है कि यहाँ प्रमाण और तर्कके सिवाय छल जाति और निग्रह-स्थानोके द्वारा भी पक्षकी सिद्धि की जाती है और प्रतिपक्षमे दूषण दिखाया जाता है[4]।

वितण्डा—वितण्डामे प्रतिपक्ष नही होता है, केवल पक्ष ही होता है। शेष सब बातें जल्पके समान है[5]।

हेत्वाभास हेत्वाभासके पाँच भेद है—अनैकान्तिक, विरुद्ध, प्रकरण-सम, साध्यसम और कालातीत।

छल—अर्थमे विकल्प उत्पन्न करके किसीके वचनोका विघात करना छल है[6]। छलके तीन भेद हैं—वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल। सामान्य रूपसे किसी अर्थके कहनेपर वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न अर्थकी कल्पना करना वाक्छल है। जैसे किसीने कहा 'नव कम्बलो-ऽयम्'। कहनेवालेका यह तात्पर्य है कि इस व्यक्तिके पास नूतन कम्बल है। लेकिन सुननेवाला दूसरा व्यक्ति छल द्वारा कहता है कि इसके पास नौ कम्बल कैसे हो सकते है? यही वाक्छल है। सम्भव अर्थमे अति-सामान्यके सम्बन्धसे असभव अर्थकी कल्पना करना सामान्य छल है। जैसे यह ब्राह्मण विद्याचरणसे सम्पन्न है। कहनेवालेका तात्पर्य केवल

---

१ अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।
—न्या० सू० १।१।४०।

२ विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः। —न्या० सू० १।१।४१।

३. प्रमाणतर्कसाधनोपालंभः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः। —न्या० सू० १।२।१।

४. यथोक्तोपपन्नश्[illegible]साधनोपालंभो जल्पः।
—न्या० सू० १।२।२।

५. स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा। —न्या० सू० १।२।३।

६. वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्। —न्या० सू० १।२।१०।

इतना है कि इस ब्राह्मणमें विद्याचरणका होना संभव है। किन्तु दूसरा व्यक्ति छलसे कहता है कि यदि इस ब्राह्मणमें विद्याचरणका होना संभव है तो व्रात्यमें भी संभव है क्योंकि व्रात्य भी ब्राह्मण है। उपनयन आदि संस्कारोंसे रहित ब्राह्मणको व्रात्य कहते है। यहाँ ब्राह्मणत्व अति सामान्य धर्म है, क्योंकि वह विद्याचरण सम्पन्न ब्राह्मणमें पाया जाता है तथा व्रात्यमें भी पाया जाता है।

धर्मके विकल्प द्वारा निर्देश करनेपर अर्थके सद्भावका निषेध करना उपचार छल है। जैसे 'मञ्च शब्द कर रहा है' ऐसा कहने पर दूसरा व्यक्ति कहता है कि मञ्च शब्द नहीं कर सकता, किन्तु मञ्चपर स्थित पुरुष शब्द करता है। यहाँ 'मञ्च शब्द कर रहा है' यह वाक्य यद्यपि लक्षणाधर्मके विकल्पसे कहा गया है, फिर भी दूसरा व्यक्ति शक्तिधर्मके विकल्पसे उसका निषेध करता है। अत यह उपचार छल है।

जाति—साधर्म्य दिखाकर किसी वस्तुकी सिद्धि करनेपर उसी साधर्म्य द्वारा उसका निषेध करना या वैधर्म्य द्वारा किसी वस्तुकी सिद्धि करनेपर उसी वैधर्म्य द्वारा उसका निषेध करना जाति कहलाती है'। जातिके २४ भेद हैं—साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा, उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा, साध्यसमा, प्राप्तिसमा, अप्राप्तिसमा, प्रसङ्गसमा, प्रतिदृष्टान्तसमा, अनुत्पत्तिसमा, संशयसमा, प्रकरणसमा, अहेतुसमा, अर्थापत्तिसमा, अविशेषसमा, उपपत्तिसमा, उपलब्धिसमा, अनुपलब्धिसमा, नित्यसमा, अनित्यसमा और कार्यसमा।

आत्मा क्रियावान् है क्योंकि उसमें क्रियाका कारणभूत गुण पाया जाता है। जैसे पत्थरमें क्रियाका कारणभूत गुण होनेसे वह क्रियावान् है। ऐसा कहने पर दूसरा व्यक्ति कहता है कि आत्मा निष्क्रिय है। क्योंकि विभुद्रव्य निष्क्रिय देखा जाता है, जैसे कि आकाश। यहाँ पत्थरके साधर्म्यसे आत्मामें क्रियावत्व सिद्ध करनेपर आकाशके साधर्म्यसे आत्मामें निष्क्रियत्व सिद्ध करना साधर्म्यसमा जाति है।

निग्रहस्थान—पराजयप्राप्तिका नाम निग्रहस्थान है।' यह दो प्रकारसे होता है। कहीं विप्रतिपत्तिसे और कहीं प्रतिपत्तिके न होनेसे। विप्रतिपत्तिका उदाहरण—किसी एक व्यक्तिने कहा कि शब्द अनित्य है, क्योंकि

१. साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः। —न्या० सू० १।२।१८।

२. विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्। —न्या० सू० १।१।१९।

वह इन्द्रियप्रत्यक्षका विषय है, जैसे घट। ऐसा कहनेपर दूसरा व्यक्ति उसका निग्रह करनेके लिए कहता है कि इन्द्रियप्रत्यक्ष तो सामान्य भी है किन्तु वह नित्य है। अत: शब्द भी नित्य प्राप्त होता है। तब वादी दृष्टान्तभूत घटकी नित्यता स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार दृष्टान्तभूत घटकी नित्यता स्वीकार करनेपर वादीके पक्षकी हानि होनेसे उसके लिए यह विप्रतिपत्तिके कारण निग्रहस्थान होता है। अप्रतिपत्तिका उदाहरण—वादीके अनेक बार किसी विषयके कहनेपर यदि प्रतिवादी उस विषयको नहीं समझ सकनेके कारण चुप रह जाता है तो यह प्रतिवादीके लिए अप्रतिपत्तिके कारण निग्रहस्थान होता है। विप्रतिपत्तिका अर्थ है विपरीत-ज्ञान और अप्रतिपत्तिका अर्थ है अज्ञान। निग्रहस्थानके २२ भेद हैं—प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त और हेत्वाभास। ऊपर जो विप्रतिपत्तिसे निग्रहस्थानका उदाहरण दिया गया है वह प्रतिज्ञाहानिका उदाहरण है।

प्रामाण्यवाद

न्याय मीमासाके स्वत प्रामाण्यवादका खंडन करता है और परत: प्रामाण्यवादको स्वीकार करता है। [1]नैयायिकोका कहना है कि यदि ज्ञानका प्रामाण्य स्वत: गृहीत हो तो यह ज्ञान प्रमाण है या नही, इस प्रकारका सशय ज्ञानकी प्रामाणिकताके विषयमे उत्पन्न नही हो सकता। प्रमाणकी प्रमाणताका ज्ञान उन्ही कारणोंसे नही होता जिनसे प्रमाणकी उत्पत्ति होती है। किन्तु अर्थक्रिया आदि भिन्न कारणोसे प्रमाणताका ज्ञान होता है। विपर्यय ज्ञानको नैयायिक अन्यथा-ख्याति कहते हैं। शीपमें जो चाँदीका ज्ञान होता है उसमें इन्द्रिय दोष आदिके कारण चाँदीके गुण शीपमें मालूम पड़ने लगते हैं। यह अन्यथाख्याति है। वात्स्यायनने स्पष्ट लिखा है—[2]तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होती है, पदार्थ ज्योंका त्यों बना रहता है। अत: भ्रम या विपर्यय विषयीमूलक है, विषयमूलक नहीं।

---

१. प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यं संशयानुपपत्तितः। —[illegible]ली का० १३६।

२. तत्त्वज्ञानेन मिथ्योपलब्धिर्निवर्त्यते नार्थः स्वा[illegible] पुरुषसामान्यलक्षणः।

—न्या० भा० ४।२।३५।

कार्यकारणभाव-सिद्धान्त

न्यायदर्शनमें कारण भिन्न है और कार्य भिन्न। न्याय सांख्यकी तरह कार्यको कारणसे अभिन्न न मानकर भिन्न मानता है। कार्यकारणके विषयमें सांख्यका मत सत्कार्यवादके नामसे प्रसिद्ध है और न्यायमत असत्कार्यवादके नामसे अथवा आरंभवादके नामसे प्रसिद्ध है।

कार्यसे पहले जिसका सद्भाव निश्चित हो तथा जो अन्यथासिद्ध न हो उसे कारण कहते हैं।[1] कारणके तीन भेद हैं—समवायीकारण, असमवायीकारण और निमित्तकारण।

समवायसम्बन्धसे जिसमें कार्यकी उत्पत्ति होती है वह समवायीकारण है।[2] जैसे तन्तु वस्त्रका समवायीकारण है। क्योंकि समवायसम्बन्धसे तन्तुओंमें ही पटकी उत्पत्ति होती है। कपाल घटका समवायी कारण है। क्योंकि समवाय सम्बन्धसे कपालोमें ही घटकी उत्पत्ति होती है।

कार्यके साथ अथवा कारणके साथ एक वस्तुमें समवाय सम्बन्धसे रहते हुए जो कारण होता है वह असमवायीकारण है।[3] जैसे तन्तुसंयोग वस्त्रका असमवायीकारण है और तन्तुरूप पटरूपका असमवायीकारण है। असमवायीकारणकी समवायीकारणमें प्रत्यासत्ति (आसन्नता-निकटता) होती है। वह प्रत्यासत्ति दो प्रकारकी होती है[4]—कार्यैकार्थप्रत्य

---

१. यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धस्च तत्कारणम्।
—तर्कभाषा, पृ० ५।

अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता।
कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम्॥ —मुक्तावली का० १६।

२. यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम्। यथा तन्तवः पटस्य समवायिकारणम्। —तर्क भाषा, पृ० ६।

३. यत्समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणम्। यथा तन्तुसंयोगः पटस्यासमवायिकारणम्। एवं तन्तुरूपं पटरूपस्यासमवायिकारणम्।
—तर्क भाषा, पृ० १०।

यत्समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायि जनकं तत्।
तत्रासन्नं जनकं द्वितीयमाभ्यां परं तृतीयं स्यात्॥
—मुक्तावली, का० १८।

४. अत्र समवायिकारणे प्रत्यासन्नं द्विविधं कार्यैकार्थप्रत्यासत्त्या कारणैकार्थप्रत्यासत्त्या च। आद्यं यथा घटादिकं प्रति कपालसंयोगादिकमसमवायिकारणम्। तत्र कार्येण घटेन सह कारणस्य कपालसंयोगस्यैकार्थे कपाले

सत्ति और कारणैकार्थप्रत्यासत्ति। तन्तुसंयोग कार्यैकार्थप्रत्यासत्तिके द्वारा वस्त्रका असमवायिकारण होता है। वस्त्र समवायसम्बन्धसे तन्तुओंमें रहता है और तन्तुसंयोग भी तन्तुओमे रहता है। अतः तन्तुसयोगका वस्त्ररूप कार्यके साथ एक अर्थ (तन्तु)मे प्रत्यासत्ति होनेसे वह वस्त्रका असमवायिकारण है। इसी प्रकार तन्तुरूप कारणैकार्थप्रत्यासत्तिके द्वारा वस्त्रके रूपका असमवायीकारण है। वस्त्रके रूपका समवायीकारण वस्त्र है और असमवायीकारण तन्तुरूप है। तन्तुरूप तन्तुओमे रहता है और वस्त्रके रूपका समवायीकारण वस्त्र भी तन्तुओमें रहता है। अतः तन्तुरूपकी वस्त्ररूपके कारण वस्त्रके साथ एक अर्थ (तन्तु)में प्रत्यासत्ति होनेसे वह वस्त्ररूपका असमवायीकारण है।

समवायिकारण द्रव्य होता है। तथा गुण और क्रिया असमवायीकारण होते हैं।[1]

समवायी और असमवायी कारणसे भिन्न कारणको निमित्तकारण कहते हैं। जैसे वस्त्रकी उत्पत्तिमे जुलाहा, तुरी, वेम, शलाका आदि निमित्तकारण हैं।[2]

न्यायदर्शनके अनुसार तन्तु अवस्थामे वस्त्रका नितान्त अभाव था और जब वस्त्र बनकर तैयार हो गया तो तन्तुओंसे भिन्न एक नवीन वस्तुकी उत्पत्ति हुई।

यहाँ कारणके प्रकरणमे अन्यथासिद्धका विचार कर लेना भी आवश्यक है। क्योकि कारणको अन्यथासिद्ध नही होना चाहिये।

अन्यथासिद्धको पाँच प्रकारका बतलाया है।

१ घटके प्रति दण्डत्व अन्यथासिद्ध है क्योंकि दण्डत्वसे युक्त दण्ड ही घटका कारण होता है, दण्डत्वरहित दण्ड नहीं।

२ घटके प्रति दण्डरूप अन्यथासिद्ध है। घटके प्रति दण्डरूपका स्वतंत्र अन्वय-व्यतिरेक नही है किन्तु घटके साथ दण्डका अन्वय-व्यतिरेक होनेसे

प्रत्यासत्तिरस्ति। द्वितीयं यथा—घटरूपं प्रति कपालरूपमसमवायिकारणम्। तत्र स्वगतरूपादिकं प्रति समवायिकारणं घटः, तेन सह कपालरूपस्यैकस्मिन् कपाले प्रत्यासत्तिरस्ति। —मुक्तावली, पृ० ३२।

१. समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्।
गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् ॥— कारिकावली, का० २३।

२. निमित्तकारणं तदुच्यते यन्न समवायिकारणं, नाप्यसमवायिकारणं, अथ च कारणं तत् यथा वेमादिकं पटस्य निमित्तकारणम्। —तर्कभाषा, पृ० ११।

दण्डरूपका भी अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध होता है। अतः दण्डरूप घटके प्रति अन्यथासिद्ध होता है।

३. घटके प्रति आकाश अन्यथासिद्ध है। आकाश शब्दका समवायी-कारण है। शब्दके प्रति आकाशमें पूर्ववृत्तित्व है। आकाश शब्दके प्रति पूर्ववर्ती हो सकता है। अतः आकाश घटके प्रति अन्यथासिद्ध है।

४. घटके प्रति कुम्भकारका पिता अन्यथासिद्ध है। कुम्भकारका पिता कुम्भकारका पूर्ववर्ती है। वह कुम्भकारका पूर्ववर्ती होकर ही घटका पूर्ववर्ती हो सकता है। अतः वह घटके प्रति अन्यथासिद्ध है।

५. घटके प्रति कुम्भकारका गदहा अन्यथासिद्ध है। कारण कार्यका नियमसे पूर्ववर्ती होता है। अतः नियत पूर्ववर्तीसे भिन्न जो भी है वह अन्यथासिद्ध है[1]।

ईश्वर और वेद

न्यायदर्शन ईश्वरको जगत्का कर्ता मानता है। उदयनाचार्यने न्याय कुसुमाञ्जलिमें ईश्वरकी सिद्धि कुछ युक्तियोंसे की है[2]। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। उसीकी प्रेरणसे यह संसारी जीव स्वर्ग या नरकमें जाता है[3]। ईश्वर वेदका भी कर्ता है अतएव ईश्वरकृत होनेसे वेद पौरुषेय है।

१. येन सह पूर्वभावः कारणमादाय वा यस्य।
अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्॥
जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते।
अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविन॥
एते पञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम्।
घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम्॥
तृतीयं तु भवेद् व्योम कुलालजनकोऽपरः।
पञ्चमो रासभादिः स्यादेतेष्वावश्यकस्त्वसौ॥
—कारिकावली का० १९-२२।

२. कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥
—न्यायकुसुमाञ्जलि ५।१।

३. अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितः गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥
—महाभा० वनपर्व ३०।२।

जयन्तभट्टने न्यायमञ्जरीमें वेदकी पौरुषेयता सिद्ध करनेके लिए कुछ युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। वेद नित्य नहीं है किन्तु कार्य होनेसे अनित्य है। इस विषयमे मीमांसकोंकी धारणा नितान्त भिन्न है। मीमांसक ईश्वरकी सत्ता ही नही मानते। अतः उनके मतसे वेद अनादि, नित्य एवं अपौरुषेय है। शब्दमात्र नित्य है, शब्दकी उत्पत्ति और नाश नही होता है।

मुक्ति

दुःखसे अत्यन्त विमोक्षको अपवर्ग कहते हैं[1]। अत्यन्तका अभिप्राय वर्तमान जन्मका परिहार तथा आगामी जन्मके न होनेसे है। दुःखकी आत्यन्तिकी निवृत्तिका उपाय निम्न प्रकार है—तत्त्वज्ञानके उत्पन्न होनेपर मिथ्याज्ञानका नाश हो जाता है और मिथ्याज्ञानके अभावमें क्रमशः दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःखका नाश होनेपर अपवर्गकी प्राप्ति होती है।[2] न्याय और वैशेषिक दर्शनमे मुक्तिके विषयमे एक विशेष प्रकारकी कल्पना की गयी है कि मुक्तिमे बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार इन आत्माके नौ विशेष गुणोका पूर्ण अभाव हो जाता है। वेदान्तदर्शन मुक्तिमे आनन्दकी उपलब्धि मानता है लेकिन न्यायदर्शनके अनुसार वहाँ आनन्दका भी अभाव हो जाता है। श्री हर्षने नैषधचरितमे नैयायिक मुक्तिका जो उपहास किया है वह विद्वानोके लिए विचारणीय है। श्रीहर्षने[3] बतलाया है कि गोतमने बुद्धिमान् पुरुषोंके लिए ज्ञान, सुखादिसे रहित शिलारूप मुक्तिका उपदेश दिया है। अतः उनका गोतम यह नाम शब्दतः ही यथार्थ नही है किन्तु अर्थतः भी यथार्थ है। वह केवल गौ (बैल) न होकर गोतम (अतिशयेन गौः—गोतमः) अर्थात् विशिष्ट बैल हैं। इसी प्रकार वैष्णव दार्शनिकोने भी वैशेषिक मुक्तिका उपाहास किया है।

किसी वैष्णव दार्शनिकने कहा है कि मुझे शृगाल बनकर वृन्दावनके सरस निकुञ्जोंमें जीवन बिताना स्वीकार है लेकिन मै सुखरहित वैशेषिक

---

१. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। —न्या० सू० १।१।२२।

२. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापायेतदनन्तरापायादपवर्गः।
—न्या० सू० १।१।२।

३. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥
—नैषधचरित १७।७५।

मुक्तिको नहीं चाहता हूँ[1] ।

वैशेषिकद

'विशेष' नामक एक विशिष्ट पदार्थ माननेके कारण इस दर्शनको वशेषिक शंन कहते हैं। 'वैशेषिकसूत्र'के रचयिता कणाद ऋषि इस दर्शनके प्रमुख आचार्य हैं। वशेषिकसू दश अध्यायोंमें विभक्त है और प्रत्येक अध्यायमें दो आह्निक हैं।

वैशेषिकदर्शन सात पदार्थोंको मानता है जिनमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छह पदार्थ तो भावात्मक हैं और अभाव नामक सातवाँ पदार्थ अभावात्मक है।

द्रव्य

जिसमें गुण और क्रिया पायी जाय तथा जो कार्यका समव यीका रण हो वह द्रव्य है[2]। द्रव्यके नौ भेद हैं– पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। मीमांसक (भाट्ट) तमको भी एक पृथक् द्रव्य मानते हैं। लेकिन वैशेषिकोंने तमको पृथक् द्रव्य नहीं माना है। उनका कहना है कि तेजके अभावका नाम ही तम है। आत्मा, काल, दिशा और आकाश ये चार द्रव्य व्यापक हैं, शेष द्रव्य अव्यापक हैं। आत्मा आदि उक्त चार व्यापक द्रव्य और मन ये पाँचों द्रव्य नित्य हैं। पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार द्रव्य नित्य और अनित्य दोनों प्रकारके हैं। परमाणु अवस्थामें पृथिवी आदि नित्य हैं और कार्यदशामें अनित्य हैं। गन्ध पृथिवीका विशेष गुण है, रस जलका विशेष गुण है, रूप तेजका विशेष गुण है, स्पर्श वायुका विशेष गुण है, और शब्द आकाशका विशेष गुण है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ये नौ आत्माके विशेष गुण हैं। आत्मा शरीर तथा इन्द्रियोंसे भिन्न एक स्वतंत्र द्रव्य है। मन अणुरूप है।[3] तथा प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न होनेसे अनेक है।

---

१. वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात् ॥

—स० सि०, सं० पृ० २८।

२. क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् —वैशे० सू० १।१।१५।

३. साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते।
अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते ॥ —कारिकावली–८५।

गुण—जो द्रव्यके आश्रित हो, गुण रहित हो तथा संयोग-विभागका निरपेक्ष कारण न हो वह गुण है। गुण २४ होते हैं—रूप, रस, गन्ध, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार।

रूप गुण केवल चक्षु इन्द्रियके द्वारा गृहीत होता है। इसके ७ भेद हैं—शुक्ल, नील, पील रक्त, हरित, कपिश और चित्र। रूप पृथिवी, जल और अग्नि इन तीन द्रव्योंमें रहता है। पृथिवीमें सातों प्रकारका रूप रहता है। जलमें भास्वर शुक्ल और अग्निमें अभास्वर शुक्ल रहता है।

रस गुण केवल रसना इन्द्रियके द्वारा गृहीत होता है। इसके ६ भेद हैं—मधुर, आम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त। रस पृथ्वी और जल दो द्रव्योंमें रहता है। पृथिवीमें छहों प्रकारका रस रहता है, जलमें केवल मधुर रस रहता है। गन्ध गुण घ्राण इन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है। इसके २ भेद हैं—सुरभि और असुरभि। गन्धगुण केवल पृथिवीमें रहता है। स्पर्श-गुण स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा गृहीत होता है। इसके तीन भेद हैं—शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत। यह पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चार द्रव्योंमें रहता है। जलमें शीत, अग्निमें उष्ण, और पृथिवी तथा वायुमें अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग और विभाग ये गुण नौ द्रव्योमे रहते हैं। परत्व और अपरत्व गुण पृथिवी आदि चार तथा मन इन पाँच द्रव्योंमें रहते हैं। गुरुत्व पृथिवी और जलमें रहता है। द्रवत्व पृथिवी, जल और अग्निमें रहता है। द्रवत्वके दो भेद है—सांसिद्धिक और नैमित्तिक। जलमे सांसिद्धिक द्रवत्व रहता है, पृथिवी और अग्निमे नैमित्तिक द्रवत्व रहता है। स्नेह गुण केवल जलमें रहता है। शब्द गुण आकाशमें ही रहता है। संस्कारके तीन भेद हैं—वेग, भावना और स्थितिस्थापक। वेग पृथिवी आदि चार तथा मनमें रहता है। स्थितिस्थापक चटाई आदि पृथिवीमें रहता है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना नामक संस्कार ये नौ आत्मा के विशेष गुण हैं।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह और वेग ये मूर्त गुण हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म,

---

१. द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।

—वैशे० सू० १।१।१६।

भावना संस्कार और शब्द ये अमूर्त गुण हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये उभय गुण हैं। संयोग, विभाग और द्वित्व आदि संख्या ये गुण अनेक द्रव्योंके आश्रित होते हैं। शेष समस्त गुण एकद्रव्याश्रित हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द ये विशेष गुण हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिक द्रवत्व और वेग ये सामान्य गुण हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये बाह्य एक एक इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य होते हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह और वेग ये दो इन्द्रियोंसे ग्रहण किये जाते हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये मनसे ग्रहण किये जाते हैं। गुरुत्व, धर्म, अधर्म और भावना ये अतीन्द्रिय गुण हैं।

कर्म—जो एक द्रव्यके आश्रित हो, गुणरहित हो तथा संयोग और विभागका निरपेक्ष कारण हो, वह कर्म है[1]। कर्मके ५ भेद हैं—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन।

गुरुत्व, प्रयत्न और संयोगके द्वारा किसी वस्तुका ऊपरके प्रदेशोंके साथ संयोग और नीचेके प्रदेशोंके साथ विभाग होनेका नाम उत्क्षेपण है। गुरुत्व, प्रयत्न और संयोगके द्वारा किसीका ऊपरके प्रदेशोंके साथ विभाग और नीचेके प्रदेशोंके साथ सयोग होनेका नाम अवक्षेपण है। किसी वस्तुका सिकोड़ना आकुञ्चन है। किसो वस्तुका फैलाना प्रसारण है। और गमन करनेका नाम गमन है। भ्रमण, निष्क्रमण आदिका गमनमें अन्तर्भाव होजानेके कारण कर्म ५ ही हैं, अधिक नहीं। कर्म केवल द्रव्यमें ही पाया जाता है। द्रव्यमें भी पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन इन पाँच द्रव्योंमें ही कर्म पाया जाता है।

सामान्य—जिसके कारण वस्तुओंमें अनुगत (सदृश) प्रतीति होती है, वह सामान्य है। सामान्य एक, व्यापक और नित्य है। इसके दो भेद हैं[2]—

---

१. एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्।
—वैशे० सू० १।१।१७।

२. सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च।
द्रव्यादित्रिवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते ॥
परभिन्ना च या जातिः सैवापरतयोच्यते।
द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥ —कारिकावली का० ८, ९।

परसामान्य और अपरसामान्य। सत्ता परसामान्य है तथा द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, गोत्व आदि अपरसामान्य हैं। जितनी गायें हैं उन सबमें गोत्व सामान्य रहता है। गायके उत्पन्न होनेपर सामान्य उत्पन्न नहीं होता तथा गायके मर जानेपर सामान्यका नाश नहीं होता। सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थोंमें रहता है।

विशेष—समान पदार्थोंमें भेदकी प्रतीति कराना विशेष पदार्थका काम है। पृथिवीके सब परमाणु समान हैं। फिर भी एक परमाणुसे दूसरा परमाणु भिन्न है, क्योंकि प्रत्येक परमाणुमें पृथक्-पृथक् विशेष पदार्थ रहता है। इससे प्रत्येक परमाणुकी पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। इसी प्रकार सब आत्मायें समान हैं। लेकिन प्रत्येक आत्मामें विशेष पदार्थ रहता है। इसलिए एक आत्मासे दूसरे आत्माकी पृथक् प्रतीति होती है। यही बात मनके विषयमें भी है। इसीलिए विशेष अनन्त माने गए हैं। इनके विषयमें एक विशेष बात यह है कि ये स्वतः व्यावर्तक होते हैं, अर्थात् एक विशेषसे दूसरे विशेषमें भेद स्वत ही होता है। इसके लिए किसी दूसरे पदार्थकी अपेक्षा नही पड़ती। जिस प्रकार एक परमाणुसे दूसरे परमाणुमें भेद करनेके लिए विशेष पदार्थ माना गया है, उसी प्रकार एक विशेषसे दूसरे विशेषमें भेद करनेके लिए किसी अन्य पदार्थकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि एक विशेष स्वयं ही दूसरे विशेषसे भेद कर लेता है। विशेष नित्य द्रव्योंमें रहता है[1]।

समवाय—अयुतसिद्ध पदार्थोंमें जो सम्बन्ध होता है उसका नाम समवाय है।[2] अविनाश अवस्थामें जिन दो पदार्थोंमेसे एक पदार्थ दूसरे पदार्थके आश्रित ही रहता है वे दोनों अयुतसिद्ध कहलाते हैं। अवयव और अवयवी, जाति और व्यक्ति, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान् तथा

---

१. अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः परिकीर्तितः ॥ —कारिकावली का० १०।

२. अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः। ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ।
तावयुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः।
अवश्यमेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥ —तर्कभाषा पृ० ६।
घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ॥ —कारिकावली का० १२।
अवयवावयविनोर्जातिव्यक्त्योर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्नित्यद्रव्यविशेषयोः यः सम्बन्धः स समवायः। —मुक्तावली पृ० २३।

नित्यद्रव्य और विशेष इन पाँच युगलोंमें अयुतसिद्धि रहती है। अतः इन पाँच युगलोंमें जो पारस्परिक सम्बन्ध है वह समवाय सम्बन्ध कहलाता है। जैसे गुण और गुणीके सम्बन्धका नाम समवाय सम्बन्ध है।

अभाव—मूलमें अभाव दो प्रकारका है[1]—संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। दो वस्तुओंमें रहनेवाले संसर्ग (सम्बन्ध)के अभावका नाम संसर्गाभाव है। अन्योन्याभावका अर्थ यह है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु नहीं है। अर्थात् उन दोनोंमें पारस्परिक भेद है। संसर्गाभाव तीन प्रकारका है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। इस प्रकार अभावके कुल चार भेद हैं। उत्पत्तिके पहिले कारणमें कार्यके अभावको प्रागभाव कहते हैं। प्रागभाव अनादि और सान्त है। नाशके बाद कारण में कार्यके अभावको प्रध्वंसाभाव कहते हैं। प्रध्वंसाभाव सादि और अनन्त है। जिन दो वस्तुओंमें वर्तमान, भूत तथा भविष्य तीनों कालोंमें कोई सम्बन्ध नहीं रहता है उनमें अत्यन्ताभाव होता है। जैसे आत्मा और आकाशमें अत्यन्ताभाव है। अत्यन्ताभाव अनादि और अनन्त है। दो वस्तुओंमें जो पारस्परिक भेद होता है वह अन्योन्याभाव है। जैसे घट पट नहीं है। इन दोनोंमें तादात्म्य सम्बन्धका अभाव है। संसर्गाभावको इस प्रकार व्यक्त करेंगे 'घट पटमे नहीं है'। अन्योन्याभावका सूचक वाक्य यह होगा 'घट पट नहीं है'।

परमाणुवाद

नैयायिक-वैशेषिकोंने परमाणुओंको जगत्का उपादान कारण बतलाया है। दो परमाणुओंसे द्व्यणुककी उत्पत्ति होती है। तीन द्व्यणुकोंके संयोगसे त्र्यणुक या त्रसरेणुकी उत्पत्ति होती है। चार त्रसरेणुओंके संयोगसे चतुरणुककी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार आगे जगत्की सृष्टि होती। परमाणुओंमें क्रियाका कारण क्या है? परमाणु स्वभावसे निष्क्रिय होते हैं। प्राचीन वैशेषिकोंने प्राणियोंके धर्माधर्मरूप अदृष्टको परमाणुओंमें क्रियाका कारण बतलाया है[2]। पर बादके आचार्योंने अदृष्ट सहकृत ईश्वरकी इच्छाको ही परमाणुओंमें क्रियाका कारण माना है।

१. अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः।
प्रागभावस्तथाध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च॥
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते। —कारिकावली० १२, १३।

२. मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमित्यदृष्टकारणम्। —वै० सू० ५।१।१५।

परमाणुका लक्षण निम्न प्रकारसे बतलाया गया है। घरमें छतके छेद-से जब सूर्यकी किरणें प्रवेश करती हैं तब उनमें जो छोटे-छोटे कण दृष्टि-गोचर होते हैं वे ही त्रसरेणु हैं और उनका छठवां भाग परमाणु कहलाता है[1]। परमाणु तथा द्वयणुकका परिमाण अणु होनेसे उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। और महत् परिमाण होनेके कारण त्रसरेणुका प्रत्यक्ष होता है।

वैशेषिक ज्ञानमीमांसा

ज्ञान सामान्यरूपसे दो प्रकारका है—विद्या और अविद्या। अविद्याके चार भेद हैं—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और स्वप्न। विद्याके भी चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति और आर्ष। वैशेषिक उपमान तथा शब्दको स्वतंत्र प्रमाण न मानकर अनुमानके अन्तर्गत ही मानते हैं। ऋषियोंको अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रतिभाजन्य जो ज्ञान होता है वह आर्ष कहलाता है। प्रशस्तपादके मतसे स्वप्नके तीन कारण होते हैं—संस्कार-पाटव, धातुदोष और अदृष्ट। कामी या क्रोधी पुरुष जिस विषयका चिन्तन करता हुआ सोता है वह स्वप्नमें उसी विषयको देखता है। वात-प्रकृतिवाला व्यक्ति आकाशमें गमन आदि, पित्तप्रकृतिवाला व्यक्ति अग्नि-प्रवेश आदि और कफप्रकृतिवाला व्यक्ति समुद्र आदिका स्वप्न देखता है। अदृष्टसे भी विचित्र स्वप्नोंका उदय होता है।

ईश्वर

वैशेषिकदर्शनमें ईश्वरकी सत्ता मानी गयी है या नहीं? इस प्रश्नके विषयमें कोई निश्चित मत नहीं है। वैशेषिक सूत्रोंमें केवल दो सूत्र ऐसे हैं जो ईश्वरकी ओर संकेत करते हैं, किन्तु इनकी व्याख्यामें मतभेद है। 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (वै० सू० १।१।३) में तद् शब्द ईश्वर-का बोधक माना गया है, परन्तु वह धर्मका भी बोधक हो सकता है। इसी प्रकार 'संज्ञा कर्मत्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्' (वै० सू० २।१।१८)में अस्मद्विशिष्ट शब्द ईश्वरके समान योगियोंका भी बोधक माना जा सकता है। अतः वैशेषिक सूत्रमें ईश्वरका स्पष्ट निर्देश न होनेपर भी प्रशस्त-पादसे लेकर अवान्तरकालीन ग्रन्थकार ईश्वरकी सिद्धि एक मतसे स्वी-कार करते हैं। वैशेषिकदर्शनके प्रथम सूत्रसे ही ज्ञात होता है कि महर्षि

१. जालान्तरगते भानोः यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते॥

कणादका प्रधान लक्ष्य धर्मकी व्याख्या करना है। धर्म वह है जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्ध हो[1]। किरणावली और उपस्कार-व्याख्याके अनुसार अभ्युदयका अर्थ तत्त्वज्ञान और निःश्रेयसका अर्थ मोक्ष है।

मुक्ति

वैशेषिकदर्शनमे मुक्तिकी कल्पना नैयायिकदर्शनकी तरह ही है। अर्थात् मुक्तिमे दुःखोका आत्यन्तिक नाश हो जाता है और आत्मा अपने विशेष गुणोसे रहित हो जाती है[2]। मुक्तिकी प्राप्तिका मार्ग निम्न प्रकार है[3]—निवृत्ति लक्षण धर्मविशेषसे साधर्म्य और वैधर्म्यके द्वारा द्रव्यादि छह पदार्थोंका जो तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है उससे निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है।

सांख्य-दर्शन

साख्य नामकरणका कारण सख्या शब्द है। सख्याको नितान्त मूलभूत सिद्धान्त होनेके कारण यह दर्शन साख्यदर्शनके नामसे प्रसिद्ध हुआ। सख्याका अर्थ गणना नही है, किन्तु सम्यक्ख्याति–सम्यक्ज्ञान–विवेकज्ञान है। अर्थात् प्रकृति-पुरुषविवेकके अर्थमे सख्या शब्दका प्रयोग हुआ है। महाभारतमे साख्य शब्दकी यही प्रामाणिक व्याख्या की गयी है[4]। प्रकृति तथा पुरुषके पारस्परिक भेदको न जाननेके कारण इस दुःखमय जगत्की सत्ता है और जिस समय प्रकृति और पुरुषमे भेदविज्ञान हो जाता है उसी समय दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। सख्याका अर्थ आत्माके विशुद्धरूपका ज्ञान भी किया गया है[5]। सांख्यदर्शनके रचयिताका नाम कपिल मुनि है।

सांख्य तत्त्वमीमांसा

साख्यदर्शनके अनुसार तत्त्व २५ होते हैं। इन तत्त्वोके जाननेसे किसी

१ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। —वै० सू० १।१।२।

२. दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्षः। —प्र० पा० भा० पृ० १४४।

३. धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्। —वै० सू० १।१।४।

४. दोषाणां च गुणानां च प्रमाणप्रविभागतः। कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम्। —महाभारत

५. शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं साख्यमित्यभिधीयते। —शांकरभाष्य [illegible]।

भी आश्रमका पुरुष, चाहे वह ब्रह्मचारी हो, सन्यासी हो या गृहस्थ हो, दुःखोंसे मुक्ति प्राप्त कर लेता है[१]। इन २५ तत्त्वोंका वर्गीकरण मूलमें चार प्रकारसे किया गया है[२]। १. प्रकृति, २. विकृति, ३ प्रकृति-विकृति और ४. न प्रकृति-न विकृति। कोई तत्त्व ऐसा है जो सबका कारण तो होता है, परन्तु स्वय किसीका कार्य नही होता, इसे प्रकृति कहते हैं। कुछ तत्त्व किसीसे उत्पन्न तो होते हैं, किन्तु स्वय किसी अन्य तत्त्वको उत्पन्न नही करते, इन्हे विकृति कहते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक् तथा श्रोत्र) पाँच कर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ) पांच महाभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश) और मन ये १६ तत्त्व विकृति कहलाते हैं। कुछ तत्त्व किन्ही तत्त्वोसे उत्पन्न होते हैं और अन्य तत्त्वोको उत्पन्न भी करते है, इन्हे प्रकृति-विकृति कहते हैं। महत्, अहकार और पाँच तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) ये सात तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनो कहलाते हैं। एक पुरुष तत्त्व ऐसा है जो न किसीसे उत्पन्न होता है और न किसीको उत्पन्न करता है। इसको गणना न प्रकृति-न विकृति वर्गमे की गई है। मूलमें दो ही तत्त्व है—प्रकृति और पुरुष।

प्रकृति त्रिगुणात्मक, जड तथा एक है। यही स्थूल तथा सूक्ष्म जगत्-की उत्पादिका है। प्रकृतिमे सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण पाये जाते हैं। इन्ही तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है। प्रकृतिका दूसरा नाम प्रधान भी है। प्रकृतिसे २३ तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है। उनकी उत्पत्तिका क्रम इस प्रकार है[३]—

प्रकृतिसे महत् तत्त्वकी उत्पत्ति होती है। महत्का दूसरा नाम बुद्धि है। सांख्यदर्शनकी यह विशेषता है कि बुद्धि चेतन पुरुषका गुण न होकर अचेतन प्रकृतिका कार्य है। महत् तत्त्वसे अहंकारकी उत्पत्ति होती है। अहंकारसे जिन १६ तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है, वे निम्न प्रकार हैं—स्प-

१. पञ्चविंशति तत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसेत्।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥ सि० सं० ५।११।

२. मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः॥ —सांख्यका० ३।

३. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥ —सांख्यका० २२।

र्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय, वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रिय और मन, तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पाँच तन्मात्रा। अन्तमें पाँच तन्मात्राओंसे पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश इन पाँच भूतोंकी उत्पत्ति होती है।

प्रकृतिकी सिद्धि अनेक युक्तियोंसे की गई है[1]। जैसे संसारके समस्त पदार्थोंमें परिमाण पाया जाता है, उनमें सत्त्व आदि तीन गुणोंका समन्वय पाया जाता है, कारणकी शक्तिसे ही कार्यमें प्रवृत्ति होती है, कारण और कार्यका विभाग देखा जाता है तथा प्रलयकालमें कार्यका उसी कारणमें विलय देखा जाता है। अतः अपरिमित, व्यापक और स्वतंत्र मूलकारण (प्रकृति)को मानना युक्तिसगत है।

पुरुष

सांख्यका पुरुष त्रिगुणातीत, विवेकी, विषयी, विशेष, चेतन तथा अप्रसवधर्मा (किसी को उत्पन्न न करनेवाला) है। उसमें किसी प्रकारका परिणमन नही होता है। इसीलिए वह अविकारी, कूटस्थनित्य और सर्वव्यापक माना गया है। वह निष्क्रिय, अकर्ता और दृष्टामात्र है।

जगत्का समस्त कार्य प्रकृति करती है और पुरुष उसका भोग करता है। सांख्यने पुरुषकी सिद्धिके लिए अनेक युक्तियाँ दी हैं।[2] संसारके समस्त पदार्थ सघात (समुदाय) रूप है। समुदाय अन्य किसीके उपयोगके लिए ही होता है। जड़ जगत्का कोई अधिष्ठाता अवश्य होना चाहिए। संसारके पदार्थोंका कोई भोक्ता भी अवश्य होना चाहिए। पुरुषमें तीन गुणोंका विपर्यय देखा जाता है तथा मुक्ति प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न देखा जाता है। अतः प्रकृतिसे भिन्न पुरुषकी सत्ता अवश्य है तथा पुरुष अनेक हैं।

कार्यकारणसिद्धान्त

सांख्यदर्शनमें इस सिद्धान्तका नाम सत्कार्यवाद या परिणामवाद है। यह सिद्धान्त न्याय-वैशेषिक सिद्धान्तके असत्कार्यवादसे नितान्त भिन्न

---

१. भेदाना परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥
कारणमस्त्यव्यक्तम्। —सांख्यका० १५।

२. संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ —सांख्यका० १७।

है। सांख्यका कहना है कि कार्य उत्पत्तिके पहले भी कारणमें अव्यक्तरूप-
से विद्यमान रहता है। तेल तिलोंमें और दधि दूधमें विद्यमान रहता है।
तभी तो तिलोंसे तेलकी और दूधसे दधिकी उत्पत्ति देखी जाती है।
सत्कार्यवादको सिद्ध करनेके लिए निम्न युक्तियाँ दी गयी हैं।[1]

१. असत् वस्तुकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। यदि कार्य उत्पत्तिसे
पहले कारणमें न रहता तो असत् पदार्थ 'आकाशकमल'की भी उत्पत्ति
होनी चाहिए। २. कार्यकी उत्पत्तिके लिए उपादानका ग्रहण किया जाता
है, जैसे तेलकी उत्पत्तिके लिए तिलोंका ही ग्रहण किया जाता है बालु-
का नहीं। यदि कार्य कारणमें सत् न होता तो कोई भी कार्य किसी
भी कारणसे उत्पन्न हो जाता। ३. सब कारणोंसे सब कार्योंकी उत्पत्ति
संभव नहीं है। अतः प्रतिनियत कारणसे प्रतिनियत कार्यकी ही उत्पत्ति
होनेसे कार्य सत् है। ४. समर्थ करणसे ही कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है,
असमर्थसे नहीं। ५ यह भी देखा जाता है कि कारण जैसा होता है
कार्य भी वैसा ही होता है। कारण और कार्यमें ऐक्य है। गेहूँसे गेहूँकी
ही उत्पत्ति होती है, चनाकी नहीं। अतः उपर्युक्त कारणोंसे यह सिद्ध
होता है कि वस्त्र उत्पन्न होनेके पहले तन्तुओंमें विद्यमान रहता है और
घट उत्पन्न होनेके पहले मिट्टीमें विद्यमान रहता है। यही सत्कार्यवाद है।

प्रकृति और पुरुषके संयोगसे ही जगत्की सृष्टि होती है[2]। प्रकृति जड़
है और पुरुष निष्क्रिय। अतः पृथक्-पृथक् दोनोंसे जगत्की सृष्टि होना
संभव नहीं है। सृष्टिके लिए दोनोंका संयोग आवश्यक है। जिस प्रकार
एक अन्धा और एक लंगड़ा पुरुष पृथक्-पृथक् रहें तो किसीका कार्य
सिद्ध नहीं हो सकता और दोनोंका संयोग हो जानेपर उनके कार्यकी
सिद्धि सरलतापूर्वक हो जाती है। उसी प्रकार प्रकृति अचेतन होनेसे
अन्धी है और पुरुष निष्क्रिय होनेसे लंगड़ा है। अतः सृष्टिके लिए दोनों-
का संयोग परमावश्यक है। पुरुषकी सन्निधिमात्रसे प्रकृति कार्य करने-
में प्रवृत्त हो जाती है।

---

१. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्। —सांख्यका० ९।

२. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ —सांख्यका० २१।

ज्ञानमीमांसा

सांख्यके अनुसार बुद्धि या ज्ञान जड़ है। पुरुष चेतन तो है किन्तु ज्ञानशून्य है। अतः अनुभवकी उपलब्धि न तो पुरुषमें होती है और न बुद्धिमें। जब ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य जगत्के पदार्थोंको बुद्धिके सामने उपस्थित करती हैं तो बुद्धि उपस्थित पदार्थका आकार धारण कर लेती है। इतने पर भी अनुभवकी उपलब्धि तब तक नहीं होती जब तक बुद्धिमें चैतन्यात्मक पुरुषका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। बुद्धिमें प्रतिबिम्बित पुरुषका पदार्थोंसे सम्पर्क होनेका ही नाम ज्ञान है। बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होनेपर ही पुरुषको ज्ञाता कहा जाता है।

सांख्यदर्शनमें तीन प्रमाण माने गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। विपर्यय ज्ञानको सांख्य सदसत्ख्याति कहते हैं। शुक्तिमें रजतका ज्ञान होना विपर्यय ज्ञान है। यहाँ शुक्ति सत् है और रजत असत् है। अतः विपर्यय ज्ञानमें सत् और असत् दोनोंका प्रतिभास होता है। सांख्यदर्शन ज्ञानकी प्रमाणता और अप्रमाणताको स्वतः स्वीकार करता है[1]।

ईश्वर

सांख्यदर्शन ईश्वरको नहीं मानता है। अन्य दर्शनोंने ईश्वरको जगत्का कर्ता मानकर उसके सद्भावको सिद्ध किया है। ईश्वरजन्य जो कार्य हैं, वे सब कार्य सांख्यमतमें प्रकृतिके द्वारा निष्पन्न होते हैं। अतः सृष्टि करनेवाले ईश्वरके माननेकी इस मतमें कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। दूसरी बात यह भी है कि किसी प्रमाणसे ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती है। इसलिए ईश्वरको मानना उचित नहीं है। यहाँ इतना विशेष है कि उपनिषद्कालीन सांख्य ईश्वरवादका समर्थक है। ब्रह्मसूत्रमें निर्दिष्ट तथा सांख्यकारिकामें वर्णित सांख्य निरीश्वरवादी है। किन्तु विज्ञानभिक्षुने सांख्यदर्शनसे निरीश्वरवादके लांछनको दूर करके पुनः ईश्वरवादको प्रतिष्ठा की है।

प्रकृति और पुरुषके संसर्गका नाम ही संसार है। जबतक प्रकृति और पुरुषमें भेदविज्ञान नहीं होता, जबतक पुरुष यह नहीं समझता है कि

१. प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः। —स० द० सं० पृ० १०६।

२. ईश्वरासिद्धेः। सां० सू० १।९२। प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः।

—सां० सू० ५।१०।

मैं प्रकृतिसे सर्वथा भिन्न हूँ तभी तक संसारकी स्थिति है। प्रकृति और पुरुषमें भेदविज्ञान होते ही पुरुष प्रकृतिके संसर्गजन्य आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों प्रकारके दुःखोंसे छूट जाता है। वास्तवमें बन्ध और मोक्ष प्रकृतिके ही धर्म हैं, पुरुषके नहीं। पुरुष तो स्वभावसे असंग और मुक्त है। इसीलिये ईश्वरकृष्णने कहा है कि पुरुष न तो बन्धका अनुभव करता है, न मोक्षका और न संसारका। किन्तु प्रकृति ही बन्ध, मोक्ष और संसारका अनुभव करती है।[1] प्रत्येक पुरुषकी मुक्तिके लिए ही प्रकृतिका समस्त व्यापार होता है।[2] जिस प्रकार अचेतन दूधकी प्रवृत्ति बछड़ेकी वृद्धिके लिए होती है, उसी प्रकार अचेतन प्रधानकी प्रवृत्ति भी पुरुषके मोक्षके लिए होती है।[3] जिस प्रकार उत्सुकता या इच्छाकी निवृत्तिके लिए पुरुष कार्यमें प्रवृत्ति करता है उसी प्रकार प्रधान पुरुषके मोक्षके लिए प्रवृत्ति करता है।[4]

प्रकृति उस नर्तकीके समान है जो रङ्गस्थलमें उपस्थित दर्शकोंके सामने अपनी कलाको दिखलाकर रङ्गस्थलसे दूर हट जाती है। प्रकृति भी पुरुषको अपना व्यापार दिखलाकर पुरुषके सामनेसे हट जाती है।[5] वास्तवमें प्रकृतिसे सुकुमार अन्य कोई दूसरा नहीं है। प्रकृति इतनी लज्जाशील है कि एक बार पुरुषके द्वारा देखे जानेपर पुनः पुरुषके सामने नहीं आती है।[6] अर्थात् पुरुषसे फिर संसर्ग नहीं करती है। प्रकृतिको देख लेनेपर पुरुष उसकी उपेक्षा करने लगता है। तथा पुरुषके द्वारा देखे जानेपर प्रकृति व्यापारसे विरक्त हो जाती है। उस अवस्थामें दोनों-

१. तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥ —सांख्यका० ६२।

२. प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः॥

३. वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥

४. औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्॥ —सांख्यका० ५६-५८।

५. रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥ —सांख्यका० ५९।

६. प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥ —सांख्यका० ६१।

का संयोग होनेपर भी सृष्टिका कोई प्रयोजन न रहनेसे सृष्टि नहीं होती है।' अतः प्रकृति और पुरुषके [illegible] नाम ही मोक्ष है।

योगदर्शन

यद्यपि प्रत्येक दर्शनने योगको स्वीकार किया है, लेकिन 'योगसूत्र'के रचयिता महर्षि पतञ्जलि इस दर्शनके प्रणेता माने गये हैं। 'योगसूत्र'में योगका लक्षण निम्न प्रकार किया गया है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (यो०सू० १।२)। अर्थात् अन्तःकरणकी वृत्ति (व्यापार)का निरोध करना योग है। चित्तकी वृत्तियाँ ५ हैं[2]—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। योगदर्शनमें प्रमाण, प्रमेय आदि तत्त्वोंकी व्यवस्था सांख्यदर्शनके समान ही है। केवल शरीर, इन्द्रिय तथा मनकी शुद्धिके लिए अष्टाङ्ग योगका विवेचन इस दर्शनकी विशेषता है। योगके आठ अङ्ग निम्न प्रकार हैं[3]—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यमका अर्थ है संयम। इसके पाँच भेद हैं[4]—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। जिनसे अन्तरङ्गशुद्धि होती है ऐसी आन्तरिक क्रियाओंका नाम नियम है। नियमके भी पाँच भेद हैं[5]—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति। स्थिर और सुख देनेवाले बैठनेके प्रकारको 'आसन'[6] कहते हैं। साधकको एकाग्रता की प्राप्तिके लिए पद्मासन, शीर्षासन आदि आसनोंका अभ्यास अत्यावश्यक है। इन आसनोंका वर्णन 'हठयोगप्रदीपिका' आदि हठयोगके ग्रन्थोंमें किया गया। श्वास और उच्छ्वासको रोक देना 'प्राणायाम'[7] है। बाहरी वायुका नासिकारन्ध्रसे

---

१. दृष्टामयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य॥ —सांख्यका० ६६

२. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः —यो०सू० १।५
प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः —यो०सू० १।६

३. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। —यो०सू० २।२९

४. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। —यो०सू० २।३०

५. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। —यो०सू० २।३२

६. स्थिरसुखमासनम् —यो०सू० २।४६

७. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः —यो०सू० २।४९

भीतर आना श्वास है और भीतरी वायुका बाहर निकाल देना उच्छ्वास है। चित्तको एकाग्रताके लिए प्राणायामकी अत्यन्त आवश्यकता है। जब विभिन्न इन्द्रियाँ बाह्य विषयोंसे हटकर चित्तके समान निरुद्ध हो जाती हैं तब इसे 'प्रत्याहार' कहते हैं। प्रत्याहारके द्वारा इन्द्रियोपर नियन्त्रण हो जाता है। हृदयकमल आदि किसी देशमे अथवा इष्टदेवकी मूर्ति आदि किसी बाह्य पदार्थमे चित्तको लगाना 'धारणा' है[1]। उस देश-विशेषमे जब ध्येयवस्तुका ज्ञान एकाकाररूपसे प्रवाहित होता है तब इसे 'ध्यान' कहते हैं[2]। विक्षेपोका हटाकर ध्येयवस्तुमे चित्तका एकाग्र करना 'समाधि है।[3] ध्यानावस्थामे ध्यान, ध्येयवस्तु तथा ध्याता पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। किन्तु समाधिमे ध्यान, ध्याता और ध्येयकी एकता हो जाती है।

समाधिके दो भेद हैं—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि एकाग्र चित्तकी वह अवस्था है जब चित्त ध्येयवस्तुके ऊपर चिरकाल तक स्थिर रहता है। इसका फल है प्रज्ञाका उदय। प्रज्ञा भी एक वृत्ति है। अत जब चित्तकी प्रज्ञासहित समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती है तब असम्प्रज्ञात समाधि होती है। सम्प्रज्ञात समाधिमे कोई-न-कोई आलम्बन बना रहता है, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधिमे किसी भी वस्तुका आलम्बन नही रहता।

ईश्वर

योगदर्शनमे ईश्वरका स्थान महत्त्वपूर्ण है। तत्त्वसख्या साख्यके समान ही २५ है। केवल ईश्वरतत्त्व अधिक है। इसीलिये योग सेश्वर साख्य कहलाता है। जो पुरुष क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशयसे रहित है वह ईश्वर कहलाता है।[4] अन्य मुक्त पुरुष पूर्वकालमे बन्धनमे रहता है तथा प्रकृतिलीनके भविष्यकालमे बन्धनकी सभावना रहती है। परन्तु ईश्वर तो सदा ही मुक्त और सदा ही ईश्वर है।[5] अत वह प्रकृतिलीन तथा

१. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। —यो०सू० ३।१।

२. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। —यो०सू० ३।२।

३. सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधि.।

४ क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष. ईश्वर.। —यो०सू० १।२४।

५. यथा मुक्तस्य पूर्वाबन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः संभाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैव ईश्वरः। —यो०भा० १।२४।

मुक्त पुरुषोंसे नितान्त भिन्न होता है। नित्य होनेसे वह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालोंसे अनवच्छिन्न है। तथा वह गुरुओंका भी गुरु है। तारक ज्ञानका दाता भी ईश्वर ही है। ईश्वरके स्वरूपको समझनेके लिए क्लेश आदिका स्वरूप समझना आवश्यक है।

अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा अनात्ममें क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्मबुद्धि करना अविद्या है। दृक्शक्ति (पुरुष) तथा दर्शनशक्ति (बुद्धि)में अभेदात्मक ज्ञान करना अस्मिता है।[1] सुखोत्पादक वस्तुओंमें लोभ या तृष्णाका होना राग[2] कहलाता है। दुःखोत्पादक वस्तुओंमें क्रोधका होना द्वेष[3] है। क्षुद्र जन्तुसे लेकर विद्वान्को भी जो मृत्युका भय लगा रहता है वह अभिनिवेश[4] है। इस प्रकार ये पाँच क्लेश हैं। शुक्ल (पुण्य), कृष्ण (पाप) और मिश्रके भेदसे कर्म तीन प्रकारका है। कर्मके फलको विपाक कहते हैं[5]। विपाक जाति (जन्म), आयु और भोग-रूप होता है। कर्मके संस्कारको आशय कहते हैं[6]। आशयका तात्पर्य धर्म और अधर्मसे है। इस प्रकार ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक और आशय-से शून्य होता है।

बौद्धदर्शन

यह बात सर्वविदित है कि वर्तमान बौद्धधर्म तथा दर्शनके प्रवर्तक गौतम बुद्ध है। गौतम बुद्ध जैनधर्मके अन्तिम तर्थंकर भगवान् महावीरके समकालीन थे। अन्य धर्मोंके चौबीस अवतारोंकी तरह बौद्धधर्ममें भी चौबीस बुद्ध माने गये हैं इस बातका संकेत पालिके एक श्लोक[7]से मिलता है, जिसके द्वारा भूत भविष्यत् और वर्तमानकालवर्ती बुद्धोंको नमस्कार किया गया है।

---

१. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता। —यो० सू० २।६।

२ सुखानुशयी राग —यो० सू० २।७।

३. दु.खानुशयी द्वेष. —यो० सू० २।८।

४. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः —यो० सू० २।९।

५. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः —यो० सू० २।१३।

६. आशेरते सासाङ्गिकाः पुरुषा अस्मिन्नित्याशयः। कर्मणामाशयो धर्माधर्मौ। —[illegible] त्ति पृ० ६७।

७. ये च बुद्धा अतीता ये ये च बुद्धा अनागता।
पच्चुप्पन्ना च ये बुद्धा अहं वन्दामि सब्बदा॥

बुद्ध [illegible]वादी और व्यावहारिक थे। यही कारण है कि अध्यात्म शास्त्रकी गुत्थियोंकी शुष्क तर्ककी सहायतासे सुलझाना बुद्धका उद्देश्य नहीं था। बुद्धने भवरोगके रोगी प्राणियोंके लिए उन बातोंको बतलाना आवश्यक समझा जिनसे उनको ता[illegible]लिक लाभ हो। यह जगत् नित्य है या अनित्य ? यह लोक सान्त है या अनन्त ? जीव तथा शरीर अभिन्न हैं या भिन्न ? इत्यादि प्रश्न किए जाने पर बौद्ध मौनावलम्बन ही श्रेयस्कर समझते थे। ऐसे प्रश्नोंको उन्होंने अव्याकृत (उत्तरके अयोग्य बतलाया है।

भवरोगके रोगियोंकी चिकित्सा करना पहली आवश्यकता है। इस विषयमें उन्होंने एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है। कोई व्यक्ति बाणसे आहत होकर व्याकुल हो रहा है। उस समय आपका कर्तव्य यह है कि तुरन्त उसे चिकित्सकके पास ले जाकर उसकी चिकित्सा करावें। यदि आप ऐसा न करके यह बाण किस दिशासे आया है, कितना बड़ा है, इसको मारने वाला क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र है' इत्यादि व्यर्थकी बातोंमे पड़ते हैं तो आप बुद्धिवादी और व्यावहारिक नहीं कहे जा सकते। इसीलिए बुद्धने व्यावहारोपयोगी बातोंका ही उपदेश दिया।

आर्यसत्य

जिस प्रकार चिकित्साशास्त्रमें रोग, रोगका कारण, रोगका नाश तथा रोग[illegible]शक औषधि ये चार बातें बतलायी जाती हैं, उसी प्रकार दर्शन शास्त्रमें संसार (दुःख), संसारहेतु (दुःखका कारण), मोक्ष (दुःखका नाश) तथा मोक्षका उपाय ये चार सत्य माने गये हैं[1]।

बुद्धने दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्योंको खोज निकाला। [illegible]कशास्त्रकी इस समताके कारण बुद्धको महाभिषक् (वैद्यराज) भी कहा गया है। इन सत्योंको आर्य सत्य कहनेका तात्पर्य यह है कि आर्यजन (विद्वज्जन) ही इन सत्योंको प्राप्त कर सकते हैं। इतरजन इन सत्योंको प्राप्त करनेमें असमर्थ ही रहते हैं। आर्य जन आँखके समान हैं और अन्यजन करतल (हथेली) के समान हैं। जिस प्रकार ऊनका डोरा हथेली पर रखनेसे किसी प्रकारकी पीड़ाको उत्पन्न नहीं करता है किन्तु

१. यथा चि[illegible]शास्त्रं चतुर्व्यूहं—रोगो रोगहेतुः आरोग्यं भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं तद् यथा संसारः संसारहेतुः मोक्षो मोक्षोपाय इति।

—व्यासभाष्य २।१५।

वही आँखमें पड़ने पर पीड़ा उत्पन्न करता है[1]। उसीप्रकार आर्यजन ही इन सत्योंका अनुभव करते हैं, अन्य जन तो जीते हैं, मरते हैं, दुःख भी भोगते हैं, फिर भी इन सत्योंके रहस्यको नहीं समझ पाते।

दुःख आर्यसत्य—संसार दुःखमय है। जिधर देखिए उधर ही दुःख दृष्टिगोचर होता है। जन्म, जरा, मरण आदिके दुःख तो हैं ही। इसके अतिरिक्त क्षुधा, तृषा, रोग आदि न जाने कितने दुःखोंसे यह संसार व्याप्त है। जिसे थोड़े समयके लिए हम सुख समझते हैं वह भी यथार्थमें दुःख ही है। इसीका नाम दुःख आर्य सत्य है। इसका ज्ञान आवश्यक है **समुदय आर्यसत्य**—दुःख जिन कारणोंसे उत्पन्न होता है। उन्हें समुदय कहते हैं। इस प्रकार दुःखके कारणोंका नाम समुदय है। यद्यपि दुःखके कारण अनन्त हैं, लेकिन उनमें तृष्णा ही दुःखका प्रधान कारण है। यही समुदय आर्यसत्य है। **निरोध आर्यसत्य**—दुःखोंके नाश या अभावको निरोध कहते हैं। अतः जहाँ समस्त दुःखोंका अभाव है उस निर्वाण अवस्थाको निरोध आर्यसत्यके नामसे कहा गया है। इस आर्यसत्यका ज्ञान नितान्त आवश्यक है। **मार्ग आर्यसत्य**—जिस मार्ग पर चलकर यह प्राणी ससारके दुःखोंका नाश कर देता है वह मार्ग आर्यसत्य है। इस मार्गका नाम मध्यम मार्ग तथा आष्टांगिक मार्ग भी है। इसका ज्ञान भी मोक्षके लिए आवश्यक है।

बुद्धने कहा था—हे भिक्षुओ! इन चार आर्यसत्योंका ज्ञान प्राप्त करने पर ही सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है। मैंने इन आर्यसत्योंका ज्ञान प्राप्त कर लिया है। अतः मैं सर्वज्ञ हूँ। हमें ऐसे ज्ञानकी आवश्यकता है जिससे संसारका दुःख नष्ट हो सके। संसारमें कीड़े-मकोड़ोंकी संख्याका ज्ञान प्राप्त करना उपयोगी नहीं है। जो हेय और उपदेय तत्वोंको उपाय सहित जानता है, वही पुरुष प्रमाणभूत है, वही सर्वज्ञ है। यह आवश्यक नहीं है कि जो दूरकी बात जान सके या देख सके वह सर्वज्ञ हो, किन्तु सर्वज्ञत्वकी प्राप्तिके लिए इष्ट तत्त्वका ज्ञान आवश्यक है। यदि दूरदर्शीको प्रमाण या सर्वज्ञ

[1] करतलसदृशो बालो न वेत्ति संस्कारदुःखतापक्ष्म ।
अक्षिसदृशस्तु विद्वान् तेनैवोद्वेजते गाढम् ॥
ऊर्णापक्ष्म यथैव हि करतलसंस्थं न विद्यते पुंभिः ।
अक्षिगतं तु तथैव हि जनयत्यरतिं च पीडां च ॥
—माध्यमिककारिका वृत्ति पृ० ४७६

माना जाय तो फिर गृद्धोंकी उपासना भी हमें करना चाहिए।[1]

मध्यम मार्ग

बुद्धने मध्यम मार्गके विषयमें बतलाया था कि भिक्षुओंको दो अन्तोंका सेवन नही करना चाहिए। किसी भी वस्तुके दोनों अन्त कुमार्गकी ओर ले जाते हैं। सत्य तो दोनों अन्तोंके बीचमें ही रहता है। इसीलिए मध्यम मार्ग (बीचका रास्ता) ही श्रेयस्कर है। किसी भी वस्तुमे अत्यधिक तल्लीनता या उससे अत्यधिक वैराग्य, दोनों ही अनुचित हैं। जिस प्रकार अत्यधिक भोजन करना दुःखदायी है, उसी प्रकार बिलकुल भोजन न करना भी दुःखदायी है। कामासक्ति और देहक्लेश ये दो अन्त हैं। कामों (तृष्णाओं) के त्याग करनेको बुद्धने पहला कर्तव्य बतलाया। संसारमें तृष्णा ही एक ऐसी वस्तु है जिसके कारण प्रत्येक प्राणी सदा दुःखी रहता है, और बडे-बडे राष्ट्र भी इसी तृष्णाके मोहमें पडकर धरातलमें पहुँच जाते हैं। यदि सब प्राणी तृष्णाका त्याग कर दें तो इसमे संदेह नही कि इसी पृथिवीपर स्वर्गका साम्राज्य अथवा सुख और शान्ति प्राप्त हो सकती है। कामासक्तिके त्यागकी तरह कायक्लेशके त्याग पर भी बुद्धने जोर दिया है। घोर कायक्लेश करने पर भी बुद्धको ज्ञान लाभ नही हुआ था। अतः बुद्धने कायक्लेशको निरर्थक समझकर मध्यम मार्गका उपदेश दिया। अर्थात् न तो विषयोंमे लीन होना ही अच्छा है और न अत्यन्त कायक्लेश।

अष्टाङ्ग मार्ग

मध्यम मार्गके आठ अङ्ग निम्न प्रकार हैं—

१ सम्यक् दृष्टि, २ सम्यक् संकल्प, ३ सम्यक् वचन, ४ सम्यक् कर्मान्त, ५ सम्यक् आजीव, ६ सम्यक् व्यायाम, ७ सम्यक् स्मृति, और ८. सम्यक् समाधि, उक्त आठों अंगोंमें सम्यक् विशेषण दिया गया है। दोनों अन्तोंके मध्यमें रहनेका नाम सम्यक् है।

सम्यक् दृष्टि—यहाँ दृष्टिका अर्थ ज्ञान है। कायिक, वाचिक तथा

---

1. हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः।
य· प्रमाणमसाविष्टो नतु सर्वस्य वेदकः॥
दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेत गृध्रानुपास्महे॥
—प्रमाणवा० १।३४, ३५।

मानसिक कर्म दो प्रकारके होते हैं—कुशल और अकुशल। इन दोनोंको ठीक-ठीक जानना सम्यग्दृष्टि है। आर्यसत्योंको भलीभाँति जानना भी सम्यग्दृष्टि है। प्राणातिपात (हिंसा) अदत्तादान (चोरी) और मिथ्याचार (व्यभिचार) ये तीन कायिक अकुशल कर्म है। इनसे उल्टे अहिंसा, अचौर्य और अव्यभिचार ये तीन कायिक कुशल कर्म हैं। मृषावचन (झूठ) पिशुन वचन (चुगली) परुषवचन (कटुवचन) और संप्रलाप (बकवाद) ये चार वाचिक अकुशल कर्म हैं। इनसे उल्टे चार वाचिक कुशल कर्म हैं। अभिध्या (लोभ) व्यापाद(प्रतिहिंसा) और मिथ्यादृष्टि (झूठी धारणा) ये तीन मानसिक अकुशल कर्म हैं। इनसे उल्टे तीन मानसिक कुशल कर्म हैं। लोभ, दोष तथा मोह ये तीन अकुशल कर्मके मूल हैं। अलोभ, अदोष तथा अमोह ये तीन कुशल कर्मके मूल हैं। इन सबका ज्ञान आवश्यक है।

सम्यक् संकल्प—संकल्पका अर्थ निश्चय है। निष्कामताका, अद्रोहका तथा अहिंसाका निश्चय करना सम्यक् संकल्प है। प्रत्येक पुरुषको यह दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि वह विषयोंकी कामना न करेगा, किसीसे द्रोह न करेगा और किसी भी प्राणीकी हिंसा न करेगा।

सम्यक्वचन—अच्छे वचन बोलना सम्यक् वचन है। जिन वचनोंसे दूसरेके हृदयको कष्ट पहुँचे, जो वचन कटु हों, दूसरेकी निन्दा करने वाले हों, अहित करने वाले हों, व्यर्थकी बकवाद हों ऐसे वचनोंको कभी नहीं बोलना चाहिए।

सम्यक् कर्मान्त—अच्छे कर्मोका करना सम्यक् कर्मान्त है। हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि पाप कर्मोका त्याग करके निम्न पाँच कर्मों (पञ्च-शील) का पालन करना प्रत्येक मनुष्यके लिए आवश्यक है। पञ्च शील ये है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और सुरा (शराब) आदि मादक द्रव्योंका त्याग। ये पञ्चशील सर्व साधारणके लिए हैं। इसके अतिरिक्त भिक्षुओंके लिए निम्न पञ्चशील और भी है। अपराह्ण भोजनका त्याग, मालाधारणका त्याग, संगीतका त्याग, सुवर्णका त्याग और अमूल्य शय्याका त्याग। इसप्रकार सब मिलाकर दश शील हो जाते हैं। इन्हींका नाम सम्यक् कर्मान्त है।

सम्यक् आजीव—अच्छी आजीविका अर्थात् बुरी आजीविकाको छोड़कर अच्छी आजीविकाके द्वारा शरीरका पोषण करना सम्यक् आजीव है शस्त्र, मांस, मद्य, विष आदिका व्यापार, तराजूकी ठगी, डाका, लूटपाट आदिके द्वारा आजीविका करना निन्दनीय है। अतः इसे छोड़कर अहिं-

सक उपायोंसे आजीविकाका उपार्जन करना ही श्रेयस्कर है।

सम्यक् व्यायाम—यहाँ व्यायामका अर्थ प्रयत्न या उद्योग है। शुभ कर्मोंके करनेका प्रयत्न, इन्द्रिय दमनका प्रयत्न, बुरी भावनाओंको रोकनेका प्रयत्न, अच्छी भावनाओंके उत्पन्न करनेका प्रयत्न, इत्यादि सम्यक् व्यायाम है।

सम्यक् स्मृति—काय, वेदना, चित्त तथा धर्मके वास्तविक स्वरूपको जानना तथा उसकी स्मृति सदा बनाये रखना सम्यक् स्मृति है। सम्यक् समाधिके लिए सम्यक् स्मृति अत्यावश्यक है।

सम्यक् समाधि—राग, द्वेष आदिका अभाव हो जाने पर चित्तकी एकाग्रताका नाम सम्यक् समाधि है। समाधिके द्वारा चित्तशुद्धि होती है और शील (सात्त्विक कार्य)से शरीर शुद्धि होती है। ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए कायशुद्धि और चित्तशुद्धि आवश्यक है।

यह अष्टांग मार्ग है। इस मार्ग पर चलनेसे प्रत्येक व्यक्ति अपने दुःखोंका नाश करके निर्वाण प्राप्त कर लेता है। इसीलिए यह अन्य समस्त मार्गोंमें श्रेष्ठ माना गया है।

प्रतीत्य समुत्पाद

प्रतीत्य समुत्पाद बौद्धदर्शनका एक विशेष सिद्धान्त है। प्रतीत्य समुत्पादका अर्थ है 'सापेक्षकारणतावाद' अर्थात् किसी वस्तुकी प्राप्ति होने पर अन्य वस्तुकी उत्पत्ति। इस प्रतीत्य समुत्पादके १. अविद्या २. संस्कार ३. विज्ञान ४. नामरूप ५. षडायतन ६. स्पर्श ७. वेदना ८. तृष्णा ९. उपादान १०. भव ११. जाति और १२. जरामरण ये बारह अङ्ग है, जो तीन काण्डोंमें विभक्त हैं[1]। इन अङ्गोंको निदान भी कहते हैं। प्रतीत्यसमुत्पादका नाम भवचक्र भी है। क्योंकि इसीके कारण संसारका चक्र चलता रहता है। बारह अङ्गोंमेंसे प्रथम दो का सम्बन्ध अतीत जन्मसे है तथा अन्तिम दोका सम्बन्ध भविष्यत् जन्मसे है। शेष आठका सम्बन्ध वर्तमान जीवनसे है। संसारका प्रधान कारण अविद्या है। अविद्यासे संस्कारकी उत्पत्ति होती है। संस्कारसे विज्ञान, विज्ञानसे नामरूप, नामरूपसे षडायतन, षडायतनसे स्पर्श, स्पर्शसे वेदना, वेदनासे तृष्णा, तृष्णासे उपादान, उपादानसे भव, भवसे जाति और जातिसे जरामरणकी उत्पत्ति होती है। इसप्रकार संसारका चक्र चलता रहता है।

---

१. स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशांगस्त्रिकाण्डकः।
पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूर्णाः॥ —अभि० को० ३।२०।

अनात्मवाद

अन्य दर्शनोंने आत्म तत्त्वको प्रधानता दी है। जैनदर्शनकी प्रतिक्रिया वेदोंकी अपोरुषेयता, ईश्वरवाद और यज्ञविधानों तक ही सीमित रही, लेकिन बौ[illegible] दर्शनने वेदोंके आत्मवादको सर्वथा अस्वीकार कर दिया। अपने जीवनमें जिसे हम पकड़ नहीं सकते, मानसिक और भौतिक जगत-में जिसका चिह्न भी नहीं मिलता, उस कल्पित स्थिर तत्त्वके विषयमें चिन्तन करनेसे क्या लाभ। आत्मदर्शनकी कल्पित समस्याओंमें उलझकर मनुष्य अपने जीवनकी प्रत्यक्ष समस्याओंको भूल जाते हैं और उनका नैतिक पतन होने लगता है। अतः अपने समयके जन-समाजका मनो-वैज्ञानिक विश्लेषण करके क्रान्तिदर्शी बुद्धने यही परिणाम निकाला कि जीवनके परे आत्मा-परमात्मा जैसी वस्तुओंके विषयमें बहस करना जीवन-के अमूल्य क्षणोंको व्यर्थ ही नष्ट करना है। बुद्धने सोचा कि आत्माका अस्तित्त्व मानना ही सब अनर्थोंकी जड़ है। क्योंकि आत्माके होनेपर ही अहंभावका उदय होता है। जो पुरुष आत्माको देखता है उसका आत्मामें शाश्वत स्नेह बना रहता है। स्नेहसे तृष्णा उत्पन्न होती है। और फिर तृष्णा दोषोंको ढक लेती है। तृष्णावाला पुरुष 'ये विषय मेरे हैं' इस विचारसे विषयोके साधनोको ग्रहण करता है। अतः जब तक आत्मा-भिनिवेश है तब तक इस संसारकी सत्ता है। आत्माके सद्भावमें ही परका ज्ञान होता है। स्व और परके विभागसे राग और द्वेषकी उत्पत्ति होती है। राग-द्वेषके कारण ही अन्य समस्त दोष उत्पन्न होते हैं।' अतः समस्त दोषोंके नाशका सर्वोत्तम उपाय यही है कि आत्माको ही न माना जाय। न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी। जब आत्मा ही नहीं है तब स्नेह किसमें होगा। स्नेहके अभावमें तृष्णा नही होगी। अतः समस्त दोषोंकी उत्पत्ति-का निदान आत्मदृष्टि ही है। आत्मदृष्टिको सत्कायदृष्टि, आत्मग्राह,

१. यः पश्यत्यात्मानं तस्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनमुपादत्ते।
[illegible] यावत् तावत् संसारः॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः संप्रतिबद्धात् सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥
—बोधिचर्यावतारपं[illegible] । पृ० ४९२।

आत्माभिनिवेश तथा आत्मवाद भी कहते हैं। अनात्मवादका दूसरा नाम पुद्गल नैरात्म्य भी है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि जब आत्मा ही नही है तब जन्म-मरण किसका होता है? इसका उत्तर यह है कि बुद्धने पारमार्थिकरूपसे ही आत्माका निषेध किया है, व्यावहारिकरूपसे नही। बौद्धदर्शनमे आत्मा पाँच स्कन्धोका समुदायमात्र है। रूप, वेदना, सज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये पाँच स्कन्ध मिलकर ही आत्मा कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। ये ही पाँच स्कन्ध कर्म और क्लेशोसे सम्बन्धित होनेपर अन्तराभवसन्ततिके क्रमसे जन्म धारण करते है।[1] मृत्यु और जन्मके बीचकी अवस्थाका नाम अन्तराभव है। इस प्रकार पञ्च स्कन्ध ही जन्म धारण करते हैं और पञ्च स्कन्धकी सन्तान समयानुसार क्लेश और कर्मोंके कारण बढती है और परलोकको प्राप्त होती है।

वास्तवमे प्रत्येक आत्मा नामरूपात्मक है। नामके द्वारा मानसिक वृत्तियोका बोध होता है, और रूपका तात्पर्य शारीरिक वृत्तियोसे है। आत्मा शरीर और मन, भौतिक और मानसिक वृत्तियोका संघातमात्र है। रूप एक ही प्रकारका है। लेकिन नाम चार प्रकारका है—वेदना, सज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान।

रूपस्कन्ध—वह वस्तु जिसमे भारीपन हो और जो स्थान घेरती हो रूप कहलाती है। रूप शब्दकी व्युत्पत्ति दो प्रकारसे की गई है। 'रूप्यन्ते एभिर्विषया' अर्थात् जिनके द्वारा विषयोंका निरूपण किया जाय ऐसी इन्द्रियोका नाम रूप है। 'रूप्यन्ते इति रूपाणि' अर्थात् विषय। यह दूसरी व्युत्पत्ति है। इसप्रकार रूपस्कन्ध विषयोंके साथ सम्बद्ध इन्द्रियो तथा शरीरका वाचक है।

वेदनास्कन्ध—बाह्य वस्तुका ज्ञान होनेपर चित्तकी जो विशेष अवस्था होती है वही वेदना स्कन्ध है। वेदना तीन प्रकारकी होती है—सुख, दुख, तथा न सुख—न दुःख। प्रिय वस्तुके स्पर्शसे सुख, अप्रिय वस्तुके स्पर्शसे दुःख तथा प्रिय-अप्रिय दोनोंसे भिन्न वस्तुके स्पर्शसे न सुख और न दुःख-रूप वेदना होती है।

संज्ञास्कन्ध—सविकल्पक ज्ञानका नाम संज्ञास्कन्ध है। जब हम किसी

१ स्कन्धमात्रं तु कर्मक्लेशाभिसंस्कृतम्।
अन्तराभवसन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत्॥ —अभि० को०।

वस्तुको नाम, जाति, गुण, क्रिया आदिसे सयुक्त करके उसका ज्ञान करते हैं तो वही संज्ञास्कन्ध कहलाता है।[1]

संस्कारस्कन्ध—सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्तिको सस्कार कहते है। रागादि क्लेश, मद, मानादि उपक्लेश और धर्म-अधर्म ये सब संस्कारस्कन्धके अन्तर्गत है। मुख्यरूपसे संस्कारस्कन्धके द्वारा राग और द्वेषका ग्रहण किया जाता है।

विज्ञानस्कन्ध—'मैं' इत्याकारक ज्ञान तथा पाँच इन्द्रियोसे जन्य रूप, रस, गन्ध आदि विषयोका ज्ञान, ये दोनो ज्ञान विज्ञानस्कन्धके द्वारा कहे जाते है।[2] विज्ञान और सज्ञा दोनो ही ज्ञान हैं। इनमे वही अन्तर है जो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और सविकल्पक प्रत्यक्षमे है।

भदन्त नागसेनने 'मिलिन्द प्रश्न'मे यवन राजा मिलिन्दके लिए नैरात्म्यवादका सुन्दर विवेचन किया है। जिस प्रकार चक्र, दण्ड, धुर, रस्मी आदिको छोडकर रथकी कोई स्वतत्र सत्ता नही है, किन्तु उक्त अवयवोके आधारपर केवल व्यवहारके लिए 'रथ' नाम रख दिया गया है, उसी प्रकार रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान इन पञ्च स्कन्धोको छोडकर आत्माकी कोई स्वतत्र सत्ता नही है। किन्तु पञ्च स्कन्धोके आधारपर केवल व्यवहारके लिए आत्मा शब्दका प्रयोग किया जाता है।

क्षणभङ्गवाद

क्षणभङ्गवाद बौद्धदर्शनका सबसे बड़ा सिद्धान्त है। ससारके समस्त पदार्थ क्षणिक है, वे प्रति क्षण बदलते रहते हैं, विश्वमे कुछ भी स्थिर नही है, चारो ओर परिवर्तन ही परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, हमे अपने शरीर पर ही विश्वास नही है, जीवनका कोई ठिकाना नही है, इत्यादि भावनाओके कारण क्षणभगवादका आविर्भाव हुआ है। वैसे तो प्रत्येक दर्शन भग (नाश) को मानता है, किन्तु बौद्धदर्शनकी यह विशेषता है कि कोई भी वस्तु एक क्षण ही ठहरती है, और दूसरे क्षणमे वह वही नही रहती, किन्तु दूसरी हो जाती है। अर्थात् वस्तुका प्रत्येक क्षणमे स्वाभाविक नाश होता रहता है। तर्कके आधार पर क्षणिकत्वकी सिद्धि इसप्रकारकी गई है—'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' अर्थात् सब पदार्थ क्षणिक हैं, सत् होनेसे।

१. संज्ञास्कन्धः सविकल्पप्रत्ययः संज्ञासंसर्गयोग्यप्रतिभासः। यथा डित्थः कुण्डली गौरो ब्राह्मणो गच्छतीत्येवंजातीयकः। —भामती

२ विज्ञानस्कन्धोऽहमित्याकारो [illegible]: इन्द्रियजन्यो वा दण्डायमानः। —भामती २।२।१८।

सत् वह है जो अर्थक्रिया (कुछ काम) करे[1]। अब यह देखना है कि अर्थक्रिया नित्य पदार्थमें हो सकती है या नहीं। बौद्धदर्शनका कहना है कि नित्य वस्तुमें अर्थक्रिया हो ही नहीं सकती। क्योंकि नित्य वस्तु न तो युगपत् (एक साथ) अर्थक्रिया कर सकती है और न क्रमसे। नित्य वस्तु यदि युगपत् अर्थक्रिया करती है तो संसारके समस्त पदार्थोंको एक साथ एक समयमें ही उत्पन्न हो जाना चाहिए, और ऐसा होनेपर आगेके समयमें नित्य वस्तुको कुछ भी काम करनेको शेष नहीं रहेगा। अतः वह अर्थक्रियाके अभावमें अवस्तु हो जायगी। इसप्रकार नित्यमें युगपत् अर्थक्रिया नहीं बनती है। नित्य वस्तु क्रमसे भी अर्थ क्रिया नहीं कर सकती। नित्य वस्तु यदि सहकारी कारणोंकी सहायतासे क्रमसे कार्य करती है, तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सहकारी कारण उसमें कुछ विशेषता (अतिशय) उत्पन्न करते हैं या नहीं? यदि सहकारी कारण नित्यमें कुछ विशेषता उत्पन्न करते हैं तो वह नित्य नहीं रह सकती। और यदि सहकारी कारण नित्यमें कुछ भी विशेषता उत्पन्न नहीं करते हैं तो सहकारीकारणोंके मिलने पर भी वह पहलेकी तरह कार्य नहीं कर सकेगी। दूसरी बात यह भी है कि नित्य स्वयं समर्थ है। अतः उसे सहकारी कारणोंकी कोई अपेक्षा भी नहीं होगी। फिर क्यों न वह एक समयमें ही सब काम कर देगी। इसप्रकार नित्य पदार्थमें न तो युगपत् अर्थक्रिया हो सकती है और न क्रमसे। अर्थक्रियाके अभावमें वह सत् भी नहीं कहला सकता। इसलिए जो सत् है वह नियमसे क्षणिक है। क्षणिक ही अर्थक्रिया कर सकता है। यही क्षणभंगवाद है। क्षणभंगके कारण ही बौद्धदर्शन विनाशको निर्हेतुक मानता है। प्रत्येक क्षणमें विनाश स्वयं होता है, किसी दूसरेके द्वारा नहीं[2]। घटका जो विनाश दण्डके द्वारा होता हुआ देखा जाता है वह घटका विनाश नहीं, किन्तु कपालकी उत्पत्ति है।

अन्यापोहवाद

जब कि अन्य सब दर्शन शब्दको अर्थका वाचक मानते हैं तब इस विषयमें बौद्ध दर्शनकी कल्पना नितान्त भिन्न है। बौद्धदर्शनके अनुसार शब्द

१. [illegible] । —न्यायबिन्दु पृ० १७

२. यस्मादनश्वरत्वे कदाचिदपि [illegible], दृष्टत्वाच्च नाशस्य, नश्वरमेव तद्वस्तु स्वहेतोरुत्पन्नम् [illegible] निर्हेतुकत्वम्। ननु [illegible] विनश्यति उत्पत्तिक्षण एव तत्स्यात्। —तर्कभाषा पृ० १९

अर्थका प्रतिपादन नहीं करते। शब्दोंमें यह शक्ति ही नहीं है कि वे स्वलक्षणको कह सकें। स्वलक्षण और शब्दमें कोई सम्बन्ध नहीं है। एक बात यह भी है कि शब्द अर्थके अभावमें भी देखे जाते हैं। जैसे राम, रावण आदि शब्द। शब्दके द्वारा अर्थकी उपलब्धि भी नहीं होती। अग्नि शब्दके सुननेसे दूसरे प्रकारका ही ज्ञान होता है और अग्निका साक्षात्कार होनेसे भिन्न प्रकारका ज्ञान होता है। घट शब्दमें ऐसी कोई स्वाभाविक शक्ति नही है जिसके द्वारा वह कम्बुग्रीवाकार जल धारण समर्थ पदार्थको कह सके। वह तो पुरुषकी इच्छानुसार अन्य संकेतकी अपेक्षासे घोड़े आदिको भी कह सकता है[1]।

अतः शब्दके द्वारा अर्थका कथन न होकर अन्यापोहका कथन होता है। अन्यापोहका अर्थ है अन्य पदार्थोंका निषेध या निराकरण। जब कोई कहता है कि गायको लाओ तो गाय शब्दको सुनने वालेको गाय शब्दके द्वारा सामने खड़ी हुई गायका ज्ञान नहीं होता है। किन्तु अगोव्यावृत्ति (गायसे भिन्न समस्त वस्तुओंका निषेध) का ज्ञान होता है। अर्थात् उसको गायमें गायके अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थोंके अभाव या निषेधका ज्ञान होगा। जैसे यह घोड़ा नही है, ऊँट नही है, हाथी नहीं है, इत्यादि। अन्तमें वह स्वयं समझ लेगा कि यह गाय है। इसप्रकार शब्द अर्थका वाचक न होकर अन्यापोह (अन्यके निषेध) का वाचक है और अन्यापोह वाच्य है। शब्दोंका पदार्थके साथ कोई सम्बन्ध नही है। इस कारण शब्दोंके द्वारा अर्थका प्रतिपादन नहीं होता है। शब्द अर्थके वाचक न होकर केवल वक्ताके अभिप्रायको सूचित करते हैं[2]।

प्रमाणता

प्रमाण वह है जो सम्यग्ज्ञान हो तथा अपूर्व (अज्ञात) अर्थको विषय

१. यदि घट इत्ययं शब्दः स्वभावादेव कम्बुग्रीवाकारं जलधारणसमर्थं पदार्थमभिदधाति तत्कथं संकेतान्तरमपेक्ष्य पुरुषेच्छया तुरगादिकमभिदध्यात्।

—तर्कभाषा पृ० ५।

२. नान्तरीयकताऽभावाच्छब्दानां वस्तुभिः सह।
नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्रभिप्रायसूचकाः॥

—प्रमाणवा० १।२१२।

करने वाला हो[१]। प्रमाणका लक्षण अविसंवादिता[२] भी माना गया है। ज्ञानमें तथा वस्तुमें किसी प्रकारका विसंवाद नहीं होना चाहिए। प्रमाणको अविसंवादी होना आवश्यक है। अर्थात् ज्ञानने जिस वस्तुको जाना है उसको वही होना चाहिए, दूसरी नहीं। यदि ज्ञानने चाँदीको जाना है तो उसे चाँदी ही होना चाहिए, शीप नहीं। इसीका नाम अविसंवादिता है। ज्ञानकी सम्यक्ता भी यही है।

बौद्धदर्शनमें प्रमाण दो माने गए हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। जो ज्ञान कल्पनासे रहित और भ्रमसे रहित हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं[३]। प्रत्यक्ष कल्पनासे रहित है इस बातकी सिद्धि प्रत्यक्षसे ही होती है[४]। नाम, जाति गुण, क्रिया और द्रव्यसे किसीको युक्त करना कल्पना है[५]। शब्दसे सम्बन्ध रखनेवाला या शब्दसे सम्बन्धकी योग्यता रखने वाला जितना ज्ञान है वह सब कल्पना ज्ञान है[६]। पहले और बादकी दो अवस्थाओंमें एकत्वका ज्ञान करनेवाली प्रतीति चाहे शब्दसे संयुक्त हो या अन्तर्जल्पाकार हो, कल्पना है[७]। प्रत्यक्षको कल्पनासे रहित होना आवश्यक है। इसीप्रकार उसे भ्रमसे भी रहित होना चाहिए। प्रत्यक्षके चार भेद है—इन्द्रिय प्रत्यक्ष मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष।

व्याप्तिज्ञानसे सम्बन्धित किसी धर्मके ज्ञानसे धर्मीके विषयमें जो परोक्ष ज्ञान होता है वह अनुमान है[८]। धूमदर्शनसे पर्वतमें वह्निका जो

---

१. प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम् —तर्कभाषा पृ० १।

२. अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् —न्यायबिन्दु पृ० ४।
प्रमाणमविसंवादिज्ञानमर्थक्रियास्थितिः।
अविसंवादनम् —प्रमाणवार्तिक २।१।

३. तत्र कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् —न्यायबिन्दु पृ० ८
प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् —प्रमाणसमुच्चय।

४. प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः॥ —प्रमाणवा० ३।१।

५. नामजात्यादियोजना कल्पना। —प्रमाणस०।

६. अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना। —न्या० बि० पृ० १०।

७. पूर्वापरमनुसन्धाय शब्दसंयुक्ताकारा अन्तर्जल्पाकारा वा प्रतीतिः कल्पना।
—तर्कभाषा पृ० ७।

८. या च सम्बन्धिनो धर्माद् भूतिर्धर्मिणि जायते।
सानुमानं परोक्षाणामेकान्तेनैव साधनम्॥ प्रमाणवा० ३।६२।

ज्ञान होता है वही अनुमान है। अनुमानके दो भेद हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। अनुमान हेतुसे उत्पन्न होता है। हेतु कुल तीन हैं—स्वभाव हेतु, कार्य हेतु और अनुपलब्धि हेतु। प्रत्येक हेतु त्रिरूप (तीन रूप वाला) होता है। तीन रूप ये हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति। इनमें दो रूप-अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्वको मिलाकर नैयायिक हेतुके पाँच रूप मानते हैं। नैयायिक अनुमानके पाँच अवयव मानते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। लेकिन बौद्ध अनुमानके दो ही अवयव मानते है—हेतु और दृष्टान्त।

प्रमाणफलव्यवस्था

बौद्धदर्शनमें वही ज्ञान प्रमाण है और वही ज्ञान प्रमाणफल भी है। प्रत्येक ज्ञानमें दो बाते पायी जाती है—अर्थाकारता और अर्थाधिगम। प्रत्येक ज्ञान अर्थसे उत्पन्न होता है तथा अर्थाकार होता है। जो ज्ञान पुस्तकसे उत्पन्न हुआ है वह पुस्तकाकार है तथा पुस्तकके बोधरूप है। अतः उसमें जो पुस्तकाकारता है वह प्रमाण है, और जो पुस्तकका बोध है वह प्रमाणफल है। इसप्रकार एक ही ज्ञानमे प्रमाण और फलकी व्यवस्था की जाती है[1]।

तत्त्वव्यवस्था

बौद्धदर्शन दो तत्त्वोंको मानता है—एक स्वलक्षण और दूसरा सामान्यलक्षण। इनमेंसे स्वलक्षण प्रत्यक्षका विषय है[2] ओर मामान्यलक्षण अनुमानका विषय है[3]।

स्वलक्षण

सजातीय और विजातीय परमाणुओंसे असम्बद्ध और प्रतिक्षण विनाशशील जो निरंश परमाणु हैं उन्हींका नाम स्वलक्षण है। अथवा देश, काल

१. तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलमर्थप्रतीतिरूपत्वात् —न्या० बि० पृ० १८।
अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्। —न्या० बि० पृ० १८।
इह नीलादेरर्थात् ज्ञानं द्विरूपमुत्पद्यते नीलाकारं नीलबोधस्वरूपं च। तत्रानीलाकारव्यावृत्त्या नीलाकारं ज्ञानं प्रमाणम्। अनीलबोधव्यावृत्त्या नीलबोधस्वरूपं प्रमितिः। सैव फलम्। —तर्कभाषा पृ० ११

२. तस्य विषयः स्वलक्षणम्। —न्या० बि० पृ० १५।

३. सोऽनुमानस्य विषयः। —न्या० बि० पृ० १८।

और आकारसे नियत वस्तुका जो असाधारण या विशेष स्वरूप है वही स्वलक्षण है[१]। वस्तुमें दो प्रकारका तत्त्व होता है—असाधारण और सामान्य। उनमेंसे जो असाधारण तत्त्व है वही स्वलक्षण है[२]। स्वलक्षणको अन्य प्रकारसे भी समझाया गया है। जिस पदार्थके सन्निधान (निकटता) और असन्निधान (दूरता)के द्वारा ज्ञानमें प्रतिभास भेद होता है, वह स्वलक्षण है[३]। अर्थात् जो निकट होनेके कारण ज्ञानमें स्पष्ट प्रतिभासको करता है और दूर होनेके कारण अस्पष्ट प्रतिभासको करता है वह स्वलक्षण है।

स्वलक्षणके प्रकरणमें यह जान लेना भी आवश्यक है कि प्रत्येक परमाणु सजातीय और विजातीयसे व्यावृत्त है, प्रत्येक परमाणुकी सत्ता पृथक् एवं स्वतंत्र है। एक परमाणुका सम्बन्ध दूसरे परमाणुके साथ नही हो सकता। एक परमाणुका सम्बन्ध दूसरे परमाणुके साथ यदि एक देशसे होता है तो परमाणुमें अंश मानना पड़ेंगे, किन्तु परमाणु निरंश होता है। और यदि सर्वदेशसे सम्बन्ध माना जाय तो दश परमाणुओंका पिण्ड भी अणुमात्र ही कहलायगा[४]। इसप्रकार परमाणुओंमें सम्बन्धके अभावमें अवयवीका सद्भाव भी सिद्ध नहीं होता है। नैयायिकोंके द्वारा माने गये अवयवीका बौद्धोंने निराकरण किया है। अवयवोंसे भिन्न कोई अवयवी नहीं है। अवयवोंके समूहका नाम ही अवयवी है[५]। सब परमाणु अत्यन्त सन्निकट हैं, उनमें कोई अन्तराल नही है। अतः सन्निकटवर्ती परमाणुओंमें भी समुदायकी प्रतीति होने लगती है।

---

१. स्वलक्षमित्यसाधारणं वस्तुरूपं देशकालाकारनियतम्। एतेनैतदुक्तं भवति—घटादिरुदकाहरणसमर्थोऽर्थो देशकालाकारनियतः पुरः प्रकाशमानोऽनित्यत्वाद्यनेकधर्मोदासीनः प्रवृत्तिविषयो विजातीयसजातीयव्यावृत्तः स स्वलक्षणम्।
—तर्कभाषा पृ० ११।

२. स्वमसाधारणं लक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणम्। वस्तुनो ह्यसाधारणं च तत्त्वमस्ति सामान्यं च —न्या० बि० टीका पृ० १५।

३. यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम्।
—न्या० बि० पृ० १६।

४. षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्वे पिण्डः स्यादणुमात्रकः॥

५. भावा एव हि भासन्ते सन्निविष्टास्तथा तथा।
तद्वान्नैव पुनः कश्चिन्निर्भागः सम्प्रतीयते॥

सामान्यलक्षण

सामान्य पदार्थके विषयमें बौद्धदर्शनकी एक विशिष्ट कल्पना है। बौद्धदर्शन गोत्व, मनुष्यत्व आदिको कोई वास्तविक पदार्थ नही मानता है। सामान्य एक कल्पनात्मक वस्तु है। जितने मनुष्य है वे सब अमनुष्यसे व्यावृत्त हैं तथा सब एकसा कार्य करते हैं। अतः उनमें एक मनुष्यत्व सामान्यकी कल्पना करली गई है। यही बात गोत्व आदि सामान्यके विषयमे भी जानना चाहिए। नैयायिक-वैशेषिकोके द्वारा माने गये नित्य, व्यापक, एक, निष्क्रिय और निरंश सामान्यका धर्मकीर्तिने जो तार्किक खण्डन किया है[1] उसका उत्तर देना नैयायिकोंके लिए आसान काम नहीं है।

एक गायके उत्पन्न होनेपर गोत्व सामान्य उसमे कहाँसे आया? किसी दूसरे स्थानसे तो गोत्व सामान्य आ नही सकता। क्योंकि नैयायिकों द्वारा सामान्य निष्क्रिय माना गया है। यदि ऐसा माना जाय कि समान्य पहलेसे ही वहाँ था, तो यह भी ठीक नही है, क्योकि विना आधार के वहाँ सामान्य कैसे रह सकता है। गायको उत्पन्न होनेके बादमे भी गोत्व सामान्य वहाँ उत्पन्न नही हो सकता है, क्योकि सामान्य नित्य है। ऐसा भी नही हो सकता कि दूसरी गायके गोत्व सामान्यक एक अंश इस गायमें आजाय, क्योंकि सामान्य निरंश है। यह भी संभव नही है कि पहली गायको पूर्णरूपसे छोडकर गोत्व सामान्य पूराका पूरा इस गायमे आजाय, क्योंकि ऐसा माननेपर पहली गाय गोत्व रहित होनेसे गाय ही न रह सकेगी। इसप्रकार नैयायिक-वैशेषिक द्वारा माने गये सामान्यमें अनेक दोष आनेके कारण बौद्ध सामान्यको केवल कल्पनात्मक ही मानते है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि सामान्य कल्पनात्मक एवं मिथ्या है तो उसको पदार्थ क्यों माना गया है? तथा सामान्यको विषय करनेवाले अनुमानको प्रमाण क्यों माना गया है। इसका उत्तर बौद्धोंने इस प्रकार दिया है। यद्यपि सामान्य मिथ्या है, लेकिन वह स्वलक्षणकी प्राप्तिमें कारण होता है। अतः उसको पदार्थ मानना आवश्यक है। यही बात अनुमानको प्रमाण माननेके विषयमें भी है। एक व्यक्तिको मणिप्रभामें मणिबुद्धि होती है और दूसरे व्यक्तिको प्रदीपप्रभामें मणि बुद्धि होती है। यहाँ हम देखते हैं कि यद्यपि दोनों व्यक्तियोंकी बुद्धियाँ गलत हैं, फिर भी मणिप्रभामें मणिबुद्धि मणिकी प्राप्तिमें कारण होती है। इसलिए

---

१. न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः॥ —प्रमाणवा० १।१५२

प्रदीपप्रभामें मणिबुद्धिकी अपेक्षा मणिप्रभामें मणिबुद्धि कुछ विशेषता लिए हुए है[१]।

एक कक्षके अन्दर मणि रक्खा हुआ है। कक्षका दरवाजा बन्द है। कक्षके दरवाजेके छिद्रमेंसे मणिका प्रकाश बाहर आ रहा है। कुछ दूर पर खड़ा हुआ व्यक्ति समझता है कि मणि दरवाजेके छिद्रमें रखा है। लेकिन जब वह मणिको उठानेके लिए आता है तो छिद्रमें मणिको न पाकर दरवाजा खोलकर अन्दर चला जाता है और मणि उठा लेता है। यहाँ विचारणीय बात यह है कि उस पुरुषको मणिप्रभामें जो मणिज्ञान हुआ है यद्यपि वह मिथ्या है, फिर भी मणिकी प्राप्तिमें सहायक होनेके कारण वह अर्थक्रियाकारी है। यही बात अनुमानको प्रमाण माननेके विषयमें भी है। यद्यपि अनुमान और अनुमानाभास दोनोंका विषय मिथ्या है, फिर भी अनुमान वस्तुकी प्राप्तिमें कारण होनेसे प्रमाण माना गया है। अनुमान मणिप्रभामें मणिबुद्धिकी तरह है, और अनुमानाभास प्रदीपप्रभामे मणिबुद्धिकी तरह है[२]।

इस प्रकार स्वलक्षण और सामान्य-लक्षणका स्वरूप जानना चाहिए। स्वलक्षणको अर्थक्रियामें समर्थ होनेके कारण परमार्थसत् भी कहते हैं। सामान्यलक्षण अर्थक्रियामें नितान्त असमर्थ है। अतः वह संवृत्तिसत् कहलाता है[३]।

दार्शनिक विकास

दार्शनिक विकासकी दृष्टिसे बौद्ध दार्शनिकोंके चार भेद होते है— १. वैभाषिक (बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद), २ सौत्रान्तिक (बाह्यार्थानुमेयवाद), ३. योगाचार ([illegible]) और ४. माध्यमिक (शून्यवाद)। यह श्रेणीविभाग 'सत्ता' के आधार पर किया गया है।

वैभाषिक

वैभाषिकोंके अनुसार बाह्य पदार्थोंका प्रत्यक्ष होता है। ये बाह्य तथा

१. मणिप्रदीपप्रभयो. मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियांप्रति॥ —प्रमाणवा० २।५७

२. यथा तथाऽयथार्थत्वेऽप्यनुमानतदाभयोः।
अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम्॥ —प्रमाणवा० २।५८

३. अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्।
अन्यत् संवृतिसत् प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणे॥ —प्रमाणवा० २।३

अभ्यन्तर समस्त धर्मोंके स्वतंत्र अस्तित्वको स्वीकार करते हैं। वैभाषिक सम्प्रदायका प्राचीन नाम 'सर्वास्तिवाद' था। आर्य कात्यायनीपुत्र रचित 'अभिधर्मज्ञानप्रस्थानशास्त्र' वैभाषिकोंका सर्वमान्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थपर 'अभिधर्मविभाषाशास्त्र' नामक एक भाष्यका निर्माण किया गया है। वैभाषिकोंके सिद्धान्त इसी विभाषा पर प्रतिष्ठित होनेके कारण इस मतका नाम वैभाषिक पड़ा है। यशोमित्रने 'अभिधर्मकोश' की 'स्फुटार्था' नामक टीकामे इस शब्दकी यही व्याख्या की है[1]। वसुबन्धु और सघभद्र वैभाषिक मतके प्रमुख आचार्य हैं।

सौत्रान्तिक

सौत्रान्तिकोंके अनुसार बाह्य पदार्थका प्रत्यक्ष नही होता है, किन्तु अनुमानके द्वारा बाह्य पदार्थका अनुमानरूप ज्ञान होता है। इनके मतसे प्रत्येक पदार्थको क्षणिक होनेके कारण उसका साक्षात्कार करना असंभव है। ज्ञान अर्थसे उत्पन्न होता है। जिस क्षणमें पदार्थ ज्ञानको उत्पन्न करता है उसी क्षणमें वह नष्ट हो जाता है। फिर ज्ञान पदार्थका साक्षात्कार कैसे कर सकता है। ज्ञान और ज्ञेयका काल भिन्न है। जिस क्षणमें अर्थ है उस क्षणमें ज्ञान नही रहता है और जिस क्षणमें ज्ञान उत्पन्न होता है उस क्षणमें अर्थ नष्ट हो जाता है। अत. ज्ञानके द्वारा बाह्यार्थका प्रत्यक्ष संभव नहीं है। जो पदार्थ ज्ञानको उत्पन्न करता है वह तत्क्षण ही नष्ट हो जाता है, लेकिन वह अपना आकार ज्ञानको समर्पित कर जाता है, जिससे उस पदार्थका अनुमान किया जाता है[2]। पदार्थके नील, पीत आदि आकारोंका प्रतिबिम्ब चित्तके पटपर अंकित हो जाता है और चित्त उसके द्वारा उसके उत्पादक बाह्य पदार्थोंका अनुमान करता है[3]। बाह्य पदार्थ प्रत्यक्ष गम्य न होकर अनुमानगम्य हैं। अत· सौत्रान्तिकोंके इस सिद्धान्तका नाम बाह्यार्थानुमेयवाद है।

सौत्रान्तिक नामकरणका कारण यह है कि ये 'सुत्तपिटक' को ही

---

१. विभाषया दिव्यन्ति चरन्ति वा वैभाषिका। विभाषा वा वदन्ति वैभाषिकाः।
—अभिध० को० पृ० १२।

२. भिन्नकालं कथं ग्राह्यं इति चेद् ग्राह्यता विदुः।
हेतुत्वमेव [illegible]नितज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम्॥ —प्रमाणवा० ३।२४७।

३. नीलपीतादिभिश्चित्रैर्बुद्ध्याकारैरिहान्तरैः।
सौत्रान्तिकम[illegible] नित्यं बाह्यर्थस्त्वनुमीयते॥ —सर्व[illegible] पृ० १३

प्रामाणिक मानते थे। इनके अनुसार तथागतके आध्यात्मिक उपदेश 'सुत्त-पिटक' के कुछ सूत्रों (सूत्रान्तों) में सन्निविष्ट हैं। ये 'अभिधर्म पिटक' को बुद्धवचन न होनेसे प्रमाण नहीं मानते। यशोमित्रने 'अभिधर्मकोश' की टीकामें इस नामकरणकी पुष्टि की है[1]। आचार्य कुमारलात इस मतके प्रतिष्ठापक हैं।

योगाचार

योगाचार मतके अनुसार बाह्य पदार्थकी सत्ता ही नहीं है। केवल अन्तरङ्ग पदार्थ (विज्ञान) की ही सत्ता है। इसी कारण इस मतका दूसरा नाम विज्ञानवाद भी है। आचार्य असंग द्वारा रचित 'योगाचार भूमिशास्त्र' नामक ग्रन्थमें योगाचारके सिद्धान्तोंका वर्णन है। इस मतके योगाचार नाम पड़नेका कारण यही ग्रन्थ है। हम देख चुके हैं कि सौत्रांतिक बाह्य पदार्थको प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय मानता है। योगाचार सौत्रांतिकसे भी एक कदम आगे बढ़कर कहता है कि जब बाह्य अर्थका प्रत्यक्ष ही नहीं होता है, तो उसे माननेकी भी क्या आवश्यकता है। जब बाह्यार्थकी सत्ता ज्ञान पर अवलम्बित है तो ज्ञानकी ही वास्तविक सत्ता है, बाह्यार्थ तो निःस्वभाव तथा स्वप्नके समान हैं। विज्ञानको चित्त, मन तथा विज्ञप्ति भी कहते हैं। वसुबन्धुने 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' में विज्ञानवादका सुन्दर विवेचन किया है। चित्तको छोड़कर अन्य कोई पदार्थ सत् नही है। यद्यपि बाह्य पदार्थकी सत्ता नहीं है, फिर भी अनादिकालसे चली आ रही वासनाके कारण विज्ञानका बाह्यार्थरूपसे प्रतिभास होता है। जैसे भ्रान्तिके कारण एक चन्द्रमामें दो चन्द्रमाओंका प्रतिभास हो जाता है, उसी प्रकार वासनाके कारण विज्ञानमें बाह्यार्थकी प्रतीति होने लगती है। बाह्य पदर्थोंकी उपलब्धि ठीक उसी प्रकारकी है जिस प्रकार स्वप्नमे प्राणी नाना प्रकारके पदार्थोंका अनुभव करता है। इस जगत्में बाह्य दृश्य पदार्थकी सत्ता नहीं है, किन्तु एकरूप चित्त ही विचित्र (नाना) रूपोंमें दिखलाई पड़ता है। कभी वह देहके रूपमें और कभी भोगके रूप-में मालूम पड़ता है[2]। चित्तकी ही ग्राह्य और ग्राहकरूपसे प्रतीति होती

१. कः सौत्रान्तिकार्थः ? ये सूत्रप्रामाणिका न तु शास्त्रप्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिकाः । —स्फुटार्था० पृ० १२

२. दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते ।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम् ॥ —लंकावतारसूत्र ३।३३

है[1]। किसी पदार्थकी उपलब्धिके समय तीन बातोंकी प्रतीति होती है— ग्राह्य (घट, पट आदि) ग्राहक (ज्ञाता) और ज्ञान। ये तीनों एकाकार विज्ञानके ही परिणमन हैं। भ्रान्त दृष्टिवाला व्यक्ति अभिन्न बुद्धिमें ग्राह्य, ग्राहक और ज्ञानकी कल्पना करके उसे भेदवाली समझता है[2]। वास्तवमें विज्ञान एकरूप ही है, भिन्न भिन्न नही। बुद्धिका न तो कोई ग्राह्य है और न ग्रहक है। ग्राह्य-ग्राहकभावसे रहित बुद्धि स्वयं प्रकाशित होती है[3]।

आलयविज्ञान

विज्ञानवादमें आलयविज्ञानका स्थान महत्त्वपूर्ण है। आलयविज्ञान वह तत्त्व है जिसमें संसारके समस्त धर्मोंके बीज सन्निविष्ट रहते हैं, उत्पन्न होते हैं तथा पुनः विलीन हो जाते है। आलय का अर्थ स्थान है। जितने क्लेश उत्पादक धर्म हैं उनके बीजोंका यह स्थान है। इसी विज्ञान-से संसारके समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं[4]। विश्वके समस्त धर्म फलरूप होनेसे इस विज्ञानमे आलीन (सम्बद्ध) रहते हैं, तथा यह आलय विज्ञान भी उन धर्मोंका हेतु होनेसे उनके साथ सदा सम्बद्ध रहता है[5]। आलय-विज्ञानका स्वरूप समुद्रके दृष्टान्तसे समझमें आ सकता है। समुद्रमें हवा-के झकोरोंसे तरगे उठा करती हैं, वे कभी विराम नही लेती। उसी प्रकार आलय विज्ञानमें भी विषयरूपी वायुके झकोरोंसे चित्र विचित्र विज्ञानरूपी तरंगे उठती हैं और अपना खेल दिखाया करती हैं, तथा उनका कभी विराम नहीं होता।

चित्तमात्रं न दृश्योऽस्ति द्विधा चित्तं हि दृश्यते।
ग्राह्यग्राहकभावेन शाश्वतोच्छेदवर्जितम्॥ —लंकावतारसूत्र ३।६५

२. अविभागोऽपि बुद्धयात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥ —प्रमाणवा० ३।३५४

३. नान्योऽनुभाव्यो बुद्धयास्ति तस्याः नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते॥ —प्रमाणवा० ३।३२७

४. तत्र सर्वसांक्लेशिकधर्मबीजस्थानत्वाद् आलयः। आलयः स्थानमिति पर्यायौ। अथवा आलीयन्ते उपनिबध्यन्ते अस्मिन् सर्वधर्मा कार्यभावेन। तद्वा आलीयते उपनिबध्यते कारणभावेन सर्वधर्मेषु इत्यालयः। —त्रिंशिका भाष्य पृ० १८

५. सर्वधर्मा हि आलीना विज्ञाने तेषु तत्तथा।
अन्योन्यफलभावेन हेतुभावेन सर्वदा॥ —मध्यान्तविभाग पृ० २८

माध्यमिक

इस मतके संस्थापक आचार्य नागार्जुन हैं। इनके द्वारा रचित 'माध्यमिक कारिका' माध्यमिक सिद्धान्तोंके प्रतिपादनके लिए सर्वोत्तम ग्रन्थ है। बुद्धके द्वारा प्रतिपादित मध्यममार्गके अनुयायी होनेके कारण इस मतका नाम माध्यमिक पड़ा है। तथा शून्यको परमार्थ माननेके कारण यह शून्यवाद भी कहा जाता है। माध्यमिकोंके अनुसार विज्ञानकी भी सत्ता नहीं है। इन्होंने योगाचारसे भी एक कदम आगे बढ़कर कहा कि जब अर्थ नहीं है तो ज्ञानको माननेकी भी क्या आवश्यकता है। इनके अनुसार शून्य ही परमार्थ तत्त्व है।

शून्यका वास्तविक स्वरूप क्या है इस विषयमें विद्वानोंमें पर्याप्त मत-भेद है। कई दार्शनिकोंने शून्यका अर्थ सत्ताका निषेध या अभाव किया है। किन्तु माध्यमिक आचार्योंके ग्रन्थोंके अवलोकनसे शून्यका कुछ दूसरा ही अर्थ निकलता है। यहाँ शून्यका वास्तविक तात्पर्य तत्त्वकी अवाच्यतासे है। किसी भी पदार्थके स्वरूप निर्णयके लिए मुख्यरूपसे चार कोटियोंका प्रयोग किया जा सकता है—अस्ति, नास्ति, उभय और अनुभय। परमार्थ तत्त्वका इन चार प्रकारकी कोटियों द्वारा वर्णन या कथन नहीं किया जा सकता है। अतः परमार्थ तत्त्व चार कोटियोंसे रहित अर्थात् अवाच्य है[1]।

आचार्य नागार्जुनके अनुसार तत्त्वका लक्षण निम्न प्रकार है—

तत्त्व अपरप्रत्यय है अर्थात् एकके द्वारा दूसरेको इसका उपदेश नहीं दिया जा सकता। शान्त है अर्थात् स्वभावरहित है। इसका प्रतिपादन किसी भी शब्दके द्वारा नहीं किया जा सकता है अर्थात् तत्त्व अशब्द है। यह निर्विकल्पक है अर्थात् चित्त इस तत्त्वको नहीं जान सकता। तथा अनानार्थ अर्थात् नाना अर्थोंसे रहित है[2]।

आचार्य नागार्जुनने 'विग्रहव्यावर्तनी' में प्रतीत्य समुत्पादको ही शून्यता कहा है[3]। संसारके समस्त पदार्थ हेतु-प्रत्ययसे उत्पन्न होते हैं, अतः उनका

१. न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥ —माध्यमिक कारिका १।७

२. अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम्॥ —माध्यमिक कारिका १८।९।

३. यश्च प्रतीत्य भावो भावानां शून्यतेति सा प्रोक्ता।
प्रतीत्य यश्च भावो भवति हि तस्यास्वभावत्वम्॥ —विग्रहव्यावर्तनी २२।

अपना कोई स्वभाव न होनेके कारण वे निःस्वभाव हैं। यही निःस्वभावता शून्यता है।

इससे यह प्रतीत होता है कि माध्यमिकोंका शून्य तत्त्व भाव पदार्थ है, अभाव नहीं। जिस शून्य तत्त्वका वर्णन नागार्जुनने किया है वह निषेधात्मक अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु वह अभावात्मक नहीं है। बहुत कुछ अंशोंमें माध्यमिकोंका शून्य तत्त्व अद्वैतवादियोंके ब्रह्मके समान है। श्रुतियोंमें ब्रह्मका वर्ण नेति नेति (निषेध)के द्वारा किया गया है। नागार्जुनने भी तत्त्वको आठ निषेधोंसे रहित बतलाया है[१]।

परमार्थ तत्त्व अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थ, अनानार्थ, अनागम तथा अनिर्गम है।

सब धर्मोंकी निःस्वभावता ही परमार्थ तत्त्व है। इसके ही शून्यता, तथता, भूतकोटि और धर्मधातु पर्यायवाची शब्द हैं[२]।

इस प्रकार बौद्धदर्शनके चार मतों का वर्णन ऊपर किया गया है। इन मतोंके सिद्धान्तोका वर्णन निम्न श्लोकमें बड़ी सुन्दर रीतिसे किया गया है—

> मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्।
> योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः॥
> अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः।
> प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते॥

—मानमेयोदय पृ० ३००।

हीनयान और महायान

यानका अर्थ है मार्ग। हीनयानका अर्थ है छोटा या अप्रशस्त मार्ग। और महायानका अर्थ है बडा या प्रशस्त मार्ग। महायानके अनुयायियोंका कहना है कि जीवको अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचानेमें यही मार्ग सबसे अच्छा है। अतः ये अपने मतको महायान कहने लगे और इससे भिन्न थेरवाद या स्थविरवादको उन्होंने हीनयान कहा। हीनयान और महायानकी विशेषता निम्नप्रकार है—

१. अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्॥ —माध्यमिकका० १।१।

२ सर्वधर्माणां निःस्वभावता, शून्यता, तथता, भूतकोटिः, धर्मधातुरिति पर्यायाः।
सर्वस्य हि प्रतीत्यसमुत्पन्नस्य पदार्थस्य निःस्वभावता पारमार्थिकं रूपम्। —बोधिचर्या० पृ० ३५४।

१ बोधिसत्वकी कल्पना—हीनयानके अनुसार अर्हत्पदकी प्राप्ति ही भिक्षुका चरम लक्ष्य है। महायानके अनुसार बोधिसत्व महामैत्री और महा करुणासे युक्त होता है। अत उसका लक्ष्य ससारके प्रत्येक प्राणीको क्लेशोंसे मुक्त कराना है।

२. त्रिकायकी कल्पना—महायान बुद्धके तीन काय—धर्मकाय, सभोगकाय और निर्माणकाय—को मानता है। किन्तु हीनयान बुद्धके निर्माणकाय और धर्मकायको ही मानता है।

३ दशभूमिकी कल्पना—हीनयानके अनुसार अर्हत्पदकी प्राप्ति तक केवल चार भूमियाँ हैं—स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्। परन्तु महायानके अनुसार निर्वाणकी प्राप्ति तक मुदिता आदि दश भूमियाँ होती हैं।

४. निर्वाणकी कल्पना—हीनयानके अनुसार निर्वाणमे क्लेशावरणका ही नाश होता है। किन्तु महायानके अनुसार निर्वाणमे ज्ञेयावरणका भी नाश हो जाता है। एक दु खाभावरूप है तो दूसरा आनन्दरूप।

५. भक्तिकी कल्पना—हीनयान ज्ञानप्रधान है, किन्तु महायान भक्ति प्रधान है। अत महायानके समयमे बुद्धकी मूर्तियोका निर्माण होने लगा था।

महायानका प्रचार भारतके उत्तरी प्रदेशो—तिब्बत, चीन, कोरिया, मंगोलिया, जापान आदिमे है। भारतके दक्षिण तथा पूरबके प्रदेशो—सिंघल बरमा, स्याम, जावा आदिमे हीनयानका प्रचार है।

निर्वाण

बौद्धदर्शनके अनुसार निर्वाण निरोधरूप है। तृष्णादिक क्लेशोका निरोध हो जाना ही निर्वाण है। भदन्त नागसेनने मिलिन्द प्रश्नमे बतलाया है कि निर्वाणके बाद व्यक्तित्वका सर्वथा अभाव हो जाता है। जिस प्रकार जलती हुई आगकी लपट बुझ जाने पर दिखलाई नही जा सकती उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त हो जानेके बाद व्यक्ति दिखलाया नही जा सकता।

इसीप्रकार अश्वघोषने भी 'सौन्दरनन्द' काव्यमे बतलाया है[1] कि बुझा

१. दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
—सौन्दरनन्द १६।२८, २९।

हुआ दीपक न तो पृथ्वीमें जाता है, न अन्तरिक्षमें, न किसी दिशामें और न किसी विदिशामें, किन्तु तेलके नाश हो जानेसे वह केवल शान्तिको प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार निर्वाणको प्राप्त व्यक्ति भी न पृथ्वीमें जाता है, न अन्तरिक्षमें, न किसी दिशामें और न किसी विदिशामें, किन्तु क्लेशके क्षय हो जाने पर वह शान्ति प्राप्त करलेता है—

निर्वाणकी यही सामान्य कल्पना है। निर्वाण शब्दका अर्थ है बुझ-जाना। जिसप्रकार दीपक तब तक जलता रहता है जब तक उसमें तेल और बत्तीकी सत्ता है। परन्तु उनके नाश होते ही दीपक स्वतः शान्त हो जाता है। इसीप्रकार तृष्णा आदि क्लेशोंका नाश हो जाने पर यह जीवन भी शान्त हो जाता है। यही निर्वाण है।

हमने पहले संक्षेपमें सर्वज्ञको मानने वाले मतोंका वर्णन किया है। उक्त मतोंके अनुसार मोक्षमार्ग या धर्मकी प्रवृत्ति सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट मार्गके अनुसार होती है। अतः ये सम्प्रदाय तीर्थंकर या सर्वज्ञको मानने-वाले हैं। इन सम्प्रदायोंके जो आगम या शास्त्र हैं वे तीर्थकृत् समय कहलाते हैं। ऊपर जिन मतोंका वर्णन किया गया है उसको पढ़नेसे यह सरलतासे समझमें आ सकता है कि उक्त मतोंमें तत्त्व आदिको व्यवस्थाके विषयमें किस प्रकार परस्परमें विरोध है। यही कारण है कि न तो सुगत, कपिल आदि सब ही सर्वज्ञ हो सकते हैं, और न उनमेंसे कोई एक ही सर्वज्ञ हो सकता है। क्योंकि किसीके द्वारा भी प्रतिपादित तत्त्वों-की व्यवस्था युक्तसंगत नहीं है।

'तीर्थकृत्' पदका दूसरा अर्थ भी निकलता है। कृत्का अर्थ होता है काटना या छेदन करना। अर्थात् जो सम्प्रदाय तीर्थ या सर्वज्ञको नहीं मानते हैं वे तीर्थकृत् सम्प्रदाय हैं। ऐसे सम्प्रदाय तीन हैं—मीमांसक, चार्वाक और तत्त्वोपप्लववादी।

मीमांसकका कहना है कि यदि कपिल, सुगत आदि कोई सर्वज्ञ नहीं सिद्ध होता है तो कोई हानि नहीं है, क्योंकि श्रुतिको प्रमाण तथा धर्मका प्रतिपादक मान लेनेसे सब व्यवस्था बन जाती है। मीमांसा दर्शनका मुख्य उद्देश धर्मका प्रतिपादन करना है। जैमिनिने धर्मका लक्षण किया है—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" अर्थात् वेदके द्वारा विधि या निषेधरूप जो अर्थ (कर्तव्य) बतलाया गया है वह धर्म है। सर्वज्ञका काम भी वेद ही करता है। वेदके विषयमें कहा गया है कि वेद भूत, भविष्यत्, वर्तमान,

सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंको जाननेमें पूर्णरूपसे समर्थ है[1]। इस प्रकारकी शक्ति इन्द्रिय आदि अन्य किसी पदार्थमें नही है। वेदका दूसरा नाम श्रुति भी है।

वेदमें मुख्यरूपसे विधि और निषेधरूप दो प्रकारके कार्योंका उपदेश दिया गया है। विधि और निषेध ही वेदका प्रतिपाद्य अर्थ है। 'अग्निष्टोमेन यजेत् स्वर्गकामः' अर्थात् जिसको स्वर्ग प्राप्त करनेकी इच्छा हो वह अग्निष्टोम नामक यज्ञ करे। यह विधि वाक्य है। 'सुरां न पिबेत्'—मदिराको न पिओ। यह निषेधवाक्य है। किन्तु 'यजेत्' क्रियाका अर्थ क्या है, इस विषयको लेकर मीमांसकोंमें मतभेद पाया जाता है। यज् धातुसे लिङ्लकारमे 'यजेत्' रूप बनता है। 'यजेत्'में जो लिङ्लकार है उसका क्या अर्थ है, इस विषयमें मीमांसकोंके तीन मत हैं—भावनावादी, नियोगवादी और विधिवादी। भाट्ट 'अग्निष्टोमेन यजेत्' इस वाक्यका अर्थ भावना-परक करते हैं। प्राभाकर उसी वाक्यका अर्थ नियोग करते हैं। और वेदान्तियोंके अनुसार विधि ही उक्त वाक्यका अर्थ है। लेकिन इस मतभेदके कारण वेद वाक्योंका वास्तविक अर्थ समझना बडा कठिन हो जाता है। इस प्रसंगमें निम्न श्लोक ध्यान देने योग्य हैं—

भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि वाक्यार्थो हतौ भट्टप्रभाकरौ॥
कार्येऽर्थे चोदनाज्ञानं स्वरूपे किन्न तत्प्रमा॥
द्वयोश्चेद्धन्त तौ नष्टौ भट्टवेदान्तवादिनौ॥

यदि वाक्यका अर्थ भावना है तो नियोगको वाक्यका अर्थ न माननेमें कौनसी युक्ति है। और यदि दोनों ही वाक्यके अर्थ हैं तो भाट्ट और प्राभाकरोंके सिद्धान्तोंमें मतभेद नहीं होना चाहिये। यदि वेद वाक्यका अर्थ कार्य अर्थ (जो अर्थ किया जानेवाला है अर्थात् भावना) मे है तो स्वरूप (विधि) में क्यो नही है। यदि भावना और विधि दोनो ही वेद-वाक्यके अर्थ हैं तो भाट्ट और वेदान्तवादियोंमें कोई मतभेद ही नही होना चाहिये।

भावना आदिका संक्षेपमें अर्थ—

भावनाका लक्षण है 'भवितुर्भवनानुकूलः भावकव्यापारविशेषः' अर्थात् जो कार्य आगे होनेवाला है उसकी उत्पत्तिके अनुकूल भावक (प्रयो-

---

१. चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थमवगमयति।
—शा० भा० १-१-२।

जक) में रहनेवाला जो व्यापार है उसीका नाम भावना है। भावना दो प्रकारकी होती है—शाब्दीभावना और आर्थीभावना। 'यजेत्' पदमें जो लिङ्लकार है उससे होनेवाली भावनाको शाब्दी भावना कहते है, और शाब्दी भावनासे पुरुषमें होनेवाली भावनाको आर्थी भावना कहते हैं। भाट्टमतके माननेवाले मीमांसक कहते हैं कि 'यजेत्' [redacted] अर्थ यज्ञ करना नही है, किन्तु यज्ञ करनेकी भावना करना है। जो व्यक्ति स्वर्गकी इच्छा करता है उसे अग्निष्टोम यज्ञ करनेकी भावना करना चाहिये। 'मुझे अग्निष्टोम यज्ञ करना चाहिये' इस प्रकारके विचारका नाम भावना है। जिस समय यज्ञ करनेका इच्छुक व्यक्ति 'यजेत्' क्रियापदको सुनता है उस समय लिङ्लकार जन्य शाब्दी भावना उत्पन्न होती है। इसके बाद पुरुषका यज्ञके लिए व्यापार विशेष होता है। उसीका नाम आर्थी भावना है।

नियोगका अर्थ है—'नियुक्तोऽहमनेनाग्निष्टोमादिवाक्येनेति निरवशेषो योगो हि नियोगः' अर्थात् 'स्वर्गकी इच्छा करनेवाला अग्निष्टोम यज्ञ करे' इत्यादि वाक्योंके श्रवणसे मैं इस कार्यमे लग गया हूँ, इसप्रकार कार्यमें पूर्णरूपसे तत्परताका नाम नियोग है। भावनावादी अग्निष्टोम यज्ञ करनेकी भावनामात्र करता है, किन्तु नियोगवादी अग्निष्टोम यज्ञ करनेमें प्रवृत्त हो जाता है। अतः यज्ञ करनेमें लग जाना, इसीका नाम नियोग है। नियोगवादियोके अनुसार नियोगके भी कई अर्थ किये गये हैं। कोई शुद्ध कार्यको नियोग कहते है, तो कोई शुद्ध प्रेरणाको ही नियोग मानते है। इसीप्रकार नियोगके और भी कई अर्थ किये गये हैं—प्रेरणा सहित कार्य, कार्य सहित प्रेरणा, कार्यको ही उपचारसे प्रवर्तक मानना, कार्य और प्रेरणाका सम्बन्ध, कार्य और प्रेरणाका समुदाय, कार्य और प्रेरणा दोनोंसे रहित होना, यज्ञकर्ममें प्रवृत्त होनेवाला पुरुष, भविष्यमें होनेवाला भोग्यपदार्थ, ये सब नियोग माने गये हैं। इसप्रकार नियोगके ग्यारह अर्थ किये गये हैं।

वेदान्तियोंके अनुसार 'यजेत्' इस क्रियापदका अर्थ विधि है। विधिका अर्थ है ब्रह्म। वेदान्तमतके अनुसार संसारमे केवल ब्रह्म ही सत्य है, अन्य समस्त पदार्थ मायिक (मिथ्या) हैं। ब्रह्मके अतिरिक्त नाना जीवोंकी भी पृथक् सत्ता नहीं है। मायाके कारण संसारी जीव अपनेको ब्रह्मसे पृथक् समझते हैं, किन्तु जिस समय 'अहं ब्रह्मोऽस्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ' इसप्रकारका सम्यग्ज्ञान हो जाता है, उसी समय जीव अपनी पृथक् सत्ता-

को छोड़कर ब्रह्ममें विलीन हो जाता है। जैसे कि नदियोंका जल समुद्रमें मिलनेपर अपनी पृथक् सत्ताको खो देता है। 'द्रष्टव्य आत्मा श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस आत्मा (ब्रह्म) का दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये, इत्यादि वेदवाक्योंके द्वारा विधिरूप ब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है। इसलिये ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य यज्ञ आदिका विधान वेद विहित नहीं है, यह विधिवादियोंका मत है।

उक्त मतोंमें परस्परमें विरोध तो है ही, साथ ही एक मत दूसरे मतका खण्डन भी करता है। भावनावादी भाट्ट कहता है कि 'यजेत्' क्रियापदका अर्थ नियोग नहीं हो सकता है। नियोग अर्थ करनेपर अनेक दोष आते हैं। नियोग प्रमाण है अथवा प्रमेय है, उभयरूप है अथवा दोनों रूपोंसे रहित है। इसीप्रकार नियोग शब्दका व्यापार है अथवा पुरुषका व्यापार है, दोनोंका व्यापार है अथवा दोनोंके व्यापारसे रहित है। इत्यादि प्रकारसे नियोगके विषयमें अनेक विकल्प उत्पन्न होते हैं।

यदि नियोग प्रमाणरूप है तो प्रमाणको चैतन्यरूप होनेसे विधि (चैतन्यरूप ब्रह्म) ही वाक्यका अर्थ हुआ। यदि शब्द व्यापारका नाम अथवा पुरुष व्यापारका नाम नियोग है, तो शब्दभावना या अर्थभावना ही नियोगका अर्थ होनेसे भाट्टमतकी ही सिद्धि होती है। नियोगका स्वभाव यदि प्रवृत्ति करानेका है तो जैसे वह प्रभाकरोंको यज्ञमें प्रवृत्त कराता है वैसे ही बौद्ध आदिको भी प्रवृत्त कराना चाहिये। और यदि नियोगका स्वभाव प्रवृत्ति करानेका नहीं है, तो वह वाक्यका अर्थ हो ही नहीं सकता। नियोग फलरहित है, अथवा फल सहित। यदि फलरहित है तो बुद्धिमान पुरुष नियोग द्वारा कार्यमें प्रवृत्ति कैसे करेंगे। और यदि नियोग फलसहित है, तो फल ही प्रवृत्तिका कारण हुआ, न कि नियोग। इत्यादि प्रकारसे नियोगको वाक्यार्थ माननेमें अनेक दोष आते हैं।

जो दोष नियोगको वाक्यार्थ माननेमें आते हैं वही दोष विधिको वाक्यार्थ माननेमें भी आते हैं। विधि प्रमाणरूप है या प्रमेयरूप, शब्द व्यापाररूप है या अर्थव्यापाररूप। विधिको प्रमाण माननेमें प्रमेय भिन्न मानना पड़ेगा। किन्तु वेदान्त मतमें ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थकी सत्ता ही नहीं है। विधिको प्रमेयरूप माननेमें भी यही दोष है। विधिको शब्दव्यापाररूप माननेमें शब्दभावनारूप और पुरुषव्यापाररूप माननेमें अर्थभावनारूप अर्थका प्रतिपादन होनेसे भाट्टमत की ही सिद्धि होती है। विधिका स्वभाव प्रवृत्ति करानेका है या नहीं। यदि

विधिका स्वभाव प्रवृत्ति करानेका है तो उसे बेदान्तवाक्यकी तरह सबकी प्रवर्तक होना चाहिये। यदि विधिका स्वभाव प्रवृत्ति करानेका नही है तो वह वाक्यार्थ ही नही हो सकती है। इसी प्रकार विधि यदि फलरहित है तो उससे प्रवृत्ति नही हो सकती है। क्योकि 'प्रयोजन-मनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' अर्थात् प्रयोजनके विना मूर्ख भी किसी कार्यमे प्रवृत्ति नही करता है। और विधिको फलसहित माननेमे फलसे ही प्रवृत्ति सिद्ध हुई, न कि विधिसे।

इसी प्रकार भावना भी वेदवाक्यका अर्थ नही हो सकती है। भावना दो प्रकारकी है—शब्दभावना और अर्थभावना। शब्द व्यापारका नाम शब्दभावना है। यहाँ इस प्रकार दूषण दिया जा सकता है कि शब्द-का व्यापार शब्दसे अभिन्न है या भिन्न। यदि शब्दव्यापार शब्दसे अभिन्न है, तो उन दोनोमे प्रतिपाद्य और प्रतिपादकभाव नही हो सकता है। शब्द और शब्दव्यापार अभिन्न होनेसे एक हुये, और एक ही वस्तुमे वाच्य-वाचकभाव असंभव है। अर्थात् अभिन्न पक्षमे न तो शब्द वाचक हो सकता है और न शब्दव्यापार वाच्य हो सकता है। यदि शब्दव्यापारको शब्दसे भिन्न माना जाय, तो भी एक व्यापारके प्रतिपादनके लिए दूसरे व्यापारकी आवश्यकता होगी और दूसरेके लिए तीसरेकी। इस प्रकार अनवस्था दोष आनेसे भिन्न पक्ष भी सिद्ध नही होता है। शब्दभावनामे दोष आनेसे पुरुषव्यापारस्वरूप अर्थभावनाको वेद वाक्यका अर्थ मानना भी उचित नही है। पुरुषके व्यापारका नाम अर्थभावना है। यदि इस प्रकार की अर्थभावना वेदवाक्यका अर्थ है, तो नियोगका भी यही अर्थ है। फिर भाट्ट नियोगका क्यो खण्डन करते हैं। नियोगका अर्थ है कार्यमे लगना। अर्थभावनाका भी यही अर्थ है। तब भाट्ट और प्राभाकरमे कोई मतभेद नही होना चाहिए। इस प्रकार परस्परमें विरोध होनेके कारण भावना, नियोग और विधिमेंसे कोई भी वेद वाक्यका निर्दोष अर्थ नही हो सकता है। अत जिसप्रकार परस्परमे विरुद्ध पदार्थका प्रतिपादन करनेके कारण सुगत, कपिल आदि सर्वज्ञ नही हैं, उसीप्रकार वेद भी विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेके कारण प्रमाणभूत नही है।

पहिले न्याय आदि दर्शनोंका संक्षिप्त वर्णन किया गया है। मीमांसा-दर्शनके सिद्धान्तोंका ज्ञान भी आवश्यक होनेसे उनका भी यहाँ संक्षेपमे वर्णन किया जाता है।

मीमांसा शब्द पूजार्थक मान् धातुसे जिज्ञासा अर्थमें निष्पन्न होता

है। महर्षि जैमिनि मीमांसादर्शनके सूत्रकार हैं। मीमांसाके दो भेद हैं—पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। पूर्वमीमांसामें वैदिक कर्मकाण्डका वर्णन है, और उत्तरमीमांसाका विषय है ब्रह्म। अतः उत्तरमीमांसा 'वेदान्त' नामसे प्रसिद्ध है। इस कारण पूर्वमीमांसाके लिए केवल मीमांसा शब्दका प्रयोग किया जाता है।

पूर्वमीमांसामें भी कुमारिलभट्ट तथा प्रभाकर इन दो प्रमुख आचार्योंके अनुयायियोंके अनुसार भाट्ट और प्राभाकर इसप्रकार दो भेद हैं।

तत्त्वव्यवस्था

प्राभाकर पदार्थोंकी संख्या ८ मानते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। भाट्टोंके अनुसार पदार्थ ५ होते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, समान्य और अभाव। भाट्ट द्रव्योंकी संख्या ११ मानते हैं—न्याय-वैशेषिक द्वारा माने हुए नौ द्रव्य तथा तम और शब्द। प्राभाकर १० ही द्रव्य मानते हैं, वे तमको द्रव्य नहीं मानते। मीमांसकोंके अनुसार यह जगत् अनादि एव अनन्त है। इसका न कोई कर्ता है और न हर्ता, यह सदासे ऐसा ही चला आया है।

प्रमाणव्यवस्था

भाट्ट ६ प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। किन्तु प्राभाकर अनुपलब्धिके विना ५ प्रमाण मानते हैं। हैं। मीमांसकों तथा नैयायिकोंके उपमान प्रमाणके स्वरूपमें भेद है। नैयायिकोंके अनुसार 'यह पदार्थ गवय शब्दका वाच्य है' इस प्रकार शब्द और अर्थमें वाच्यवाचक सम्बन्धके ज्ञानको उपमान कहते हैं। किन्तु मीमांसकोंके अनुसार 'गो सदृशोऽयं गवयः' यह गवय गायके समान है, इस प्रकार गवयको देखकर गवयमें गोसादृश्यके ज्ञानको उपमान कहते हैं। जिसने 'गोसदृशो गवयः' 'गवय गायके समान होता है' यह वाक्य सुना है उसको वनमें जानेपर और गवयके देखनेपर गायका स्मरण होता है। फिर यह ज्ञात होता है कि यह प्राणी गायके समान है। इसी सादृश्य ज्ञानको उपमान कहते हैं। नैयायिक और मीमांसक जिसको उपमान कहते हैं, जैन उसीको सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

मीमांसक शब्दको नित्य तथा व्यापक मानते हैं। शब्दोंको नित्य होनेसे वेदका कर्ता माननेकी भी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। शब्द और अर्थका सम्बन्ध नित्य तथा स्वाभाविक है। वेदोंमें जो शब्दोंकी क्रम-

विशिष्ट रचना है वह भी अनादि है। धर्मके विषयमें वेद ही प्रमाण है। अन्य किसीकी गति धर्ममें नही हैं।

अर्थापत्ति पाँचवाँ प्रमाण है। देखा या सुना हुआ कोई पदार्थ जहाँ अन्य किसी पदार्थके अभावमे सिद्ध न हो सके, वहाँ उस अर्थकी कल्पना करना अर्थापत्ति है। जैसे 'पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुंक्ते' यह देवदत्त मोटा है, किन्तु दिनमे नही खाता है। देवदत्तके मोटापनको देखकर तथा दिनमे नही खाता है इस बातको जानकर कोई भी यह समझ सकता है कि देवदत्त रात्रिमे खाता है। इस प्रकार देवदत्तके मोटापनको देखकर और दिनमे भोजन न करनेकी बातको जानकर रात्रि भोजनकी कल्पना करना अर्थापत्ति है। नैयायिक-वैशेषिक अर्थापत्तिका अन्तर्भाव अनुमानमें करते है।

अभावका ज्ञान करनेके लिये कुमारिलभट्टने अनुपलब्धि नामक एक पृथक् ही प्रमाण माना है। 'यहाँ घट नही है' इस प्रकार घटके अभावका ज्ञान प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोसे नही हो सकनेके कारण अभावके ज्ञानके लिए अनुपलब्धि प्रमाण मानना आवश्यक है। नैयायिक-वैशेषिकोंके अनुसार विशेषण-विशेष्यभाव नामक सन्निकर्ष जन्य प्रत्यक्षसे ही अभावका ज्ञान हो जाता है। अत अनुपलब्धिको पृथक् प्रमाण माननेकी आवश्यकता नही है।

मीमासक प्रमाणकी प्रमाणता स्वत तथा अप्रमाणता परतः मानते हैं। यह ज्ञान प्रमाण है, इस बातको जाननेके लिये किसी भिन्न कारणकी आवश्यकता नही है। किन्तु जिन कारणोंसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है उन्ही कारणोसे ज्ञानकी प्रमाणता (सत्यता) का भी ज्ञान हो जाता है। मीमांसकोके अनुसार पहिले सब ज्ञान प्रमाणरूप ही उत्पन्न होते है। बादमें यदि किसी ज्ञानमे कोई बाधक कारण आ जावे अथवा ज्ञानकी उत्पादक इन्द्रियमें दोषका ज्ञान हो जावे, तो वह ज्ञान अप्रमाण हो जाता है। इसी प्रकार विपर्यय ज्ञानके विषयमे भी मीमासकोंका विशिष्ट मत है। जहाँ 'शुक्तिकायां इदं रजतम्' शुक्तिमे रजतका ज्ञान होता है वहाँ एक ज्ञान नही है, किन्तु दो ज्ञान हैं। एक ज्ञान तो इद रूप अर्थात् वर्तमान पदार्थका और दूसरा ज्ञान पहिले देखी हुई रजतका। पहिला ज्ञान प्रत्यक्ष है और दूसरा ज्ञान स्मृति। दोनों ज्ञान पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु भ्रमवश दोनोंमें भेदका ज्ञान न होनेसे सीपमें चाँदीका ज्ञान हो जाता है। यथार्थमें पहिले देखी हुई चाँदीकी स्मृति ठीक-ठीक नहीं होती है। अर्थात् भ्रान्तिके

कारण स्मृति चुरा ली जाती है। अतः विपर्यय ज्ञानको स्मृति प्रमोष कहते हैं।

वेदान्तदर्शन

ब्रह्मसूत्रके रचयिता बादरायण वेदान्तदर्शनके प्रमुख आचार्य हैं। यथार्थमें वेदोंके अन्तमें जिन शास्त्रोंकी रचना हुई उनका नाम वेदान्त है। वेदोंके अन्तमें जो शास्त्र रचे गये उनको उपनिषद् भी कहते हैं। उपनिषद् शब्द उप तथा नि उपसर्ग पूर्वक षद् धातुसे बना है। षद्का अर्थ है बैठना, उपका अर्थ है निकट। वैदिक ऋषि अपने निकट बैठे हुये शिष्योंको अध्यात्मविद्याके गूढ़तम रहस्योंका उपदेश देते थे। उन उपदेशोंका जिन-ग्रन्थोंमें वर्णन है उनको 'उपनिषद्' नामसे कहते हैं। उपनिषद्का दूसरा नाम वेदान्त है। बादरायणने ब्रह्मसूत्रमें सम्पूर्ण उपनिषदोंका सार संगृहीत किया है। अतः ब्रह्मसूत्रका दूसरा नाम वेदान्त सूत्र भी है।

ब्रह्मसूत्रमें चार अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्यायमें चार पाद हैं। ब्रह्मसूत्रपर शंकर, भास्कर, रामानुज आदि अनेक आचार्योंने भाष्यकी रचना-की है। प्रत्येक आचार्यने भिन्न-भिन्न रूपमें ब्रह्मसूत्रके सूत्रोका अर्थ लगाया है। शंकराचार्यने अपने भाष्यमें अद्वैत ब्रह्मकी सिद्धि की है। शंकरका मत अद्वैत वेदान्तके नामसे प्रसिद्ध है। संसारके सब पदार्थ मायिक हैं अर्थात् मायाके कारण ही उनकी सत्ता प्रतीत होती है। जब तक ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता है तभी तक ससारकी सत्ता है। जैसे किसी पुरुषको रस्सीमें सर्पका ज्ञान हो जाता है, किन्तु वह ज्ञान तभी तक रहता है जब तक कि ,यह रस्सी है, सर्प नहीं' इस प्रकारका सम्यग्ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार सर्पकी कल्पित सत्ता सम्यग्ज्ञान न होने तक ही रहती है, उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान न होने तक ही संसारकी सत्ता है और ब्रह्मज्ञान होते ही यह जीव अपनी पृथक् सत्ताको खोकर ब्रह्ममें मिल जाता है। नाना जीवों तथा ईश्वरकी सत्ता भी मायाके कारण ही है। यथार्थमें एक ब्रह्म ही सत्य है। संक्षेपमें यही शंकरका मत है।

रामानुजका मत विशिष्टाद्वैतके नामसे प्रसिद्ध है। रामानुजके अनुसार नाना जीवोंकी ब्रह्मसे पृथक् सत्ता है। मुक्ति अवस्थामें भी यद्यपि जीव ब्रह्ममें मिल जाता है फिर भी अपने अस्तित्वको खो नहीं देता है। किन्तु उसका पृथक् अस्तित्व बना रहता है। संसारके पदार्थ भी मिथ्या नहीं हैं, उनकी भी सत्ता वास्तविक है। जगत्की सृष्टि करने वाला ईश्वर भी सत्य है। इस प्रकार ब्रह्म अकेला नहीं है किन्तु ईश्वर और नानाजीव

विशिष्ट है। इसलिये इस सिद्धान्तका नाम विशिष्टा ैत है। इस प्रकार वेदान्तदर्शनके दो प्रमुख मतोंका यहाँ संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

चार्वा दर्शन

चार्वाकका कहना है कि न कोई तीर्थंकर प्रमाण है, न वेद प्रमाण है और न तर्क प्रमाण है। किसी अर्थको तर्कके द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता। क्योंकि उसी विषयमें विरुद्ध युक्ति भी पायी जाती है। भावना आदि नाना अर्थोंका प्रतिपादन करनेके कारण श्रुति भी प्रमाण नही है। ऐसा कोई मुनि (सर्वज्ञ) भी नही है जिसके वचनको प्रमाण माना जाय। धर्म कोई वास्तविक तत्त्व नही है। जिस मार्गका अनुसरण महाजन करते हैं वही मार्ग ठीक है[1]।

चार्वाकदर्शनके प्रवर्तक बृहस्पति माने जाते हैं। इस दर्शनका दूसरा नाम लोकायत भी है। चार्वाक पुण्य, पाप, आत्मा, मोक्ष, परलोक, स्वर्ग, नरक आदि कुछ भी नही मानते है। चार पुरुषार्थोंमेसे अर्थ और काम ही उनके जीवनका चरम लक्ष्य है। वर्तमान समयमे अधिकाश लोग चार्वाक ही है। चार्वाकको वर्तमानमे भौतिकवादी कहते है।

चार्वाकके जीवनका लक्ष्य है—

यावज्जीवे. सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

जबतक जीओ सुखपूर्वक जीओ। यदि सुखपूर्वक जीनेके साधन न हो तो ऋण लेकर घृत, दूध आदि खाओ-पीओ। अगले जन्ममे ऋण चुकानेकी चिन्ता करना भी व्यर्थ है, क्योकि मृत्युके उपरान्त शरीरके भस्मीभूत हो जानेपर जीवका पुनर्जन्म नही होता है। और पुनर्जन्मके अभावमे अगले जन्ममे ऋण चुकानेका प्रश्न ही नही है।

चार्वाकमतमे शरीरसे पृथक् कोई आत्मा नही मानी गई है। पृथिवी, अप्, तेज और वायु इन चार भूतोंके परस्परमे मिलनेसे एक विशेष शक्ति की उत्पत्ति होती है, इसी शक्तिका नाम आत्मा है। यह शक्ति शरीरके साथ ही उत्पन्न होती है और शरीरके साथ ही नष्ट हो जाती है। जिस-प्रकार महुआ आदि पदार्थोंके द्वारा एक विलक्षण मदिराशक्तिकी उत्पत्ति होती है, उसीप्रकार पृथिवी आदि भूतोंके द्वारा एक विलक्षण चैतन्य-

---

१ तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितंगुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।

शक्तिकी उत्पत्ति होती है। एक जन्मसे दूसर जन्ममें आनेवाला कोई नित्य आत्मा नही है।

चार्वाक केवल प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानते हैं। जिस वस्तुका ज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियोंसे होता है वही ज्ञान सत्य है। चार्वाकोंके अनुसार अनुमान प्रमाण नहीं है। अनुमानकी प्रमाणता व्याप्तिज्ञानके ऊपर निर्भर है। 'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है' इस प्रकारके ज्ञानको व्याप्तिज्ञान कहते हैं। किन्तु यह सभव नही है कि ससारके समस्त धूम और समस्त अग्नि-का ज्ञान प्रत्यक्षसे हो जाय। अतः सर्वदेशावच्छिन्न और सर्वकालावच्छिन्न व्याप्तिज्ञान न हो सकनेके कारण अनुमानमे प्रमाणता सभव नही है।

चार्वाकदर्शनके अनुमार धर्म भी कोई तत्त्व नही है। जब परलोकमे जानेवाला कोई आत्मा ही नही है तो धर्म किसके साथ जायगा। धर्म क्या है इस बातको समझना भी कठिन है। जीवनका चरम लक्ष्य है ऐहिक सुखोंकी प्राप्ति। अर्थके द्वारा कामकी प्राप्ति करनेमे ही जीवनकी सफलता है। नानाप्रकारके कायक्लेश आदिके द्वारा धर्मके चक्करमे पड़े रहना जीवनको नष्ट करना है। जब कोई आत्मा नही है तो सर्वज्ञ या ईश्वरकी सभावना इस मतमे हो ही नही सकती। इसप्रकार चार्वाकदर्शन भौतिक-वादी दर्शन है। सक्षेपमे चार्वाकदर्शनके ये ही मुख्य सिद्धान्त हैं।

विचाररूपसे समीक्षा करनेपर चार्वाकदर्शनके उक्त सिद्धान्त भी युक्तिसंगत प्रतीत नही होते हैं। चार्वाकका यह कहना कि कोई सर्वज्ञ नही है तथा प्रत्यक्षके अतिरिक्त कोई प्रमाण नही है, प्रत्यक्षसे सिद्ध नही होता है। क्योंकि सर्वज्ञ तथा अनुमान आदि प्रमाण प्रत्यक्षके विषय नही है। ऐसा होनेपर भी यदि प्रत्यक्षसे सर्वज्ञ तथा अनुमान आदि प्रमाणोंके अभावका ज्ञान होता है तो बृहस्पति आदिके प्रत्यक्ष तथा उसके विषयके अभावका ज्ञान भी हमारे प्रत्यक्षसे होना चाहिये। क्योंकि बृहस्पतिका प्रत्यक्ष भी हमारे प्रत्यक्षका विषय नही है।

अनुमान प्रमाणसे भी सर्वज्ञ तथा अन्य प्रमाणोंका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि चार्वाक अनुमानको प्रमाण ही नही मानते हैं। चार्वाक यदि नैयायिक आदिके द्वारा माने गये अनुमानसे सर्वज्ञ तथा अन्य प्रमाणोंका अभाव सिद्ध करेंगे तो यह प्रश्न उपस्थित होगा कि नैयायिक-द्वारा माना गया अनुमान प्रमाणसिद्ध है या नहीं। यदि प्रमाणसिद्ध है तो चार्वाकको भी अनुमान प्रमाण मानना पड़ेगा। जो वस्तु प्रमाणसे सिद्ध होती है वह सबको मानना पड़ती है। चार्वाक प्रत्यक्षको भी इसी-

लिए प्रमाण मानता है कि वह प्रमाणसिद्ध है। यदि नैयायिक आदिके द्वारा माना गया अनुमान प्रमाणसिद्ध नहीं है तो अनुमान प्रमाण ही नहीं हो सकता है, तब उसके द्वारा सर्वज्ञ आदिका अभाव करना नितान्त असंभव है। चार्वाक यदि प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा संसारके पुरुषोंका ज्ञान करके यह जान लेता है कि कोई पुरुष सर्वज्ञ नही है, तो इस प्रकार जानने वाला स्वयं सर्वज्ञ हो जायगा। संसारके सब पुरुषोंका ज्ञान कर लेना सर्वज्ञका ही काम है।

एक मत तत्त्वोपप्लववादीके नामसे प्रसिद्ध है। तत्त्वोपप्लववादीका अर्थ है कि जो संसारके किसी भी तत्त्वको नही मानता है, और प्रमाण, प्रमेय आदि समस्त तत्त्वोंका निराकरण करता है। इस मतके अनुसार ससारके सब तत्त्व मिथ्या हैं। किसी भी तत्त्वकी सत्ता वास्तविक नही है। विचार करने पर तत्त्वोपप्लववादीका मत भी असंगत प्रतीत होता है। जब कि तत्त्वोपप्लववादी किसी प्रमाणको नही मानता है, तो वह समस्त तत्त्वोंका अभाव किस प्रमाणसे सिद्ध करेगा। अर्थात् उसके यहाँ सब तत्त्वोंके अभावको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण ही नही है। यदि दूसरोंके द्वारा अभिमत प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे तत्त्वोंका अभाव किया जायगा, तो चार्वाकके समान यहाँ भी वही प्रश्न उपस्थित होता है कि दूसरोंके द्वारा अभिमत प्रत्यक्षादि प्रमाण सम्यक् है या मिथ्या। यदि सम्यक् है तो तत्त्वोपप्लव वादीको भी उनका सद्भाव मानना पड़ेगा, और मिथ्या हैं तो मिथ्या प्रमाणोंके द्वारा सब तत्त्वोंका अभाव सिद्ध करना त्रिकालमें भी संभव नही है। इस प्रकार तत्त्वोपप्लववादीका मत भी असमीचीन ही है।

एकमत वैनयिक भी है। इस मतके अनुसार कपिल, सुगत आदि सब सर्वज्ञ हैं, सब देवता समान हैं, सबकी समान रूपसे विनय करना आवश्यक है। किन्तु कपिल आदिके द्वारा मानी गई तत्त्वव्यवस्थाको देखने पर यह भलीभाँति प्रतीत होता है कि परस्परमें विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेके कारण न तो सब सर्वज्ञ हो सकते हैं। और न उनमेंसे कोई एक भी।

मीमांसकोंका कहना है कि कोई पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता है। क्योंकि वह बोलता है, इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, इच्छा वाला है, पुरुष है, इत्यादि। इस विषयमें जैनोंका मत है कि जो पुरुष इस प्रकारका है वह निश्चयसे सर्वज्ञ नहीं हो सकता है, किन्तु जिसको हम सर्वज्ञ मानते हैं, उसमें उक्त बातें न होकर कुछ विशिष्ट बातें पायी जाती हैं।

यद्यपि सर्वज्ञ बोलता है, किन्तु उसका बोलना युक्ति और आगमके अनुसार होता है। वक्तृत्व और सर्वज्ञत्वमें कोई विरोध नहीं है। जो व्यक्ति जितना अधिक ज्ञानवाला होगा, वह उतना ही अच्छा बोल सकता है। सर्वज्ञका ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है, किन्तु अतीन्द्रिय है। मोहनीयकर्मका अभाव होनेसे उसमें इच्छाका भी अभाव है। यद्यपि सर्वज्ञ पुरुष है, परन्तु वह साधारण पुरुष न होकर रागादिदोषोंसे रहित एक विशिष्ट पुरुष है। जो पुरुष इस-प्रकारका होगा उसके सर्वज्ञ होनेमें कोई बाधा नहीं है। इसलिये ऐसा मानना ठीक नहीं है कि संसारमें न तो कोई सर्वज्ञ हो सकता है और न संसारके प्राणियोंको संसारसे छूटनेका उपाय ही बतला सकता है। जो निर्दोष है वह सर्वज्ञ तथा मोक्षमार्गका उपदेशक अवश्य होता है और वही हमारा गुरु है। इसी बातको 'कश्चिदेव भवेद्गुरुः' इस वाक्य द्वारा बत-लाया गया है।

यहाँ 'भवेद्गुरु' एक पद है। 'क' तथा 'चिदेव' (चित् + एव) भी पृथक्-पृथक् पद हैं। 'क' का अर्थ है परमात्मा और चित्का अर्थ है चैतन्य। 'भवेद्गुरु' का अर्थ है—संसारी प्राणियोंका गुरु। अर्थात् ज्ञाना-वरणादि चार घातिया कर्मोंका क्षय हो जानेपर जो चैतन्य परमात्मा है वही संसारी प्राणियोंका गुरु है। इसप्रकारके सर्वज्ञ और हितोपदेशी गुरुके सद्भावमें कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है। क्योंकि बाधक प्रमाणों-का असंभव अच्छी तरहसे निश्चित है।

यहाँ मीमांसक कह सकता है कि सर्वज्ञका साधक कोई भी प्रमाण न होनेसे सर्वज्ञका सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकता। अतः जैनोंका यह कहना कि बाधक प्रमाणोंके अभावसे सर्वज्ञका सद्भाव सुनिश्चित है, ठीक नहीं है। सर्वज्ञके साधक प्रमाणोंका अभाव निम्नप्रकार है—

प्रत्यक्षके द्वारा सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं होती है, यह स्पष्ट ही है। क्यों-कि प्रत्यक्ष इन्द्रियोंसे सम्बद्ध निकटवर्ती वर्तमान पदार्थको ही जानता है[1]। सर्वज्ञके साथ अविनाभावी किसी हेतुकी उपलब्धि न होनेसे अनुमानके द्वारा भी सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं होती है। आगम दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। नित्य आगम (वेद) से सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि उसमें कर्मकाण्डका ही वर्णन है। वेदमें भी जहाँ सर्वज्ञ आदि शब्द आते हैं वे अर्थवादरूप हैं। अर्थात् वे सर्वज्ञरूप अर्थको न कहकर यज्ञ करनेवालेकी स्तुतिपरक हैं। वेद अनादि है और सर्वज्ञ सादि है। इसलिये

---

१. सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना।

भी अनादि वेदके द्वारा सादि सर्वज्ञका कथन संभव नहीं है। अनित्य आगम भी दो प्रकार का है— सर्वज्ञप्रणीत और इतरप्रणीत। यदि सर्वज्ञ-प्रणीत आगमसे सर्वज्ञकी सिद्धि मानी जाय तो इसमें अन्योन्याश्रय दोष आता है। सर्वज्ञसिद्धि होनेपर सर्वज्ञप्रणीत आगमकी सिद्धि हो और सर्वज्ञ-प्रणीत आगमके सिद्ध होनेपर सर्वज्ञकी सिद्धि हो। असर्वज्ञप्रणीत आगम तो प्रमाण ही नहीं है, तब उसके द्वारा सर्वज्ञकी सिद्धि कैसे हो सकती है। उपमान प्रमाण भी सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं करता है। क्योंकि सर्वज्ञके सदृश कोई दूसरा अर्थ उपलब्ध नहीं है, जिसके सादृश्यसे सर्वज्ञका ज्ञान हो सके। जैसे कि गायके सादृश्यसे गवयका ज्ञान होता है।

अर्थापत्ति प्रमाणसे भी सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि कोई ऐसा अर्थ उपलब्ध नहीं है जो सर्वज्ञके विना न हो सके। धर्मादिका उपदेश तो सर्वज्ञत्वके विना भी धन, ख्यातिलाभ आदिकी इच्छासे हो सकता है। बुद्ध, महावीर आदिको वेदका ज्ञान न होनेसे उनका उपदेश मिथ्या है। वेदको जाननेवाले मनु आदिका उपदेश ही सम्यक् है।

प्रत्यक्षमें ऐसा अतिशय नही हो सकता है कि वह संसारके सब पदार्थों-को युगपत् जानने लगे। जहाँ भी अतिशय होता है वहाँ अपने विषयमें ही अतिशय देखा गया है, विषयान्तरमें नही। चक्षुमें ऐसा अतिशय तो हो सकता है कि वह किसी दूरवर्ती तथा सूक्ष्म पदार्थको देखने लगे, किन्तु ऐसा अतिशय नही हो सकता कि चक्षुके द्वारा शब्द सुने जा सकें अथवा श्रोत्रके द्वारा रूपका ज्ञान हो सके। जो व्याकरणका विद्वान् है वह सूक्ष्म-रीतिसे शब्दकी शुद्धाशुद्धिका ही ज्ञान कर सकता है, न कि ज्योतिष शास्त्रके सिद्धान्तोंका। जो व्यक्ति आकाशमें दश हाथ ऊपर उछल सकता है वह सैकड़ों प्रयत्न करनेपर भी एक योजन ऊपर नही उछल सकता। इसप्रकार प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण सर्वज्ञका साधक नही है।

मीमांसकका उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है। जबतक सर्वज्ञका निरा-करण नहीं किया जाता है तबतक सर्वज्ञके साधक प्रमाणोंका अभाव बतलाना ठीक नहीं है। सर्वज्ञके विषयमें कोई भी बाधक प्रमाण न होनेसे सर्वज्ञका सद्भाव मानना ही श्रेयस्कर है। प्रत्यक्षादिका सद्भाव भी इसी कारण माना गया है कि ऐसा माननेमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। यही बात सर्वज्ञके विषयमें भी है। यदि बाधक प्रमाणोंका अभाव होनेपर भी सर्वज्ञकी सत्ता न मानी जाय तो प्रत्यक्षादिकी सत्ता भी नहीं मानना चाहिये।

शंका—सर्वज्ञके विषयमें विद्यमान पदार्थोंको जाननेवाले प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंकी प्रवृत्ति न होनेसे सर्वज्ञकी सत्ताग्राहक प्रमाणका अभाव ही सर्वज्ञका बाधक प्रमाण है।

उत्तर—सर्वज्ञकी सत्ताग्राहक प्रमाणका अभाव केवल मीमांसकके लिए है या सबके लिए है। यदि मीमांसक लिए है तो उसके लिए तो अन्य वस्तुओंकी सत्ताग्राहक प्रमाणका भी अभाव संभव है। दूसरोंके चित्तोंमें क्या-क्या व्यापार हो रहा है, इस बातको भी मीमांसक नहीं जानते हैं। अत: मीमांसको किसी वस्तुका ज्ञान न होनेसे उसका अभाव बतलाना कहाँ तक युक्तिसंगत है। समस्त पुरुषोंके लिए सर्वज्ञकी सत्ताग्राहक प्रमाणका अभाव बतलाना भी उचित नहीं है। क्योंकि समस्त पुरुषोंका ज्ञान करना असंभव है। और यदि मीमांसकने सबका ज्ञान कर लिया है तो वही सर्वज्ञ हो गया, फिर सर्वज्ञका निराकरण करनेसे क्या लाभ है।

मीमांसक अभाव प्रमाणसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करते हैं। यदि सर्वज्ञ होता तो उसको उपलब्ध होना चाहिए। यतः सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं होता है अतः सर्वज्ञका अभाव अनुपलब्धि प्रमाणसे सिद्ध है।

किन्तु मीमांसका उक्त कथन भी असंगत ही है। अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति कहाँ होती है इस विषयमें स्वयं मीमांसकोंने कहा है—

गृहीत्वा [illegible]वं स्मृत्वा प्रतियोगिनम्।
मानस [illegible]नं जायत[illegible]॥

जिस स्थानमें किसी वस्तुका अभाव करना हो पहिले उस स्थानका ज्ञान आवश्यक है। जिस वस्तुका अभाव किया जाता है उसको प्रतियोगी कहते हैं। अभाव सिद्ध करते समय प्रतियोगीका स्मरण होना भी आवश्यक है। तब इन्द्रियोंकी अपेक्षाके विना मानसिक अभाव-ज्ञान होता है। इस कक्षमें घट नहीं है, इस प्रकारका अभाव-ज्ञान तभी संभव है जब पूरे कक्षका ज्ञान हो और घटका स्मरण हो। पर क्या सर्वज्ञाभावके विषयमें ऐसा संभव है। अर्थात् नहीं है। सर्वज्ञका अभाव तीनों कालों और तीनों लोकोंमें करना है। किन्तु असर्वज्ञको तीनों कालों और तीनों लोकोंका ग्रहण किसी भी प्रकार संभव नहीं है। यदि कोई तीनों कालों और तीनों लोकोंका ग्रहण करता है तो वही सर्वज्ञ है। सर्वज्ञके अभावमें मीमांसकको सर्वज्ञका स्मरण भी संभव नहीं है। तब मीमांसक अनुपलब्धि प्रमाणसे सर्वज्ञका अभाव कैसे कर सकता है।

शंका—जैन आदिके द्वारा सिद्ध सर्वज्ञका स्मरण करके सर्वज्ञका अभाव करनेमे क्या दोष है ?

उत्तर—परके द्वारा सिद्ध सर्वज्ञ प्रमाण है या नही। यदि प्रमाण है तो प्रमाणसिद्ध होनेसे मीमासक को भी सर्वज्ञ मानना पड़ेगा। यदि परके द्वारा सिद्ध सर्वज्ञ प्रमाण नही है, तो वह न तो परको सिद्ध हो सकता है और न मीमांसक उसका स्मरण करके सर्वज्ञका अभाव सिद्ध कर सकता है।

शका—जैन एकान्तका निषेध करके अनेकान्तकी सिद्धि कैसे करते हैं? जिस प्रकार जैन दूसरे मतमें सिद्ध एकान्तका स्मरण करके एकान्तका निषेध करते हैं, उसी प्रकार सर्वज्ञका निषेध क्यों संभव नही है ?

उत्तर—अनन्तधर्मात्मक वस्तुकी अबाधित प्रतीति होनेपर एकान्तका निषेध करनेमें कौनसा दोष है। अनन्तधर्मात्मक वस्तुका ज्ञान स्वय यह सिद्ध करता है कि वस्तु एकान्तरूप या एकधर्मात्मक नही है। इसी प्रकार सर्वज्ञका निषेध भी तभी हो सकता है जब सब पुरुषोंमें असर्वज्ञत्वका ज्ञान हो। किन्तु 'सब पुरुष असर्वज्ञ हैं', ऐसा ज्ञान सभव न होनेसे एकान्तके निषेधका दृष्टान्त यहाँ घटित नही होता है। इस प्रकार सर्वज्ञका बाधक कोई प्रमाण न होनेसे सर्वज्ञका सद्भाव मानना युक्तिसगत है।

शका—सर्वज्ञका न कोई साधक प्रमाण है और न बाधक। इसलिये सर्वज्ञके विषयमे सशय होना स्वाभाविक है।

उत्तर—परस्पर विरोधी दोनों बातें एक ही स्थानमें सभव नही हैं। जिस प्रकार किसी वस्तुके विषयमे साधक और बाधक प्रमाण एक साथ नही हो सकते हैं, उसी प्रकार सर्वज्ञके विषयमे भी साधक प्रमाणोंका अभाव और बाधक प्रमाणोका अभाव एक साथ नही हो सकता है। किसी वस्तुके साधक प्रमाण होनेसे उसकी सत्तामें और बाधक प्रमाण होनेसे उसकी असत्तामें कोई विवाद नही रहता है। तथा साधक प्रमाणका निर्णय न होनेसे वस्तुकी सत्तामे और बाधक प्रमाणका निर्णय न होनेसे वस्तुकी असत्तामें सशय उत्पन्न होता है। किन्तु ऐसा संभव नहीं है कि किसी वस्तुके विषयमे साधक-बाधक दोनों प्रमाणोंका सद्भाव अथवा साधक-बाधक दोनो प्रमाणोंका अभाव हो। सर्वज्ञके विषयमें भी साधक-बाधक दोनों प्रमाणोंका अभाव सभव न होनेसे संशय मानना ठीक नही है। जब सर्वज्ञके विषयमे बाधक प्रमाणोंका अभाव सुनिश्चित है, तब वहाँ साधक प्रमाणोका अभाव कैसे हो सकता है। क्योंकि दोनों बातोंमें परस्परमें विरोध होनेसे एकके अभावमें दूसरेका सद्भाव सुनिश्चित है।

इसलिये संसारी प्राणियोंका जो गुरु या स्वामी है, उसको सर्वज्ञ माननेमें किसी प्रकारका संशय या विरोध नहीं है। सर्वज्ञका स्वभाव समस्त पदार्थोंको जाननेका है, इस स्वभावको छोड़कर अन्य कोई दूसरा (अज्ञानरूप) स्वभाव सर्वज्ञका नहीं है। संसारका ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसको सर्वज्ञ न जानता हो।

शंका—यह कैसे जाना कि सर्वज्ञका स्वभाव समस्त पदार्थोंको जाननेका है ?

उत्तर—इस बातको तो स्वयं मीमांसक भी मानते हैं कि आत्माका स्वभाव समस्त पदार्थोंको जाननेका है। वेदके द्वारा भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सूक्ष्म एवं दूरवर्ती पदार्थोंका ज्ञान होता है, ऐसा मीमांसकोंका मत है। व्याप्तिज्ञानके द्वारा भी जिन वस्तुओंमें व्याप्ति (अविनाभाव) है उन सब पदार्थोंका ज्ञान होता है। जैसे धूम और वह्निमें व्याप्तिज्ञान हो जानेसे ससारके सब धूम और वह्निका ज्ञान हो जाता है। 'जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ वह्नि होती है और जहाँ वह्नि नहीं होती है वहाँ धूम नहीं होता है', इस प्रकारके ज्ञानका नाम व्याप्तिज्ञान है। अतः यह बात सुनिश्चित है कि आत्माका स्वभाव समस्त पदार्थोंको जाननेका है।

शंका—यदि आत्माका स्वभाव समस्त पदार्थोंको जाननेका है तो सबको सब पदार्थोंका ज्ञान न होकर कुछ ही पदार्थोंका ज्ञान क्यों होता है ?

उत्तर—सबको सब पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता है, इसका कारण ज्ञानावरण कर्मका उदय है। ज्ञानावरण कर्मका स्वभाव ज्ञानके आवरण करनेका है। जितने अंशमें ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता है उतने ही अंशमें पदार्थोंका ज्ञान आत्माको होता है। जैसे मदिरा पीनेसे चेतना शक्ति कुण्ठित हो जाती है, इस कारण मदिरा पीनेवाले व्यक्तिको स्वयं अपने विषयमें भी सुध नहीं रहती है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मके सम्बन्धसे जीवकी ज्ञानशक्ति तिरोहित हो जाती है। और जब ज्ञानावरण कर्मका पूर्ण क्षय हो जाता है तब यह आत्मा संसारके समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानने लगता है।

शंका—ज्ञानावरण कर्मसे रहित आत्मा भी निकटवर्ती वर्तमान पदार्थोंका ही पूरा ज्ञान कर सकता है, न कि सूक्ष्म, दूरवर्ती आदि पदार्थों का।

उत्तर—निकटता ज्ञानका कारण नहीं है, और दूरपना अज्ञानका कारण नहीं है। निकटता होनेपर भी पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता है, जैसे

आँखमें लगे हुये अञ्जनका, और दूरपना होनेपर भी पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, जैसे चन्द्रमा, सूर्य आदि का।

जब आत्माका स्वभाव समस्त पदार्थोंको जाननेका है, तो प्रतिबन्ध (ज्ञानावरण) के दूर हो जानेपर वह समस्त पदार्थोंको जानेगा ही। जैसे अग्निका स्वभाव जलानेका है तो अग्निकी शक्तिमें कोई प्रतिबन्ध न होनेपर वह समस्त पदार्थोंको जलायेगी ही। जब तक ज्ञानावरण कर्मका पूर्ण क्षय नहीं होता है तभी तक पदार्थोंको जाननेमें इन्द्रिय आदि परपदार्थोंकी आवश्यकता रहती है, और ज्ञानावरण कर्मका पूर्ण क्षय हो जानेपर इन्द्रिय आदिकी अपेक्षा नहीं रहती है। जैसे चक्षुके द्वारा पदार्थोंको देखनेमें प्रकाशकी आवश्यकता होती है, किन्तु चक्षुमें एक विशेष अञ्जनके लगा लेनेसे अन्धेरेमें भी पदार्थ दिख जाते हैं, तथा पृथिवीके अन्दर गड़े हुये पदार्थोंका भी चाक्षुष ज्ञान हो जाता है।

शंका— अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें भी इन्द्रिय आदि परपदार्थोंकी आवश्यकता नहीं होती है, फिर भी वहाँ ज्ञानावरणका पूर्ण क्षय नहीं होता है, किन्तु एकदेश ही क्षय होता है।

उत्तर—अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें इन्द्रिय आदिकी अपेक्षा नहीं होती है। इसका कारण यह है कि ये दोनों ज्ञान अवधिज्ञानावरण तथा मनःपर्ययज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न होते हैं और अपने विषयको केवलज्ञानकी तरह ही पूर्णरूपसे प्रत्यक्ष जानते है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें यह बात नही है। ये दोनों ज्ञान मतिज्ञानावरण तथा श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न होते हैं और अपने विषयको एकदेशसे जानते हैं, पूर्णरूपसे नही। पदार्थोंको पूर्णरूपसे प्रत्यक्ष जाननेके कारण अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष है, और पदार्थोंको एकदेशसे जाननेके कारण मति और श्रुत ये दो ज्ञान परोक्ष हैं।

इस प्रकार सर्वज्ञको मानने वाले बौद्ध, सांख्य आदि सम्प्रदायोंमें परस्परमें विरोध होनेके कारण बुद्ध, कपिल आदि न तो सब ही सर्वज्ञ हो सकते हैं और न कोई एक ही। क्योंकि किसी एकको सर्वज्ञ माननेमें और दूसरोंको सर्वज्ञ न माननेमें कोई युक्ति नहीं है। सर्वज्ञको न माननेवाले मीमांसक, चार्वाक आदि सम्प्रदाय भी, परस्परमें विरोध होनेके कारण युक्तिसंगत नहीं हैं। इसलिये अर्हन्त भगवान् ही दोषों और आवरणोंकी अत्यन्त हानि होनेसे और समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष जाननेके कारण संसारी प्राणियोंके प्रभु हैं, और गृद्धपिच्छ आदि सूत्रकारों द्वारा उन्हींकी स्तुति की

गयी है, जो कर्मोंके भेत्ता हैं, सब पदार्थोंके ज्ञाता हैं और मोक्षमार्गके नेता हैं।

प्रश्न—भगवान् अर्हन्तमें दोष और आवरणकी पूर्ण हानि हो जाती है, इस बातका क्या प्रमाण है ?

उत्तर—

दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात् ।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

किसी पुरुष-विशेषमें दोष और आवरणकी पूर्ण हानि हो जाती है क्योंकि दोष और आवरणकी हानिमें अतिशय देखा जाता है। जैसे खान-से निकाले हुए सोनेमे कीट आदि बहिरङ्ग मल और कालिमा आदि अन्त-रङ्ग मल रहता है, किन्तु अग्निमें पुटपाक आदि कारणोंके द्वारा सोनेमे दोनों प्रकारके मलोंका अत्यन्त नाश हो जाता है।

कर्म दो प्रकारके होते हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। द्रव्यकर्मके कार्य अज्ञान आदि जो भावकर्म हैं उन्हींका नाम दोष है और भावकर्मके कारण ज्ञानावरण आदि जो द्रव्यकर्म है उनको आवरण कहते है। दोष और आवरणकी हानिमें प्रकर्ष या अतिशय देखा जाता है। अर्थात् सब प्राणियो-मे दोष और आवरणकी हानि एकसी नही रहती है, किन्तु तरतमरूपसे रहती है। एक प्राणीमें सबसे कम हानि है, दूसरेमे उससे अधिक हानि है, तीसरेमे उससे भी अधिक हानि है, इस प्रकार दोष और आवरणकी हानि-का क्रम वहाँ समाप्त होता है जहाँ हानि अपनी चरम सीमापर पहुच जाती है, अर्थात् जहाँ पूर्ण हानि हो जाती है। जैसे एक प्राणीमे एक प्रतिशत दोष और आवरणकी हानि है, दूसरेमें दो प्रतिशत हानि है, तीसरेमें तीन प्रतिशत हानि है, इस प्रकार बढ़ते-बढते किसी पुरुषमे शत प्रतिशत हानि भी हो सकती है। यही हानिकी चरम सीमा है। खानसे जो सोना निकलता है उसमें कीट आदि मल रहता है, इसीलिये उसको कनकपाषाण कहते हैं। जब कीट आदि मलको दूर करनेके लिये सोनेको अग्निमें पुटपाक (क्रियाविशेष)के द्वारा तपाया जाता है, तो क्रमशः मल-की हानि होते-होते अन्तमें पूर्ण हानि हो जाती है, और सोना अपने शुद्ध रूपमें निकल आता है। यही बात दोष और आवरणकी हानिके विषयमे भी है।

शंका—दोष और आवरणमें कार्यकारणभाव होनेसे आवरणकी हानि होनेपर दोषकी हानि अथवा दोषकी हानि होनेपर आवरणकी हानि स्वतः

सिद्ध हो जाती है, अतः किसी एक की ही हानिको सिद्ध करना चाहिए था। दोनोंकी हानि क्यो सिद्ध की गयी ?

उत्तर—दोष जीवका स्वभाव है और आवरण पुद्गलका स्वभाव है। दोष और आवरणमे परस्परमें कार्यकारण सम्बन्ध है, इस बातको बतलानेके लिए दोनोकी हानि सिद्ध की गयी है। यदि दोष और आवरणमेंसे किसी एककी हानि सिद्धकी जाती तो दोष और आवरणमे कार्यकारण सम्बन्धका ज्ञान न होता। अतः दोनोंकी हानि बतलाना आवश्यक है।

जो लोग ऐसा कहते हैं कि आत्मा अमूर्तीक है और कर्म मूर्तीक, इसलिए मूर्तीक कर्मका अमूर्तीक आत्मापर आवरण नही हो सकता। उनका ऐसा कहना ठीक नही है। इस बातको सब जानते हैं कि मदिरा आदि मूर्तीक पदार्थके द्वारा भी अमूर्तीक मन या आत्मापर आवरण देखा जाता है। यदि ऐसा कहा जाय कि मदिरा के द्वारा इन्द्रियोंपर आवरण होता है, आत्मापर नही, तो यह कहना भी ठीक नही है, क्योकि इन्द्रियाँ अचेतन हैं। जिस प्रकार जिस बोतलमें मदिरा रक्खी रहती है उसपर अचेतन होनेके कारण कोई आवरण नही देखा जाता, उसी प्रकार इन्द्रियोंपर भी आवरण नहीं होना चाहिये। और इन्द्रियोंपर आवरण न होनेसे मूर्च्छा आदि भी नही होना चाहिये। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि मूर्तीक वस्तुका अमूर्तीक वस्तुपर आवरण होता है।

शंका—दोष और आवरणकी पूर्ण हानि पत्थर आदिमें देखी जाती है। अतः मीमांसकको यह अभीष्ट ही है कि कहीपर दोष और आवरणकी पूर्ण हानि हो जाती है।

उत्तर—पूर्वपक्षने हमारे अभिप्रायको ठीक तरहसे नहीं समझा है। हमें अर्हन्तमें दोष और आवरणका पूर्ण अभाव सिद्ध करना है। अभाव चार प्रकारका होता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। उनमेंसे अर्हन्तमें दोष और आवरणका प्रध्वंसाभाव सिद्ध करना हमारा अभीष्ट है। विद्यमान वस्तुका नाश हो जाना प्रध्वंसाभाव कहलाता है। जैसे विद्यमान घटका नष्ट हो जाना घटका प्रध्वंसाभाव है। उसी प्रकार आत्मामें जो दोष और आवरण अनादिकालसे चले आ रहे हैं, उनका यदि नाश हो जाय तो वह दोष और आवरणका प्रध्वंसाभाव कहलायगा। पत्थरमें तो दोष और आवरणका होना त्रिकालमें भी संभव नहीं है। अतः पत्थरमें दोष और आवरणका प्रध्वंसाभाव नहीं है, किन्तु अत्यन्ताभाव है। जो अभाव सदा रहता है वह अत्यन्ताभाव कहलाता है, जैसे पत्थरमें चेतनताका अभाव। किसी पुरुष विशेषमें आवरणका प्रध्वंसा-

भाव सिद्ध करना हमारा अभीष्ट है। अतः पत्थरमे दोष और आवरणकी पूर्ण हानि बतलाना ठीक नही है।

शका—यदि हानिमें अतिशय होनेके कारण दोष और आवरणकी पूर्ण हानि हो जाती है, तो किसी आत्मामे बुद्धिका भी पूर्ण नाश हो जाना चाहिये। क्योकि बुद्धिकी हानिमे भी अतिशय देखा जाता है। किसीमे अधिक बुद्धि है, किसीमे उससे कम बुद्धि है और अन्यमे उससे भी कम बुद्धि है। इस प्रकार बुद्धिकी हानिमे अतिशय पाया जाता है। यदि बुद्धिका अत्यन्त नाश नही होता है, तो फिर यह कहना भी ठीक नही है कि दोष और आवरणका अत्यन्त नाश हो जाता है।

उत्तर—बुद्धिकी हानिमे अतिशय पाया जाता है तो पृथिवी आदिमे बुद्धिकी भी सर्वथा हानि होती ही है। जब पृथिवीकायिक जीवने पृथिवी-को शरीररूपसे ग्रहण किया तो चेतन जीवके सयोगसे पृथिवी भी चेतन हो गयी। पृथिवीमे चेतन जीवके संयोगसे बुद्धि भी मानना ही होगी। बाद-में आयुकर्मके क्षय होनेपर जीवने पृथिवीकायको छोड दिया तो उस पृथिवीमेंसे बुद्धिकी अत्यन्त हानि हो जानेसे बुद्धिमे भी पूर्ण हानि पायी ही जाती है। अत. जहाँ हानिमें अतिशय होगा वहाँ उसकी अत्यन्त हानि नियमसे होगी।

शंका—पृथिवीकायसे जीवके निकल जानेपर उसमे जीवके बुद्धि आदि गुणोंका पूर्ण अभाव सिद्ध करना कठिन है। क्योंकि बुद्धि आदि अदृश्य है और अदृश्य वस्तुका अभाव सिद्ध नही किया जा सकता है। 'यहाँ परमाणु नही है अथवा पिशाच नही है' ऐसा कहना ठीक नही है। क्योकि परमाणु आदि अदृश्य हैं। नही दिखनेपर भी उनकी सत्ता सभव है। इसी प्रकार 'इस पृथिवीकायमें बुद्धि नही रही' ऐसा कहना कठिन है।

उत्तर—यदि चेतनता या बुद्धिको अदृश्य होनेसे पृथिवीकायमे उसका अभाव नही माना जायगा तो किसी मनुष्यके मरनेपर उसमें भी चेतनता-का अभाव मानना अनुचित होगा। अथवा वहाँ चेतनताके अभावमे संदेह रहेगा। ऐसी स्थितिमें उसकी दाहक्रिया करनेवाले मनुष्योंको महान् पाप-का बन्ध होगा। अतः यह कहना ठीक नही है कि अदृश्य होनेसे पृथिवी-कायमें चेतनताका अभाव नहीं माना जा सकता। लोकमें भी रोग आदि अप्रत्यक्ष पदार्थोंकी सर्वथा निवृत्ति देखी जाती है। इसलिए अदृश्य पदार्थ-की निवृत्ति माननेमें कोई दोष नहीं है।

यदि ऐसा माना जाय कि जो अदृश्य और दूरवर्ती पदार्थ हैं उनका

अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है, तो कृतक हेतुकी विनाशके साथ और धूम हेतुकी वह्निके साथ व्याप्ति भी सिद्ध नहीं हो सकती है। और ऐसा होने-पर मीमांसकको स्वयं अनिष्ट बात स्वीकार करना पड़ेगी अर्थात् व्याप्ति-के अभावमें अनुमान प्रमाणका अभाव मानना पड़ेगा। जो कृतक होता है वह नाशवान होता है, और जो नाशवान नहीं होता वह कृतक भी नहीं होता है। जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि होती है, और जहाँ वह्नि नहीं होती है वहाँ धूम भी नहीं होता है, इस प्रकारके ज्ञानको व्याप्तिज्ञान कहते है। किन्तु जब दूरवर्ती पदार्थोंके अभावका ज्ञान नहीं होगा तो, जो नाश-वान नहीं है वह कृतक भी नहीं है, और जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है, इस प्रकारके अभावका ज्ञान व्यतिरेकव्याप्तिमे नहीं होगा। और व्याप्तिज्ञान न होनेसे अनुमान प्रमाणका ही उच्छेद हो जायगा। इस-लिए अदृश्य होनेपर भी पृथिवीकायमें चेतनताकी सर्वथा निवृत्ति मानना युक्तिसगत है। अतः यह सिद्ध हुआ कि जिस पदार्थकी हानिमे अतिशय पाया जाता है उसकी कहींपर अत्यन्त हानि हो जाती है। जैसे कि पृथिवीकायमे बुद्धिकी अत्यन्त हानि हो जाती है। इसी प्रकार दोष और आवरणकी हानिमें भी अतिशय पाया जाता है। अतः उनकी भी किसी आत्मामें अत्यन्त हानि हो जाती है।

जब हम कहते है कि दोष और आवरणका किसी आत्मामें अत्यन्त क्षय हो जाता है, तो यहाँ क्षयका अर्थ है निवृत्ति। क्योंकि सत् पदार्थका सर्वथा विनाश नहीं होता है। मणि या कनकपाषाणसे मलका पृथक् हो जाना ही मलका क्षय है। इसी प्रकार आत्मासे कर्मोंका पृथक् हो जाना ही कर्मोंका क्षय है। कर्मोंके क्षयका यह अर्थ नहीं है कि कर्म सर्वथा नष्ट हो गये और कार्मण वर्गणाके रूपमें भी उनकी सत्ता नहीं रही। कर्म पुद्गल-द्रव्यका पर्याय है और द्रव्यका कभी सर्वथा नाश नहीं होता है, केवल पर्याय बदलती रहती है। इसलिये जब कर्म आत्मासे पृथक् हो जाते हैं तब कर्मरूप पर्यायको छोड़ देते हैं, यही कर्मोंका क्षय है। मणिका अपना शुद्ध स्वरूप पाना ही मलका क्षय है। इसी प्रकार आत्माकी केवलता ही कर्मकी विकलता है। अर्थात् कर्मोंका क्षय हो जानेपर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लेती है और कर्मरूपसे परिणत कार्मण वर्गणाओंकी सत्ता पौद्गलिकरूपमें बनी रहती है। इसीका नाम कर्मोंका क्षय है।

शंका—जिस प्रकार बुद्धिका नाश पर्यायरूपसे ही होता है, द्रव्यरूपसे नहीं, उसी प्रकार अज्ञान आदि दोषोंका नाश भी पर्यायरूपसे होनेके कारण दोष विशेषका नाश होनेपर भी दोष सामान्यका सद्भाव बना ही रहेगा।

उत्तर—उक्त शंका ठीक नहीं है। आत्मामें जो मल है वह आगन्तुक है, और नाशके कारणोंके मिलनेपर उसका पूर्ण नाश होना अवश्यंभावी है। आत्माका परिणाम दो प्रकारका है—स्वाभाविक और आगन्तुक। अनन्त ज्ञान आदि जो आत्माका स्वरूप है वह स्वाभाविक परिणाम है, और कर्मके उदयसे होने वाला अज्ञान आदि आगन्तुक परिणाम है। यह आगन्तुक परिणाम आत्माका विरोधी है, इसलिए जब नाशके कारण मिल जाते हैं तो उसका नाश अवश्य हो जाता है। सम्यग्दर्शन आदि मिथ्या-दर्शन आदिके विरोधी हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शन आदिका प्रकर्ष होनेपर मिथ्या-दर्शन आदिका अपकर्ष देखा जाता है। जब सम्यग्दर्शनादिका पूर्ण प्रकर्ष हो जाता है तो मिथ्यादर्शनादिका पूर्ण क्षय भी नियमसे होता है। इसलिये ऐसा नहीं है कि एक दोषका क्षय होनेपर भी दूसरा दोष बना रहता है, किन्तु दोषोंके विरोधी गुणोंका प्रकर्ष होनेपर दोषोका सर्वथा अभाव निश्चितरूपसे हो जाता है।

शंका—यह ठीक है कि किसी आत्मामें दोष और आवरणका सर्वथा अभाव हो जाता है। किन्तु उस आत्माको देश, काल और स्वभावसे विप्रकृष्ट पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है, यह बात समझमें नही आती। जिस चक्षुमें कोइ दोष नही है वह देश, काल और स्वभावसे विप्रकृष्ट पदार्थों-को नही जान सकती। ग्रहण तथा मेघ पटलके दूर होनेपर सूर्य भी अपने योग्य वर्तमान पदार्थोंको ही प्रकाशित करता है। इसी प्रकार दोष और आवरणरहित आत्मा भी धर्म आदि सूक्ष्म पदार्थोंको कैसे जान सकता है। किसी पुरुष द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान करनेमें मीमासकको कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु धर्मका ज्ञान वेद द्वारा ही हो सकता है। वेदके अतिरिक्त किसी पुरुषमें ऐसी शक्ति नही है कि वह धर्मका ज्ञान कर सके। अर्थात् पुरुष सर्वज्ञ हो सकता है, धर्मज्ञ नही[1]।

इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥

देश, काल और स्वभावसे विप्रकृष्ट पदार्थ किसीको प्रत्यक्ष होते हैं, क्योंकि उनको हम अनुमानसे जानते हैं। जो पदार्थ अनुमानसे जाने जाते

१. धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्विजानानः पुरुषः केन वार्यते ॥

हैं, कोई न कोई उनको प्रत्यक्षसे भी जानता है। जैसे पर्वतमें अग्निको दूरवर्ती पुरुष अनुमानसे जानता है, किन्तु पर्वतपर रहनेवाला पुरुष उसीको प्रत्यक्षसे जानता है। इस प्रकार धर्मादि समस्त पदार्थोंको जानने वाले सर्वज्ञकी सिद्धि होती है।

जिनका स्वभाव इन्द्रियोसे नही जाना जा सकता उनको सूक्ष्म (स्वभावसे विप्रकृष्ट) कहते हैं, जैसे परमाणु आदि। अतीत और अनागत कालवर्ती पदार्थोंको अन्तरित (कालसे विप्रकृष्ट) कहते है, जैसे राम, रावण आदि। जिनका देश दूर है उनको दूरार्थ (देशसे विप्रकृष्ट) कहते हैं, जैसे सुमेरु पर्वत आदि। सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंका ज्ञान इन्द्रियोंसे नही हो सकता है। क्योंकि इन्द्रियाँ केवल स्थूल, वर्तमान और निकटवर्ती अर्थको जानती हैं। अत॰ हम लोग परमाणु आदिका ज्ञान अनुमान प्रमाणसे करते हैं। 'परमाणुओंकी सत्ता है। यदि परमाणु न होते तो घट आदि कार्योंकी उत्पत्ति कैसे होती।' इस प्रकारके अनुमानसे परमाणुका ज्ञान किया जाता है। जिन पदार्थोंका ज्ञान अल्पज्ञ प्राणी अनुमानसे करते हैं उनको प्रत्यक्षसे जानने वाला भी कोई पुरुष अवश्य होना चाहिये। ऐसा नियम देखा जाता है कि जो पदार्थ अनुमानसे जाने जाते है वे पदार्थ प्रत्यक्षसे भी जाने जाते है। जैसे दूरवर्ती पुरुष पर्वतमे स्थित अग्निको 'पर्वतोऽग्नि वह्निमान् धूमवत्वात्', 'इस पर्वतमे अग्नि है क्योकि वहाँ धूमका सद्भाव है', इस अनुमानसे जानता है, तो पर्वतपर रहने वाला दूसरा पुरुष उसी अग्निको प्रत्यक्षसे जानता हे। ऐसा नही है कि पर्वतमे जिम अग्निको दूरवर्ती पुरुष अनुमानसे जानता है उसको प्रत्यक्षसे जानने वाला कोई न हो। यही बात परमाणु आदिके विषयमें है। सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंको हम अनुमानसे जानते हैं। अतः कोई न कोई पुरुष ऐसा अवश्य होना चाहिये जो उन पदार्थोंको प्रत्यक्ष से जानता हो। उन पदार्थोंको साक्षात् जानने वाला जो पुरुष है वही सर्वज्ञ है। इस प्रकार अनुमान प्रमाणसे सर्वज्ञकी सिद्धि होती है। पहिले मीमांसकने कहा था कि सर्वज्ञकी सिद्धि करने वाला कोई प्रमाण नही है। किन्तु 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात्' इस अनुमान-से सर्वज्ञकी सिद्धि होनेके कारण मीमांसकका उक्त कथन ठीक नहीं है।

यदि कोई यह कहे कि देश, काल और स्वभावसे विप्रकृष्ट पदार्थ अनुमानसे भी नही जाने जाते हैं, तो इस प्रकार कहनेवाले मीमांसकके यहाँ अनुमान प्रमाणका ही अभाव हो जायगा। अनुमान उन्हीका किया जाता है जिनको इन्द्रियप्रत्यक्षसे नही जाना जा सकता। इन्द्रियप्रत्यक्षसे जाने

सबे पदार्थोंमें अनुमान करना व्यर्थ ही है। मीमांसकका कहना है कि स्व-भाव आदिसे विप्रकृष्ट जो धर्मादि पदार्थ हैं, यद्यपि वे अनुमेय नहीं हैं, फिर भी वेदके द्वारा जाने जाते हैं। अतः उनमें अनुमान प्रमाणकी प्रवृत्ति न होनेपर भी अन्य पदार्थोंमें अनुमानकी प्रवृत्ति होनेसे अनुमानका अभाव नहीं होगा। किन्तु हम देखते हैं कि धर्म, अधर्म आदिको भी अनुमानके विषय होनेमें कोई विरोध नहीं है। 'धर्माधर्मादिरस्ति श्रेयःप्रत्यवायाद्य-न्यथानुपपत्तेः' 'धर्म, अधर्म आदिका सद्भाव है, क्योंकि सुख, दुःख आदि-की उपलब्धि देखी जाती है।' इस प्रकारके अनुमानसे धर्मादिका ज्ञान होता ही है। अतः धर्मादिको अनुमेय (अनुमानका विषय) माननेमें कोई विरोध न होनेसे मीमांसकका यह कहना ठीक नहीं है कि धर्मादिका ज्ञान केवल वेदसे ही होता है।

अनुमेयत्वका अर्थ दूसरे प्रकारसे भी किया जा सकता है। अर्थात् जो पदार्थ श्रुतज्ञानसे जाना जाता है वह अनुमेय है। धर्मादिमें इस प्रकारका अनुमेयत्व मीमांसकको भी इष्ट है। वेदके द्वारा सब पदार्थोंका ज्ञान होता है, यह बात मीमांसकको भी अभीष्ट है। आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्री तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें अनुमेयत्वका अर्थ श्रुतज्ञानगम्यत्व[1] भी किया है। अतः अनुमेयत्वका दूसरा अर्थ करनेपर धर्म आदिको अनुमेय माननेमें मीमांसकको कोई विरोध नहीं होना चाहिये। अतः धर्मादि सूक्ष्म पदार्थोंको कोई प्रत्यक्षसे जानता है, क्योंकि वे श्रुतज्ञान अथवा वेदके द्वारा जाने जाते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म आदि पदार्थोंको अनुमेय होनेसे उनमें प्रत्यक्षत्वकी सिद्धि होना अनिवार्य है।

ऐसा सम्भव नहीं है कि सूक्ष्म आदि पदार्थ अनुमेय होनेपर भी किसी को प्रत्यक्ष न हों। क्योंकि ऐसा माननेपर अग्निके विषयमें भी कहा जा सकता है कि पर्वतमें जो अग्नि है वह अनुमेय होनेपर भी किसीको प्रत्यक्ष नहीं है। तथा ऐसा भी कहा जा सकता है कि धूमके होनेपर भी वह्नि नहीं है। और ऐसा माननेपर अनुमान प्रमाणका उच्छेद ही हो जायगा।

यहाँ चार्वाक कहता है कि अनुमान प्रमाणका उच्छेद इष्ट ही है। क्योंकि प्रत्यक्षके द्वारा जो वस्तु जानी जाती है वह ठीक निकलती है, इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण है। अनुमानके द्वारा जानी गयी वस्तु ठीक नहीं

---

१. सूक्ष्माद्यर्थोऽपि चाध्यक्षः कस्यचित् सकलः स्फुटम्।
श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वात् नदीद्वीपादिदेशवत्॥

—तत्त्वार्थश्लोकवा० १।१।१०

निकलती, इसलिये अनुमान अप्रमाण है। किन्तु अनुमान प्रमाणके अभावमें चार्वाक स्वयं प्रत्यक्षमें प्रमाणता और अनुमानमे अप्रमाणता सिद्ध नही कर सकता। 'प्रत्यक्ष प्रमाण है, अविसवादी (सत्य) होनेसे', 'अनुमान अप्रमाण है, विसवादी (मिथ्या) होनेसे', इस प्रकार प्रत्यक्षमें प्रमाणता और अनुमानमें अप्रमाणता अनुमान प्रमाणके विना सिद्ध नही की जा सकती है। अन्य पुरुषमें बुद्धिका ज्ञान अनुमानके बिना सभव नही है। परलोक आदिका निषेध भी अनुमानके विना नही किया जा सकता। अतः प्रमाण और अप्रमाणकी सिद्धि करनेसे, अन्य पुरुषमें बुद्धिका ज्ञान करनेसे तथा परलोक आदिका निषेध करनेसे चार्वाकको अनुमान प्रमाण मानना ही पड़ता है[1]। अनुमानके बिना उसका काम नही चल सकता। अतः अनुमान प्रमाणके सद्भावमें अनुमेयत्व हेतु सूक्ष्मादि पदार्थोंमे प्रत्यक्षत्वकी सिद्धि करेगा ही।

सूक्ष्मादि अर्थोंमे प्रत्यक्षत्वकी सिद्धिके लिए अन्य भी हेतु दिये जा सकते है। जैसे—सूक्ष्मादि पदार्थ किसीको प्रत्यक्ष होते हैं, क्योकि वे प्रमेय हैं, सत् हैं, वस्तु है, इत्यादि। अग्नि आदिकी तरह। अतः जब सर्वज्ञकी सिद्धि करने वाले अनेक निर्दोष हेतु विद्यमान है, तब कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति सर्वज्ञका निषेध कैसे कर सकता है।

शका—अनुमेयत्व हेतुके द्वारा सर्वज्ञकी सिद्धिकी गयी है। यहाँ प्रश्न होता है कि अनुमेयत्व सर्वज्ञका भावरूप धर्म है, अभावरूप धर्म है अथवा उभय धर्म है। यदि अनुमेयत्व भावरूप धर्म है, तो जैसे सर्वज्ञ असिद्ध है वैसे उसका भावधर्मरूप हेतु भी असिद्ध होगा। यदि अभावरूप धर्म है तो वह सर्वज्ञके अभावको ही सिद्ध करेगा। अतः हेतु विरुद्ध है। यदि भाव और अभाव दोनों धर्मरूप है तो ऐसा माननेमें अनेकान्तिक दोष आता है, क्योकि भावाभावरूप हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनोमे रहेगा। भावरूप अश पक्ष और सपक्षमें रहेगा तथा अभावरूप अश विपक्षमें रहेगा। इस प्रकार अनुमेयत्व हेतुमें अनेक दोष आनेके कारण यह हेतु ठीक नही है।

उत्तर—इस प्रकारके असंगत विकल्पों द्वारा दोष देना उचित नही है। यदि इस प्रकार दूषण दिया जाय तो प्रत्येक अनुमानमें उक्त दूषण दिया जा सकता है। बौद्धोंका एक अनुमान है—'अनित्यः शब्दः कृतक-

१. प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्॥

त्वात्', 'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह तालु आदिसे उत्पन्न किया जाता है'। इस अनुमानमें भी उक्त दोष दिया जा सकता है। कृतकत्व हेतु यदि अनित्य शब्दका धर्म है, तो जैसे अनित्य शब्द असिद्ध है वैसे उसका धर्म हेतु भी असिद्ध है। यदि हेतु नित्य शब्दका धर्म है, तो अनित्यसे विरुद्ध नित्य शब्दको सिद्ध करनेके कारण हेतु विरुद्ध है। यदि हेतु नित्य और अनित्य दोनों धर्मरूप है, तो पक्ष, सपक्ष और विपक्षमें रहनेके कारण अनेकान्तिक है। इसी प्रकार धूमसे वह्निको सिद्ध करनेमें भी उक्त दोष दिये जा सकते हैं। यहाँ बौद्ध यदि कहे कि कृतकत्व हेतु ऐसे धर्मीका धर्म है जिस धर्मीके अनित्य होनेमे विवाद है। अर्थात् शब्दके अनित्य होनेमे विवाद है, अतः अनित्यरूपसे विवादापन्न शब्दका कृतकत्व धर्म है। तो जैन भी यही कहेगे कि अनुमेयत्व हेतु भी ऐसे धर्मीका धर्म है जिसके सर्वज्ञ होनेमे विवाद है। अतः जब अनुमेयत्व हेतु सर्वज्ञरूपसे विवादापन्न धर्मीका धर्म है, तब अनुमेयत्व हेतुमे असिद्ध आदि दोष देना असगत है।

सूक्ष्म आदि पदार्थोंको जाननेवाला जो प्रत्यक्ष है वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष नही है, किन्तु अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। पहिले तो सामान्यरूपसे इतना ही सिद्ध किया गया है कि सूक्ष्म आदि पदार्थ प्रत्यक्षसे जाने जाते है। किन्तु सूक्ष्मरूपसे विचार करने पर यह मानना पड़ता है कि उनको जानने-वाला प्रत्यक्ष इन्द्रिय जन्य नही है, किन्तु अतीन्द्रिय है। इन्द्रियप्रत्यक्षमे इतनी शक्ति नही है कि वह सूक्ष्म आदि पदार्थोंका ज्ञान कर सके। अतः सूक्ष्म आदि पदार्थोंको जाननेवाले प्रत्यक्षको अतीन्द्रिय मानना अनि-वार्य है।

शका—सूक्ष्मादि पदार्थ किसको प्रत्यक्ष होते है? अर्हन्तको या अनर्हन्तको अथवा किसीको भी। यदि अर्हन्तको प्रत्यक्ष होते है तो 'सूक्ष्मादयः कस्यचित् प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात्' इस अनुमानमे अर्हन्त शब्द न आनेसे अर्हन्तमे सूक्ष्मादि अर्थोंका प्रत्यक्ष सिद्ध करना कैसे सभव है। दूसरी बात यह भी है कि जिस हेतुसे सूक्ष्मादि पदार्थ अर्हन्तको प्रत्यक्ष होते हैं उसी हेतुसे बुद्ध आदिकोभी प्रत्यक्ष होंगे। यदि अनर्हन्त (बुद्ध आदि)मे सूक्ष्मादि अर्थोंका प्रत्यक्ष माना जाय तो जैनोंको यह बात अनिष्ट है, क्योंकि जैन अर्हन्तको छोड़कर अन्य किसीको सर्वज्ञ नही मानते। यदि यह कहा जाय कि सूक्ष्मादि पदार्थ किसीको भी प्रत्यक्ष होते हैं, तो अर्हन्त और अनर्हन्तको छोड़कर और कौन शेष बचता है जिसमें सूक्ष्मादि अर्थोंका प्रत्यक्ष माना जाय।

उत्तर—मीमांसककी उक्त शंका ठीक नहीं है। इस प्रकारके असंगत विकल्पों द्वारा किसी भी विषयमें दूषण दिया जा सकता है। मीमांसक 'नित्यः शब्दः प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्', 'शब्द नित्य है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान प्रमाणके द्वारा यह वही शब्द है ऐसा ज्ञान होता है,' इस अनुमानसे शब्दोंको नित्य सिद्ध करते हैं। यहाँ भी पूर्वोक्त विकल्प उपस्थापित किये जा सकते हैं। मीमांसक उक्त अनुमान द्वारा कैसे शब्दोंको नित्य सिद्ध करना चाहते हैं, सर्वगत शब्दोंको या असर्वगत शब्दोंको अथवा सामान्यसे शब्दमात्रको। यदि सर्वगत शब्दोंको नित्य सिद्ध करना अभीष्ट है, तो 'नित्यः शब्दः प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्', इस अनुमानमें 'सर्वगत' शब्द न आनेसे सर्वगत शब्दोंको नित्य सिद्ध करना कैसे संभव है। तथा सर्वगत शब्दोंको नित्य सिद्ध करनेमें जो हेतु दिया जाता है, असर्वगत शब्दोंको नित्य सिद्ध करनेमें भी वही हेतु दिया जा सकता है। यदि उक्त अनुमान द्वारा असर्वगत शब्दोंको नित्य सिद्ध किया गया है, तो यह बात मीमांसकको अनिष्ट है, क्योंकि मीमांसक शब्दको असर्वगत नही मानते है। सर्वगत और असर्वगतको छोड़कर अन्य कोई शब्द शेष नही रहता है, जिसे नित्य सिद्ध किया जाय। यदि मीमांसक कहे कि सर्वगत या असर्वगतकी अपेक्षा न करके हम तो केवल शब्द सामान्यको नित्य सिद्ध करते हैं, तो यही बात सर्वज्ञके विषयमें भी मान लीजिये।' जैन भी पहिले अर्हन्त या अनर्हन्तको सर्वज्ञ सिद्ध न करके यही कहते हैं कि कोई-न-कोई सर्वज्ञ अवश्य है। सामान्यसे सर्वज्ञसिद्धि हो जानेपर पुनः इस विषयमें विचार किया जायगा कि सर्वज्ञ कौन हो सकता है। इस प्रकार 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात्', इस अनुमानसे सामान्यरूपसे सर्वज्ञसिद्धि होती है।

प्रश्न—यह ठीक है कि कोई-न कोई सर्वज्ञ है। किन्तु वह सर्वज्ञ मैं (अर्हन्त) ही हूँ यह कैसे कहा जा सकता है?

इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥६॥

हे भगवन्! पहिले जिसे सामान्यसे वीतराग तथा सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है, वह आप (अर्हन्त) ही हैं। आपके निर्दोष (वीतराग) होनेमें प्रमाण यह है कि आपके वचन युक्ति और आगमसे अविरोधी हैं। आपके इष्ट तत्त्व मोक्षादिमें किसी प्रमाणसे बाधा नहीं आनेके कारण यह निश्चित

है कि आपके वचन युक्ति और आगमसे अविरोधी हैं।

अब यहाँ यह विचार करना है कि अर्हन्तने किन-किन तत्त्वोंका प्रतिपादन किया है और उनमें बाधा क्यों नहीं आती है। अर्हन्तने मुख्य-रूपसे चार तत्त्वोका उपदेश दिया है—मोक्ष, मोक्षके कारण, संसार और संसारके कारण। आत्माके साथ ज्ञानावरणादि आठ कर्म अनादिसे लगे हुए हैं। संवर और निर्जराके द्वारा आठ कर्मोंके नष्ट हो जानेपर आत्मा-का अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लेना मोक्ष है। कर्मोंके कारण आत्माके स्वाभाविक गुण प्रगट नही हो पाते हैं। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्य ये आत्माके विशेष गुण है। आठ कर्मोंका नाश हो जानेपर आत्मा उक्त गुणोंकी प्राप्तिके साथ ही सदाके लिए ससारके बन्धनसे छूट जाता है। इसीका नाम मोक्ष है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षके कारण हैं। 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।' इस सूत्रमें एकवचनान्त मार्ग शब्द इसी बातको बतलाता है कि सम्यग्दर्शनादि तीनो मिलकर मोक्षके मार्ग हैं, पृथक्-पृथक् नही।

संसार क्या है? 'स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः।' अपने-अपने कर्मके अनुसार जीव एक जन्मसे दूसरे जन्ममे और दूसरे जन्मसे तीसरे जन्ममें चक्कर लगाते रहते हैं, इसीका नाम ससार है। यथार्थमें 'संसरणं संसारः' भ्रमण करनेका नाम संसार है। संसारी जीव कर्मरूपी यन्त्रके वशमें होकर सदा भ्रमण किया करते है। उन्हे एक क्षणके लिए भी निराकुल सुखकी प्राप्ति नही होती है। संसारमें अनन्त दुःख हैं, जिनके कारण जीव सदा दुःखी रहते हैं। संसारमें जन्म, मरण, बुढापा, क्षुधा, तृषा आदिके दुःखोंको सब अनुभव करते हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अथवा मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये संसारके कारण हैं। मिथ्यादर्शनादिके द्वारा जीव सदा कर्मबन्ध किया करता है, और कर्मबन्धके कारण ही जीवको संसारके दुःख भोगना पड़ते हैं। इसलिये मिथ्यादर्शनादि संसारके कारण हैं। जब संसार है तो ससारके कारण मानना भी आवश्यक है, क्योंकि यदि संसार-का कोई कारण न हो तो संसारको नित्य मानना पड़ेगा, क्योंकि ऐसा नियम है कि जिस वस्तुका कोई कारण नहीं होता है वह नित्य होती है। और यदि संसार नित्य है तो किसीको कभी भी मोक्षकी प्राप्ति संभव न होगी। अतः मिथ्यादर्शनादि संसारके कारण हैं अतः संसार अनित्य है। इस प्रकार अर्हन्तने मोक्ष आदि चार तत्त्वोंका उपदेश दिया है।

चार्वाकको छोड़कर अन्य सब सम्प्रदाय मोक्ष आदि चार तत्त्वोंको मानते हैं। केवल उनके स्वरूपमें विवाद है, जिसको आगे बतलाया जायगा। चार्वाक मोक्ष आदि तत्त्वोको नही मानता है। चार्वाकका कहना है कि शरीरसे भिन्न कोई आत्मा नही है। पृथिवी आदि चार भूतोके एक साथ मिलनेसे चैतन्यशक्तिकी उत्पत्ति होती है, जैसे महुआ आदि पदार्थोंके समिश्रणसे मदिराकी उत्पत्ति होती है। वह चैतन्यशक्ति जन्मसे पहिले और मरणके बाद नही रहती, किन्तु गर्भसे लेकर मरणपर्यन्त ही रहती है। अतः शरीरसे भिन्न कोई नित्य आत्मा नही है, जो एक भवसे दूसरे भवमें जाता हो। जीवका एक भवसे दूसरे भवमें जानेका नाम ही संसार है। और नित्य आत्माके अभावमे ससार किसी प्रकार संभव नहीं है। जैसे अचेतन गोमय (गोबर) से बिच्छूकी उत्पत्ति हो जाती है, अरणि (लकड़ी) के मथनेसे अग्निको उत्पत्ति हो जाती है, उसी प्रकार पृथिवी आदि भूतोंसे भी एक विलक्षण चैतन्यशक्तिकी उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार चार्वाक यह सिद्ध करता है कि शरीरसे भिन्न आत्मा नामका कोई पृथक् पदार्थ नही है।

अच्छी तरह विचार करनेपर यह प्रतीत होता है कि चार्वाकका उक्त कथन कितना असंगत है। प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति दो कारणोंसे होती है—एक उपादान और दूसरा सहकारी। उपादान कारण वह होता है जो स्वयं कार्यरूपसे परिणत हो जाता है। जैसे घटका उपादान कारण मिट्टी है। उपादान कारण और कार्यकी एक ही जाति होती है। सहकारी कारण वह है जो कार्यकी उत्पत्तिमें सहायता करता है। जैसे घटकी उत्पत्तिमें कुम्भकार, दण्ड, चक्र आदि सहकारी कारण हैं। अब विचार यह करना है कि गर्भावस्थामें जो चैतन्य आया उसका उपादान कारण क्या है। उसका उपादान कारण पृथिवी आदि भूत नहीं हो सकते हैं, क्योंकि भूत चैतन्यसे विजातीय हैं। और विजातीयोंमें उपादान-उपादेय भाव नहीं होता है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि जैसे अचेतन गोमयसे चेतन बिच्छूकी उत्पत्ति हो जाती है, उसी प्रकार अचेतन भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति हो जायगी। अचेतन गोमयसे चेतन बिच्छूकी उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु बिच्छूके अचेतन शरीरकी ही उत्पत्ति होती है। यह कहना भी ठीक नही है कि जैसे अरणिके मन्थन द्वारा अग्निके विना भी अग्निकी उत्पत्ति हो जाती है, उसी प्रकार विना चैतन्यके भी भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति हो जायगी। अरणिके मन्थन द्वारा जो अग्निकी उत्पत्ति होती है, उसको अग्निके विना मानना ठीक नहीं है। यद्यपि वहाँ उपादानरूप

अग्नि प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु वह तिरोहित अवस्थामें अवश्य विद्यमान है। उसी तिरोहित अग्निसे अग्निकी उत्पत्ति होती है। यदि चार्वाक अग्निके विना अग्निकी उत्पत्ति मानता है, तो जलके विना जलकी उत्पत्ति, पृथिवीके विना पृथिवीकी उत्पत्ति और वायुके विना वायुकी उत्पत्ति भी मानना पड़ेगी। तब पृथिवी आदि चार तत्त्वोंका मानना भी व्यर्थ ही है, क्योंकि किसी एक तत्त्वके माननेपर भी अन्य तत्त्वोंकी उत्पत्ति बन जायगी।

चैतन्य और भूतोंको विजातीय होनेसे उनमें उपादान-उपादेयभाव नहीं हो सकता है। विजातीय होनेका कारण यह है कि उन दोनोंका लक्षण भिन्न-भिन्न है। जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाये जाँय वह भूत है, और जिसमें ज्ञान-दर्शन पाया जाय और जो अपना अनुभव कर सके वह चैतन्य है। भूतोंमें न तो ज्ञान-दर्शन पाया जाता है और न स्वसंवेदन ही। यह बात इसीसे सिद्ध है कि भूतोंको अनेक व्यक्ति प्रत्यक्षसे देखते हैं, किन्तु ज्ञान-दर्शनको कोई नहीं देख सकता है। ज्ञान-दर्शन या चैतन्यशक्ति यदि भूतोंके गुण होते तो रूप, रस आदिकी तरह ज्ञान-दर्शन आदिका भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। मृत्यु हो जानेपर भी जैसे मृत शरीरमें रूप, रस आदि गुण विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार चैतन्यशक्ति भी वहाँ विद्यमान रहना चाहिये। किन्तु ऐसा कभी देखनेमें नहीं आया। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान और दर्शन पृथिवी आदि भूतोंके लक्षण नहीं है, किन्तु चैतन्यके लक्षण हैं। भूत और चैतन्य दोनोंके लक्षण भिन्न-भिन्न होनेसे उनमें सजातीयता सिद्ध नहीं हो सकती है। यतः भूत और चैतन्य विजातीय हैं, अतः भूत त्रिकालमे भी चैतन्यके उपादान कारण नहीं हो सकते हैं। यदि विजातीयसे विजातीयकी उत्पत्ति मानी जाय तो बालूसे तेलकी और जलसे दधिकी उत्पत्ति भी मानना पड़ेगी। इसप्रकार अकाट्य युक्तियोंसे यह सिद्ध होता है कि भूत चैतन्यके उपादान कारण नहीं हैं। इसलिये यह सिद्ध होता है कि गर्भमें स्थित चैतन्यका उपादान कारण पूर्वजन्मका चैतन्य ही है। वही चैतन्य एक भवसे दूसरे भवमें जाता है। तथा प्रत्येक भवमें नया-नया चैतन्य उत्पन्न नहीं होता है।

आत्माकी नित्यताको सिद्ध करनेवाले अन्य भी कई हेतु हैं। जिस समय बालक गर्भसे उत्पन्न होता है उसको दूध पीनेकी इच्छा क्यों होती है? दूध पीनेकी इच्छा पहिले भवमें भोजन करनेके संस्कारके कारण

होती है। अतः यह मानना होगा कि बालककी आत्मा पहिले भवसे आयी है। शास्त्रोंमें ऐसी बहुतसी कथायें मिलती हैं जिनसे ज्ञात होता है कि अनेक व्यक्तियोंने अपने पूर्व जन्मकी बातें बतलायी थी कि वे कहाँ थे, क्या थे, इत्यादि। वर्तमानमे भी कभी-कभी यह सुननेमें आता है कि अमुक स्थानमे अमुक व्यक्तिने अपने पूर्व जन्मकी अनेक बातोंको बतलाया और जाँच करनेपर वे सत्य निकली। यह भी सुननेमे आता है कि अमुक व्यक्ति मरकर भूत या राक्षस हुआ है और अपने कुटुम्बके लोगोंको कष्ट दे रहा है। इन सब बातोंसे सिद्ध होता है कि जीव मरकर एक भवसे दूसरे भवमे जाता है। इसप्रकार आत्माकी नित्यता निर्विवाद सिद्ध है।

अर्हन्तने जिन मोक्ष आदि तत्त्वोंका उपदेश दिया है उनमें किसी प्रमाणसे विरोध न आनेके कारण अर्हन्तके वचन युक्ति और आगमसे अविरोधी सिद्ध होते हैं। और अविरोधी वचन अर्हन्तकी निर्दोषताको घोषित करते है। इसलिये स्वभाव, देश और कालसे विप्रकृष्ट परमाणु आदि पदार्थोंको जानने वाले सर्वज्ञ अर्हन्त ही हैं। अर्हन्तके अतिरिक्त अन्य कोई सर्वज्ञ नही है, क्योकि अन्य सब सदोष हैं। सदोष होनेका कारण यह है कि उनके (कपिलादिके) वचन युक्ति और आगमसे विरुद्ध हैं। उन्होंने जिन तत्त्वोंका उपदेश दिया है वह प्रमाणसे बाधित है।

कपिल (साख्योंके इष्टदेव)ने मोक्षका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—'स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थानमात्मनो मोक्षः'—चैतन्यमात्र आत्माका स्वरूप है, और उसमे स्थित होना ही आत्माका मोक्ष है। साख्यदर्शनके वर्णनमे यह बतलाया जा चुका है कि प्रकृति और पुरुषमे भेदविज्ञान न होनेसे बन्ध होता है। और प्रकृति तथा पुरुषमे भेदविज्ञान हो जानेसे पुरुष अपने शुद्ध स्वरूप चैतन्यमात्रको प्राप्त कर लेता है। इसीका नाम मोक्ष है।

कपिलके द्वारा माना गया मोक्षका उक्त स्वरूप समीचीन नही है। सांख्यमतमे ज्ञान और चैतन्यमें भेद है। ज्ञान पुरुषका धर्म या गुण नही है, किन्तु प्रकृतिका कार्य है। अर्थात् ज्ञान अचेतन प्रकृतिका कार्य होनेसे प्रकृतिरूप ही है। पुरुषका स्वरूप तो केवल चैतन्यमात्र या चितृशक्ति-मात्र है। यदि चैतन्यको अनन्त ज्ञानादिरूप माना जाय तो चैतन्यमात्रमें स्थित होनेका नाम मोक्ष कहना ठीक है, क्योंकि आत्माका स्वरूप ज्ञानादिरूप है। ज्ञानको आत्माका धर्म न मानकर अचेतन प्रकृतिका धर्म मानना सर्वथा असंगत है।

जो पदार्थोंको जानता है वह ज्ञान है। पदार्थोंको वही जान सकता

है जो चेतन हो और अज्ञानका विरोधी हो। एक घटको दूसरा घट नही जान सकता, क्योंकि वह अचेतन है। अन्धकारका नाश अन्धकारसे नही होता है, किन्तु अन्धकारके नाशके लिये प्रकाशकी आवश्यकता पड़ती है। इसलिये ज्ञान अचेतन प्रकृतिका धर्म नहीं है, किन्तु चेतन आत्माका धर्म है। ज्ञान, दर्शन आदि आत्माके गुणोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि ज्ञान आदि अचेतन नहीं हैं, किन्तु चेतन हैं। सांख्योंका कहना है कि यद्यपि ज्ञान स्वयं चेतन नही है, किन्तु चेतन आत्माके संसर्गसे चेतन जैसा प्रतीत होता है। जैसे अग्निके संसर्गसे लोहे-का गोला भी अग्नि जैसा प्रतीत होने लगता है। किन्तु यदि चेतनके संसर्ग-से अचेतन वस्तु भी चेतन हो जाय तो शरीरको भी चेतन हो जाना चाहिये। क्योंकि चेतन आत्माका संसर्ग शरीरके साथ भी है। अत. ज्ञान आदि अचेतन नही हैं, किन्तु आत्माके स्वभाव या धर्म हैं। इसप्रकार सांख्य द्वारा अभिमत मोक्ष तत्त्व समीचीन नही है।

नैयायिक और वैशेषिक मोक्षका स्वरूप इसप्रकार मानते हैं—'बुद्धया-दिविशेषगुणोच्छेदादात्मत्वमात्रेऽवस्थान मुक्ति:'—बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और सस्कार आत्माके इन नौ विशेष गुणोंका नाश हो जाने पर आत्माका आत्मामात्रमे स्थित होना मुक्ति है। यद्यपि ज्ञान आदि आत्माके गुण हैं, किन्तु ये गुण आत्मासे भिन्न है, और समवाय सम्बन्धसे आत्मामें रहते हैं। जब तक ससार है तभी तक इन गुणोंका आत्मामें सद्भाव रहता है, और मोक्षमें इन गुणोका पूर्णरूपसे अभाव हो जाता है।

नैयायिक और वैशेषिकका उक्त मत भी विचार करने पर असंगत ही प्रतीत होता है। उक्त मतके अनुसार मुक्ति प्राप्तिका अर्थ हुआ—स्व-रूपकी हानि। ससारके प्राणी संसारके दु:खोंसे छूट कर अपने स्वाभाविक स्वरूपको प्राप्त करनेके लिए ही मुक्तिको चाहते हैं। यदि उन्हे यह मालूम हो जाय कि मुक्तिमें वे अपने स्वरूपको खोकर पत्थरके समान हो जायगे तो वे ऐसी मुक्तिको दूरसे ही हाथ जोड़ लेंगे। इसीलिए कुछ लोग वैशे-षिक मतकी मुक्तिकी अपेक्षा वृन्दावनके बनमें शृगाल होना अच्छा सम-झते हैं। क्योंकि वहाँ खानेको हरी घास और पीनेको ठण्डा पानी तो मिलेगा। नैयायिक और वैशेषिकोंका कहना है कि बुद्धि आदि गुण आत्मा से भिन्न हैं। क्योंकि आत्मा नित्य है, उसका कभी नाश या उत्पाद नही होता, किन्तु गुण उत्पन्न और नष्ट होते हैं। इसीलिए दोनोंमें स्वभाव भेद है। किन्तु ऐसा मानने पर भी ज्ञानादि को आत्मासे सर्वथा भिन्न नहीं

माना जा सकता । ज्ञानादिकी उत्पत्ति या नाश पर्यायकी अपेक्षासे ही होता है, सर्वथा नही । ज्ञान आत्माका स्वभाव है । अत. आत्मा ज्ञानसे शून्य त्रिकालमें भी नही हो सकती । जिस प्रकार अग्नि कभी भी उष्णताको नही छोड सकती, उसीप्रकार आत्मा भी ज्ञानशून्य नही हो सकती । ज्ञान आदि गुणोको आत्मासे सर्वथा भिन्न मानना भी ठीक नही है । क्योंकि गुण और गुणीमे तादात्म्य रहता है । मुक्तिमे इन्द्रिय जन्य एव कर्मके क्षयोपशमसे होने वाले ज्ञान, सुख आदिकी ही निवृत्ति होती है, न कि कर्मोंके क्षयसे होने वाले अतीन्द्रिय ज्ञान सुखादिकी । अत· मुक्तिमे ज्ञान आदि गुणोका नाश नही होता है, प्रत्युत अनन्त ज्ञान आदिकी प्राप्तिका नाम ही यथार्थमें मोक्ष है ।

वेदान्तवादी कहते हैं—'आनन्द ब्रह्मणो रूप तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते' आत्माका स्वरूप आनन्द है और मोक्षमें उस आनन्दकी अभिव्यक्ति होती है । अर्थात् इस मतमे अनन्त सुखको प्राप्त करना ही मोक्ष है । जहाँ तक अनन्त सुखको प्राप्त करनेका प्रश्न है वहाँ तक तो ठीक है, किन्तु आत्माका स्वरूप केवल आनन्द है और उसको प्राप्त करना ही मोक्ष है, यह बात ठीक नही है । आत्माका स्वरूप केवल आनन्द ही नही है, किन्तु ज्ञान-दर्शन भी है । मोक्षमे अनन्त सुखकी प्राप्तिके साथ ही अनन्त ज्ञान आदिकी भी प्राप्ति होती है । यदि मोक्षमे केवल आनन्दकी ही प्राप्ति होती है, तो प्रश्न होता है कि उस आनन्दका सवेदन (ज्ञान) होता है । या नही । यदि सवेदन नही होता है तो 'मुक्तिमे अनन्तसुख है' ऐसा कहना ही असभव है । और यदि सुखका सवेदन होता है तो अनन्त सुखको सवेदन करने वाले अनन्त ज्ञानकी भी सिद्धि अनिवार्य है । इसप्रकार मोक्षमे केवल सुखको मानने वाला वेदान्त मत भी समीचीन नही है ।

बौद्धमतमे दीपकके बुझ जानेके समान चित्त सन्ततिके निरोधका नाम मोक्ष बतलाया गया है । जब दीपक बुझ जाता है तो वह न तो पृथिवीमे जाता है, न आकाशमे जाता है, न किसी दिशामे जाता है, और न किसी विदिशामें ही जाता है । किन्तु तेलके समाप्त हो जानेसे केवल शान्त हो जाता है अर्थात् बुझ जाता है । उसीप्रकार मोक्षको प्राप्त करने वाला व्यक्ति भी न तो पृथिवीमें जाता है, न आकाशमे जाता है, न किसी दिशामें जाता है, और न किसी विदिशामें ही जाता है । किन्तु क्लेशोंका क्षय हो जानेसे केवल शान्तिको प्राप्त कर लेता है । इसप्रकार बौद्धमतमें निर्वाणको दीपकके बुझनेके समान बतलाया गया है । जैसे दीपकके बुझने पर कुछ शेष नहीं रहता है, उसीप्रकार निर्वाणके प्राप्त होने पर भी

कुछ अवशिष्ट नही रहता। उक्त प्रकारके निर्वाणकी कल्पना सर्वथा असंगत है। उक्तप्रकारके निर्वाणमें तो कुछ भी शेष नही रहता है। निर्वाण तो वह है जिसमें आत्मा अपने अनन्त ज्ञानादि गुणोंकी अनुभूतिमे सदा रत रहता है। इसप्रकार सांख्य आदिके द्वारा अभिमत मोक्ष तत्त्वका स्वरूप युक्ति और आगमसे विरुद्ध है।

इसीप्रकार सांख्य आदिके द्वारा माना गया मोक्षकारण तत्त्व (मोक्षका कारण) भी ठीक नही है। प्राय सबने ज्ञानमात्रको मोक्षका कारण माना है। किन्तु यदि ज्ञानमात्र ही मोक्षका कारण है तो पूर्ण ज्ञानके होते ही मोक्षकी प्राप्ति हो जायगी। और ऐसी स्थितिमे योगी द्वारा तत्त्वोंका उपदेश नही हो सकेगा। ज्ञानकी प्राप्तिके पहले उपदेश देना ठीक नही है, क्योंकि उस उपदेशमे प्रामाणिकता नही रहेगी। ज्ञान प्राप्तिके बाद भी उपदेश संभव नही है। क्योकि ज्ञान प्राप्ति होते ही मोक्ष हो जायगा। किन्तु यह सबने माना है कि ज्ञान प्राप्तिके बाद आप्त ठहरा रहता है और संसारी प्राणियोको मोक्ष आदिका उपदेश देता है। इसलिये यह मानना होगा कि पूर्णज्ञान हो जानेपर भी ऐसे किसी कारणकी अपूर्णता रहती है, जिसके कारण मोक्ष नही होता है। वह कारण है सम्यक्चारित्र। सम्यग्ज्ञानके होने पर भी सम्यक्चारित्रके अभावमे मोक्ष नही होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र सहित सम्यग्ज्ञान मोक्षका कारण होता है, न कि केवल सम्यग्ज्ञान। जिसप्रकार मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनों संसारके कारण हैं, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो मोक्षके कारण हैं। इसलिये ज्ञानमात्रको मोक्षका कारण कहना युक्ति और आगम विरुद्ध है। क्योकि स्वय उन्हींके आगममें दीक्षा, शिरमुण्डन आदिको भी मोक्षका कारण बतलाया है।

अन्य मतोंमें संसार तत्त्वकी व्यवस्था भी न्याय और आगमसे विरुद्ध है। सांख्यमतमें नित्यैकान्त माना गया है। पुरुष कूटस्थ नित्य है, वह किसीका कर्ता नही है और उसमें कुछ भी परिवर्तन नही होता है। यदि पुरुष कूटस्थनित्य है तो उसको संसार ही नही हो सकता। एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थाको प्राप्त करना ही संसार है। जब पुरुष एकान्तरूपसे नित्य है तो उसमें एक अवस्थाका त्याग और दूसरी अवस्थाकी उत्पत्ति किसी प्रकार संभव नहीं है। ऐसी स्थितिमें पुरुषको संसार कैसे संभव हो सकता है। अचेतन होनेसे प्रकृतिको भी संसार नहीं हो

सकता। इसलिये नित्यैकान्तवा ी सांख्यके यहाँ संसार तत्त्वकी व्यवस्था नहीं बन सकती।

अनित्यैकान्तवादी बौद्धोंके यहाँ भी एक पर्यायका दूसरी पर्यायके साथ कोई सम्बन्ध न होनेसे संसार नहीं बन सकता है। बौद्धोंके यहाँ विनाश निरन्वय होता है अर्थात् पहिलेकी पर्यायका आगेकी पर्यायके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। कोई भी पदार्थ दो क्षण नहीं ठहरता है। सब पदार्थ क्षण-क्षणमें नष्ट होते रहते हैं। ऐसी स्थितिमें संसार कैसे संभव हो सकता है। इसप्रकार अन्य मतमें संसार तत्त्वकी व्यवस्था भी ठीक नहीं है।

संसारकारणतत्त्व (संसारका कारण) की व्यवस्था भी अन्य मतोंमें न्याय और आगमसे विरुद्ध है। सबने मिथ्याज्ञानको संसारका कारण माना है। लेकिन मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेपर भी संसारका अभाव नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि संसारका कारण मिथ्याज्ञानके अतिरिक्त कुछ और है। वह कारण है दोष या मिथ्याचारित्र। मिथ्याज्ञानकी निवृत्तिके बाद भी जबतक दोषोंकी या मिथ्याचारित्रकी निवृत्ति नहीं होती है तबतक मोक्ष नहीं हो सकता। अतः मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनों संसारके कारण हैं, न कि केवल मिथ्याज्ञान।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि कपिल आदिके द्वारा बतलाये गये मोक्ष आदि तत्त्वोंका स्वरूप ठीक न होनेसे उनके वचन न्याय और आगमसे विरुद्ध हैं। इसीलिये वे सदोष हैं, और सदोष होनेसे वे सर्वज्ञ नहीं हो सकते। अर्हन्तमें यह बात नहीं है। उनके वचन युक्ति और आगमसे अविरोधी होनेके कारण वे निर्दोष हैं, और निर्दोष होनेसे सर्वज्ञ हैं। इसीलिये अर्हन्त ही सकल विद्वज्जनों द्वारा स्तुत्य हैं।

यहाँ बौद्ध कहते हैं कि कोई सर्वज्ञ-वीतराग हो भी किन्तु यही (अर्हन्त ही) सर्वज्ञ-वीतराग हैं, ऐसा निश्चय नहीं किया जा सकता। क्योंकि वीतराग पुरुषका जैसा व्यापार (कायकी प्रवृत्ति) और व्याहार (वचनकी प्रवृत्ति) देखा जाता है वैसा व्यापार और व्याहार जो वीतराग नहीं है उनमें भी पाया जाता है। अतः यह निर्णय करना कठिन है कि ये वीतराग हैं और ये वीतराग नहीं हैं। प्रायः प्रत्येक पुरुषमें विचित्र (नाना प्रकारका) अभिप्राय पाया जाता है। विचित्र अभिप्रायके पाये जानेसे ठीक-ठीक अभिप्रायका समझना भी शक्य नहीं है। कोई मनुष्य किसी बातको इसप्रकार कहता है या ऐसा आचरण करता है, जिससे देखने ाला या ुननवाला उसे वीतराग ही समझता है। किन्तु यथार्थमें

उसके कहनेका अभिप्राय कुछ दूसरा ही होता है। यदि सुननेवाले उसके असली अभिप्रायको समझ लें तो उसको कभी भी वीतराग न मानें। इसलिये किसीके व्यापार और व्याहारको देखकर यह कहना कि यह वीतराग है, उचित नहीं है। क्योंकि वैसा व्यापार और व्याहार अवीतरागमें भी पाया जाता है।

बौद्धोंका उपर्युक्त कथन स्वयं बुद्धकी असर्वज्ञता एव अवीतरागताको ही सिद्ध करता है। बौद्ध बुद्धको सर्वज्ञ और वीतराग मानते हैं। यदि पुरुषोंमें नानाप्रकारक अभिप्रायके कारण यह निर्णय करना कठिन है कि यह वीतराग है और यह नही, तो बुद्धमें भी वीतरागताका निर्णय कैसे करेंगे। और तब कपिल आदिसे बुद्धको विशिष्ट पुरुष (वीतराग) कैसे मान सकेंगे। यदि यथार्थ ज्ञानवाले पुरुषमें भी हम विसंवादकी कल्पना करें, तो फिर कौन पुरुष विश्वास भाजन होगा। अर्थात् संसार में कोई विश्वास करने योग्य ही नही रहेगा। वीतरागमें विचित्र अभिप्राय भी नही हो सकता है। प्रत्युत उसमें तो यथार्थ अर्थके प्रतिपादन करनेका ही अभिप्राय होता है। अवीतरागमे अवश्य नाना प्रकारका अभिप्राय पाया जाता है। क्योंकि उसको अपनी पूजा, ख्याति, परवञ्चना, स्वार्थसिद्धि आदिकी इच्छा रहती है। किन्तु जो वीतराग है उसकी सब क्रियायें केवल परोपकारके लिये ही होती हैं। ख्याति, किसीको ठगने आदिका लेश भी नही रहता है। अवीतराग पुरुषका व्यापार और व्याहार एक समयमें जैसा होगा दूसरे समयमे वैसा नही होगा। किन्तु वीतरागका व्यापार और व्याहार सदा एक ही उद्देश्यको लिए हुए होगा। इसलिये वीतराग और अवीतरागका निर्णय करना कठिन नही है।

जो व्यक्ति ऐसा कहता है कि विचित्र अभिप्रायके कारण वीतराग और अवीतरागका निर्णय करना कठिन है उसके यहाँ अनुमान प्रमाण नही हो सकता। बौद्धोंके यहाँ तीन हेतु माने गये हैं—कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि। पर्वतमें धूमको देखकर जो वह्निका ज्ञान किया जाता है, वह कार्य हेतु जन्य है, क्योंकि यहाँ धूम वह्निका कार्य है। 'यह वृक्ष है, शिंशपा होनेसे', इस अनुमानमें शिंशपासे जो वृक्षका ज्ञान किया जाता है, वह स्वभाव हेतुजन्य है, क्योंकि शिंशपा वृक्षका स्वभाव है। 'यहाँ घट नहीं है, अनुपलब्ध होने से।' यहाँ जो घटके अभावका ज्ञान होता है, वह अनुपलब्धि हेतुजन्य है। किन्तु कार्य हेतु और स्वभाव हेतुमें व्यभिचार पाया जाता है। हम देखते हैं कि काष्ठ आदिके होने पर अग्नि होती है

और काष्ठके विना नहीं होती है। इसके विपरीत यह भी देखा जाता है कि सूर्यकान्त मणिके होने पर भी अग्निकी उत्पत्ति हो जाती है। और गोपालघटिका (सर्पकी बामी) में अग्निके अभावमे भी धूम पाया जाता है। मंत्र-तंत्र जानने वाले बिना अग्निके भी धूम उत्पन्न कर देते हैं। शिंशपाको देखकर वृक्षका ज्ञान किया जाता है, किन्तु शिंशपाकी लतामें शिंशपात्वके रहने पर भी वृक्षत्व नही रहता है। अतः उक्त हेतुओंमें व्यभिचार होनेसे धूमसे वह्निका ज्ञान करना और शिंशपाको देखकर वृक्षका ज्ञान करना संभव नही होगा।

इसके उत्तरमें बौद्ध कह सकते हैं हम इस बातकी परीक्षा करेंगे कि जैसी अग्नि काष्ठसे उत्पन्न होती है वैसी सूर्यकान्तमणिसे उत्पन्न नही होती है। और जैसा धूम अग्निसे उत्पन्न होता है वैसा सर्पकी बामीमें नहीं पाया जाता है। जहाँ शिंशपाका वृक्ष होगा वहीं शिंशपासे वृक्षका ज्ञान करेंगे, शिंशपाकी लतासे नही। अतः अनुमान प्रमाणका अभाव कैसे हो सकता है। तो जैन भी वीतरागकी सिद्धिके लिए इस बातकी परीक्षा करेंगे कि जैसा व्यापार और व्याहार अवीतरागमें पाया जाता है, वैसा व्यापार और व्याहार वीतरागमें नही पाया जाता। इसलिये विशेष प्रकारके व्यापार और व्याहारके द्वारा वीतरागकी सिद्धिमें किसी प्रकारके संशयको स्थान नही है। युक्ति और आगमसे जिसके वचनोंमें कोई विरोध न हो वह निश्चयसे सर्वज्ञ और वीतराग है।

अर्हन्तको जो तत्त्व इष्ट है उसमें किसी प्रमाणसे बाधा नही आती है। अतः अर्हन्त ही सर्वज्ञ है। यहाँ इष्ट शब्दका अर्थ है—मत अथवा शासन। इच्छित अथवा इच्छाका विषयभूत पदार्थका नाम इष्ट नही है। क्योंकि अर्हन्तने मोहनीय कर्मका सर्वथा नाश कर दिया है। इच्छा मोहनीय कर्मकी पर्याय है, अतः मोहनीय कर्मरूप इच्छा प्रणष्टमोह अर्हन्तमे कैसे संभव हो सकती है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि सर्वज्ञ विना इच्छाके नहीं बोल सकता है, क्योंकि वचनकी प्रवृत्ति इच्छापूर्वक देखी जाती है। किन्तु उक्त शंका युक्तिसंगत नहीं है। वचनकी प्रवृत्ति और इच्छामें कोई कार्यकारण सम्बन्ध नहीं है। यदि ऐसा नियम माना जाय कि इच्छाके होने पर ही वचनकी प्रवृत्ति होती है, तो सोये हुए तथा अन्यमनस्क (जिसका चित्त किसी दूसरी बातमें लगा हो) व्यक्तिकी वचनकी प्रवृत्ति विना इच्छाके नहीं होना चाहिये। सोया हुआ पुरुष विना किसी इच्छाके कभी कभी कुछ बोलने लगता है। जो अन्यमनस्क है वह कुछ

कहना चाहता है और कुछ कह देता है, किसीका नाम लेना चाहता है किन्तु उससे भिन्न अन्य किसीका नाम बोल देता है। जिसका नाम उसने बोला उसके बोलनेकी इच्छा उसको नही थी। इत्यादि अनेक हेतु और दृष्टान्तों द्वारा यह सिद्ध होता है कि वचनकी प्रवृत्ति विना इच्छाके भी होती है। यदि सोये हुए व्यक्तिको बोलनेकी इच्छा रहती है तो जागने पर इच्छाका स्मरण होना चाहिये, जैसे कि दूसरी इच्छाओंका स्मरण होता है। किन्तु सुषुप्त व्यक्तिकी इच्छाका स्मरण न होनेसे उसमे बोलनेकी इच्छाका अभाव मानना होगा। इसलिए वचनकी प्रवृत्ति और इच्छामे कोई कार्यकारण सम्बन्ध न होनेसे सर्वज्ञकी वचनप्रवृत्तिको विना इच्छा के माननेमें कोई विरोध नही है। वचनकी प्रवृत्तिका कारण चैतन्य और जिह्वा इन्द्रियकी पटुता या अविकलता ही है।

शंका—चैतन्य तथा करणपटुता (इन्द्रियकी पूर्णता) के साथ विवक्षा भी बोलनेमे सहकारी कारण है और सहकारी कारणके विना कार्य नही होता है। इसलिये विवक्षाको भी वचन प्रवृत्तिका कारण मानना आवश्यक है।

उत्तर—सहकारी कारणको नियमसे होना ही चाहिये ऐसा नियम नही है। कही कही पर सहकारी कारणके विना भी कार्यकी उपलब्धि देखी जाती है। देखनेमे प्रकाश सहकारी कारण है, लेकिन रात्रिमे चलने वाले बिल्ली, उल्लू आदिको तथा जिसने अपनी आँखमे अञ्जन विशेष लगा लिया हो उसको प्रकाशके विना भी दिख जाता है। यदि चैतन्य और करणपटुताके अभावमे विवक्षामात्रसे कही वचनकी प्रवृत्ति देखी जाती तो विवक्षाको कारण मानना आवश्यक था। किन्तु चैतन्य और करणपटुताके अभावमे विवक्षामात्रसे वचनकी प्रवृत्ति न होनेके कारण विवक्षा वचनकी प्रवृत्तिका आवश्यक कारण नही है। जिसको शास्त्रका ज्ञान नही है उसको शास्त्रके व्याख्यानकी इच्छा होने पर भी वह शास्त्रका व्याख्यान नही कर सकता। और जिसकी जिह्वा इन्द्रिय ठीक नही है वह बोलनेकी इच्छा होने पर भी नही बोल सकता। इसलिये ज्ञान और करणपटुता ही बोलनेके आवश्यक कारण हैं, विवक्षा नही।

राग, द्वेष आदि दोषोंका समुदाय भी वचनप्रवृत्तिका कारण नही है। जिसप्रकार बुद्धि और करणपटुताका प्रकर्ष होने पर वाणीका प्रकर्ष और उनका अपकर्ष होनेपर वाणीका अपकर्ष देखा जाता है, उसप्रकार दोषोंका प्रकर्ष होने पर वचनका प्रकर्ष और दोषोंका अपकर्ष होने पर वचनका

अपकर्ष नहीं देखा जाता। अतः रागादि दोष या विवक्षा वचनकी प्रवृत्ति का कारण नहीं है, यह बात निर्विवाद रूपसे सिद्ध होती है।

अर्हन्तके अनेकान्त शासनमें पर-प्रसिद्ध एकान्तके द्वारा बाधा नहीं आती है। 'प्रसिद्धं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते' इस कारिकामें प्रसिद्ध शब्द परमतकी अपेक्षासे दिया गया। दूसरे मत वाले अनित्यत्वैकान्त, नित्यत्वैकान्त आदिको प्रसिद्ध मानते हैं। उसी बातको यहाँ बतलाया गया है कि अर्हन्तके अनेकान्त शासनमें दूसरे मत वालोंके यहाँ प्रसिद्ध अनित्यत्वैकान्त आदिके द्वारा बाधा नहीं आ सकती है। क्योंकि दूसरे मत वाले यद्यपि अनित्यत्वैकान्त आदिको प्रसिद्ध मानते हैं, किन्तु यथार्थमें अनित्यत्वैकान्त आदि प्रसिद्ध नहीं है। प्रमाणसिद्ध वस्तुका नाम प्रसिद्ध है और अनित्यत्वैकान्त आदिकी सिद्धि किसी प्रमाणसे नहीं होती है।

बौद्धोंके अनुसार सब पदार्थ क्षणिक हैं। कोई भी पदार्थ दो क्षण नहीं ठहरता, एक क्षण ही पदार्थका अस्तित्व रहता है। इसप्रकारका अनित्यत्वैकान्त प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं होता है। प्रत्यक्षसे तो स्थिर अर्थकी ही प्रतिपत्ति होती है। बौद्ध यदि अनित्यत्वैकान्तकी सिद्धि अनुमानसे करना चाहें तो बौद्धोंके यहाँ अनुमान भी नहीं बन सकता है। साध्य और साधनमें अविनाभाव सम्बन्धका ज्ञान होने पर साधनके ज्ञानसे जो साध्यका ज्ञान होता है वह अनुमान है। धूम साधन है और वह्नि साध्य है। उनमें ऐसा ज्ञान करना कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि होती है, और जहाँ वह्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता। इस प्रकारके ज्ञानका नाम अविनाभावका ज्ञान है। धूम और वह्निमें अविनाभावका ज्ञान हो जाने पर पर्वतमें धूमको देखकर वह्निका ज्ञान करना अनुमान है। किन्तु बौद्धोंके यहाँ अविनाभावका ज्ञान किसी प्रमाणसे नहीं हो सकता है। प्रत्यक्षसे तो साध्य और साधनमें अविनाभावका ज्ञान हो नहीं सकता। क्योंकि बौद्ध प्रत्यक्षको निर्विकल्पक (अनिश्चयात्मक) मानते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा अविनाभावका ज्ञान कैसे संभव हो सकता है। जो किसी बातका निश्चय ही नहीं करता है वह अविनाभावको कैसे जानेगा। निर्विकल्पक प्रत्यक्षके बाद एक सविकल्पक प्रत्यक्ष भी होता है जिसको बौद्ध भ्रान्त मानते हैं। वह भी अविनाभावका ज्ञान नहीं कर सकता है। क्योंकि उसका विषय भी वही है जो निर्विकल्पकका विषय है। जब निर्विकल्पक अविनाभावको नहीं जानता है, तो सविकल्पक कैसे जान सकता है। दूसरी बात यह भी है कि प्रत्यक्ष पासके अर्थको ही जानता है। उसमें इतनी सामर्थ्य

नहीं है कि वह संसारके समस्त साध्य और साधनोंका ज्ञान कर सके। अत; प्रत्यक्षके द्वारा अविनाभावका ज्ञान संभव नहीं है।

अनुमानके द्वारा भी अविनाभावका ज्ञान सम्भव नहीं है। 'पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्वात्' इस अनुमानमें जो अविनाभाव है उसका ज्ञान इसी अनुमानसे होगा या दूसरे अनुमानसे। यदि दूसरे अनुमानसे इस अनुमानके अविनाभावका ज्ञान होगा तो दूसरे अनुमानमें अविनाभावका ज्ञान तीसरेसे और तीसरेमें अविनाभावका ज्ञान चौथे अनुमानसे होगा। इस प्रकार अनवस्था दूषण आता है। यदि इसी अनुमानसे इस अनुमानके अविनाभावका ज्ञान किया जाता है तो ऐसा माननेमें अन्योन्याश्रय दोष आता है। क्योंकि अविनाभावका ज्ञान हो जानेपर अनुमान होगा और अनुमानके उत्पन्न होनेपर अविनाभावका ज्ञान होगा। इसप्रकार बौद्धोंके यहाँ किसी भी प्रमाणसे अविनाभावका ज्ञान न हो सकनेके कारण अनुमान प्रमाण सिद्ध नही होता है। इसलिये अनुमान प्रमाणसे भी अनित्यत्वैकान्तकी सिद्धि नही होती है।

जैनमतमें अविनाभावको ग्रहण करनेवाला तर्क नामका एक पृथक् प्रमाण है। तर्कमे ही अविनाभावको जाननेकी शक्ति है। विषयके भेदसे प्रमाणोंमे भेद होता है। अविनाभाव एक ऐसा विषय है जिसका ग्रहण तर्कके सिवाय अन्य किसी प्रमाणसे नहीं हो सकता है। अतः तर्कका मानना आवश्यक है। तर्कके द्वारा अविनाभावका ज्ञान हो जानेपर किसी प्रकारका संशय नही रहता है। यदि बौद्ध आदि तर्कको प्रमाण नही मानते हैं तो अनुमानको भी प्रमाण न माने। क्योंकि जो बात तर्ककी प्रमाणताके विषयमें है, वही अनुमान आदि प्रमाणोंके विषयमें भी है। तर्क अपने विषय (अविनाभाव) में समारोप (संशय, विपर्यय, और अनध्यवसाय) का निराकरण करता है। अन्य प्रमाण भी यही काम करते हैं। तर्कके द्वारा जो अविनाभाव सम्बन्धका ज्ञान होता है वह निश्चयात्मक होता है। यदि उसके द्वारा अविनाभावका निश्चयात्मक ज्ञान न हो तो वह प्रमाण नही हो सकता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसमें सविकल्पक (निश्चयात्मक) प्रत्यक्षकी अपेक्षा रहती है। निर्विकल्पक प्रत्यक्षके हो जाने पर भी जब तक सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हो जाता तब तक निर्विकल्पकमें प्रमाणता नहीं आ सकती।

बौद्ध संनिकर्षको प्रमाण नहीं मानते हैं, क्योंकि संनिकर्षके रहनेपर भी ज्ञानकी अपेक्षा रहती है। इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धका नाम संनि-

कर्ष है। सन्निकर्षके होनेपर भी ज्ञानके अभावमें सन्निकर्षमें प्रमाणता नही आ सकती। इसप्रकार बौद्ध नैयायिक-वैशेषिक द्वारा माने गये सन्निकर्षमें प्रमाणताका खण्डन करते हैं। किन्तु यही बात निर्विकल्पकको प्रमाण मानने भी है। निर्विकल्पकमें भी सविकल्पककी अपेक्षा रहती है। इसलिये चैतन्य होनेपर भी निर्विकल्पक प्रमाण नही है। जैसे कि सोये हुये व्यक्तिका चैतन्य। सोये हुये व्यक्तिका चैतन्य प्रमाण नही है, क्योंकि वह अनिश्चयात्मक होनेके कारण समारोपका विरोधी नही है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी अनिश्चयात्मक एवं समारोपका अविरोधी होनेसे प्रमाण नही है।

इसलिये अन्य मतोमे अनित्यत्वैकान्त आदि एकान्तोंको जो कल्पना है वह कल्पनामात्र ही है। उसकी सिद्धि किसी प्रमाणसे नही होती है। यही कारण है कि अर्हन्तके अनेकान्त शासनमें एकान्त द्वारा बाधा नही दी जा सकती। अत: 'यदिष्ट ते प्रसिद्धेन न बाध्यते' यह कथन सर्वथा युक्ति सगत है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अर्हन्तके द्वारा प्रतिपादित मोक्ष आदि तत्त्वोंको अबाधित होनेसे वही सर्वज्ञ एव वीतराग हैं, कपिलादि नही। क्योंकि एकान्तवादियाका इष्ट तत्त्व प्रमाणसे बाधित है। इसी बातको आचार्य कहते हैं -

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥

जिन्होंने आपके मतरूपी अमृतका स्वाद नही लिया है, जो सर्वथा एकान्तवादी हैं और जो 'हम आप्त हैं' इसप्रकारके अभिमानसे जले जा रहे हैं, उनका जो इष्ट तत्त्व है उसमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधा आती है।

अर्हन्तने अनेकान्तात्मक वस्तुका प्रतिपादन किया है। उस अनेकान्तात्मक वस्तुका ज्ञान प्राप्त करना ही अर्हन्तका मत है। अर्हन्तके मतको यहाँ अमृत कहा है। क्योंकि जिस प्रकार अमृतके पानसे व्यक्ति अमर हो जाता है, उसी प्रकार अर्हन्तके मतका ज्ञान हो जानेसे मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है, और मोक्षकी प्राप्ति हो जानेसे यह जीव सदाके लिये अजर, अमर हो जाता है। जिन लोगोंने अर्हन्तके मतको नही जाना है वे एकान्तवादी हैं। कोई क्षणिकैकान्तवादी है तो कोई नित्यत्वैकान्तवादी, कोई कहता है कि केवल शब्दमात्र ही तत्त्व है, तो कोई ब्रह्ममात्रकी ही सत्ता मानता है। कोई ज्ञानमात्रको ही तत्त्व मानता है, तो कोई कहता है कि संसारमें किसी

भी तत्त्वकी सत्ता नहीं है। अर्थात् केवल शून्य ही तत्त्व है। अनेकान्त शासनको ठीकसे न समझ सकनेके कारण ही ये सब एकान्तवादका मान रहे हैं। यद्यपि एकान्तवादी यथार्थमें आप्त नहीं हैं, फिर भी ये लोगोंको दिखाना चाहते हैं कि हम आप्त हैं। इसीलिये ये आप्तके अभिमानवश होकर अपने आप भीतर ही भीतर अभिमानरूपी अग्निसे जल रहे हैं। इन्होंने एकान्तको ही अपना इष्ट तत्त्व मान लिया है। किन्तु जब एकान्तकी परीक्षाकी जाती है तो उसमें प्रत्यक्षसे बाधा आती है। प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा यह भलीभाँति प्रतीत होता है कि कोई भी तत्त्व एक धर्मात्मक नहीं है, किन्तु अनेक धर्मात्मक है।

इस बातको सम्पूर्ण संसार अच्छी तरहसे जानता है कि बहिरङ्ग और अन्तरङ्गमें अनेकान्तात्मक वस्तुका साक्षात्कार होता है। इसीकारण वस्तुको एकधर्मात्मक माननेमें प्रत्यक्षसे बाधा आती है। चेतन आत्मा अन्तरङ्ग तत्त्व है और घट, पटादि बहिरंग तत्त्व हैं। अन्तरङ्ग या बहिरङ्ग ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं है जो केवल सत्रूप ही हो या असत्रूप ही हो, जो नित्यरूप ही हो या अनित्यरूप ही हो। किन्तु प्रत्येक तत्त्व सत् और असत्, नित्य और अनित्य, इस प्रकार उभयरूप है। सत् असत्का निराकरण नहीं करता, किन्तु असत्की अपेक्षा रखता है। नित्य अनित्यका और अनित्य नित्यका निराकरण नहीं करता किन्तु एक दूसरेकी अपेक्षा रखता है। प्रत्येक तत्त्व एकरूप भी है और अनेकरूप भी है। द्रव्यकी अपेक्षासे आत्मा एक है, और ज्ञान, दर्शन सुख आदिकी अपेक्षासे अनेक है। मिट्टीद्रव्यकी अपेक्षासे घट एक है, और वर्ण, आकार आदिकी अपेक्षासे अनेक है। चित्रज्ञानकी तरह।

चित्राद्वैतवादी एक मत है जो ज्ञानको चित्राकार मानता है। चित्राकारका अर्थ है कि ज्ञानमें नील, पीत आदि अनेक आकार पाये जाते हैं जैसे कि चितकबरी गौ आदिमें अनेक रंग पाये जाते हैं। अनेक आकार होनेपर भी ज्ञानकी एकतामें कोई विरोध नहीं आता। आकारोंकी अपेक्षासे ज्ञान अनेकरूप है, और ज्ञानकी अपेक्षासे एकरूप। यही बात आत्मा आदि तत्त्वोंके विषयमें है। ज्ञान, दर्शन, सुख आदिकी अपेक्षासे आत्मा अनेकरूप है और आत्मद्रव्यकी अपेक्षासे एकरूप। चित्रज्ञानाद्वैतवादी यह नहीं कह सकता कि सुखरूप आत्मासे ज्ञानरूप आत्मा भिन्न है और इस कारण वह एक नहीं है। क्योंकि ऐसी स्थितिमें नीलरूप आकारसे पीतरूप आकारको भिन्न होनेके कारण चित्रज्ञान भी अनेकरूप सिद्ध नहीं होगा। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि आत्मा एक रूप ही है, अनेक-

रूप नहीं, क्योंकि ऐसा कहनेपर चित्रज्ञानको भी एकरूप ही मानना पड़ेगा, और एकरूप माननेपर उसको चित्रज्ञान नहीं कह सकते। चित्र-ज्ञान उसीको कहते हैं जिसमें अनेक आकार पाये जावें। कुछ लोग चित्र-ज्ञानमें अनेक आकारोंका खण्डन करनेके लिए कहते हैं—

किं स्यात्सा चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां मतावपि।
यदीदं [illegible]मर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥ प्रमाणवा. २।२१०

क्या एक ज्ञानमें चित्रता (नाना आकार) हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। फिर भी यदि ज्ञानको चित्रता अच्छी लगती है तो इस विषयमें कोई क्या कर सकता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि ज्ञानमें चित्रता है नहीं, किन्तु अज्ञानवश कोई उसमें चित्रता माने तो इसमें कोई क्या कर सकता है।

इसके उत्तरमें यह भी कहा जा सकता है—

किन्तु स्यादेकता न स्यात्तस्यां [illegible]।
यदीदं रोचते बुद्ध्यै चित्रायै तत्र के वयम् ॥

क्या [illegible] एकता हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। फिर भी यदि चित्रज्ञानको एकता अच्छी लगती है तो इसमें हम क्या कर सकते हैं। इस प्रकार चित्रज्ञानमें अनेकाकारताकी तरह एकाकारताका भी खण्डन किया जा सकता है। यथार्थमें चित्रज्ञानमें न तो एकाकारता मिथ्या है और न अनेकाकारता। चित्रज्ञानमें दोनों आकार सत्य हैं। उसीप्रकार आत्मा आदि तत्त्व भी एकरूप और अनेकरूप हैं।

ज्ञान, सुख आदि चैतन्य आत्मारूप ही हैं, आत्मासे पृथक् इनकी सत्ता नहीं है। ज्ञान आदि अचेतन भी नहीं हैं। ज्ञान, सुख, आदि आत्मा-की अपेक्षासे एक हैं और अपनी-अपनी अपेक्षासे अनेक भी हैं।

बौद्ध कहते हैं कि सुख आदि ज्ञानरूप ही हैं, क्योंकि जिन कारणोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, उन्हीं कारणोंसे सुख आदिकी भी उत्पत्ति होती है। इस विषयमें धर्मकीर्तिने कहा है—

तदतद्रूपिणो भावास्तदतद्रू[illegible]जाः।
तत्सुखादि किमज्ञानं [illegible]जम् ॥ प्रमाणवा० १।२१५

जो पदार्थ जैसा होता है उसकी उत्पत्ति उसीप्रकारके कारणोंसे होती है। इस कारणसे सुख आदि अज्ञानरूप नहीं हो सकते, क्योंकि सुखादिकी उत्पत्ति ज्ञानोत्पादक कारणोंसे ही होती है।

बौद्धोंका उक्त कथन ठीक नहीं है। सुखादिकी उत्पत्ति सर्वथा उन्ही कारणोंसे नही होती जिनसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। सुखकी उत्पत्ति सातावेदनीयके उदयसे होती है और ज्ञानकी उत्पत्ति ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होती है। इसलिये दोनोंकी उत्पत्तिके कारणोंमें भिन्नता है। फिर भी दोनोकी उत्पत्तिके कारणोंमें कथंचित् अभिन्नता होनेसे दोनोमे एकता मानी जाय तो रूप, आलोक आदिको भी ज्ञानरूप मानना चाहिये। इसी प्रसगमें किसी दार्शनिकने कहा भी है—

[illegible] भावास्तदत[illegible]जाः ।
तद्रूपादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम् ॥

ज्ञानकी उत्पत्ति रूप, आलोक आदिकी सहायतासे होती है। रूप ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है, और रूपकी उत्पत्तिका भी कारण है। इसलिये रूपको भी ज्ञानरूप मानना चाहिये। क्योंकि दोनोकी उत्पत्तिके कारणमे कथंचित् (रूपकी अपेक्षासे) अभेद है। इसप्रकार ज्ञान और सुखादि सर्वथा एक नही हैं। चेतनत्वकी अपेक्षासे वे एक हैं, किन्तु अपने कार्य, स्वरूप आदिकी अपेक्षासे उनमे अनेकता भी है।

नैयायिक-वैशेषिक कहते हैं कि ज्ञानसे भिन्न होनेके कारण सुख आदि अचेतन है। उक्त कथन युक्तिसंगत नही है। सुख आदि चेतन आत्मासे अभिन्न होनेके कारण चेतन ही हैं, अचेतन नही। और आत्मामे चेतनता स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध होती है। आत्मा प्रमाता होनेसे भी चेतन है। घटादि अचेतन पदार्थ दूसरे पदार्थोंका ज्ञाता नही हो सकता। यह कहना ठीक नही है कि आत्मा स्वयं अचेतन होनेपर भी चेतनाके समवायसे चेतन प्रतीत होती है, क्योंकि जो वस्तु स्वयं अचेतन है उसमे चेतनाका समवाय भी नही हो सकता है। जैसे अचेतन आकाशमे चेतनाका समवाय नही हो सकता है। इसलिये आत्माको चेतन मानना आवश्यक है, और चेतन आत्मासे अभिन्न होनेके कारण सुखादि भी चेतन हैं।

जिसप्रकार अन्तरङ्ग तत्त्व (आत्मा) [illegible]कानेकात्मक है, उसीप्रकार बहिरंग तत्त्व (पुद्गलादि) भी एकरूप और अनेकरूप है। पु[illegible]लस्कन्धकी अपेक्षासे घट एक है। किन्तु उसी घटमें वर्ण, आकार आदि अनेक विशेषतायें पायी जाती हैं। अत: वही घट अनेकरूप भी है। पुद्गल परमाणुओंकी अपेक्षासे भी घट अनेकरूप है।

बौद्धोंका मत है कि अवयवीरूप (स्कन्धरूप) कोई वस्तु नहीं है, केवल परमाणुओंका ही प्रत्यक्ष होता है। यद्यपि एक [illegible]रमाणुका दूसरे

परमाणुके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी परमाणुओंमें परस्परमें अत्यन्त निकटता होनेके कारण भ्रान्तिवश अवयवीकी प्रतीति हो जाती है।

बौद्धोंका उक्त कथन अयुक्त है। प्रत्यक्षके द्वारा अवयवीरूप पदार्थकी ही प्रतीति होती है। और अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण परमाणुओंका ज्ञान कभी भी प्रत्यक्षसे नहीं होता है। प्रत्यक्षमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह परमाणुओंका ज्ञान कर सके। इसलिये यह कहना कि प्रत्यक्षसे परमाणुओंका ज्ञान होता है, स्कन्धका नहीं, प्रतीति विरुद्ध है।

कुछ लोग कहते हैं कि प्रत्यक्षसे स्कन्धकी ही प्रतीति होती है, और स्कन्धके अतिरिक्त वर्ण आदिका कोई अस्तित्व नहीं है। स्कन्धकी ही चक्षु आदि इन्द्रियके भेदसे वर्ण आदिरूपसे प्रतीति होती है, जैसे कि आँखमे अङ्गुली लगानेसे दीपककी एक ही लौ दो रूपसे दिखने लगती है। उक्त कथन भी समीचीन नहीं है। यदि भेदकी प्रतीति होनेपर भी अभेद माना जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि सत्ता ही एक तत्त्व है और द्रव्य, गुण आदि सब काल्पनिक हैं। जैसे केवल वर्णादिकी प्रतीति मानना असंगत है, उसीप्रकार केवल स्कन्धकी प्रतीति मानना भी असंगत है। अतः वर्णादि तथा स्कन्ध दोनोंकी प्रतीति होनेके कारण अन्तरङ्ग तत्त्वकी तरह बहिरङ्ग तत्त्व भी अनेकान्तात्मक है।

प्रत्यक्षसे सामान्य-विशेषरूप (अनेकान्तात्मक) तत्त्वकी ही प्रतीति होती है, और एकान्तरूप तत्त्वकी प्रतीति प्रत्यक्षसे कदापि नहीं होती। यतः प्रत्यक्षसिद्ध अनेकान्तात्मक वस्तुकी प्रतीति अथवा एकान्तकी अनुपलब्धि ही एकान्तवादियोंके मतका निराकरणकर देती है, अतः इस विषय में अन्य प्रमाण देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। न तो पदार्थ सामान्यरूप है और न विशेषरूप, और न पृथक् पृथक् उभयरूप। किन्तु वस्तुके साथ सामान्य और विशेषका तादात्म्य सम्बन्ध है। सामान्यसे विशेषको और विशेषसे सामान्यको पृथक् नहीं किया जा सकता। सामान्य और विशेष वस्तुकी आत्मा हैं। सामान्य और विशेषको छोड़कर वस्तुका अन्य कोई स्वरूप नहीं है। इस प्रकारकी सामान्य-विशेषात्मक वस्तुकी प्रतीति सज्जनोंको प्रत्यक्षसे होती है। और यह प्रत्यक्षसिद्ध प्रतीति ही एकान्तका निरास कर देती है। अथवा प्रत्यक्षसे एकान्तकी अनुपलब्धि एकान्तका निराकरण कर देती है। अतः एकान्तका निषेध करनेके लिये अनुमान आदि प्रमाणोंकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। प्रत्यक्ष सब प्रमा-

णोंमें ज्येष्ठ और गरिष्ठ है, क्योंकि प्रत्यक्षके अभावमें अन्य प्रमाणोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। तथा समारोपका निराकरण भी जैसा प्रत्यक्षसे होता है वैसा अन्य प्रमाणोंसे नहीं होता है। प्रत्यक्ष इस कारण भी गरिष्ठ है कि वह अपने विषयमें सामान्य और विशेषके विधिरूप अन्वयमें तथा एकान्तके प्रतिषेधरूप व्यतिरेकमें स्वभावभेद बतलाता है। अर्थात् वस्तुमें सामान्य और विशेषका अन्वय तथा एकान्तका व्यतिरेक ये दोनों एक नहीं हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न हैं, इस बातका ज्ञान प्रत्यक्षसे ही होता है। अनुमान न तो प्रत्यक्षसे ज्येष्ठ है और न गरिष्ठ। प्रत्यक्षके अभावमें अनुमानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः ज्येष्ठ और गरिष्ठ प्रत्यक्षसे जो बात सिद्ध है उसमें अनुमान आदि प्रमाणोंकी कोई आवश्यकता नहीं है।

शंका—जब अर्हन्त ही आप्त हैं और उनका इष्ट तत्त्व प्रत्यक्षसे अबाधित है, तो यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि कपिलादि आप्त नहीं हैं, तथा उनका इष्ट सर्वथैकान्त प्रत्यक्षसे बाधित है। फिर कपिलादिमें आप्तत्वके अभावको बतलानेकी तथा सर्वथैकान्तका निराकरण करनेकी क्या आवश्यकता है।

उत्तर—अनेकान्तकी उपलब्धि और एकान्तकी अनुपलब्धि ये दोनों एक हैं। अर्थात् अनेकान्तकी उपलब्धि ही एकान्तकी अनुपलब्धि है, और एकान्तकी अनुपलब्धि ही अनेकान्तकी उपलब्धि है, इस बातको बतलानेके लिये दोनों बातोंको कहा है। इसी बातको दूसरे प्रकारसे भी कह सकते हैं कि किसी बातकी सिद्धिके लिए अन्वय और व्यतिरेक दोनोंका कथन असंगत नहीं है। अर्हन्त ही आप्त हैं और उनका इष्ट तत्त्व अबाधित है, इस बातकी सिद्धि अन्वय है। कपिलादि आप्त नहीं हैं तथा उनका इष्ट तत्त्व सर्वथैकान्त बाधित है, यह बतलाना व्यतिरेक है। अतः अन्वय और व्यतिरेक दोनोंका कथन धर्मकीर्तिके मतका निराकरण करनेके लिए किया गया है।

बौद्धोंके आचार्य धर्मकीर्तिने कहा है कि अन्वय और व्यतिरेकमेंसे किसी एकके प्रयोग करनेसे ही अर्थका ज्ञान हो जाता है। इसलिए दोनोंका प्रयोग करना तथा पक्ष आदिका कहना निग्रहस्थान है।

बौद्धोंका मत है कि अन्वय और व्यतिरेकमेंसे किसी एकका ही प्रयोग करना चाहिए। यदि दोनों का प्रयोग किया जाता है तो निग्रहस्थान (पराजयका स्थान) होनेसे वादीकी पराजय होती। इसीप्रकार अनुमानके पाँच अवयवोंमें हेतु और दृष्टान्तका ही प्रयोग करना चाहिए, प्रतिज्ञा आदिका नहीं। क्योंकि प्रतिज्ञा आदिके द्वारा जो अर्थ कहा जाता है

उसका ज्ञान हेतु और दृष्टान्तसे ही हो जाता है। फिर भी यदि प्रतिज्ञा आदिका प्रयोग किया जायगा तो निग्रहस्थानकी प्राप्ति होगी।

उक्त मत ठीक नहीं है। जो वादी निर्दोष हेतुके द्वारा अपने पक्षको सिद्ध कर रहा है, वह यदि अधिक वचनोंका प्रयोग करे तो इतने मात्रसे उसकी पराजय नहीं हो सकती। क्योंकि 'स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभावात्', इस उक्तिके अनुसार अपने साध्यको सिद्ध करके यदि कोई नाचता भी फिरे तो ऐसा करनेसे उसे कोई दोष नही दिया जा सकता। और यदि वादी अपने पक्षको सिद्ध न करके अधिक वचनोंका प्रयोग कर रहा है, तो स्वपक्षसिद्धि न होनेसे ही उसकी पराजय निश्चित है, तब अधिक वचनोंके प्रयोगसे उसकी पराजय कहना व्यर्थ है। प्रतिवादी भी यदि वादीके पक्षका खण्डन करके अपने पक्षकी सिद्धि करता है, तो इतने मात्रसे ही वादीकी पराजय हो जाती है। यह कहना व्यर्थ ही है कि वादी-ने अधिक वचनोका प्रयोग क्यों किया। और यदि प्रतिवादी अपने पक्षकी सिद्धि नही कर पाता है, तो वादीके वचनाधिक्यसे वादीकी पराजय और प्रतिवादीकी जय नही हो सकती है। अन्वय और व्यतिरेक दोनों साधनके अङ्ग है। अतः दोनोंके प्रयोग करनेमें कोई हानि नही है।

यही बात प्रतिज्ञा आदिके प्रयोगके विषयमें है। 'इस पर्वतमें वह्नि है', इस वचनको प्रतिज्ञा कहते। जहाँ साध्य सिद्ध किया जाता है उस स्थानको पक्ष कहते हैं, और पक्षका वचन ही प्रतिज्ञा है। प्रतिज्ञाका प्रयोग अनावश्यक नही है। यदि प्रतिज्ञाका प्रयोग नही किया जायगा तो साध्यके आधारका ज्ञान ही नही हो सकेगा। वादी यदि अविनाभावी हेतुसे अपने पक्षकी सिद्धि कर रहा है, तो प्रतिज्ञा आदिके प्रयोगसे उसकी पराजय नही हो सकती है। शिष्योंके अभिप्रायके अनुसार उदाहरण, उपनय और निगमनका प्रयोग करना आवश्यक भी है। जो विद्वान् प्रतिपत्ता प्रतिज्ञा और हेतुके प्रयोगसे ही पूरे अर्थको समझ लेता है, उसके लिए उदाहरण आदिके प्रयोग करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु जो अल्पज्ञ इतने मात्रसे नहीं समझ सकता है, उसको समझानेके लिए उदाहरण आदिका प्रयोग अवश्य करना चाहिये।

कथायें दो प्रकारकी होती हैं—वीतराग कथा और विजिगीषु कथा। राग-द्वेष रहित गुरु-शिष्योंमें या विद्वानोंमें किसी तत्त्वके निर्णयके लिए जो परस्परमें विचार-विमर्श होता है, वह वीतराग कथा है। वीतराग कथाको शास्त्र भी कहते हैं। दो विद्वानोंमें या दो पक्षोंमें जय-पराजयकी

इच्छासे किसी विषयपर जो वाद-विवाद होता है, वह विजिगीषु कथा है। विजिगीषु कथाको वाद भी कहते हैं। यदि कोई ऐसा कहता है कि शास्त्रमे प्रतिज्ञाका प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु वादमे प्रतिज्ञाका प्रयोग ठीक नही है, तो उसका कहना अयुक्त है। क्योंकि यदि वादमे प्रतिज्ञाका प्रयोग अनुपयुक्त है, तो शास्त्रमें भी प्रतिज्ञाका प्रयोग अनुपयुक्त होना चाहिये, क्योंकि तत्त्वका निर्णय तो दोनोंमें समानरूपसे किया जाता है। शास्त्रमे आचार्य मन्दमति वाले शिष्योंके उपकार तथा समझानेकी दृष्टिसे प्रतिज्ञाका प्रयोग करते हैं। यही बात वादमे भी है। वादमें वाद-विवाद करनेके इच्छुक मन्दमति वाले न हो, ऐसी बात नही है। किन्तु वादमें भी मन्दमति वाले विजिगीषु होते हैं। अत उनको पदार्थका ठीक-ठीक ज्ञान करानेके लिए प्रतिज्ञाका प्रयोग करना आवश्यक है।

बौद्ध हेतुके तीन रूप मानते हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति। हेतुका पक्षमें रहना पक्षधर्मत्व है। सपक्षमे हेतुका सद्भाव होना सपक्षसत्त्व है। विपक्षमें हेतुका न रहना विपक्षव्यावृत्ति है। जहाँ साध्य सिद्ध किया जाता है उस स्थानका नाम पक्ष है। पक्षके अतिरिक्त अन्यत्र जहाँ-जहाँ साध्य पाया जाता है वह सब सपक्ष है। जहाँ सर्वदा साध्यका अभाव पाया जाता है वह विपक्ष है। 'इस पर्वतमे वह्नि है, धूम होनेसे,' इस अनुमानमे वह्नि साध्य है, धूम हेतु है, पर्वत पक्ष है, रसोईघर सपक्ष है, और सरोवर विपक्ष है। बौद्ध साध्यकी सिद्धिके लिए त्रिरूप हेतुका प्रयोग करके उसका समर्थन करते हैं। हेतुमें असिद्ध आदि दोषोंका परिहार करना अथवा हेतुकी साध्यके साथ व्याप्ति सिद्ध करके पक्षमें हेतुका सद्भाव बतलाना हेतुका समर्थन कहलाता है।

बौद्ध हेतुके तीन भेद मानते हैं—स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि। 'यत्सत् तत्सर्वं क्षणिकं यथा घटः, संश्च शब्दः'। 'जो सत् होता है वह क्षणिक होता है, जैसे घट। शब्द भी सत् है।' इस अनुमानमें क्षणिकत्व साध्य है और सत्त्व स्वभाव हेतु है। सत्त्व हेतुका समर्थन इस प्रकार होगा। क्षणिक पदार्थमें ही सत्त्व पाया जाता है, अक्षणिक (नित्य)में नहीं। क्योंकि अक्षणिक पदार्थमें अर्थक्रिया नही हो सकती है। नित्य पदार्थ न तो क्रमसे काम कर सकता है, और न युगपत्। नित्य पदार्थमें अर्थक्रिया न होनेके कारण सत्त्वका अभाव निश्चित है। अतः सत्त्वकी व्याप्ति क्षणिकत्वके साथ ही है। यह स्वभाव हेतुका समर्थन है। 'पर्वतोऽयं वह्निमान्

धूमवत्वात् ।' 'इस पर्वतमें वह्नि है, धूम होनेसे ।' इस अनुमानमें धूम कार्य हेतु है। धूम हेतुका समर्थन इस प्रकार होगा। वह्निके होनेपर ही धूम होता है। अन्य कारणोंके होनेपर भी वह्निके अभावमें धूम कभी नहीं होता। यह कार्य हेतुका समर्थन है। 'अत्र घटो नास्ति अनुपलब्धे:'। 'यहाँ घट नही है, अनुपलब्ध होनेसे।' इस अनुमानमे घटका अभाव साध्य है, और अनुपलब्धि हेतु है। अनुपलब्धि हेतुका समर्थन इस प्रकार होगा। यदि यहाँ घट होता तो उसकी उपलब्धि नियमसे होती। क्योकि घटका स्वभाव उपलब्ध होनेका है, तथा उपलब्धिके कारण चक्षु, प्रकाश आदिका भी सद्भाव है। अनुपलब्धिसे उस वस्तुका अभाव नही किया जा सकता जिसका स्वभाव उपलब्ध होनेका नही है। जैसे पिशाच या परमाणुका अभाव नही किया जा सकता है। उपलब्धिके योग्य होनेपर भी घटकी उपलब्धि नही हो रही है, अत: घटका अभाव है। यह अनुपलब्धि हेतुका समर्थन है।

बौद्ध हेतुका प्रयोग करनेके बाद उसका समर्थन भी करते हैं, फिर भी प्रतिज्ञाके प्रयोगको अनर्थक बतलाते हैं, यह कहाँ तक उचित है। यदि हेतुके प्रयोगमात्रसे ही साध्यका ज्ञान हो जाता है, तो प्रतिज्ञाके प्रयोगकी तरह हेतुका समर्थन व्यर्थ है। यदि कहा जाय कि असिद्ध आदि दोषोंके परिहारके लिए हेतुका समर्थन आवश्यक है, तो फिर समर्थनको ही अनुमानका अवयव मानना चाहिए। तब हेतुके प्रयोगकी कोई आवश्यकता नही है। यदि यह माना जाय कि हेतुके अभावमें किसका समर्थन होगा, तो प्रतिज्ञाके विषयमे भी यही बात है। अर्थात् प्रतिज्ञाके अभावमे हेतु कहाँ रहेगा। यदि प्रतिज्ञाके द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ हेतुके कहने मात्रसे ही समझमे आ जाता है, तो हेतु भी समर्थनसे ही ज्ञात हो जायगा। यदि मन्दमति वालोको स्पष्ट बोध करानेके लिए हेतुका प्रयोग आवश्यक है, तो प्रतिज्ञाके प्रयोगमे भी यही तर्क है। अत: हेतुके प्रयोगकी तरह प्रतिज्ञाका प्रयोग भी सार्थक है।

बौद्ध कहते हैं कि समर्थनको विपक्षव्यावृत्तिरूप होनेसे हेतुके तीन रूपोमेंसे वह एक रूप है, हेतुसे पृथक् नही है। यदि समर्थनको नही कहेंगे तो असाधनाङ्ग वचन (साधनके अङ्गको नहीं कहना) नामका निग्रह स्थान होगा। किन्तु क्या यही तर्क प्रतिज्ञाके प्रयोगमें भी नहीं दिया जा सकता। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच अनुमानके अंग हैं। यदि पाँचमेंसे कमका प्रयोग किया जायगा तो न्यून नामका निग्रह स्थान होगा। क्योंकि 'हीनमन्यतमेनापि न्यूनम्', पाँच अवयवोंमें-

से यदि एक भी कम हो तो न्यून नामक निग्रहस्थान होता है, ऐसा न्याय-सूत्रमें कहा गया है। इसलिये प्रतिज्ञा तथा हेतुके प्रयोगमें समान तर्क पाया जाता है। यदि हेतुका प्रयोग आवश्यक है तो प्रतिज्ञाका प्रयोग भी आवश्यक है। फिर भी यदि प्रतिज्ञाका प्रयोग करनेसे अतिरिक्त वचनके कारण असाधनाङ्ग वचन (जो साधनका अंग नहीं है उसको कहना) नामक निग्रहस्थान होता है, तो शब्दमें क्षणिकत्व सत्त्व हेतुसे ही सिद्ध हो जाता है, फिर शब्दमें क्षणिकत्वकी सिद्धिके लिए उत्पत्तिमत्त्व, कृतकत्व आदि हेतुओंका प्रयोग करनेसे अतिरिक्त वचनके कारण वादीकी पराजय निश्चित है। कृतकत्व, प्रयत्नानन्तरीयकत्व इत्यादि हेतुओंमें 'क' वर्ण को अतिरिक्त वचन होनेसे भी पराजय होगी।

यदि यह नियम माना जाय कि अतिरिक्त वचन होनेसे असाधनाङ्ग वचन नामक निग्रहस्थानकी प्राप्ति होती है, और ऐसे निग्रहस्थानसे वादीकी पराजय होती है, तो शब्दमें क्षणिकता सिद्ध करनेके लिये सत्त्व, उत्पत्तिमत्त्व, कृतकत्व आदि अनेक हेतुओंके प्रयोगके कारण अतिरिक्त वचन होनेसे स्वयं बौद्धोंकी पराजय होगी। 'अनित्यः शब्दः सत्त्वात्' इस प्रकार सत्त्व हेतुके प्रयोगसे ही शब्दमें क्षणिकत्व सिद्ध हो जाता है। पुनः क्षणिकत्वकी सिद्धिके लिये 'उत्पत्तिमत्त्वात्' 'कृतकत्वात्' आदि हेतुओंका प्रयोग करना अतिरिक्त वचन है। 'यत् सत् तत्सर्वं क्षणिकं यथा घटः' इतना कहनेसे ही शब्दमें क्षणिकत्वकी सिद्धि हो जाती है, तब 'संश्च-शब्दः' इस प्रकार पक्षधर्मका कथन भी अतिरिक्त वचन है। तथा हेतुके प्रयोगसे ही जब काम चल सकता है, तब हेतुका समर्थन भी अतिरिक्त वचन है। उक्त अतिरिक्त वचनोंके प्रयोगसे असाधनाङ्ग वचन निग्रह-स्थान होनेके कारण वादीकी पराजय नियमसे होगी। अतः इस दोषको दूर करनेके लिये यह मानना आवश्यक है कि गम्यमान अर्थको कहनेके कारण यद्यपि प्रतिज्ञा आदिका प्रयोग अतिरिक्त वचन है, फिर भी प्रतिज्ञा का प्रयोग करनेसे असाधनाङ्गवचन नामक निग्रहस्थान नहीं होता है, और न इतने मात्रसे वादीकी पराजय होती है।

शंका—यदि अतिरिक्त वचनसे निग्रहस्थान नहीं होता है, तो अप्रस्तुत (जिसका प्रकरण न हो) वस्तुके प्रयोगसे भी निग्रहस्थान नहीं होगा। जैसे वाद-विवादके समय कोई नाटक करने लगे या ढोल बजाने लगे तो यह भी निग्रहस्थान नहीं होगा।

उत्तर—केवल अप्रस्तुत बातके प्रयोगके कारण वादीका निग्रह कभी नहीं होगा। वादी यदि अपने पक्षकी सिद्धि कर रहा है तो अन्य किसी

कारणसे उसकी पराजय नहीं हो सकती। इस बातको पहिले भी बतला आये हैं कि अपने साध्यको सिद्ध करके यदि वादी नाचता भी फिरे तो इसमें कोई दोष नहीं है। प्रतिवादी यदि अपने पक्षकी सिद्धि करता है, तो स्वपक्षसिद्धिसे ही प्रतिवादीको जय तथा वादीकी पराजय सुनिश्चित है, न कि अप्रस्तुत वस्तुके वचनके कारण। इसी प्रकार साधनके सब अंगोंको नहीं कहनेसे वादीको निग्रह स्थान होता है, तथा वादीके हेतुमें दोष न होनेपर भी दोष बतलानेसे और दोष होनेपर भी नहीं बतलानेसे प्रतिवादीको निग्रह स्थान होता है, ऐसा मानना ठीक नहीं है। जय या पराजय कम कहनेसे या अधिक कहनेसे, दोष बतलानेसे या दोष नहीं बतलानेसे नहीं होती है। किन्तु परपक्षका सयुक्तिक खण्डन करके अपने पक्षको सिद्ध करनेसे अपनी जय और परकी पराजय होती है। किसी एककी स्वपक्षसिद्धि होनेसे ही दूसरेकी पराजय हो जाती है। असाधनांग-वचनसे अथवा अदोषोद्भावनसे किसीकी पराजय नहीं होती।

उपर्युक्त विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो जय-पराजयकी इच्छा रखता है उसको स्वपक्षसिद्धि एवं परपक्षदूषण ये दो बातें अवश्य करना चाहिए। यही कारण है कि स्वामी समन्तभद्राचार्यने 'स त्वमेवासि निर्दोषः' इस कारिकाके द्वारा स्वपक्षसिद्धि और त्वन्मतामृत-बाह्यानाम्' इस कारिकाके द्वारा परपक्षका निराकरण किया है। यद्यपि स्वपक्षसिद्धिसे ही परपक्षका निराकरण हो जाता है, फिर भी स्पष्ट बोध करानेके लिए परपक्षका निराकरण करना आवश्यक है। गम्यमान बातके कहनेमें कोई दोष नहीं है।

प्रश्न—एकान्तवादियोंके यहाँ भी पुण्य-पापरूप कर्म, परलोक आदि-की प्रसिद्धि होनेसे उनके इष्टदेव भी आप्त क्यों नहीं हो सकते ?

इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं ?

कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्।
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु ॥ ८ ॥

हे भगवन्। जो वस्तुके अनन्त धर्मोंमेंसे किसी एक ही धर्मको मानते हैं ऐसे एकान्तग्रहरक्त नर अपने भी शत्रु हैं, और दूसरेके भी शत्रु हैं। उनके यहाँ पुण्यकर्म एवं पापकर्म तथा परलोक आदि कुछ भी नहीं बन सकता है।

यह पहिले बतला चुके हैं कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसमें केवल एक ही धर्म हो। फिर भी कुछ लोग

अज्ञानवश वस्तुको एक धर्मात्मक होनेकी कल्पना करते हैं। कोई कहता है कि वस्तु सत् ही है, तो कोई कहता है कि वस्तु असत् ही है। कुछ लोग मानते हैं कि वस्तु नित्य ही है, तो कुछ लोगोंकी धारणा है कि वस्तु अनित्य ही है। इस प्रकार वस्तुमें केवल एक धर्मको मानने वाले एकान्तवादी हैं। स्वमतमें अनुरागके कारण ये लोग एकान्तवादके आग्रहको नहीं छोड़कर स्वयं अपना अकल्याण तो कर ही रहे हैं, साथमें अन्य लोगोंका भी अहित कर रहे हैं। वस्तुतत्त्वको ठीक ठीक न समझनेके कारण एकान्तवादियोंको सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता है, और सम्यग्ज्ञानके अभावमें संसारके परिभ्रमणसे छूटना असंभव है।

एकान्तवादियोंके यहाँ कर्म, कर्मफल, बन्ध, मोक्ष, इहलोक, परलोक आदि कुछ भी नहीं बन सकता है। 'स्वपर वैरिषु'का अर्थ निम्न प्रकार भी किया गया है। पुण्य-पाप कर्म, कर्मफल, परलोक आदि स्व हैं, क्योंकि एकान्तवादियोंने इनको माना है। तथा अनेकान्त पर है, क्योंकि एकान्तवादियोंने अनेकान्तका निषेध किया है। ये लोग पर (अनेकान्त)के वैरी होनेके कारण स्व (कर्म आदि)के भी वैरी हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि अनेकान्तके अभावमें पुण्य-पाप कर्म आदिकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। एकान्तवादमें क्रमसे या अक्रम (युगपत्)से कोई भी कार्य नहीं हो सकता है। क्रम और अक्रमकी व्याप्ति अनेकान्तके साथ है। एकधर्मात्मक वस्तुमें क्रम और अक्रमके अभावमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती, और अर्थक्रियाके अभावमें कर्म आदिकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकेगी। मन, वचन और कायकी क्रियासे कर्मका आगमन होता है। जब एकधर्मात्मक वस्तु न क्रमसे कार्य करती है और न अक्रमसे, तो क्रियाके अभावमें कर्मकी उत्पत्ति कैसे होगी। यही बात परलोक आदिके विषयमें जानना चाहिए। कर्मके अभावमें तप, जप आदिके अनुष्ठानसे भी कोई लाभ नहीं है। क्योंकि एकान्तवादमें तप आदिके करनेसे कर्मक्षय, मोक्ष आदिकी प्राप्ति संभव नहीं है। सत्त्वैकान्त, असत्त्वैकान्त नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त आदि एकान्तवादोंमें जप, तप आदिके अनुष्ठानसे पुण्यकर्म आदिकी उत्पत्ति होना असंभव है।

शंका—सत्त्वैकान्तवादी (जो पदार्थको सर्वथा सत् ही मानता है) के यहाँ कर्म, कर्मफल, मोक्ष आदिकी उत्पत्ति न हो, यह ठीक है, क्योंकि उसके यहाँ सब पदार्थ सर्वथा सत् हैं। और यह नियम है कि सत् वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती है। किन्तु असत्त्वैकान्तवादी (जो पदार्थको सर्वथा

असत् मानता है) के यहाँ पदार्थोंको असत् होनेके कारण कर्म आदिकी उत्पत्तिमें कोई बाधा नहीं आती है। असत् वस्तुकी ही उत्पत्ति होती है, सत्की नहीं।

उत्तर—जिस प्रकार सत्त्वैकान्तवादीके मतमें कर्म आदिकी उत्पत्तिका विरोध है, उसी प्रकार असत्त्वैकान्तवादीके मतमें भी कर्म आदिकी उत्पत्तिका विरोध है। जो वस्तु विद्यमान है उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। घटके एक बार उत्पन्न होने पर पुनः वही घट दूसरी बार उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार जो वस्तु असत् है उसकी भी उत्पत्ति नहीं होती है। वन्ध्यापुत्र, आकाशपुष्प आदिकी उत्पत्ति कभी किसीने नही देखी। असत्त्वैकान्तवादीके यहाँ सब प्रतिभास अविद्या हेतुक होते है। संवृतिसत् होनेसे अविद्या असत् है, पदार्थ असत् हैं और पदार्थोंका प्रतिभास भी असत् है। इस प्रकार जब सब कुछ असत् है, तो किसी वस्तुकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है।

ऊपर सत्त्वैकान्तवादी तथा असत्त्वैकान्तवादीके मतमें जो दोष दिया गया है, वही दोष ज्ञानमात्रकी सत्ता माननेवाले योगाचार तथा ज्ञान और अर्थ दोनोंकी सत्ता माननेवाले सौत्रान्तिकके मतमें भी आता है। अर्थात् इन मतोंमें भी कार्यको उत्पत्ति संभव नहीं है। योगाचारके यहाँ पूर्व ज्ञानक्षणका उत्तर ज्ञानक्षणके साथ कोई सम्बन्ध नही है। सौत्रान्तिकके यहाँ भी पूर्व ज्ञानक्षण तथा पूर्व अर्थक्षणका उत्तर ज्ञानक्षण तथा उत्तर अर्थक्षणके साथ कोई सम्बन्ध नही है। दोनों क्षणोंकी सत्ता स्वतंत्र है। जब पहिला क्षण पूर्णरूपसे समाप्त हो जाता है तब दूसरे क्षणकी उत्पत्ति होती है। घटके फूटनेसे कपालकी उत्पत्ति नही होती है, किन्तु घटका फूटना अन्य बात है, और कपालकी उत्पत्ति दूसरी बात है। अभिप्राय यह है कि योगाचार और सौत्रान्तिक मतमें दो क्षणोंमें कोई अन्वय न होनेसे कार्यकी उत्पत्तिका कोई हेतु नहीं है। और हेतुके अभावमें कार्यकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है। पूर्वक्षणके बाद ही उत्तरक्षणकी उत्पत्ति होनेसे पूर्वक्षणको उत्तरक्षणका कारण मानना ठीक नहीं है। क्योंकि पूर्वक्षण उत्तरक्षणकी उत्पत्ति कालमें विद्यमान नहीं रहता है। कारण वही हो सकता है जो कार्यकालमें विद्यमान हो। पूर्वक्षण उत्तरक्षणकी उत्पत्तिके समय विद्यमान नहीं रहता है। अतः वह चिरकाल पहले विनष्ट क्षणकी तरह उत्तरक्षणका कारण नही हो सकता। जब पूर्वक्षणके रहनेपर उत्तरक्षणकी उत्पत्ति नही होती है, और पूर्वक्षणके नष्ट हो जानेपर नियमसे उत्तरक्षणकी उत्पत्ति हो जाती है, तो उत्तरक्षण पूर्वक्षणका कार्य कैसे माना जा

सकता है। पूर्वक्षणके अनन्तर ही उत्तरक्षणकी उत्पत्तिका नियम भी नहीं बन सकता है। क्योंकि कालान्तरमें भी उत्तरक्षणकी उत्पत्ति हो सकती है। जिस प्रकार उत्तरक्षणवर्ती कालमें पूर्वक्षणका अभाव है, वैसे कालान्तरमें भी उसका अभाव है। अतः कालान्तरमें भी उत्तरक्षणकी उत्पत्ति संभव है।

शंका—कहीं कहीं पर कालान्तरमें भी कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है। चूहा और कुत्ताके काटने पर कुछ समय बाद विषका विकार देखा जाता है। तथा हाथमें राज्यसूचक रेखा जन्मके समय होती है और राज्य की प्राप्ति बहुत काल बाद होती है।

उत्तर—हम देखते हैं कि समर्थ कारणके रहने पर भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है और कालान्तरमें स्वयं ही कार्यकी उत्पत्ति हो जाती है। फिर भी उस कार्यको चिरकाल पूर्ववर्ती कारणसे उत्पन्न माना जाता है तो नित्यैकान्तमें भी अर्थक्रिया क्यों नहीं होगी। जिस प्रकार क्षणिकैकान्तमें कारणका सदा अभाव है उसी प्रकार अक्षणिकैकान्तमें कारणका सदा सद्भाव है। यदि क्षणिकैकान्तमें कारणके अभावमें भी अर्थक्रिया होती है, तो अक्षणिकैकान्तमें भी कारणके सदा सद्भावमें अर्थक्रिया अवश्य होना चाहिये।

यदि क्षणवर्ती एक कारणसे स्वभावभेद न होने पर भी अनेक कार्यों-की उत्पत्ति हो जाती है, तो एक स्वभाव वाले नित्य पदार्थसे भी कार्यकी उत्पत्ति होनेमें कौन सा विरोध है। जैसे उत्पन्न हुये घटकी तरह सत्की उत्पत्ति होनेमें विरोध है वैसे आकाशपुष्पकी तरह असत्को उत्पत्तिमें भी तो विरोध है। पदार्थ नित्य होकर भी क्रमसे अनेक पर्यायोंको धारण कर सकता है। ऐसा माननेमें कोई विरोध नहीं है। जैसे योगाचारके मतमें एक क्षणिक ज्ञानमें ग्राहकाकार और ग्राह्याकार आदि कई आकार पाये जाते हैं, उसी प्रकार नित्य पदार्थमें भी अनेक स्वभाव हो सकते है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ज्ञानमें कोई आकार नहीं हैं। क्योंकि आकारके अभावमें ज्ञानमें शून्यता मानना पड़ेगी। किन्तु शून्यता और ज्ञानमें विरोध है। ज्ञान वस्तु है और शून्यता अभाव है। अतः ज्ञानमें आकार मानना आवश्यक है। यदि क्षणिक पदार्थ अपने कालमें ही कार्यको उत्पन्न करता है, तो कार्योंकी उत्पत्ति क्रमसे नहीं हो सकती है। तब सब कार्यों-की उत्पत्ति एक क्षणमें ही हो जाना चाहिये। यदि ऐसा माना जाय कि क्षणिक पदार्थ कालान्तरमें कार्यको उत्पन्न करता है, तो यहाँ दो विकल्प

होते हैं—कारण कार्यकालमें विद्यमान रहता है या नहीं। यदि कारण कार्यकालमें भी विद्यमान रहता है तो अनेक क्षणोंमें रहनेके कारण वह क्षणिक नहीं हो सकता। और ऐसी स्थितिमें क्षणभङ्गका भङ्ग अनिवार्य है। और यदि कारण कार्यकालमें नहीं रहता है, तो उस कारणसे कार्यकी उत्पत्ति मानना केवल मिथ्या कल्पना है। नित्य पदार्थमें क्रम और अक्रमसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। फिर भी नित्यैकान्तवादी सांख्य आदि अर्थक्रियाकी मिथ्या कल्पना करते हैं। उसी प्रकार क्षणिक पदार्थमें भी अर्थक्रिया न हो सकने पर भी क्षणिकैकान्तवादी उसमें अर्थक्रियाकी मिथ्या कल्पना करते हैं।

इसलिये स्वामी समन्तभद्राचार्यने ठीक ही कहा है कि एकान्तवादियोंके मतमे, चाहे वे क्षणिकैकान्तवादी हों या अक्षणिकैकान्तवादी, कर्म, कर्मफल, परलोक, मोक्ष आदि कुछ भी नही बन सकता है। क्योंकि एकान्तवादमे अर्थक्रियाका होना असभव है। इसीलिये एकान्तवादी स्व-पर वैरी है। इसके विपरीत अनेकान्तात्मक वस्तुका प्रतिपादन करनेवाले अर्हन्त स्व और परके कल्याणमे ही प्रवृत्त होते हैं, अत वही स्तुत्य है।

प्रश्न—पदार्थोंका सद्भाव ही है या पदार्थ सत् ही हैं, किसी भी अपेक्षासे असत् नही है, इस प्रकारका भावैकान्त माननेमें क्या दोष है? इसके उत्तरमे आचार्य कहते हैं :—

भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात् ।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥९॥

पदार्थोंका सद्भाव ही है, ऐसा भावैकान्त मानने पर पदार्थोंके अन्योन्याभाव आदि चार प्रकारके अभावका निराकरण होनेसे सब पदार्थ सब रूप हो जायेंगे। इसी प्रकार सब पदार्थ अनादि, अनन्त और स्वरूप रहित भी हो जायेंगे।

अभावके चार भेद हैं—अन्योन्याभाव, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। एक पदार्थका दूसरे पदार्थमे जो अभाव है उसका नाम अन्योन्याभाव है। घटका अभाव पटमें है और पटका अभाव घटमें है। अथवा घट पटरूप नही है और पट घटरूप नही है। यह अन्योन्याभाव है। वस्तुकी उत्पत्तिके पहिले जो अभाव रहता है वह प्रागभाव है। घटकी उत्पत्तिके पहिले जो घटका अभाव रहा, वह घटका प्रागभाव है। पदार्थका नाश होनेके बादका जो अभाव है, वह प्रध्वंसाभाव है। घटके फूट जाने पर

घटका जो अभाव है, वही घटका प्रध्वंसाभाव है। एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें जो सदा अभाव रहता है वह अत्यन्ताभाव है। त्रिकालमें भी चेतन अचेतन नहीं हो सकता और अचेतन चेतन नहीं हो सकता। अतः चेतनका अचेतनमें और अचेतनका चेतनमें जो अभाव है, वह अत्यन्ताभाव है। घट और पटमें अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि घट और पट पर्यायके नष्ट हो जाने पर घटके परमाणु पटरूप हो सकते हैं और पटके परमाणु घटरूप। अतः घट और पटमें अत्यन्ताभाव न होकर अन्योन्याभाव है।

उक्त चार प्रकारके अभावोंमेंसे यदि अन्योन्याभाव न माना जाय तो सब पदार्थ सबरूप हो जांयगे। एक पदार्थका अभाव दूसरे पदार्थमें न रहनेसे घट पटरूप हो जायगा और पट घटरूप हो जायगा। और यदि घट पटरूप है और पट घटरूप, तो घटका काम पटको भी करना चाहिये और पटका काम घटको भी करना चाहिये। किन्तु ऐसा कभी नहीं देखा गया। अतः अन्योन्याभावका सद्भाव मानना आवश्यक है।

प्रागभावके न माननेसे सब पदार्थ अनादि हो जांयगे। आज जो घट उत्पन्न हुआ वह आज ही क्यों हुआ, इसके पहिले क्यों नही हुआ। इसका उत्तर यह है कि आज तक इस घटका प्रागभाव था। यदि प्रागभाव नही है तो अनादिकालसे ही घटका सद्भाव होना चाहिये। प्रागभावके अभावमें घटकी उत्पत्तिका कोई प्रश्न ही नहीं है। इस प्रकार प्रागभावके न मानने पर किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति नही बनेगी और सब पदार्थोंको अनादि मानना पड़ेगा। किन्तु हम देखते हैं कि पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है, और कोई भी पदार्थ एकान्तरूपसे अनादि नही है। अतः प्रागभावका मानना आवश्यक है।

प्रध्वंसाभावके न माननेसे सब पदार्थ अनन्त हो जांयगे और किसी भी पदार्थका अन्त नही होगा। घटमें पत्थर मारनेसे घट नष्ट हो जाता है, और घटका सद्भाव नही रहता। जब प्रध्वंसाभाव ही नही है, तो पत्थर मारने पर भी घट नही फूटेगा और घटका नाश नही होगा। इसी प्रकार अन्य पदार्थोंका भी नाश नही होगा। किन्तु हम देखते हैं कि पदार्थोंका अन्त होता है। कोई भी पदार्थ एकान्तरूपसे अनन्त नहीं है। अतः प्रध्वंसाभावका मानना आवश्यक है।

अत्यन्ताभावके न माननेसे चेतन अचेतन हो जायगा और अचेतन चेतन हो जायगा। पुद्गल चेतन नहीं है, और चेतन पुद्गल नहीं है।

इसका नियामक कुछ भी नहीं रहेगा। ऐसी स्थितिमें चेतन और अचेतन-के स्वरूपका भी अभाव हो जायगा। अतः सब पदार्थोंमे अपने अपने स्वरूपके नियामक अन्यन्ताभावका सद्भाव मानना आवश्यक है।

सांख्यके अनुसार प्रकृति, पुरुष आदि पच्चीस तत्त्वोंका सद्भाव ही है, अभाव नही। प्रधान और अव्यक्त ये प्रकृतिके पर्यायवाची शब्द हैं। अव्यक्तसे जिन बुद्धि आदि २३ तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है उनको व्यक्त कहते हैं। यदि व्यक्त और अव्यक्तमे अन्योन्याभाव नही है तो व्यक्त अव्यक्तरूप हो जायगा और अव्यक्त व्यक्तरूप। और यदि व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों एक रूप हैं तो दोनोंका पृथक् पृथक् लक्षण बतलाना व्यर्थ है। दोनोंका लक्षण इस प्रकार है—

हे[illegible]मदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमा[illegible]ं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरी[illegible]

—सांख्यका० १०

व्यक्त (बुद्धि आदि) कारण सहित होता है, अनित्य होता है, अव्यापक होता है, क्रिया सहित होता है, अनेक होता है, अपने कारणके आश्रित होता है, प्रलयकालमें प्रधानमे लयको प्राप्त हो जाता है, अवयव सहित है, और प्रधानके अधीन होनेसे परतन्त्र है। यह व्यक्तका लक्षण है। अव्यक्तका लक्षण व्यक्तसे विपरीत है। अर्थात् अव्यक्त कारण रहित है, नित्य है, व्यापक है, निष्क्रिय है, एक है, अनाश्रित है, किसीमें लयको प्राप्त नहीं होता है, निरवयव है और स्वतन्त्र है। अतः अन्योन्याभावके अभावमे व्यक्त और अव्यक्त एक हो जायगे और एक होने पर उनमें लक्षणभेद नही बनेगा।

प्रागभावके न मानने पर महत्, अहंकार आदि तत्त्व अनादि हो जायगे, फिर उनकी प्रकृतिसे उत्पत्ति बतलाना व्यर्थ है। उनकी उत्पत्ति-का क्रम इस प्रकार बतलाया गया है—

प्रकृतेर्म[illegible]ंस्ततोऽहंकारस्तस्मा[illegible]गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि [illegible] पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥

—सांख्यका० २२

प्रकृतिसे बुद्धि तत्त्व उत्पन्न होता है, और बुद्धिसे अहंकारकी उत्पत्ति होती है। अहंकारसे सोलह (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन और पाँच तन्मात्रा) तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है। और अन्तमें पाँच तन्मात्राओं-से पाँच भूतोंकी उत्पत्ति होती है।

प्रध्वंसाभाव न मानने पर बुद्धि आदि अनन्त हो जांयगे और उनका कभी नाश नहीं होगा। तब पाँच भूत पाँच तन्मात्राओंमें लयको प्राप्त होते हैं, पाँच तन्मात्रा और ग्यारह इन्द्रियाँ अहंकारमें लयको प्राप्त होते हैं। और अहंकार बुद्धिमें तथा बुद्धि प्रकृतिमें लीन हो जाती है, इस प्रकार बुद्धि आदिका लय बतलाना व्यर्थ हो जायगा।

प्रकृति और पुरुषमे अत्यन्ताभावके न माननेसे प्रकृति और पुरुषमे कोई भेद नही रहेगा। तब दोनोमे भेद बतलानेसे क्या लाभ है। दोनोमे भेद इस प्रकार बतलाया गया है—

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥

—साख्यका० ११

व्यक्त और अव्यक्तमें सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण पाये जाते है, उनमे प्रकृति और पुरुषका विवेक नही रहता है, वे पुरुषके भोग्य होते ह, सामान्य तथा अचेतन होते है, और उनका स्वभाव उत्पत्ति करनेका है। पुरुषका लक्षण उक्त लक्षणसे नितान्त भिन्न है। पुरुषमे तीन गुण नही पाये जाते हैं, भेद विज्ञान पाया जाता है, पुरुष किसीका भोग्य नही है, विशेष तथा चेतन है, पुरुषका स्वभाव किसीकी उत्पत्ति करनेका नही है। पुरुष कारण रहित, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, निरवयव और स्वतत्र है। इस प्रकार अन्योन्याभाव आदिके न माननेसे साख्यमतमें किसी भी तत्त्व-की व्यवस्था नही हो सकती है।

यदि सांख्य व्यक्त और अव्यक्तमे अन्योन्याभावको व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप, प्रकृति और पुरुषमे अत्यन्ताभावको प्रकृति और पुरुष-स्वरूप, बुद्धि आदिके प्रागभावको बुद्धि आदिके कारणरूप और पञ्च महाभूतोंके प्रध्वसाभावको तन्मात्रारूप मान लेता है, तो ऐसा मानना ठीक है। क्योंकि अभाव कोई पृथक् पदार्थ नही है, जैसा कि नैयायिक मानते हैं, किन्तु एक पदार्थका अभाव दूसरे पदार्थरूप होता है, जैसे कि घटका अभाव भूतल स्वरूप है। किन्तु ऐसा माननेसे साख्यका भावैकान्त नहीं बनेगा।

इसी प्रकार पर्याय रहित द्रव्यैकान्त माननेपर एक ही वस्तु सब रूप हो जायगी। और ऐसा होनेपर प्रकृति और पुरुषमें भी कोई विशेषता नहीं रहेगी। क्योंकि प्रकृति और पुरुषमें सत्ताकी दृष्टिसे ऐक्य है। तब केवल सत्तामात्र (ब्रह्म) तत्त्व की ही सत्ता रहेगी। किन्तु सन्मात्र ब्रह्म-

तत्त्वकी कल्पना भी युक्तिसंगत नहीं है। प्रत्यक्षसे घट, पट आदि विशेषों-का प्रतिभास होता है। वेदान्तियोंके अनुसार भी प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंका स्वभाव निषेध करनेका नही है। अतः प्रत्यक्षादिके द्वारा विशेषोंका निषेध नहीं किया जा सकता है।

वेदान्तवादियोंके अनुसार ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता है। वे किसी प्रमाणसे घट, पट आदि विशेषोंका निराकरण नहीं करते हैं। किन्तु उनका कहना है कि भेदवादियों द्वारा विशेषोंको सिद्ध करनेके लिए जो साधन दिये जाते हैं, उन्हें सदोष होनेसे विशेषोंका निराकरण स्वयं हो जाता है। भेदवादियोंके अनुसार कारणोंकी अनेकता कार्यमें अनेकताकी साधक है। किन्तु वेदान्ती कारणोंमें अनेकताको मानते ही नही हैं। वे कहते हैं कि जो लोग प्रतिभास (ज्ञान)के भेदसे नाना पदार्थ मानते हैं, उनका वैसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि वस्तुके एक होनेपर भी भ्रमवश उसका नानारूपसे प्रतिभास देखा जाता है। कहा भी है—

यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो नरः।
संकीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते॥

बृहदा० भा० वा० ३।५।४३

तथेदममलं ब्रह्म निर्विकल्पमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति॥

—बृहदा० भा० वा० ३।५।४४

आकाशको विशुद्ध और एक होने पर भी जिसको तिमिर रोग हो गया है वह नर आकाशमें नाना प्रकारकी रेखायें देखता है। उसी प्रकार अज्ञानी जन निर्मल और भेद रहित ब्रह्मको कलुषित और भेदरूप देखता है।

ब्रह्मके एक होने पर भी चक्षु आदि इन्द्रियजन्य ज्ञानके भेदसे उसमें रूप आदिका प्रतिभास होता है। जैसे कि ज्ञानाद्वैतवादीके यहाँ एक ज्ञान-में भी ग्राह्याकार और ग्राहकाकारके भेदका प्रतिभास होता है। नैया-यिक इतरेतराभावके द्वारा पदार्थोंमें भेद सिद्ध करते हैं। घट और पटमें इतरेतराभाव है, इसलिये घट और पट भिन्न भिन्न हैं। किन्तु इतरेतरा-भावका ज्ञान भी काल्पनिक है। वस्तुको छोड़कर अभाव कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। प्रमाणोंके द्वारा भावरूप पदार्थका ही ग्रहण होता है। नैयायिक मानते हैं कि प्रत्यक्षके द्वारा भूतलमें घटाभावका ग्रहण होता है। उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है। यदि प्रत्यक्षके द्वारा अभावका

ग्रहण हो तो क्रमशः अनन्त स्वरूप अभावोंके ग्रहण करनेमें ही शक्ति क्षीण हो जानेसे पदार्थको देखनेका कभी अवसर ही प्राप्त न होगा। अर्थात् यदि प्रत्यक्ष अभावका ग्रहण करता है तो अभावका ही ग्रहण करता रहेगा और भावको ग्रहण करनेका कभी अवसर ही न मिलेगा। इसलिये प्रत्यक्ष अभावको न जानकर केवल सन्मात्र ब्रह्मको ही विषय करता है।

अनुमानके द्वारा भी अभावका ज्ञान नहीं हो सकता है। अभावका कोई स्वभाव या कार्य नहीं है। अतः स्वभाव हेतु और कार्य हेतुके द्वारा अभाव-का अनुमान नहीं किया जा सकता। अनुपलब्धि हेतुसे तो उसका अभाव ही सिद्ध होगा। इस प्रकार जब किसी प्रमाणसे अभावकी सिद्धि नहीं होती है, तब इतरेतराभावकी सिद्धि कैसी होगी। अतः इतरेतराभावके द्वारा भी पदार्थोंमें भेद सिद्धि नहीं होती है।

कुछ लोग बुद्धि आदि नाना कार्योंको देखकर नाना वस्तुओंके सद्भावको सिद्ध करते हैं। यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि वस्तुओंमें भेद न होनेपर भी बुद्धि आदि नाना कार्य देखे जाते हैं। जैसे एक नर्तकी है, और अनेक पुरुष एक ही समयमें उसके नाच को देख रहे हैं। वहाँ नर्तकी-के एक होनेपर भी एक ही समयमें नाना पुरुषोंमें नाना प्रकारकी बुद्धि, आदि अनेक कार्य देखे जाते हैं। यदि ऐसा माना जाय कि नर्तकीमें नाना शक्तियाँ रहनेके कारण बुद्धि आदि नाना कार्य होते हैं, तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि नाना शक्तियोंकी सिद्धि करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है। अतः बुद्धि आदि नाना कार्योंसे नाना वस्तुओंकी सिद्धि नहीं हो सकती है। पदार्थोंमें न देशभेद है, न कालभेद है, और न स्वभाव भेद है, फिर भी अविद्याके द्वारा देश, काल और स्वभाव भेदका मिथ्या व्यवहार होता है, जिसके निमित्तसे बौद्ध क्षणिक और भिन्न-भिन्न सन्तान वाले स्कन्ध मानते हैं, तथा नैयायिक आदि अक्षणिक और एक सन्तान वाले स्कन्ध मानते हैं। वेदान्तमें अविद्याकी सत्ता भी पारमार्थिक नहीं है, काल्पनिक है। अतः अविद्याके माननेसे द्वैत सिद्धिका दोष नहीं आता है। इस प्रकार वेदान्तमतमें ब्रह्मकी ही एकमात्र सत्ता मानी गयी है।

वेदान्तवादियोंका यह कथन कि सन्मात्र परम ब्रह्म ही एक अद्वितीय तत्त्व है, युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता है। सब लोग प्रत्यक्षसे घट, पट आदि भिन्न-भिन्न पदार्थोंकी सत्ताको उपलब्ध करते हैं। यदि घट, पट

आदि पदार्थ ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं, तो उनमें अभेदकी सिद्धि करनेका कोई साधन होना चाहिये। घट, पट आदि पदार्थ ब्रह्मसे अभिन्न हैं, क्योंकि ये ब्रह्मस्वरूप हैं, या ब्रह्मके कार्य हैं अथवा ब्रह्मके स्वभाव हैं, इत्यादि साधनोंको साध्य (ब्रह्म)से अभिन्न मानना पड़ेगा, क्योंकि उनको ब्रह्मसे भिन्न माननेमें द्वैत सिद्धि होगी। और जब साध्य और साधन अभिन्न है, तब यह साध्य है, और यह साधन है, ऐसा विकल्प संभव न होनेसे, एकत्वकी सिद्धि संभव नही है। 'सब पदार्थ ब्रह्मके अन्तर्गत हैं, क्योंकि वे प्रतिभासमान हैं, जैसे ब्रह्मका स्वरूप'। इस अनुमानसे भी ब्रह्मकी सिद्धि नही हो सकती। क्योंकि पक्ष, हेतु, दृष्टान्त आदिका भेद यदि सत्य है, तो द्वैत सिद्धि अनिवार्य है, और यदि पक्ष, हेतु आदिको ब्रह्मसे पृथक सत्ता नही है तो ये ब्रह्मके साधक कैसे हो सकते हैं। यही बात आगम प्रमाणके विषयमें भी है—

वेदान्ती कहते हैं—

> ऊर्णनाभ इवांशूनां चन्द्रकान्त इवांभसाम्।
> प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतुः सर्वजन्मिनाम्॥

जैसे मकडी अपने जालके तन्तुओंका कारण है, चन्द्रकान्तमणि पानीका कारण है, और वटवृक्ष प्ररोहों (जटाओं)का कारण है, उसी प्रकार ब्रह्म सब प्राणियोंकी उत्पत्तिका कारण है।

इस प्रकारके आगमसे ब्रह्मकी सिद्धि करने पर भी वही प्रश्न होगा कि यह आगम ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न। भिन्न पक्षमें द्वैतका प्रसंग आता है, और अभिन्न पक्षमें उनमें साध्य-साधकभाव ही नहीं हो सकता है। इस प्रकार ब्रह्मका साधक न प्रत्यक्ष है, न अनुमान है, और न आगम है। और प्रमाणके अभावमें किसी वस्तुकी स्वतः सिद्धिकी कल्पना भी नही की जा सकती है। यदि स्वयं ही किसी वस्तुकी सिद्धि मानली जाय तो प्रत्येक मतकी सिद्धि स्वतः हो जायगी। तब ब्रह्माद्वैतकी तरह संवेदनाद्वैतकी भी स्वतः सिद्धि मानना पड़ेगी। ऐसी स्थितिमें अनेकान्तकी भी स्वतः सिद्धि होनेमें कोई बाधा नहीं है। अतः ब्रह्माद्वैतकी सिद्धि किसी प्रमाणसे नहीं होती है। इस प्रकार भावैकान्त पक्षका सयुक्तिक निराकरण किया गया है।

जो लोग प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव नहीं मानते हैं, उनके मतमें कौन-कौनसे दोष आते हैं, इस बातको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्नवे ।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥१०॥

प्रागभावके निराकरण करनेपर घट आदि कार्यद्रव्य अनादि हो जायगा और प्रध्वंसाभावके निराकरण करनेपर कार्यद्रव्य अनन्तताको प्राप्त होगा।

जो द्रव्य कारणोंसे उत्पन्न होते हैं वे कार्यद्रव्य कहलाते हैं। घट मिट्टी आदि कारणोंसे उत्पन्न होता है, और पट तन्तु आदि कारणोंसे उत्पन्न होता है, इसलिये घट, पट आदि कार्यद्रव्य हैं। घट अनादि नही है, किन्तु सादि है। घटकी उत्पत्तिके पहले, घटका प्रागभाव रहता है, और घटके उत्पन्न होते ही वह समाप्त हो जाता है। एक घट आज उत्पन्न हुआ। उसके विषयमे हम कह सकते हैं कि वह घट आजसे पहिले नही था, क्योंकि आजके पहिले घटका प्रागभाव था। जब प्रागभावकी सत्ता ही नही है, तो ऐसा नही कहा जा सकता कि यह घट आजसे पहिले नही था। जिस घटको हम आज देख रहे हैं उस घटका सद्भाव अनादि कालसे मानना चाहिए। क्योंकि घटका प्रागभाव कभी रहा ही नही। इस प्रकार प्रागभावके न माननेपर कार्यद्रव्यको अनादि अवश्य मानना पड़ेगा।

प्रध्वंसाभावके अभावमें कार्यद्रव्यमें अनन्तताका दोष भी तर्क सगत है। घटके फूट जानेपर घटका अन्त हो जाता है। घटके फूटनेका नाम ही घटका प्रध्वंसाभाव है। जब प्रध्वंसाभाव ही नही है तो घटका अन्त कैसे होगा, और अन्तके अभावमें घट अनन्त होगा ही। घटके फूटनेपर घटका सदाके लिए प्रध्वंसाभाव हो जाता है, और वह घट कभी उपलब्ध नही होता है। किन्तु प्रध्वंसाभावके अभावमे जो घट आज उत्पन्न हुआ है, वह कभी फूटेगा ही नही और सदा उपलब्ध होता रहेगा। इस प्रकार प्रध्वंसाभावके न माननेपर कार्यद्रव्योंको अनन्त (अविनाशी) होनेसे कोई नहीं रोक सकेगा।

चार्वाक मतके अनुसार प्रागभावादिका व्यवहार केवल काल्पनिक है। लोग केवल रूढिके कारण पृथिवी आदि भूतोंमें प्रागभाव आदिका व्यवहार करते हैं। यथार्थमें अभावकी कोई सत्ता नहीं है।

यदि चार्वाक प्रागभाव और प्रध्वंसाभावको नहीं मानता है, तो कार्यद्रव्यको अनादि और अनन्त होनेसे कैसे रोक सकेगा। ऐसा नही है कि चार्वाक कार्यद्रव्यको न मानता हो। चार्वाक पृथिवी आदि भूतोंसे कार्यो-

की उत्पत्ति तथा नाश मानता है। किन्तु प्रागभावके न माननेसे कार्यों-की उत्पत्ति न होनेका दूषण और प्रध्वंसाभावके न माननेसे कार्योंके नाश न होनेका दूषण चार्वाक मतमें आता ही है। चार्वाकके अनुसार पृथिवी आदि कार्यद्रव्य न तो अनादि हैं और न अनन्त हैं।

सांख्य यदि प्रागभाव नही मानते हैं तो घट आदि कार्यद्रव्य अनादि मानना होगे। सांख्य मतके अनुसार न किसी पदार्थकी उत्पत्ति होती है, और न विनाश, किन्तु पदार्थोंका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। अत सांख्य कह सकता है कि जब हमारे यहाँ कोई कार्यद्रव्य ही नही हैं, तो उनको अनादि होनेका दोष देने वाला केवल अपना अज्ञान ही व्यक्त करता है। किन्तु जब हम विचार करते हैं कि घट आदि कार्य-द्रव्य हैं या नही, तो प्रतीत होता है कि सांख्य द्वारा घट आदिको कार्य न माननेमे अज्ञानके अतिरिक्त और कोई कारण नही है। हम देखते हैं कि कुभकार जब चक्रपर मिट्टीका पिण्ड रखकर चक्रको चलाता है तभी घटकी उत्पत्ति होती है। यदि घट पहिलेसे बना हुआ रक्खा हो तो कुभकारको परिश्रम ही क्यों करना पडे। अत यह मानना अनिवार्य है कि घट आदि कार्यद्रव्य हैं।

इसी प्रकार मीमांसक यदि शब्दका प्रागभाव नही मानता है, तो शब्दको अनादि मानना पडेगा। मीमांसकके मतानुसार शब्द नित्य है, और उसकी उत्पत्ति नही होती है। मीमांसककी ऐसी कल्पना भी अज्ञान-के कारण ही है। शब्द यदि नित्य हो, और उत्पन्न न होता हो तो शब्द-की उत्पत्तिके लिए पुरुष द्वारा जो तालु आदिका व्यापार देखा जाता है उसकी क्या आवश्यकता है। हम देखते है कि पुरुष जब तालु आदिका व्यापार करता है तभी शब्दकी उपलब्धि होती है, और तालु आदिके व्यापारके अभावमे शब्दकी उपलब्धि कभी नही होती। अतः शब्दको भी घटकी तरह कार्यद्रव्य मानना आवश्यक है।

वस्तुके विषयमे दो प्रकारकी बातें देखी जाती हैं—एक उत्पत्ति और दूसरी अभिव्यक्ति। अविद्यमान वस्तुकी कारणोंके द्वारा उत्पत्ति होती है। और जो वस्तु पहलेसे विद्यमान तो है, किन्तु किसी आवरणसे ढकी होने-के कारण प्रकट नही है, उस वस्तु की अन्य किसी कारण द्वारा अभि-व्यक्ति होती है। कुम्भकारने जो घट बनाया उस घट की उत्पत्ति हुई। रात्रिमें किसी कक्षमें घट रक्खा है, किन्तु अन्धकारके कारण वह घट दिख नहीं रहा है, वही घट दीपकके प्रकाशमें दिखने लगता है। यहाँ दीपक द्वारा विद्यमान घटकी अभिव्यक्ति हुई।

सांख्यके अनुसार घटकी और मीमांसकके अनुसार शब्दकी उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु अभिव्यक्ति होती है, और अभिव्यक्तिके लिये ही पुरुषका व्यापार होता है। किन्तु घट और शब्दकी अभिव्यक्तिकी कल्पना प्रमाण सम्मत नहीं है। यदि पुरुषके व्यापारके पहिले घट और शब्दका सद्भाव किसी प्रमाणसे सिद्ध होता, तो पुरुषके व्यापारसे उनकी अभिव्यक्ति बतलाना ठीक था। परन्तु पुरुषके व्यापारके पहिले घट और शब्दके सद्भावको सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण न होनेसे उनकी अभिव्यक्तिकी कल्पना असंगत ही प्रतीत होती है।

थोड़ी देरके लिये मान भी लिया जाय कि घट और शब्दकी अभिव्यक्ति होती है, फिर भी सांख्य और मीमांसकको अभिव्यक्तिका प्रागभाव तो मानना ही पड़ेगा। अर्थात् घट और शब्दकी अभिव्यक्तिका पहिले प्रागभाव था और इस समय प्रागभावके नाश होने पर उनकी अभिव्यक्ति हो गयी। यदि माना जाय कि तालु आदिके व्यापारसे शब्दकी असत् अभिव्यक्ति की जाती है, और कुम्भकारके व्यापारसे घटकी असत् अभिव्यक्ति की जाती है, तो ऐसा माननेसे घट तथा शब्दकी उत्पत्ति मान लेना ही श्रेयस्कर है। और अभिव्यक्तिके प्रागभावके स्थानमें घट तथा शब्दका प्रागभाव मान लेना चाहिए। ऐसा माननेसे प्रमाण विरुद्ध अभिव्यक्तिकी कल्पना भी नहीं करना पड़ेगी।

मीमांसकोंके अनुसार शब्द अपौरुषेय है, अतः पुरुषके द्वारा शब्दकी उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु अभिव्यक्ति ही होती है। और अभिव्यक्तिको पुरुषकृत होनेसे अविद्यमान अभिव्यक्तिके होनेमें कोई विरोध नहीं है। यह मत भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि अभिव्यक्ति शब्दसे अभिन्न है या भिन्न। प्रथम पक्षमें अपौरुषेय शब्दसे अभिन्न अभिव्यक्ति भी अपौरुषेय ही होगी। और यदि अभिव्यक्ति पौरुषेय है, तो उससे अभिन्न शब्द भी पौरुषेय होगा। द्वितीय पक्षमें अभिव्यक्तिको शब्दसे भिन्न माननेमें भी कई विकल्प होते हैं। यदि श्रवणज्ञानोत्पत्तिका नाम अभिव्यक्ति है, तो श्रवणज्ञानोत्पत्ति पहिले थी या नहीं। यदि पहिले थी तो विद्यमान अभिव्यक्ति पुरुषकृत कैसे होगी। और यदि श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूप अभिव्यक्ति पहले नहीं थी, तो बादमें शब्दमें श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूप अभिव्यक्तिके आनेसे अनित्यताका प्रसंग प्राप्त होता है। श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूप योग्यताको अभिव्यक्ति माननेमें भी पूर्वोक्त दोष आते हैं। योग्यता पहिले थी या नहीं, इत्यादि विकल्पों द्वारा इस पक्षमें भी वही दोष दिये जा सकते हैं। यदि

आवरणके विगम (दूर होना) को अभिव्यक्ति माना जाय तो इस पक्ष में भी आवरणका विगम पहिले था या नहीं, ये दो विकल्प होते हैं। यदि आवरणका विगम पहिले था, तो फिर पुरुषके व्यापारकी कोई आवश्यकता नहीं है। और यदि आवरणका विगम पहिले नहीं था तो उसका प्रागभाव मानना आवश्यक है। शब्दमें कर्णसे सुननेरूप विशेषताके होनेको अभिव्यक्ति माननेमें भी वही विकल्प होते हैं कि वह विशेषता पहिले थी या नहीं। अतः शब्दकी अभिव्यक्ति माननेमें अनेक दोष आनेके कारण शब्दकी उत्पत्ति मानना ही न्याय संगत है।

जिस वस्तुकी अभिव्यक्ति होती है वह व्यङ्ग्य कहलाती है, और जो अभिव्यक्ति करता है वह व्यञ्जक कहलाता है। घट व्यङ्ग्य है और दीपक व्यञ्जक। मीमांसक यदि अपनी हठके कारण तालु आदिको शब्दका व्यञ्जक मानता है, कारक (उत्पादक) नहीं, तो दण्ड, चक्र आदिको भी घटका व्यञ्जक मानना चाहिये, क्योंकि दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है। और यदि दण्ड, चक्र आदि घटके कारक हैं, तो तालु आदिको भी शब्दके कारक मानना आवश्यक है। ऐसा नियम नहीं है कि जहाँ व्यञ्जक हो वहाँ व्यङ्ग्यको होना ही चाहिये। व्यञ्जकके होने पर व्यङ्ग्य हो भी सकता है और नहीं भी। जैसे रात्रिमें दीपक (व्यञ्जक) के होने पर घट (व्यङ्ग्य) हो भी सकता है और नहीं भी। किन्तु कारकके विषयमें यह बात नहीं है। जहाँ कारक होगा वहाँ नियमसे कार्यकी उत्पत्ति होगी। हम जानते हैं कि तालु आदिके व्यापार करनेपर नियमसे शब्दकी उपलब्धि देखी जाती है। अतः तालु आदि शब्दके व्यञ्जक नहीं हैं, किन्तु कारक हैं। जैसे कि दण्ड, चक्र आदि घटके कारक हैं।

शंका—वर्णोंको सर्वगत होनेसे जहाँ व्यञ्जकका व्यापार होगा वहाँ शब्दकी उपलब्धि होगी ही, ऐसा माननेमें कोई दोष नहीं है।

उत्तर—मीमांसक वर्णोंको व्यापक मानते हैं। अ, ई, क, ख आदि प्रत्येक वर्ण संसारमें सब जगह व्याप्त है। किन्तु वर्णोंमें व्यापकताकी सिद्धि किसी प्रमाणसे नहीं होती है। फिर भी यदि मीमांसक वर्णोंको व्यापक मानते हैं तो घटको भी व्यापक मानना चाहिए। हम कह सकते हैं कि शब्दकी तरह घट भी व्यापक है, इसीलिये दण्ड, चक्रादिके व्यापार द्वारा नियमसे घटकी उपलब्धि होती है। इस प्रकार दण्ड, चक्र आदि भी घटके व्यञ्जक ही सिद्ध होंगे, कारक नहीं।

सांख्यके अनुसार घट भी व्यापक है। इसीलिये सांख्य कहते हैं कि

घटको व्यङ्ग्य तथा दण्ड, चक्र आदिको व्यञ्जक माननेमें कोई दोष नहीं है। सांख्यका उक्त कथन भी युक्ति विरुद्ध है। यदि घट व्यापक है, और दण्ड, चक्र आदि उसके व्यञ्जक हैं, तो चक्र आदिको अपने भ्रमण आदि व्यापारका भी व्यञ्जक मानिए, उत्पादक नहीं। व्यापार-की उत्पत्ति माननेमें अनवस्था दोष भी आता है। क्योंकि एक व्यापार-की उत्पत्तिके लिये दूसरे व्यापारकी आवश्यकता होगी और दूसरे व्यापार-की उत्पत्तिके लिये तीसरे व्यापारकी। इस प्रकार इस क्रमका कहीं अन्त नहीं होगा। अतः व्यापारकी अभिव्यक्ति माननेमें अनवस्था दोषका प्रसङ्ग नहीं होगा। क्योंकि चक्र आदि (व्यंजक)के होनेपर भ्रमण आदि व्यापार (व्यङ्ग्य) की उपलब्धि होनेमें कोई दोष नहीं रहेगा। यहाँ एक प्रश्न यह भी होता है कि चक्र आदिसे चक्र आदिका व्यापार भिन्न है या अभिन्न। यदि भिन्न है, तो व्यापारसे ही कार्यकी सिद्धि हो जायगी। अतः कार्यकी सिद्धिके लिए कारणोंकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। और यदि कारणोंसे व्यापार अभिन्न है, तो कारणोंके समान उनके व्यापारको भी सदा विद्यमान मानना पड़ेगा। यदि व्यापार पहले नहीं था और बादमें उत्पन्न हुआ तो व्यापारका प्रागभाव मानना आवश्यक है। ऐसा माननेपर जिस प्रकार पहले अविद्यमान व्यापारकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार व्यापारसे अभिन्न चक्र आदिकी भी उत्पत्ति होती है, तथा चक्र आदिसे घटकी भी उत्पत्ति होती है, ऐसा माननेमें कौनसा विरोध है।

सांख्यके अनुसार घट आदि पदार्थ प्रधानके परिणाम (पर्याय) हैं। यहाँ भी प्रश्न होता है कि घट आदि प्रधानसे अभिन्न हैं या भिन्न। यदि अभिन्न हैं, तो सब परिणामोंकी उत्पत्ति क्रमसे न होकर एक साथ हो जाना चाहिए। जब प्रधान क्रम रहित है, तो उससे अभिन्न घट आदि परिणामोंका भी क्रम रहित होना चाहिए। और यदि घट आदि परिणाम प्रधानसे अभिन्न हैं, तो प्रधान के ये परिणाम हैं, ऐसा कहना ही असंभव है। न तो प्रधान परिणामोंका कोई उपकार करता है, और न परिणाम प्रधानका कोई उपकार करते हैं। अतः उन दोनोंमें किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं बन सकता है, और सम्बन्धके अभावमें यह कथन भी नहीं हो सकता है कि ये परिणाम प्रधान के हैं। इसलिए सांख्यके यहाँ भी घट आदि व्यङ्ग्य नहीं हो सकते हैं, किन्तु कार्य ही हैं। फिर भी यदि सांख्य घट आदिका प्रागभाव न मानकर घट आदिको अनादि माने, तो घट आदिकी अभिव्यक्ति भी अनादि मानना चाहिए। और जब घट भी

अनादि है, और उसकी अनभिव्यक्ति भी अनादि है, तो घटकी निष्पत्तिके लिये कुम्भकारका व्यापार अनर्थक ही सिद्ध होगा। यदि सांख्य प्रागभाव-को तिरोभाव नामसे कहना चाहता है, तो इससे केवल नाममात्रमे ही विवाद सिद्ध होता है, अर्थमें नही। इस प्रकार सांख्यको घटादिका प्राग-भाव और मीमांसकको शब्दका प्रागभाव अवश्य मानना चाहिए, क्योंकि प्रागभावको न माननेसे उनके मतमे अनेक दोष आते हैं।

मीमासक यदि प्रागभावकी तरह शब्दका विनाश (प्रध्वंसाभाव) नही मानते हैं, तो शब्द एक क्षणके बाद दूसरे क्षणमें भी सुनाई पड़ना चाहिए। यदि माना जाय कि शब्दके ऊपर आवरण हो जानेके कारण दूसरे क्षणमें शब्द सुनाई नही पडता है, तो प्रश्न होगा कि आवरणने शब्दकी सुनाई पड़नेरूप शक्तिका नाश ।कया या नही। यदि आवरणने शब्दके स्वरूपमें कुछ भी परिवर्तन नही किया, तो वह आवरण ही नही हो सकता है। और यदि आवरणने शब्दमे श्रावण शक्तिका नाश कर दिया तो शब्दमें पूर्व स्वभावके नाशसे अनित्यताका प्रसग प्राप्त होगा। और शब्दमे दो स्वभाव मानना होगे—एक आवृत और दूसरा अनावृत। इन दोनो स्वभावोमे विरोधके कारण अभेद नही माना जा सकता है। फिर भी यदि अभेद माना जाय तो शब्दको या तो सदा सुनाई पड़ना चाहिए या कभी नही, ऐंसा नही हो सकता है कि शब्द कभी तो सुनाई पडे और कभी सुनाई न पडे।

शका—अन्धकार घट आदि पदार्थोंका आवरण माना जाता है, क्योकि अन्धकारके होनेपर घट आदि पदार्थ दिखते नही हैं। किन्तु अन्धकारके द्वारा घट आदिके स्वरूपका नाश नही होता है। उसी प्रकार आवरणके द्वारा शब्दके स्वरूपका भो नाश नही होता है।

उत्तर—यह कहना ठीक नही है कि अन्धकारके द्वारा घट आदिके स्वरूपका नाश नही होता है। यदि अन्धकार किसी भी रूपमे घटके स्वरूपका नाश नही करता है, तो जिस प्रकार अन्धकारके पहले घट दिखता था उसो प्रकार अन्धकारमे भी दिखना चाहिए। अतः यह मानना होगा कि अन्धकार भी किसी न किसी रूपमें घट आदिके स्वरूप-का नाश करता है।

मीमांसक कहते हैं, कि शब्दका स्वभाव तो सदा सुनाई पड़नेका है, परन्तु सहकारी कारणोंके अभावमें शब्द सुनाई नही पड़ता है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि शब्द अपने ज्ञानको उत्पन्न करनेमें अर्थात् सुनाई पड़नेमें स्वयं समर्थ है, या नही। यदि समर्थ है, तो सुनाई पड़नेमें सहकारी

कारणोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। और यदि शब्द स्वयं असमर्थ है, तो सहकारी कारणोंके द्वारा शब्दके स्वरूपका विघात अवश्यंभावी है। सहकारी कारणोंके द्वारा शब्दमें अश्रावण स्वरूपका विघात और श्रावण स्वरूपकी उत्पत्ति होनेपर ही शब्द सुनाई पड़ता है। यदि सहकारी कारण शब्दके स्वभावमें कुछ भी परिवर्तन नही करते हैं, तो अकिंचित्कर सहकारी कारणोंके माननेसे लाभ ही क्या है।

मीमांसक वर्णोंको नित्य और व्यापक मानते हैं। जब वर्ण नित्य और व्यापक हैं, तो उनको क्रमसे सुनाई नही पड़ना चाहिए, किन्तु सब वर्णोंको सर्वत्र एक साथ सुनाई पड़ना चाहिये। ऐसा कोई देश और ऐसा कोई काल नहीं है जहाँ वर्ण न हों। ऐसा कहना भी ठीक नही है कि जहाँ-जहाँ वर्णोंकी अभिव्यक्ति होती है वहाँ-वहाँ वर्ण सुनाई पड़ते हैं। क्योंकि वर्णोंकी अभिव्यक्तिमें ऐसा नियम नही हो सकता है कि इस वर्णकी अभिव्यक्ति यहाँ हुई और इस वर्णकी अभिव्यक्ति यहाँ नही हुई, तथा इस कालमें अभिव्यक्ति हुई और इस कालमें नही हुई। वर्ण नित्य और व्यापक हैं, इसलिये एक देश और एक कालमें अभिव्यक्ति होनेपर सब देशों और सब कालोंमें अभिव्यक्ति होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि सब वर्ण एक ही इन्द्रिय (कर्ण)के द्वारा सुने जाते हैं। इसलिये जहाँ एक वर्ण 'क' सुनाई पड़ता है, तो वही पर अन्य वर्ण 'ख' 'ग' आदि भी उपस्थित हैं, अतः सबको एक साथ सुनाई पड़ना चाहिए। जैसे कि आँखसे एक पदार्थके देखनेपर उस देशमें स्थित अन्य पदार्थ भी दिख जाते हैं। और यदि एक वर्ण सुनने के कालमें अन्य वर्ण भी सुनाई पड़ें तो कानमें वर्णोंकी भर-भर आवाज ही सुनाई पड़ेगी, और किसी भी वर्णका पृथक्-पृथक् ज्ञान नही हो सकेगा। और ऐसी स्थितिमें पदार्थका बोध होना भी असंभव हो जायगा।

वर्णोंकी अभिव्यक्ति पक्षमें जो युगपत् श्रुतिका दोष आता है, वह उत्पत्ति पक्षमें नही आता। यद्यपि शब्दोंका उपादान कारण पुद्गल सर्वत्र पाया जाता है, और बहिरंग सहकारी कारण तालु आदिका सद्भाव भी भी नियमसे पाया जाता है, किन्तु अन्तरङ्ग सहकारी कारण वक्ताके ज्ञानके क्रमकी अपेक्षासे वर्णोंकी क्रमसे उत्पत्ति होती है, एक साथ नहीं। यही बात वर्णोंकी श्रुतिके सम्बन्धमें है। शब्दोंकी श्रुतिका मुख्य कारण श्रोताका क्रमिक ज्ञान है। अतः श्रोताके क्रमवर्ती ज्ञानकी अपेक्षासे शब्दोंकी भी श्रुति क्रमसे होती है, युगपत् नहीं।

मीमांसक प्रत्यभिज्ञानके द्वारा वर्णोंमें व्यापकत्व और नित्यत्व सिद्ध करते हैं। यह वही 'क' है जो पहले था। परन्तु हम देखते हैं कि अनित्य पदार्थोंमें भी इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है। दीपशिखाके स्थिर एवं एक न होनेपर भी 'यह वही दीपशिखा है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है। बुद्धि और क्रियाको अनेक एवं अनित्य होनेपर भी 'यह वही बुद्धि है, वही क्रिया है,' ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है। यदि अनेक बुद्धि और क्रियाको भी एक माना जाय तो फिर संसारमें कोई भी पदार्थ अनेक नहीं हो सकेगा। तब सब वस्तुओंको भिन्न-भिन्न न मान कर एक ही मानना चाहिए। हम कह सकते हैं कि 'क' 'ख' आदि वर्ण अनेक नही है, किन्तु एक है, और अभिव्यञ्जकके भेदसे एक ही वर्णकी 'क' 'ख' आदि नाना वर्णरूपसे प्रतीति होती है। जैसे कि एक ही चन्द्रमाकी अनेक जलपात्रोमें प्रतिबिम्बके कारण नानारूपसे प्रतीति होती है। यदि वर्णको एक माननेमें प्रत्यक्षसे विरोध आता है, तो अनेक बुद्धि और क्रियाको भी एक माननेमें विरोधका निवारण कैसे होगा। इसलिये प्रत्यभिज्ञानसे शब्दमें व्यापकत्व और नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता है।

तालु आदिके व्यापार करनेपर शब्दमें श्रावण स्वभाव आता है। तथा तालु आदिके व्यापारके पहले और बादमें शब्दमें श्रावण स्वभाव नही रहता है। इस स्वभावभेदसे यह स्पष्ट है कि शब्द नित्य नही है। स्वभावभेदके होनेपर भी यदि शब्दको नित्य माना जाय तो कोई भी वस्तु अनित्य नही होगी। इसी प्रकार 'क' आदि वर्ण एक नहीं है, क्योंकि वह एक साथ नाना देशोमें भिन्न-भिन्न रूपसे उपलब्ध होता है। एक साथ नाना देशोंमें ह्रस्व, दीर्घ आदि भिन्न रूपसे सुनाई पड़ता है। फिर भी वर्णको एक माना जाय तो कोई भी वस्तु अनेक नही हो सकेगी। अतः शब्द एक और नित्य न होकर अनेक और अनित्य है। शब्द पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है। तालु आदि कारणोंके मिलनेपर पुद्गल द्रव्य ही शब्दरूपसे परिणमन करता है, जैसे कि मिट्टी घटरूपसे परिणमन करती है। घटादिकी तरह शब्द भी प्रयत्नजन्य है, अपौरुषेय नही।

शंका—शब्दको पौद्गलिक माननेमें अनेक दोष आते हैं। शब्द यदि पौद्गलिक है तो घट आदिकी तरह चक्षुके द्वारा उसकी उपलब्धि होना चाहिए। पौद्गलिक द्रव्यमें विस्तार और विक्षेप देखा जाता है। अतः शब्दमें भी विस्तार और विक्षेप होना चाहिए। मूर्तीक द्रव्यसे शब्दका प्रतिघात भी होना चाहिए। मूर्तीक शब्द परमाणुओंके द्वारा श्रोताका

कान भर आना चाहिए। मूर्तीक शब्दको एक श्रोताके कानमें घुस आने पर अन्य श्रोताओंको सुनाई नहीं पड़ना चाहिए। शब्दका कभी स्पर्श नहीं होता है और वह निश्छिद्र भवनके भीतरसे भी बाहर निकल आता है। इत्यादि कारणोंसे शब्द पौद्गलिक नहीं हो सकता है।

उत्तर—शब्दको पौद्गलिक माननेमें चक्षुके द्वारा उपलब्धि आदि जो दोष दिये गये हैं, वे युक्तिसंगत नहीं हैं। गन्धके परमाणु भी पौद्गलिक हैं, किन्तु उनकी चक्षुके द्वारा उपलब्धि कभी नहीं होती है। उनका विस्तार, विक्षेप एवं प्रतिघात भी नहीं होता है। गन्ध-परमाणुओंके द्वारा घ्राणपूरण (नाकका भर आना) नहीं होता है, तथा गन्ध-परमाणुओंको एक घ्राता (सूँघनेवाला) की नाकमें घुस जानेपर अन्य घ्राताओंको उनकी अनुपलब्धि नहीं होती है। यह कहना ठीक नही है कि शब्दका स्पर्श नहीं होता है। जब किसी शब्दका उच्चारण ओरसे किया जाता है, या बादल, तोप आदिकी तेज गड़गड़ाहट होती है, तो श्रोताके कानमें शब्द ऐसे लगता है जैसे कोई कानमें थप्पड़ मार रहा हो। तथा भवन आदिके द्वारा शब्दका उपघात भी देखा जाता है। इत्यादि कारणोंसे यह सिद्ध होता है कि शब्दमें स्पर्श पाया जाता है। शब्दका सूक्ष्म परिणमन होनेके कारण निश्छिद्र भवनसे उसके निकलनेमें भी कोई विरोध नही है। ताम्रके घटमें जल या तेल भर कर और घटका मुख बन्द करके रख देने पर भी उसके अन्दरसे तेल या जल घटके ऊपर निकल आता है। यह बात घटके ऊपर स्निग्धता देखनेसे ज्ञात होती है। इसी प्रकार किसी घटके मुखको बन्द करके जलमें डाल देनेपर उसके अन्दर जलका प्रवेश हो जाता है। क्योंकि मुखके खोलने पर भीतर शीत स्पर्श पाया जाता है। यही बात शब्दके विषयमें भी है। इसलिए शब्दको पौद्गलिक माननेमें कोई बाधा नहीं है।

इस प्रकार पौद्गलिक शब्दका स्वभाव तालु आदिके व्यापारके पहले और बादमें सुनाई पड़ने योग्य नहीं है, किन्तु तालु आदि व्यापारके समय ही वह सुनाई पड़ता है। इस कारण शब्दका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव मानना आवश्यक है। यदि शब्दका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव नहीं है, तो शब्दको कूटस्थनित्य होनेके कारण न तो उसमें क्रमसे अर्थक्रिया हो सकती है और न युगपत्। और अर्थक्रियाके अभावमें शब्द निःस्वभाव ही सिद्ध होगा। अतः यह सिद्ध होता है कि शब्द अनादि और अनन्त नहीं है, किन्तु सादि और सान्त है।

अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभावको न मानने वालोंके मतमें दोषोंको

बतलानेके लिये आचार्य कहते हैं—

सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे ।
अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥११॥

अन्यापोहके व्यतिक्रम करने पर अर्थात् अन्योन्याभावके न मानने पर किसीका जो एक इष्ट तत्त्व है वह सब रूप हो जायगा। तथा अत्यन्ताभावके अभावमें किसी भी इष्ट तत्त्वका किसी भी प्रकारसे व्यपदेश (कथन) नहीं हो सकेगा। अर्थात् यह चेतन है, और यह अचेतन है, ऐसा कथन भी नही हो सकता है।

एक स्वभावसे दूसरे स्वभावकी व्यावृत्तिका नाम अन्योन्याभाव है। यद्यपि अत्यन्ताभावमें भी एक स्वभावसे दूसरे स्वभावकी व्यावृत्ति रहती है, किन्तु अत्यन्ताभावमें जो व्यावृत्ति है वह त्रैकालिक है, और अन्योयाभावरूप व्यावृत्तिका सम्बन्ध केवल वर्तमान कालसे है। घट और पटका स्वभाव भिन्न भिन्न है। जीव और पुद्गलका स्वभाव भी भिन्न-भिन्न है। यहाँ घट और पटकी भिन्नता केवल घट पर्याय और पटपर्यायमें है। घट और पटके नाश होने पर घटके परमाणु पटरूप हो सकते हैं, और पटके परमाणु घटरूप हो सकते हैं। किन्तु जिन पदार्थोंमें अत्यन्ताभाव पाया जाता है उन पदार्थोंमें यह बात नही है। त्रिकालमें भी जीव पुद्गल नहीं हो सकता और पुद्गल जीव नहीं हो सकता। इसलिये घट और पटमें अन्योन्याभाव है, तथा जीव और पुद्गलमें अत्यन्ताभाव है। जो लोग अन्योन्याभाव नही मानते हैं उनके यहाँ एक तत्त्व सब रूप हो जायगा। घटका अन्य पदार्थोंके साथ जो अन्योन्याभाव है उसको न मानने पर घटको पट आदि अन्य पदार्थ स्वरूप भी मानना पड़ेगा। और ऐसा मानने पर घटको पटादिका कार्य भी करना चाहिए। चार्वाकके यहाँ अन्योन्याभावके अभावमें पृथिवी जल आदि रूप हो जायगी और जल पृथिवी आदि रूप हो जायगा। और ऐसा होनेसे पृथिवी आदि चार तत्त्वोंका मानना भी व्यर्थ है। केवल एक तत्त्व माननेसे ही सब काम चल जायगा। सांख्यके यहाँ भी अन्योन्याभावके अभावमें बुद्धि, अहंकार आदि तत्त्व दूसरे तत्त्व (भूतादि) रूप हो जायगे। फिर उनको पृथक् पृथक् माननेसे कोई लाभ नहीं है। उन्हें भी एक ही तत्त्व मान लेना चाहिए।

ज्ञानमात्र को मानने वाले योगाचारके यहाँ भी ज्ञानके दो आकारों (ग्राह्याकार और ग्राहकाकार) की परस्परमें व्यावृत्ति (अन्योन्याभाव)

मानना आवश्यक है। यदि ज्ञानके दोनों आकारोंकी परस्परमें व्यावृत्ति न हो, तो दोनोंमेंसे एक ही आकार शेष रहेगा, और दूसरे आकारके अभावमें एक आकारका भी सद्भाव नहीं बन सकेगा। क्योंकि ज्ञेयाकारके विना ग्राहकाकार और ग्राहकाकारके विना ज्ञेयाकार नहीं हो सकता है। ज्ञानाद्वैतवादी कहता है—

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते॥

—प्रमाणवा० २।३२७

ज्ञानका न तो कोई ग्राहक है, और न ग्राह्य। अतः ग्राह्य-ग्राहक-भावसे रहित ज्ञान स्वयं प्रकाशित होता है। ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि जब ज्ञानमें दो आकार ही नहीं हैं तब उनकी परस्परमें व्यावृत्ति कैसे हो सकती है। किन्तु ज्ञानको ग्राह्याकार और ग्राहकाकारसे रहित माननेपर भी ज्ञानमें उन दोनों आकारोंसे व्यावृत्ति तो मानना ही पड़ेगी। ज्ञानमें दो अकार न माननेपर भी उनकी व्यावृत्ति माननेसे मुक्ति नही मिल सकती है। इसी प्रकार चित्रज्ञानको मानने वालोंके यहाँ भी ज्ञानके लोहित, नील, पीत आदि आकारोंकी परस्परमें व्यावृत्ति मानना आवश्यक है। चित्रज्ञानके विषयभूत लाल, नील, पीत आदि पदार्थोंकी भी परस्परमें व्यावृत्ति है। यदि चित्रज्ञानके अनेक आकारोंकी परस्परमें व्यावृत्ति न हो, तो चित्ररूपसे उसका प्रतिभास ही नही हो सकता है। क्योकि व्यवृत्तिके अभावमें चित्रज्ञानका आकार एक हो जायगा। और एक आकारका चित्ररूपसे प्रतिभास नहीं हो सकता है। और चित्रज्ञानके आकारोंमें भेद न होनेके कारण चित्रज्ञानके विषयभूत पदार्थोंमें भी भेद सिद्ध नही होगा। अतः चित्रज्ञानके अनेक आकारोंकी परस्परमें तथा चित्रज्ञानसे व्यावृत्ति है, जैसे कि चित्र पटके नाना रंगोंकी परस्परमें तथा चित्र पटसे व्यावृति है। चित्रज्ञान एक है, और चित्रज्ञानके आकार अनेक हैं। चित्र पट भी एक है और उसके रंग अनेक हैं। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि अनेक नीलादि आकार ही हैं, एक चित्रज्ञान नहीं है, अथवा अनेक रक्त आदि वर्ण ही हैं, एक चित्र पट नहीं है। क्योंकि ऐसा कहनेपर इसके विपरीत भी कहा जा सकता है कि एक चित्रज्ञान ही है, उसके अनेक नीलादि आकार नहीं हैं, अथवा एक चित्र पट ही है, उसके अनेक रंग नहीं हैं।

यहाँ एक शंका हो सकती है कि यदि एक ही ज्ञान या वस्तु है तो उसका नानारूपसे प्रतिभास क्यों होता है? इसका उत्तर इस प्रकार है।

वस्तुके एक होनेपर भी इन्द्रिय आदि सामग्रीके भेदसे एक ही वस्तुका भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतिभास होता है। जैसे एक ही वृक्षको दूरसे तथा पाससे देखनेपर दो प्रकारका ज्ञान होता है। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि चित्र पटके एक होनेपर भी चक्षु आदि सामग्रीके भेदसे उसका नानारूपसे प्रतिभास होता है। तथा चित्रज्ञानके एक होनेपर भी अन्तःकरणकी वासना आदि सामग्रीके भेदसे उसमे नाना आकारोंका प्रतिभास होता है। अथवा प्रत्येक पुरुषमे भिन्न-भिन्न सामग्रीके सम्बन्धसे एक ही विषयके प्रति भिन्न-भिन्न प्रकारका स्वभाव होता है और भिन्न-भिन्न स्वभावके कारण एक ही विषयका नानारूपसे प्रतिभास होता है। अत. जब इन्द्रिय आदि सामग्रीमे और पुरुषमें स्वभावभेद मानना पड़ता है, तो विषयम भी स्वभावभेद मानना आवश्यक है।

प्रतिभास भेदके होनेपर भी यदि वस्तुको एक माना जाय तो केवल घटादि बहिरग तत्त्व ही एक नही होगा, किन्तु अन्तरग तत्त्व (आत्मा) भी सर्वदा एक रूप ही रहेगा। उसमे क्रमश सुख, दु:ख आदिके कारणोके मिलनेपर भी कोई स्वभावभेद नही होगा। अत यह मानना आवश्यक है कि जितने प्रकारके कारणोके साथ वस्तुका सम्बन्ध होता है उतने ही प्रकारके स्वभाव वस्तुमे होते है और उन स्वभावोकी परस्परमें व्यावृत्ति होती है।

यहाँ बौद्ध कहते है कि सम्बन्ध की तो कोई सत्ता ही नही है—

पारतन्त्र्यं हि सम्बन्ध सिद्धे का परतन्त्रतः।
तस्मात् सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः॥

—सम्बन्धप०

परतन्त्रताका नाम सम्बन्ध है। किन्तु जो वस्तु निष्पन्न हो गयी है उसमें परतन्त्रताका कोई प्रश्न ही नही है। इसलिए किसी भी पदार्थमें कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है।

उक्त कथनमे कोई तथ्य नही है। यदि किसी पदार्थका दूसरे पदार्थ-के साथ साक्षात् या परम्परासे कोई सम्बन्ध न हो, तो सब पदार्थ निः-स्वभाव हो जायगे। यदि गुण और गुणीमे कोई सम्बन्ध न हो, तो न गुणका ही स्वतंत्र सद्भाव हो सकता है, और न गुणीका ही। चक्षु और रूपमें किसी प्रकारका सम्बन्ध न हो, तो चक्षुके द्वारा रूपका ज्ञान नही हो सकता है। कार्य और कारणमें किसी प्रकारका सम्बन्ध न हो तो कारणसे कार्यकी उत्पत्ति नही हो सकती है। इसलिए पदार्थोंमें

वास्तविक सम्बन्ध मानना आवश्यक है सम्बन्धके अभावमें ससारका काम ही नही चल सकता है।

नाना सम्बन्धियोंके भेदसे प्रत्येक पदार्थ अनेक स्वभाव वाला है, और वह अनेक क्षण तक ठहरता है। बौद्धोंके द्वारा माने गये निरन्वय क्षणिक पदार्थ द्वारा कुछ भी अर्थक्रिया नही हो सकती है। जो क्षण पूर्ण-रूपसे नष्ट हो गया वह क्या अर्थक्रिया करेगा। अर्थक्रिया वही कर सकता है जिसका सम्बन्ध आगे की पर्यायसे हो। मिट्टीके पिण्डसे घट बनता है। मिट्टीका पिण्ड नष्ट होकर स्वय घटरूपसे परिणत हो जाता है। ऐसा नही है कि मिट्टीके पिण्डके पूर्णरूपसे नष्ट हो जाने पर घट किसी कारण-के विना अपने आप बन जाता हो। इस बातको सभी जानते हैं कि कारण (मृत्पिण्ड) ही कार्य (घट) रूपसे परिणत हो जाता है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि एक ही पदार्थमें उत्पत्ति, विनाश और स्थिति ये तीन अवस्थायें होती हैं। जो पदार्थ उत्पन्न होता है वही कुछ काल तक स्थित रहता है, और बादमे वही नष्ट हो जाता है। उत्पत्ति और नाशमे भी द्रव्यका अन्वय बना रहता है। ऐसा नही है कि उत्पन्न तो कोई होता हो, नाश किसी दूसरेका होता हो, और स्थिति किसी अन्यकी ही होती हो। मिट्टीके पिण्डके नाशसे घटकी उत्पत्ति होती है, उत्पन्न घट कुछ काल तक स्थित रहता है, और अन्तमें वही घट फूट-कर मिट्टीमें मिल जाता है। इन सब पर्यायोमें मिट्टी ज्योकी त्यो बनी रहती है। जितने पदार्थ हैं उन सबमे उत्पाद, विनाश और स्थिति ये तीन अवस्थायें नियमसे पायी जाती हैं। इन तीनोके विना वस्तुकी सत्ता ही नही हो सकती है। इन तीनोका नाम ही सत्ता है। कहा भी है—

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।' 'सद्द्रव्यलक्षणम्'।

—तत्त्वार्थसूत्र ५।२९,३०

जिसमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जाता है वह सत् है। और सत् ही द्रव्यका लक्षण है।

शका—उत्पाद आदि तीन यदि वस्तुसे अभिन्न हैं तो तीनमेंसे कोई एक ही रहेगा, क्योंकि एक वस्तुसे अभिन्न धर्मोंमें भेद नही हो सकता है। और यदि उत्पाद आदि वस्तुसे भिन्न हैं तो उन तीनमे भी अन्य उत्पाद आदि तीन होंगे, और उनमें भी अन्य उत्पादादि होंगे। इस प्रकार अनवस्थादोषका प्रसग होगा।

उत्तर—उक्त दोष एकान्तवादमें ही हो सकते हैं। अनेकान्तवादमें

कोई दोष संभव नहीं है। उत्पाद आदि वस्तुसे कथंचित् अभिन्न हैं और कथंचित् भिन्न। अभिन्न इसलिये हैं कि उनको द्रव्यसे पृथक् नही किया जा सकता है। और भिन्न इसलिये हैं कि ये तीनों पृथक् पृथक् पर्यायें हैं। उत्पादका ही नाश और स्थिति होती है, नाशकी ही उत्पत्ति और स्थिति होती है तथा स्थितिका ही नाश और उत्पाद होता है। इसलिये एक होकर भी ये तीन रूप हैं। जीव, पुद्गल आदि जितने द्रव्य हैं उन सबमें अनन्त पर्यायें पायी जाती हैं। शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे केवल सत्तामात्र एक ही द्रव्य है। सत्ताका ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार रूपसे व्यवहार होता है। सत्तामें ही परस्परमें व्यावृत्त स्वभाव वाले अनन्त गुण और पर्यायें पायी जाती हैं। इस प्रकार पर्यायार्थिक-नयकी दृष्टिसे सब वस्तुओंकी दूसरी वस्तुओंसे व्यावृत्ति सिद्ध होती है। इसी व्यावृत्तिका नाम अन्योन्याभाव है, जिसका मानना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि इसके न माननेसे अनेक दोष आते हैं। इसी प्रकार अत्यन्ता-भावके न माननेसे किसी भी तत्त्वकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। अत्यन्ताभावके अभावमें जड़ चेतन हो जायगा और चेतन जड़ हो जायगा। आत्माके गुण ज्ञान आदिकी घटादि पदार्थोंमे भी उपलब्धि होगी, और पुद्गलके गुण रूप आदिकी आत्मामे भी उपलब्धि होगी। किन्तु ऐसा त्रिकालमें भी संभव नही है। इसलिए अत्यन्ताभावका सद्भाव अवश्य है, जिसके कारण जड़ सदा जड़ ही रहता है, और चेतन सदा चेतन ही रहता है।

बौद्ध कहते हैं कि अभावको ग्रहण करनेवाला कोई प्रमाण न होनेसे अभावकी सत्ता सिद्ध नही होती है। जो प्रमाणकी उत्पत्तिका कारण नही होता है, वह प्रमाणका विषय भी नही होता है। प्रत्यक्षकी उत्पत्ति स्वलक्षणसे होती है, इसलिए वह स्वलक्षण को ही जानता है। अभाव प्रत्यक्षकी उत्पत्तिका कारण नही है तो प्रत्यक्षका विषय कैसे हो सकता है। अनुमानकी उत्पत्ति भी सामान्यसे होती है, और वह सामान्यको ही जानता है, अभाव को नहीं। अभाव न तो किसीका कारण है, और न स्वभाव। अतः कार्यहेतुजन्य और स्वभावहेतुजन्य अनुमानसे अभाव-की सिद्धि नहीं हो सकती है। 'अत्र घटोनास्त्यनुपलब्धेः' यहाँ अनुपलब्धि हेतुसे अभावका ज्ञान नही होता है, किन्तु घट रहित पृथिवीका ज्ञान होता है। और घट रहित पृथिवीका नाम अभाव नही हो सकता है, क्योंकि पृथिवी भावरूप पदार्थ है। इस प्रकार अभावका ग्राहक न प्रत्यक्ष है, और न अनुमान, फिर अभावकी सत्ता कैसे मानी जा सकती है।

बौद्धोंका उक्त कथन अयुक्त तो है ही, साथ ही बौद्ध आगमसे भी विरुद्ध है । स्वयं बौद्ध ग्रन्थोंमें अभावको भी एक धर्म माना गया है—

अ- त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रितः ।

प्रमाणवा० ३।२६

यहाँ धर्मको तीन प्रकारका बतलाया गया है—भावरूप, अभावरूप और उभयरूप । जितने भी पदार्थ हैं, वे सब भाव और अभाव इन दो रूपोंसे इस प्रकार बँधे हुए हैं, जैसे नसैनीके पाये दोनों ओरसे दो काष्ठोंसे जकड़े रहते हैं । न तो कोई पदार्थ भावरूप ही है, और न अभावरूप ही, किन्तु प्रत्येक पदार्थ दोनों रूप है । स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे भावरूप है । तथा परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे अभावरूप है । कोई भी प्रमाण न तो सर्वथा भावको ही ग्रहण करता है, और न सर्वथा अभावको ही । बौद्धोंके यहाँ प्रमाण केवल भावको ही जानता है, अभावको नहीं, क्योंकि पदार्थ भावरूप ही है, अभावरूप नही । किन्तु यदि पदार्थ अभावरूप नही है, तो वह भावरूप भी नही हो सकता है । भाव और अभाव ये दोनों परस्परमें सापेक्ष हैं । एकके विना दूसरा नही हो सकता है । इस दोषको दूर करनेके लिए यदि बौद्ध अभावको भी प्रमाणका विषय मानना चाहे तो उनको प्रत्यक्ष और अनुमानसे अतिरिक्त एक तीसरा प्रमाण मानना पड़ेगा । क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान केवल भावको ही जानते हैं । और यदि बौद्धोंको तृतीय प्रमाण मानना अनिष्ट है तो अभावको वस्तुका ही धर्म मानना चाहिए । वस्तु उभयात्मक (भावाभावात्मक) है, और ऐसी वस्तु ही प्रमाणका विषय होती है । इस प्रकार जो केवल भावकी ही सत्ता मानते हैं, ऐसे भावैकान्तवादियोंके मतमें किसी भी इष्ट तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है ।

अब अभावैकान्तवादमें जो-जो दोष आते हैं, उनको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापह्नववादिनाम् ।
बोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधनदूषणम् ॥१२॥

भावको नहीं माननेवाले अभावैकान्तवादियोंके मतमें भी इष्ट तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है । वहाँ न बोध प्रमाण है, और न वाक्य । और प्रमाणके अभावमें स्वमतकी सिद्धि तथा परमतका खण्डन किसी भी प्रकार संभव नहीं है ।

अभावैकान्तवादी अथवा शून्यैकान्तवादी कहते हैं कि केवल अभाव ही तत्त्व है, और भावकी सत्ता किसी भी प्रकार नहीं है । उनके मतमें

अभाव ही सत्य है, और भाव स्वप्नज्ञानकी तरह मिथ्या है। स्वप्नमें नाना पदार्थोंका ज्ञान होता है, और स्वप्नज्ञानके विषयभूत पदार्थ पूर्णरूपसे सत्य प्रतीत होते हैं। किन्तु स्वप्नके बाद उन पदार्थोंका कोई अस्तित्व नही रहता है। यही बात जागृत अवस्थामे जाने गये पदार्थोंके विषयमे है। अन्तर केवल इतना है कि स्वप्नमे प्रतीत पदार्थ कुछ क्षण ही ठहरते है, तथा स्वप्नको देखने वाले व्यक्तिको ही प्रत्यक्ष होते है। और जागृत अवस्थाके विषयभूत पदार्थ अधिक काल तक ठहरते हैं, तथा अनेक व्यक्तियोके प्रत्यक्ष होते हैं। किन्तु इतने मात्रसे उनकी पारमार्थिक सत्ता सिद्ध नही हो सकती। अत स्वप्नज्ञानके विषयभूत पदार्थोंकी तरह जागृतज्ञानके विषयभूत पदार्थ भी मिथ्या हैं। केवल अभाव ही सत्य है। इस प्रकार ये लोग भावका निराकरण करके अभावको ही तत्त्व मानते है। इनके मतमे अभाव ही एक इष्ट तत्त्व है।

सर्वथा अभावैकान्तको माननेवाले इन वादियोंके यहाँ स्वमत सिद्धि और परमतका खण्डन किसी भी प्रकार सभव नही है। स्वपक्षसिद्धि और परपक्षदूषणके लिए प्रमाणकी आवश्यकता होती है। जब अभावैकान्त पक्षमे किसी भी तत्त्वका सद्भाव नही है, तो प्रमाणका भी अभाव होगा, और प्रमाणके अभावमे स्वपक्षसिद्धि और परपक्षदूषण नितान्त असभव हैं। अभावैकान्तवादमे न बोध प्रमाण है, और न वाक्य। यहाँ बोधका अर्थ है स्वार्थानुमान और वाक्यका अर्थ है परार्थानुमान। स्वार्थानुमान केवल अपने लिए होता है, उसमे वचनके प्रयोगकी आवश्यकता नही होती। अत. उसको 'बोध' शब्द द्वारा कहा गया है। परार्थानुमान दूसरेके लिए होता है, उसमे वचनोका प्रयोग किया जाता है। इसलिये परार्थानुमानको 'वाक्य' शब्द द्वारा कहा गया है।

माध्यमिकोंका कहना है कि—

भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः।
यस्मादेकमनेकं च रूपं तेषां न विद्यते॥

—प्रमाणवा० २।३६०

पदार्थोंका जो स्वरूप बतलाया जाता है, वास्तवमे उनका वह स्वरूप नहीं है। जब हम इस बातपर विचार करते हैं कि पदार्थ एक है या अनेक, तो न पदार्थ एक सिद्ध होता है, और न अनेक। पदार्थ एक नहीं है, क्योंकि अनेक पदार्थ देखनेमे आते हैं। वे अनेक भी नही हो सकते, क्योंकि अनेक पदार्थोंके सद्भावको सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नही है।

अत: पदार्थोंका कोई स्वरूप सिद्ध न हो सकनेके कारण अभावैकान्त मानना ही श्रेयस्कर है।

इस प्रकार कहने वाले माध्यमिकोंके यहाँ जब कोई भी तत्त्व नहीं है तो, न तो अभावैकान्तवादियोंकी सत्ता हो सकती है, और न कोई प्रमाण ही हो सकता है। तब माध्यमिक न तो अपने पक्षकी सिद्धि कर सकते हैं, और न भावकी सत्ता मानने वालोंके मतमें दूषण दे सकते हैं। यदि माध्यमिक स्वपक्षसिद्धि करते हैं, और परपक्षमें दूषण देते हैं, तो उनको बहिरंग और अन्तरंग तत्त्वका सद्भाव अवश्य मानना पड़ेगा। हम कह सकते हैं कि बहिरंग और अन्तरंग तत्त्वकी सत्ता वास्तविक है, क्योंकि दोनों तत्त्वोंमेंसे एकके अभावमें न तो स्वपक्षकी सिद्धि हो सकती है, और न परपक्षमें दोष दिया सकता है। यदि अन्तरंग और बहिरंग तत्त्व माननेके डरसे माध्यमिक स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष दूषण भी काल्पनिक मानें, तो ऐसा माननेसे न तो वास्तवमें नैरात्म्य (अभाव)की सिद्धि होगी, और न अनैरात्म्यमें दोष दिया जा सकेगा। कल्पनासे साध्य-साधनकी व्यवस्था मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि साधनके काल्पनिक होनेसे साध्यकी सिद्धि भी काल्पनिक होगी। काल्पनिक साधनसे साध्यकी पारमार्थिक सिद्धि संभव नहीं है। और जब शून्यकी सिद्धि अपारमार्थिक है, तो ऐसी स्थितिमें भावका निराकरण नही किया जा सकेगा, और सब तत्त्वोंकी पारमार्थिक सत्ता स्वयमेव सिद्ध हो जायगी। इस प्रकार माध्यमिक इष्ट तत्त्वकी सिद्धि करनेमें समर्थ नहीं है। वह हेय और उपादेय तत्त्वके ज्ञानसे रहित होनेके कारण केवल निरर्थक वचनोंका ही प्रयोग करता है।

माध्यमिक कहता है कि हेय तत्त्व सद्वादको, और उपादेय तत्त्व शून्यवादको संवृति (कल्पना)से माननेमें कोई दोष नहीं है। यहाँ माध्यमिकसे यह पूँछा जा सकता है कि संवृतिसे किसी पदार्थका अस्तित्व माननेका अर्थ क्या है। यदि इसका अर्थ यह है कि पदार्थोंका सद्भाव स्वरूपकी अपेक्षासे है, तो यह कथन स्याद्वादियोंके अनुकूल ही है। यदि संवृतिसे सद्भावका अर्थ यह माना जाय कि पदार्थोंका सद्भाव पररूपकी अपेक्षासे नहीं है, तो यह अर्थ भी स्याद्वादियोंके अनुकूल है। केवल नाममें ही विवाद रहा, अर्थमें नहीं। पदार्थोंका अस्तित्व संवृति से है, यहाँ संवृतिका अर्थ यदि विचार-पर्याप्ति किया जाय अर्थात् पदार्थोंके विषयमें किसी प्रकारका विचार नहीं किया जा सकता है, ऐसा माना जाय तो भी ठीक

नही है। क्योंकि माध्यमिकके यहाँ जब विचारका अस्तित्व ही नही है तब 'विचार नही किया जा सकता है' ऐसा कहना असगत है। वास्तवमें माध्यमिकके मतमे किसी बातका विचार नही हो सकता है। क्योंकि किसी निर्णीत वस्तुके होनेपर अन्य वस्तुके विषयमे विचार किया जाता है। जब सर्वत्र ही विवाद है, तो किसी भी तत्त्वके विषयमे विचार कैसे किया जा सकता है। कहा भी है—

किञ्चिन्निश्चितमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र वर्तते।
सर्वत्र विप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा॥

([illegible])

जब माध्यमिकके मतमे कोई विचार ही नही है, तो विचार द्वारा दूसरोको समझानेके लिए शास्त्रोका निर्माण, उपदेश देनेवाले आचार्योंका सद्भाव इत्यादि बातोका वर्णन करना [illegible] सौभाग्यके समान ही होगा। यदि कहा जाय कि बुद्धने ऐसा ही उपदेश दिया है कि जितने पदार्थ है वे सब स्वप्नकी तरह मिथ्या हैं, तो यह आश्चर्य की ही बात होगी कि बुद्धने लोकमार्गका उल्लघन कर ऐसा उपदेश कैसे दिया। और सबसे बडे आश्चार्यका बात यह है कि लोग उस मार्गका अनुसरण आज भी कर रह हैं। इसमे अज्ञानके अतिरिक्त और क्या कारण हो सकता है। यदि सभी पदार्थ विभ्रम हैं, तो विभ्रमको तो सत्य मानना आवश्यक है। क्योकि विभ्रमके असत्य होनेपर सब पदार्थ स्वय सत्य हो जाँयगे। इसलिये अभावैकान्त मानना श्रेयस्कर नही है।

जो लोग भावको भी मानते हैं और अभावको भी मानते हैं, किन्तु दोनोको सर्वथा निरपेक्ष मानते हैं, उनका मत भी ठीक नही है, इस बात-को बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते॥१३॥

जो स्याद्वादन्यायसे द्वेष रखनेवाले हैं उनके यहाँ भाव और अभावका निरपेक्ष अस्तित्व नहीं बन सकता है। क्योंकि दोनोंके सर्वथा एकात्म्य माननेमें विरोध आता है। अवाच्यतैकान्त भी नहीं बन सकता है। क्योंकि अवाच्यतैकान्तमें भी 'यह अवाच्य है' ऐसे वाक्यका प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

कुछ लोग भावको भी मानते हैं, और अभावको भी, किन्तु दोनोंको सर्वथा निरपेक्ष मानते हैं। 'सब पदार्थ सर्वथा सत् और असत्रूप हैं'

९

मान्यताका नाम उभयैकात्म्य अथवा उभयैकान्त है। इस प्रकारका उभयैकान्त युक्तसंगत नहीं है। क्योंकि कोई भी पदार्थ न तो सर्वथा सत् है, और न सर्वथा असत्। प्रत्येक पदार्थ किसी अपेक्षासे सत् है, और किसी अपेक्षासे असत् है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे सत्त्व और परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे असत्त्व माननेमें कोई विरोध नहीं है। किसी पदार्थको सर्वथा सत्, और सर्वथा असत् नही माना जा सकता। क्योंकि एककी विधिसे दूसरेका प्रतिषेध हो जाता है। कोई भी पदार्थ जिस रूपसे सत् है उसी रूपसे असत् नही हो सकता, और जिस रूपसे असत् है, उसी रूपसे सत् नही हो सकता। इस प्रकार उभयैकान्त भी अविरोधविरुद्ध है। अतः स्याद्वादन्यायको न माननेवालोंके मतमें भावाभावैकात्म्य नही बन सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि तत्त्व सर्वथा अवाच्य है, तत्त्वका प्रतिपादन किसी भी प्रकार सभव नही है। यह मत भी युक्तिसगत नही है। यदि तत्त्व सर्वथा अवाच्य है, और किसी भी प्रकार वाच्य नही है, तो 'तत्त्व अवाच्य है' ऐसा कहना भी सभव नही है, क्योकि ऐसा कहनेसे तत्त्व अवाच्य न रहकर 'अवाच्य' शब्दका वाच्य हो जाता है। अर्थात् जब तत्त्व अवाच्य है तो उसके विषयमें हम किसी शब्दका प्रयोग नही कर सकते हैं। यदि हम उसको अवाच्य शब्दसे कहते है तो इसका अर्थ यह हुआ कि तत्त्व अवाच्य न रहकर वाच्य हो गया। क्योंकि उसके विषयमें हमने कुछ-न-कुछ कथन किया। उक्त दोष भी स्याद्वादन्याय को न माननेवालोंके मतमें ही आता है। स्याद्वादन्यायके अनुसार तत्त्व कथंचित् अवाच्य है और कथंचित् वाच्य है।

भाट्ट कहते हैं कि भावैकान्त या अभावैकान्त माननेमे जो दोष आते हैं, वे दोष हमारे मतमें नही आ सकते, क्योंकि हमारे मतमें तत्त्व दोनो (भावाभावात्मक) रूप है। भाट्ट का यह कथन युक्ति विरुद्ध है। कोई पदार्थ सर्वथा सत्रूप और सर्वथा असत्रूप नहीं हो सकता है। जैसे शून्यैकान्तवादी यदि किसी प्रमाणसे शून्याद्वैतकी सिद्धि करता है तो उसको स्वमतकी हानि और परमतकी सिद्धि स्वतः हो जाती है। क्योंकि प्रमाण मान लेनेसे शून्याद्वैतकी असिद्धि और प्रमाण आदि तत्त्वोंकी सिद्धि होती है। उसी प्रकार भावाभावैकात्म्यवादीको भी स्वमतकी हानि और परमतका प्रसंग अनिवार्य है। क्योंकि यदि भाव और अभाव दोनों एक रूपसे हैं तो, या तो भाव ही रहेगा या अभाव ही। और ऐसा होनेसे

उभयैकात्म्यकी असिद्धि और भावैकान्त या अभावैकान्तकी सिद्धि नियमसे होगी।

सांख्य भी व्यक्त और अव्यक्तमें तादात्म्य मानते हैं। महत् आदि तत्त्व नित्य नहीं हैं, क्योंकि प्रकृतिमे इनका तिरोभाव हो जाता है। तिरोभाव हो जानेपर भी इन तत्त्वोका सद्भाव बना रहता है, क्योकि इनके विनाशका निषेध किया गया है। इस प्रकार कहने वाला सांख्य स्याद्वादरूपी अभेद्य किलाके द्वार पर तो पहुँच गया है, लेकिन उसमे प्रवेश नहीं कर पा रहा है। जैसे अन्धा सर्प बिलके चारो ओर चक्कर लगाता रहता है, परन्तु दृष्टि न होनेसे उसमे प्रवेश नही कर पाता है। यदि महदादि तत्त्व व्यक्त रूपसे नही हैं, और अव्यक्तरूपसे हैं, तो ऐसी व्यवस्था स्याद्वादमतमे ही बन सकती है। यदि व्यक्त और अव्यक्त सर्वथा एक हैं, तो उन दोनोमे कोई एक ही शेष रहेगा। अत. कथंचित् ऐक्य मानना ही श्रेयस्कर है, और ऐसा माननेमे स्याद्वादमतका अनुसरण अनिवार्य है। इसलिये सर्वथा उभयैकात्म्यवाद ठीक नही है।

बौद्ध तत्त्वको अवाच्य मानते हैं। बौद्धदर्शनके प्रकरणमे यह बतलाया जा चुका है कि बौद्ध मतमे पदार्थको स्वलक्षण कहते हैं। स्वलक्षण शब्दका वाच्य नही होता है। इस प्रकार जो तत्त्वको अवाच्य कहता है, वह अवाच्य शब्दका प्रयोग भी नही कर सकता है। और शब्द-प्रयोगके अभावमे दूसरोको पदार्थका बोध नही कराया जा सकता है। इसी प्रकार स्वलक्षणको अनिर्देश्य और प्रत्यक्षको कल्पनापोढ कहना भी उचित नही है। बौद्ध स्वलक्षणको अनिर्देश्य कहते हैं। अर्थात् स्वलक्षणका किसी शब्दके द्वारा निर्देश (प्रतिपादन) नही किया जा सकता है। यदि स्वलक्षण अनिर्देश्य है, तो अनिर्देश्य शब्दके द्वारा भी उसका कथन नही हो सकता है। तथा स्वलक्षणको अनिर्देश्य मानने पर उसे अज्ञेय भी मानना पड़ेगा। क्योकि जो सर्वथा अनिर्देश्य है उसका ज्ञान किसी प्रकार संभव नही है। और यदि प्रत्यक्ष कल्पनापोढ (कल्पनासे रहित अर्थात् निर्विकल्पक) है, तो 'कल्पनापोढ प्रत्यक्ष' इस प्रकारकी कल्पना भी उसमे नही हो सकती है।

बौद्ध कहते हैं कि शब्दके द्वारा स्वलक्षणका कथन नही होता है किन्तु अन्यापोहका कथन होता है। शब्द न तो पदार्थमे रहते हैं, और न पदार्थके आकार हैं, जिससे अर्थका प्रतिभास होने पर शब्दका भी प्रतिभास हो। यदि ऐसा है तो, जिस प्रकार अर्थमे शब्द नही है, उसी प्रकार इन्द्रियज्ञानमे विषय भी नही है। इसलिये इन्द्रियज्ञानके होनेपर भी विषयका ज्ञान नही होगा। यदि मान जाय कि विषयसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, इस-

लिये ज्ञानके होने पर विषयका प्रतिभास अवश्य होगा, तो इन्द्रियसे ज्ञानकी भी उत्पत्ति होती है, अतः इन्द्रियका भी प्रतिभास होना चाहिये। बौद्धोंके यहाँ ज्ञानकी उत्पत्तिमें चार कारण माने गये हैं—अधिपतिप्रत्यय, आलम्बनप्रत्यय, समनन्तरप्रत्यय और सहकारीप्रत्यय। इन्द्रियोंको अधिपति प्रत्यय कहते हैं। विषयका नाम आलम्बन प्रत्यय है। पूर्ववर्ती ज्ञान समनन्तर प्रत्यय है, और आलोक आदि सहकारी प्रत्यय होते हैं। जिस प्रकार ज्ञानकी उत्पत्तिमें विषय कारण होता है, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी कारण होती हैं। इसलिये यदि ज्ञानके होनेपर ज्ञानकी उत्पत्तिका हेतु होनेसे विषयका प्रतिभास होता है, तो इन्द्रियका प्रतिभास होना भी आवश्यक है। क्योंकि विषयकी तरह इन्द्रिय भी ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ज्ञानको विषयाकार होनेसे ज्ञानमें विषयका ही प्रतिभास होता है, इन्द्रियका नहीं, क्योंकि ज्ञान इन्द्रियके आकार नहीं होता है। इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार ज्ञान विषयके आकार होता है उसी प्रकार इन्द्रियके आकार भी होना चाहिए। यदि कहा जाय कि जैसे बालककी उत्पत्तिमें माता और पिता दोनों ही कारण होते हैं, किन्तु बालक दोनोंमें से किसी एकके ही आकारको धारण करता है, उसी प्रकार इन्द्रिय और विषय दोनोंको ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण होने पर भी ज्ञान विषयके आकार ही होता है इन्द्रियके नहीं। तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि बालकके दृष्टान्तके अनुसार ज्ञानको केवल उपादान कारणके आकार होना चाहिए, विषयके आकार नहीं। विषय ज्ञानका आलम्बन प्रत्यय होता है, और उपादान समनन्तर प्रत्यय होता है। इसलिए दोनोंमें निकट सम्बन्ध होनेसे ज्ञान दोनोंके आकार होता है, ऐसा मानने पर जिस प्रकार ज्ञान विषयको जानता है उसी प्रकार उसे पूर्ववर्ती ज्ञानको भी जानना चाहिये। अथवा जिस प्रकार वह पूर्ववर्ती ज्ञानको नहीं जानता है उसी प्रकार विषयको भी नहीं जानना चाहिये। यद्यपि ज्ञानकी उत्पत्ति विषय और पूर्ववर्ती ज्ञान दोनोंसे होती है तथा ज्ञान दोनोंके आकार भी होता है, किन्तु 'यह रूप है' 'यह रस है' इस प्रकारका अध्यवसाय (निश्चय) विषयमें होनेके कारण ज्ञान विषयको ही जानता है, ऐसा माना जाय तो यहाँ प्रश्न होगा कि जिस प्रकार विषयमें अध्यवसाय होता है उसी प्रकार पूर्ववर्ती ज्ञानमें भी अध्यवसाय होना चाहिये। दूसरी बात यह भी है कि बौद्धोंके अनुसार विषयमें अध्यवसाय

हो भी नहीं सकता है, क्योंकि विषयको जानने वाला प्रत्यक्ष निर्विकल्पक माना गया है।

बौद्ध कहते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष व्यवसायात्मक (सविकल्पक) प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें हेतु होता है। अतः विषयमें अध्यवसायके होनेमें कोई विरोध नही है। ऐसा कहना ठीक नही है, क्योंकि व्यवसाय कराना शब्द-का काम है और निर्विकल्पक प्रत्यक्षको कल्पनापोढ होनेसे उसमें शब्द-संसर्गका अभाव है। यदि शब्दसंसर्ग रहित होने पर भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्तिका हेतु होता है, तो निर्विकल्पक प्रत्यक्षको स्वलक्षण (विषय) का अध्यवसाय भी करना चाहिए। बौद्ध कहते हैं कि शब्दसंसर्ग रहित निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नही है, क्योंकि विजातीय कारणसे भी विजा-तीय कार्यकी उत्पत्ति होती है। जैसे दीपकसे कज्जलकी उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा है तो शब्दसंसर्ग रहित अर्थसे ही सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति क्यों नही हो जाती है। यदि जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया और नाम इन पाँच प्रकारकी कल्पनाओसे रहित अर्थसे सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति संभव नही है, तो शब्दससर्ग रहित निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे भी सविकल्पक प्रत्यक्ष-की उत्पत्ति संभव नही हो सकती है। सविकल्पक प्रत्यक्ष जाति आदिको विषय करता है, ऐसा कहना भी ठीक नही है। क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्षकी तरह सविकल्पक प्रत्यक्ष भी जाति आदिको विषय नही कर सकता है। जब निर्विकल्पक प्रत्यक्ष शब्दससर्ग रहित है तो निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे उत्पन्न होने वाला सविकल्पक प्रत्यक्ष भी शब्दससर्ग रहित होगा। सविकल्पक प्रत्यक्ष जाति आदिका ग्रहण कर भी नही सकता है। क्योंकि यह वस्तु इस जाति विशिष्ट है (गौ गोत्व जाति विशिष्ट है) इस बातको जाननेके लिए विशेषण, विशेष्य और उन दोनोके सम्बन्धका ज्ञान आव-श्यक है। किन्तु सविकल्पक प्रत्यक्षमे इतनी सामर्थ्य नही है कि वह विशे-षण, विशेष्य और उनके सम्बन्धका ज्ञान कर सके, क्योंकि उसकी उत्पत्ति निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे होनेके कारण वह निर्विकल्पक प्रत्यक्षकी तरह ही अविचारक है।

वैभाषिक कहते हैं कि सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति केवल निर्विक-ल्पक प्रत्यक्षसे ही नहीं होती है, किन्तु शब्दका विषय जो जाति आदि विशिष्ट अर्थ है उसमें जो विकल्प वासना (एक प्रकारका संस्कार) है उससे होती है। विकल्पवासना की सन्तान अनादि होनेसे एक वासनाके द्वारा

दूसरी वासना तथा दूसरी वासनाके द्वारा तीसरी वासना, इस क्रमसे अनेक वासनाओंकी उत्पत्ति होती रहती है। अतः सविकल्पककी उत्पत्तिका कारण भिन्न होनेसे यह कहना ठीक नही है कि सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे होती है, और निर्विकल्पककी तरह सविकल्पक भी अविचारक है।

उक्त कथन भी अविचारितरम्य है। बौद्धोंके अनुसार सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें रूपादि विषयका नियम होता है। अर्थात् जब सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा 'यह रूप है' 'यह रस है' इस प्रकारका अध्यवसाय (निश्चय) हो जाता है तभी यह समझना चाहिये कि यह रूप अथवा रस निर्विकल्पक प्रत्यक्षका विषय हो चुका है। जिस विषयमें अध्यवसाय नहीं होता है वह निर्विकल्पकका विषय नही होता है। इस प्रकार यह नियम है कि सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें रूपादि विषयका नियम होता है। किन्तु यह नियम तभी बन सकता है जब सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे हो। सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति शब्दार्थविकल्पवासनासे मानने पर वासनाजन्य सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा निर्विकल्पक प्रत्यक्षमे रूपादि विषयका नियम नही हो सकता है। यदि वासनाजन्य सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा निर्विकल्पक प्रत्यक्षमे रूपादि विषयका नियम माना जाय, तो 'मै राजा हूँ' इस प्रकार मनोराज्य विकल्पसे भी उक्त नियम मानना चाहिये। यदि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सहित वासना द्वारा रूपादिका अध्यवसाय करनेवाले सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति होनेसे सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा निर्विकल्पक प्रत्यक्षमे रूपादि विषयका नियम मानना ठीक है, तो जिस प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष रूपादिको विषय करता है, उसी प्रकार अपने उपादान कारण पूर्व ज्ञानको भी विषय करना चाहिये, क्योंकि उसकी उत्पत्ति समानरूपसे दोनोंसे होती है। सविकल्पक प्रत्यक्षमें 'यह रूप है' इस प्रकारका उल्लेख होता है, इसलिये निर्विकल्पक प्रत्यक्ष रूपादिको विषय करता है, ऐसा माननेपर निर्विकल्पक प्रत्यक्षके साथ शब्दका संसर्ग भी मानना चाहिये। क्योकि सविकल्पक प्रत्यक्षके साथ शब्दका ससर्ग है। और निर्विकल्पक प्रत्यक्षके साथ शब्दका संसर्ग माननेपर रूपादि विषयके साथ भी शब्दका संसर्ग मानना होगा।

बौद्ध न तो निर्विकल्पक प्रत्यक्षके साथ शब्दका संसर्ग मानते हैं और न अर्थके साथ। अतः बौद्धमतके अनुसार कोई व्यक्ति किसी वस्तुको देखकर उसीके समान पहिले देखी हुई वस्तुको स्मरण नहीं कर सकता है।

क्योंकि उस समय उसके नाम विशेषका स्मरण नही होता है। और जब तक नामविशेषका स्मरण नही होगा तब तक उसके शब्दका भी ज्ञान नही हो सकेगा। शब्दज्ञानके बिना न तो शब्द और अर्थमें सम्बन्धका ज्ञान हो सकता है, और न अर्थका अध्यवसाय हो सकता है। इस प्रकार विकल्प और शब्दकी प्रवृत्ति कही न हो सकनेके कारण सारा ससार शब्द और विकल्पसे शून्य हो जायगा।

यहाँ बौद्ध कह सकते हैं कि विकल्पका अनुभव सबको होता है तथा श्रोत्र द्वारा शब्दका प्रतिभास भी सबको होता ही है। ऐसी स्थितिमे ससार शब्द और विकल्पसे शून्य कैसे हो सकता है। इसके उत्तरमे हम कह सकते हैं कि जब निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा विकल्प और शब्दका ग्रहण नही होता है, तो दोनोकी सत्ताका निश्चय करना कठिन है। यदि निर्विकल्पक विकल्पका ग्रहण करने लगे तो स्थिर, स्थूल आदि आकारका ग्रहण भी उसके द्वारा होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि किसी वस्तुका ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा हो जानेपर भी यदि उसकी पुष्टि सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा नही होती है अर्थात् निर्विकल्पकके बाद सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा उसका ज्ञान नही होता है तो वह पदार्थ, चाहे अन्तरङ्ग हो या बहिरङ्ग, अगृहीतके समान ही होता है। बौद्धमतके अनुसार रूप आदि परमाणुओमे क्षणिकत्वका ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे ही हो जाता है। बादमे सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा भी उस पदार्थका ग्रहण होता है, किन्तु क्षणिक पदार्थका ज्ञान न होकर स्थिर पदार्थका ज्ञान होता है। अत निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा गृहीत क्षणिकत्व भी सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा गृहीत न होनेसे अगृहीतके समान ही है। यही कारण है कि पदार्थोमे क्षणिकत्वकी सिद्धि करनेके लिए 'सर्वं क्षणिक सत्त्वात्' 'सब पदार्थ क्षणिक है, सत् होनेसे' इस अनुमानकी आवश्यकता पडती है। इस प्रकार शब्द और विकल्पके अभावमे गृहीत पदार्थ भी अगृहीतके समान ही होगे, और ऐसा होनेसे जगत् अचेतन हो जायगा। क्योकि जब सब पदार्थ अगृहीत है, कोई किसीका ग्राहक नही है, तो जगत्का अचेतन होना स्वाभाविक ही है।

बौद्ध कहते हैं कि पूर्वमे देखी हुई वस्तु तथा उसके नामविशेषका स्मरण क्रमशः नही होता है, किन्तु युगपत् होता है। इसलिए किसी वस्तुको देखने वाला व्यक्ति पूर्वमें देखी हुई तत्सदृश वस्तुका स्मरण कर सकता है, क्योंकि उस समय उसके नामविशेषका स्मरण हो जाता है। और

न मविशेषका स्मरण होनेसे 'यह उसका नाम है' ऐसी शब्द प्रतिपत्ति हो जाती है। पुनः दृश्यकी शब्दके साथ योजना होनेसे 'यह घट है' ऐसा व्यवसाय भी बन जाता है। अतः हमारे मतमें कोई दोष नहीं है।

उक्त कथन केवल प्रलापमात्र है। स्वयं बौद्धोंके अनुसार दो विकल्प एक साथ नहीं हो सकते हैं। पूर्वदृष्ट वस्तुका स्मरण और उसके नामविशेषका स्मरण ये दोनों विकल्प हैं, फिर ये दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं। नाममात्रकी स्मृति भी एक साथ नहीं हो सकती है। क्योंकि एक नाममें जितने स्वर और व्यञ्जन हैं उन सबका अध्यवसाय क्रमसे ही होता है। यदि ऐसा न हो तो 'गौः' इस नाममें ग्, औ और विसर्गोंका मिश्रित ज्ञान होगा, तथा ग् आदि वर्णोंकी प्रतिपत्ति पृथक्-पृथक् नहीं होगी।

यहाँ प्रश्न होता है कि पद और वर्णोंका व्यवसाय नामविशेषकी स्मृति होने पर होता है, या स्मृतिके विना भी। यदि पद और वर्णोंका व्यवसाय नामविशेषकी स्मृतिके विना भी हो जाता है, तो विना शब्दके अर्थव्यवसाय भी हो जाना चाहिये। फिर यह कहना कि 'शब्दविशेषकी अपेक्षासे ही अर्थका व्यवसाय होता है' ठीक नही है। यदि पद और वर्णों का व्यवसाय नही होता है तो अर्थका व्यवसाय किसी भी प्रकार संभव नहीं है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तो अव्यवसायात्मक है, और उसके द्वारा देखा गया पदार्थ विना देखेके समान है, ऐसी स्थितिमें प्रत्यक्ष प्रमाणकी सिद्धि नहीं हो सकती है, और प्रत्यक्ष प्रमाणके अभावमें अनुमान प्रमाण भी सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः सम्पूर्ण प्रमाणोंका अभाव मानना पड़ेगा। और प्रमाणके अभावमें प्रमेयका अभाव स्वतः हो जायगा। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत्को प्रमाण और प्रमेय रहित मानना होगा। यदि पद और वर्णोंका व्यवसाय नामविशेषकी स्मृति होने पर होता है, तो नामविशेषके पद और वर्णोंका व्यवसाय भी अन्य नामविशेषकी स्मृति होने पर होगा। इस प्रकार अनवस्था दोषका आना अनिवार्य है। इस दोषके भयसे बौद्ध यदि शब्दके विना ही सामान्यका व्यवसाय मानें तो स्वलक्षणका व्यवसाय भी शब्दके विना होनेमें कौनसी आपत्ति है। सामान्य और स्वलक्षणमें सर्वथा कोई भेद भी नहीं है।

बौद्ध सामान्य और स्वलक्षणमें भेद मानते हैं। उनके अनुसार स्वलक्षणका लक्षण या कार्य अर्थक्रिया करना है। इसके विपरीत सामान्य कोई भी अर्थक्रिया नहीं करता है। स्वलक्षण परमार्थसत् है और सामान्य संवृतिसत्। स्वलक्षण वास्तविक है और सामान्य काल्पनिक। यथार्थमें

केवल स्वलक्षण ही सत्ता है। सामान्य कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है। विजातीयव्यावृत्त पदार्थोंमें केवल व्यवहारके लिए सामान्यकी कल्पना करली गयी है। जितनी गौ हैं वे सब अगो (घोड़ा आदि) से भिन्न हैं। और सब दोहन आदि एकसी अर्थक्रिया करती हैं। इसलिए उनमें एक गोत्व नामके सामान्यकी कल्पना की गयी है। यही बात मनुष्यत्व आदि सामान्यके विषयमें है। कहा भी है—

यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् ।
अन्यत् संवृतिसत् प्रोक्ते ते स्वसामान्यलक्षणे ॥

—प्रमाणवा० २।३

उक्त प्रकारसे स्वलक्षण और सामान्यमें भेद करना ठीक नही है। यदि स्वलक्षण शब्दकी व्युत्पत्ति की जाय तो 'स्वं असाधारणं लक्षणं यस्येति स्वलक्षणम्' यह व्युत्पत्ति होगी। इस व्युत्पत्तिके अनुसार जिस प्रकार विशेष विसदृश परिणामरूप अपने असाधारण लक्षणसे युक्त है, उसीप्रकार सामान्य भी सदृशपरिणामरूप अपने असाधारण लक्षणसे युक्त है। इस दृष्टिसे अर्थात् असाधारण लक्षणसे युक्त होनेके कारण दोनोमें कोई भेद नही है। जिस प्रकार विशेष व्यावृत्तिज्ञानरूप अर्थक्रिया करता है, उसी प्रकार सामान्य भी अनुवृत्तिज्ञानरूप अर्थक्रिया करता है। भारवहन, दोहन आदि अर्थक्रिया करनेमें जिस प्रकार केवल सामान्य समर्थ नही है, उसी प्रकार केवल विशेष भी समर्थ नही है, किन्तु सामान्यविशेषात्मक गौ ही उक्त अर्थक्रिया करती है। इसलिए अर्थक्रियाकी दृष्टिसे भी दोनों-में कोई भेद नही है। इसके अतिरिक्त ऐसा भी नही है कि सामान्य और विशेष दोनों पृथक् पृथक् हों, जैसा कि नैयायिक-वैशेषिक मानते हैं। विशेष रहित सामान्य आकाशपुष्पके समान अवस्तु ही है। कहा भी है—

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् ।

इसी प्रकार विना सामान्यके विशेष भी नही हो सकता है। जिसमें गोत्व नहीं है वह गौ यथार्थमें गौ नही हो सकती है। अतः पदार्थ न केवल सामान्यरूप है, न केवल विशेषरूप है, और न पृथक् पृथक् सामान्य-विशेष-रूप है, किन्तु परस्परसापेक्ष होनेसे सामान्यविशेषात्मक है। कहा भी है—

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ।

—परीक्षामुख ४।१

सामान्य और विशेष ये दोनों पदार्थकी आत्मा (स्वरूप) हैं। सामान्य और विशेषको छोड़कर पदार्थमें ऐसा कोई तत्त्व नहीं बचता है जिसे पदार्थ कहाजाय। इस प्रकारके सामान्यविशेषात्मक पदार्थमें विना शब्दके भी

निश्चयात्मक ज्ञान होता है। 'मैं पुस्तकको देख रहा हूँ' ऐसा वाक्य उच्चारण न करने पर भी सामने रक्खी हुई पुस्तकका चाक्षुष ज्ञान होता ही है। जब सामान्य और विशेष अभिन्न हैं, तो जिस प्रकार सामान्यका व्यवसाय होता है, उसी प्रकार विशेषका भी व्यवसाय होता है। जिस प्रकार सामान्यकी शब्दके साथ योजना होती है, उसी प्रकार विशेषकी भी शब्दके साथ योजना होती है। इस प्रकार कोई भी प्रमेय अनभिलाप्य (शब्दका अविषय) नहीं है। किन्तु श्रुतज्ञानके विषय होनेसे सब पदार्थ अभिलाप्य है।

बौद्धोके यहाँ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष शब्दसंसर्ग रहित है और निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति होती है। किन्तु इसके साथ ही नामविशेषके स्मरण द्वारा शब्दयोजनाकी भी सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमे अपेक्षा होती है। इस प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति सीधे नही होती है, किन्तु बीचमे स्मार्त शब्दयोजनाका व्यवधान पड जाता है। शब्दाद्वैतवादी शब्दसंसृष्ट अर्थको ग्रहण करने वाला सविकल्पक प्रत्यक्ष मानते हैं, उनके यहाँ अर्थके होने पर भी ज्ञानकी उत्पत्तिमे स्मार्त (स्मृतिजन्य) शब्द योजनाकी अपेक्षा होती है। इसलिए अर्थ और ज्ञानके बीचमे स्मार्त शब्दयोजनाका व्यवधान होनेके कारण अर्थसे सीधे ज्ञानकी उत्पत्ति नही मानी जा सकती है। इसी बातको धर्मकीर्तिने कहा है—

अर्थोपयोगेऽपि पुनः स्मार्तं शब्दानुयोजनम्।
अक्षधीर्यद्यपेक्षेत सोऽर्थो व्यवहितो भवेत्॥

धर्मकीर्तिने उक्त प्रकारसे जो दूषण शब्दाद्वैतवादियोको दिया है। वही दूषण स्वय बौद्धोके लिए भी प्राप्त होता है। क्योकि निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमे स्मार्त शब्दयोजनाका व्यवधान पड़ जाता है। इसलिए निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे सीधे सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति नही मानी जा सकती है। ऊपर श्लोकमे दिये गये दूषणको उसीरूपमे इस प्रकार भी दिया जा सकता है।

ज्ञानोपयोगेऽपि पुनः स्मार्तं शब्दानुयोजनम्।
विकल्पो यद्यपेक्षेताध्यक्षं व्यवहितं भवेत्॥

धर्मकीर्तिने शब्दाद्वैतवादियोको अन्य दूषण भी दिया है। स्मार्त शब्दयोजनाके पहिले अर्थ जिस प्रकार इन्द्रियज्ञानका जनक नही है, स्मार्त शब्दयोजनाके बाद भी वह उसी प्रकार ज्ञानका अजनक ही रहेगा। अतः वहाँ अर्थके अभावमें भी इन्द्रियज्ञान होना चाहिए। कहा भी है—

यः प्रागजनको बुद्धेरुपयोगाविशेषतः ।
स पश्चादपि तेन स्यादर्थापायेऽपि नेत्रधीः ॥

ठीक इसी प्रकारका दूषण बौद्धोके यहाँ भी आता है। जिस प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष स्मार्त शब्दयोजनाके पहिले सविकल्पक प्रत्यक्षका जनक नही है, उसी प्रकार स्मार्त शब्दयोजनाके बाद भी वह उसका अजनक ही रहेगा। अत. निर्विकल्पक प्रत्यक्षके विना ही सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति हो जाना चाहिए—कहा भी है।

यः प्रागजनको बुद्धेरुपयोगाविशेषतः ।
स पश्चादपि तेनाक्षबोधापायेऽपि कल्पना ॥

बौद्धोंके यहाँ एक दोष यह भी आता है कि जिस समय अनभिलाप्य स्वलक्षणका अनुभव हो रहा है उस समय अभिलाप्य सामान्यका स्मरण सम्भव नही है। क्योकि उनके यहाँ दोनोमे अत्यन्त भेद माना गया है। जैसे सह्याचल और विन्ध्याचल दोनो पर्वत नितान्त भिन्न और दूर दूर स्थित हैं। अत उनमेसे एकके देखने पर दूसरेका स्मरण नही हो सकता है। उसी प्रकार विशेष और सामान्य जब नितान्त पृथक् हैं तो एकके देखने पर दूसरेकी स्मृति होना सम्भव नहीं है। यह कहना भी ठीक नही है कि विशेष और सामान्यमे एकत्वाध्यवसाय हो जानेसे विशेषके देखने पर सामान्यकी स्मृति हो जाती है, क्योंकि विशेष और सामान्यमे एकत्वाध्यवसायका ग्रहक कोई प्रमाण नही है। केवल विशेषको विषय करनेके कारण प्रत्यक्ष दोनोंके एकत्वाध्यवसायको नही जान सकता है, और केवल सामान्यको विषय करनेके कारण अनुमान भी दोनोके एकत्वाध्यवसायको नही जान सकता है।

यदि शब्द और अर्थमे स्वाभाविक सम्बन्ध नही है तो अर्थके देखने पर शब्दका स्मरण और शब्दके सुनने पर अर्थका स्मरण नही होना चाहिए। बौद्ध मानते है कि शब्द और अर्थमे कोई सम्बन्ध नही है, फिर भी अर्थके देखने पर शब्दका स्मरण और शब्दके सुनने पर अर्थका स्मरण होता है। इसका कारण यह है कि शब्दका सामान्यके साथ तदुत्पत्तिलक्षण सम्बन्ध है, और सामान्यका विशेषके साथ एकत्वाध्यवसाय हो जाता है। अर्थात् शब्दका साक्षात् सम्बन्ध विशेषके साथ न होकर सामान्यके साथ है। किन्तु विशेष और सामान्यमे एकत्वाध्यवसाय हो जानेसे शब्दका विशेषके साथ भी परम्परा सम्बन्ध है। अत अर्थके देखने पर शब्दका स्मरण और शब्दके सुनने पर अर्थका स्मरण होनेमे कोई बाधा नही है।

बौद्धोंका उक्त कथन युक्ति संगत नही है। क्योंकि सामान्य और विशेषमें एकत्वाध्यावसायका निश्चय किसी प्रमाणसे नही होता है। चक्षु आदि इन्द्रियोंसे जन्य प्रत्यक्षज्ञान यदि किसी भी प्रकार व्यवसायात्मक नहीं है तो किसी पदार्थके देखने पर उसीके समान पहले देखे हुए पदार्थका स्मरण नही होना चाहिए, जिस प्रकार कि दानशील तथा अहिंसक व्यक्तिको स्वर्गादि फल उत्पन्न करनेकी शक्तिका अनुभव होने पर भी उसकी स्मृति नही होती है, और पदार्थमें क्षणिकत्वका अनुभव होने पर भी उसकी स्मृति नहीं होती है। व्यवसायात्मक मानस प्रत्यक्षसे दृष्ट पदार्थके सजातीय पदार्थकी स्मृति मानना भी ठीक नही है, क्योंकि अव्यवसायात्मक इन्द्रियज्ञानसे व्यवसायात्मक मानस प्रत्यक्षकी उत्पत्ति नही हो सकती है। और यदि अदृष्ट आदि किसी सहकारी कारणकी अपेक्षासे व्यवसायात्मक मानस प्रत्यक्षकी उत्पत्ति होती है, तो स्वय व्यवसायात्मक इन्द्रियज्ञानकी उत्पत्ति भी उसी प्रकार होनेमे क्या आपत्ति है।

शका— इन्द्रियज्ञानसे नील, पीत आदिका व्यवसाय मानने पर क्षणक्षय, स्वर्गप्रापणशक्ति आदिका भी व्यवसाय मानना पडेगा। इसलिए इन्द्रियज्ञान व्यवसायात्मक नही है।

उत्तर—मानस प्रत्यक्षको भी उक्त कारणसे व्यवसायात्मक नही मानना चाहिए।

शका—मानसप्रत्यक्ष क्षणक्षय आदिको विषय नही करता है, इसलिए क्षणक्षय आदिके व्यवसाय करनेका प्रश्न ही नही है।

उत्तर—यदि यही बात है तो इन्द्रियज्ञान भी क्षणक्षय आदिको विषय नही करता है। अतः इन्द्रियज्ञानमे भी क्षणक्षय आदिके व्यवसायका प्रसङ्ग प्राप्त नही होगा।

शका—ऐसा मानने पर नीलादिसे क्षणक्षय आदिको भिन्न मानना पड़ेगा। क्योंकि नीलादिका व्यवसाय होने पर भी क्षणक्षय आदिका व्यवसाय नहीं हुआ। जैसे कि जिस खंभे पर पिशाच बैठा हुआ है उसका ज्ञान होने पर भी पिशाचका ज्ञान नही होता है तो पिशाच खभेसे भिन्न है।

उत्तर—यही बात मानसप्रत्यक्षके विषयमें भी है। यदि मानसप्रत्यक्षसे नीलादिका व्यवसाय होने पर भी क्षणक्षय आदिका व्यवसाय नही होता है तो नीलादिसे क्षणक्षय आदिमें भेद प्राप्त होगा ही।

अतः इन्द्रियज्ञानको अव्यवसायात्मक मानना किसी भी प्रकार ठीक नहीं है।

बौद्धाचार्य प्रज्ञाकर कहते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे भी अभ्यास, प्रकरण, बुद्धिपाटव, अर्थित्व आदिके कारण दृष्टसजातीय पदार्थमें स्मृति हो जाती है। जिस पदार्थका अभ्यास होता है या जिस पदार्थका प्रकरण चल रहा हो, उसके समान पदार्थकी स्मृति होना असंगत नहीं है। बुद्धिकी पटुताके कारण तथा अर्थकी प्राप्तिकी इच्छाके कारण भी दृष्टसजातीय पदार्थकी स्मृति होना सम्भव है। जो लोग प्रत्यक्षको व्यवसायात्मक मानते हैं उनके यहाँ भी अभ्यास आदिके अभावमे दृष्टसजातीय पदार्थकी स्मृति नहीं होती है। जैसे कि प्रतिवादीके द्वारा कथित वर्ण, पद आदिकी स्मृति नहीं होती है, अथवा अपने श्वासोच्छ्वासकी स्मृति नही होती है।

उक्त कथन भी असगत है। बौद्धोंके अनुसार प्रत्यक्षका स्वभाव एक तथा निरंश है। ऐसे प्रत्यक्षमें नीलादि विषयक अभ्यास आदि हो और क्षणक्षयादि विषयक अभ्यास आदि न हो, ऐसा नही हो सकता है। यदि प्रत्यक्षका स्वभाव अभ्यास आदि रूप नही है और अनभ्यास आदिकी व्यावृत्तिसे प्रत्यक्ष अभ्यास आदि रूप हो जाता है, तो पावकमे भी अशीतत्व की व्यावृत्ति मानना चाहिए, क्योंकि पावकका स्वभाव शीत नही है। अतः उसमें शीतसे अन्य अशीतत्व की व्यावृत्ति सभव है। और प्रत्यक्षका स्वभाव अभ्यास आदि रूप है तो अन्य व्यावृत्ति भी माननेकी कोई आवश्यकता नही है। सविकल्पक प्रत्यक्षज्ञानवादी जैनोके मतमें अनभ्यासात्मक अवग्रह, ईहा और अवाय से भिन्न अभ्यासात्मक धारणा ज्ञानका सद्भाव पाया जाता है। अत धारणा ज्ञानके अभावमे प्रतिवादी द्वारा कथित वर्ण, पद आदिकी स्मृति नही होती है। और जहाँ धारणा ज्ञान रहता है वहाँ स्मृति होती ही है।

बौद्धोंके अनुसार प्रत्यक्ष शब्दससर्गसे रहित है। शब्दका सम्बन्ध न तो प्रत्यक्षके साथ है और न स्वलक्षणके साथ। शब्दका विषय केवल सामान्य है। वास्तवमें यदि प्रत्यक्ष शब्दससर्ग रहित है, तो उसके द्वारा सामान्य और शब्दका सयोजन (सम्बन्ध) कैसे हो सकता है। जब स्वयं प्रत्यक्षमें शब्दका ससर्ग नहीं है तो वह सामान्य और शब्दका संसर्ग किसी भी प्रकार नही करा सकता है। पहले बतलाया जा चुका है कि स्वलक्षण और सामान्य पृथक् पृथक् नहीं है। अतः साधारणरूपसे प्रतिभासित होनेवाला विशेष ही सामान्य है, और उसीके साथ शब्दका सम्बन्ध होता है। ऐसा मानना ठीक नही है कि प्रत्यक्ष और स्मृतिके द्वारा पदार्थका भिन्न भिन्न प्रकारसे ग्रहण होनेके कारण विषय एक नहीं है। क्योंकि विषयके एक होने पर भी भिन्न भिन्न प्रतिभास होता है। अथवा

भासभेद होने पर भी विषयमें भेद होना आवश्यक नहीं है। एक ही वृक्ष-को एक पुरुष निकटसे देखता है, और दूसरा दूर से। निकटसे देखनेवाले पुरुषको वृक्षका स्पष्ट प्रतिभास होता है, और दूरसे देखनेवाले पुरुषको अस्पष्ट प्रतिभास होता है। परन्तु प्रतिभासमें भेद होनेसे वृक्षमें भेद नहीं होता। इसी प्रकार प्रत्यक्ष और स्मृतिके द्वारा भिन्न भिन्न प्रतिभास होने पर भी स्वलक्षणरूप विषयमें कोई भेद नहीं होता है। अतः मन्दरूपसे प्रतिभासित होनेवाला घट सामान्य यदि शब्दका विषय होता है एवं उसमें संकेत भी किया जाता है, तो इससे यही सिद्ध होता है कि वस्तु कथंचित् अभिधेय है। यदि स्वलक्षणमें शब्द न होनेसे स्वलक्षण अवाच्य है, तो प्रत्यक्षमें अर्थ न होनेसे अर्थ अज्ञेय भी होगा। इसलिए प्रत्यक्षको कल्पनापोढ मानना किसी भी प्रकार संगत नहीं है। यदि प्रत्यक्ष निर्वि-कल्पक है तो उससे सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती है।

इस प्रकार अवाच्यनैकान्त पक्षमें जो दूषण आते हैं उनको संक्षेपसे यहाँ बतलाया गया है। अवाच्यनैकान्त पक्षमें वस्तुको 'अवाच्य' शब्द द्वारा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि अवाच्य शब्दके द्वारा कहने पर वस्तु अवाच्य शब्दका वाच्य हो जाती है। इसी प्रकार अवाच्यतैकान्त पक्षमे स्वलक्षण 'अनिर्देश्य है', यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि अनिर्देश्य शब्दके द्वारा स्वलक्षण निर्देश्य हो जाता है।

इस प्रकार भावैकान्त, अभावैकान्त, उभयैकान्त ओर अवाच्यतैकान्त का संक्षपमें निराकरण किया गया।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि यदि वस्तु न सत् है, न असत् है, न उभय है, और न अवाच्य है, तो वास्तवमें वस्तु कैसी है। और उस जैनशासनका क्या स्वरूप है जिसमें किसी प्रमाणसे बाधा नहीं आती है। इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए आचार्य कहते हैं—

कथंचित् ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥१४॥

जैन शासनमें वस्तु कथंचित् सत् ही है, कथंचित् असत् ही है। इसी प्रकार अपेक्षाभेदसे वस्तु उभयात्मक और अवाच्य भी है। नयकी अपेक्षासे वस्तु सत् आदि रूप है, सर्वथा नहीं।

पहले सत्त्वैकान्त, असत्त्वैकान्त आदि एकान्तोंका निराकरण किया गया है। क्योंकि वस्तु न तो सर्वथा सत्‌रूप ही है, और न असत्‌रूप ही है।

किन्तु किसी अपेक्षासे वस्तु सत् है, और किसी अपेक्षासे वही वस्तु असत् है। ऐसा नही है कि एक वस्तु सत् है, और दूसरी असत् है। किसी अपेक्षासे जो वस्तु सत् है, वही वस्तु अन्य अपेक्षासे असत् भी है। यही बात वस्तुके उभयात्मक तथा अवाच्य होनेमे है। वस्तु सर्वथा न तो उभयात्मक ही है, और न अवाच्य ही। किन्तु किसी अपेक्षासे वस्तु उभयात्मक है, और किसी अपेक्षासे अवाच्य है। तात्पर्य यह है कि जैनशासनमे सर्वत्र नयकी दृष्टिसे विचार किया गया है। 'वक्तुरभिप्रायो नय'। वक्ताके अभिप्रायका नाम नय है। वक्ता जिस अभिप्रायसे किसी वस्तुको कहना चाहता है, उस वस्तुका उसी दृष्टिसे विचार किया जाता है। यदि वक्ता-के अभिप्रायके अनुसार विचार न कर, सदा एक रूपसे ही किसी बात पर विचार किया जायगा, तो बडी अव्यवस्था हो जायगी। सैन्धवका अर्थ है घोडा और नमक। कोई पुरुष भोजन करते समय दूसरे पुरुषसे कहता है—'सैन्धवमानय', सैन्धव लाओ। यदि दूसरा पुरुष कहने वालेके अभिप्रायको न समझकर उस समय घोडा लाकर खडा कर दे, तो वह हँसीका पात्र होगा। अत प्रत्येक बात पर विचार करते समय वक्ताके अभिप्राय पर ध्यान देना आवश्यक है। घट सत् भी है, और असत् भी। द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमे घटरूपमे परिणत जो मिट्टी अथवा पुद्गल है, उसका कभी नाश नही होता है। अत इस नयकी दृष्टिसे घट सत् है। पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे घट पर्यायका नाश होनेके कारण घट असत् है। अथवा घट अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे सत् है और परद्रव्य, क्षत्र, काल और भावकी अपेक्षासे असत् है। घट घटरूपसे है, पटरूपसे नही है। अपने क्षेत्र और कालमे है, पटके क्षेत्र और कालमे नही है। अत घट सत् भी है, और असत् भी। जब दोनो नयोकी दृष्टिसे क्रमश विचार किया जाता है, तब घट उभयात्मक सिद्ध होता है। और दोनो नयोकी दृष्टिसे युगपत् विचार करने पर घट अवाच्य भी हो जाता है। यही व्यवस्था प्रत्येक वस्तुके विषयमे समझना चाहिये। इस प्रकार जैनशासनमे कोई भी वस्तु सर्वथा एकरूप नही है। और यही कारण है कि जैनशासनमे किसी प्रमाणसे बाधा नही आती है।

प्रत्येक वस्तुमे अनन्त धर्म होते है, और प्रत्येक धर्मका कथन अपने विरोधी धर्मकी अपेक्षासे सात प्रकारसे किया जाता है। प्रत्येक धर्मका सात प्रकारसे कथन करनेकी शैलीका नाम ही सप्तभगी है। कहा भी है—

प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी।

अर्थात् सात प्रकारके प्रश्नके वशसे वस्तुमें अविरोधरूपक विधि और प्रतिषेधकी कल्पना करना सप्तभंगी है। सात भंग इस प्रकार होते हैं—१. वस्तु कथंचित् सत् है, २. कथंचित् असत् है, ३. कथंचित् उभयात्मक ४ कथंचित् अवाच्य है, ५. कथंचित् सत् और अवाच्य है, ६ कथंचित् असत् और अवाच्य है, ७ कथंचित् सत्-असत् और अवाच्य है।

यहाँ यह शंका होना स्वाभाविक है कि वस्तुमें सात ही भंग क्यों होते हैं। इसका उत्तर यह है कि वस्तुमें सात प्रकारके प्रश्न होते हैं। इसीलिये 'प्रश्नवशात्' ऐसा कहा है। सात प्रकारके प्रश्न होनेका कारण यह है कि वस्तुमें सात प्रकारकी जिज्ञासा होती है। सात प्रकारकी जिज्ञासा होनेका कारण सात प्रकारका संशय है। और सात प्रकारका संशय इसलिये होता है कि संशयका विषयभूत धर्म सात प्रकारका है। प्रत्येक वस्तुमें नयकी अपेक्षासे सात भंग होते हैं। सातसे कम या अधिक भंग नहीं हो सकते। क्योंकि नयवाक्य सात ही होते हैं।

सातभंग निम्न प्रकारसे भी होते हैं—

१. विधिकल्पना, २. प्रतिषेधकल्पना, ३. क्रमसे विधिप्रतिषेधकल्पना, ४. एक साथ विधिप्रतिषेधकल्पना, ५. विधिकल्पनाके साथ विधिप्रतिषेध-कल्पना, ६. प्रतिषेध कल्पनाके साथ विधिप्रतिषेधकल्पना, ७. क्रमसे तथा एक साथ विधिप्रतिषेधकल्पना।

ब्रह्माद्वैतवादियोंका कहना है कि विधिकल्पना ही सत्य है और प्रति-षेधकल्पना मिथ्या है। इसलिए विधिवाक्य ही सम्यक् वाक्य है। अन्य निषेध आदि वाक्य कथनमात्र हैं। वेदान्तवादियोंका उक्त कथन नितान्त अयुक्त है। क्योंकि इस बातको पहले बतलाया जा चुका है कि भावैकान्त माननेमें अनेक दोष आते हैं। यदि पदार्थ भावरूप ही है, अभावरूप नहीं, तो सब पदार्थ सब रूप हो जाँयगे। 'अनादि, अनन्त' और स्वरूप रहित भी हो जाँयगे। अतः पदार्थ विधिरूप ही नहीं है, किन्तु प्रतिषेधरूप भी है। इसी प्रकार यह कहना भी ठीक नहीं है कि प्रतिषेधवाक्य ही सत्य है, और विधिवाक्य मिथ्या है। क्योंकि अभावैकान्त पक्षमें जो दूषण आते हैं, उनको पहले बतलाया जा चुका है। पदार्थका स्वरूप एकान्त-रूप नहीं है, किन्तु अनेकान्तरूप है। पदार्थ न केवल भावरूप ही है, और न केवल अभावरूप, किन्तु उभयात्मक है। वैशेषिक मानते हैं कि सत् तथा असत्के भेदसे दो प्रकारका ही तत्त्व है[1]। पदार्थोंका वर्गीकरण

१. सदसद्वर्गस्तत्त्वम्।

दो वर्गोंमें होता है—एक सद्वर्ग और दूसरा असद्वर्ग। समस्त पदार्थ इन दो वर्गोंमें ही अन्तर्हित हो जाते हैं। इसलिये वैशेषिकोंके अनुसार केवल विधिवाक्य और निषेधवाक्य ये दोनों वाक्य ही सत्य हैं, अन्य वाक्य ठीक नहीं है। वैशेषिकोंका उक्त कथन असम्यक् है। पदार्थ सत् और असत् उभयरूप हैं। जिस समय सत्का प्रधानरूपसे कथन किया जाता है, उस समय पदार्थ सत्रूप सिद्ध होता है, और जिस समय पदार्थका असत्-रूपसे कथन किया जाता है, उस समय पदार्थ असत्रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार जिस समय पदार्थके दोनों धर्मोंका क्रमशः प्रधानरूपसे कथन किया जाता है, उस समय पदार्थ उभयात्मक सिद्ध होता है। केवल सत्त्व-वचनके द्वारा या असत्त्ववचनके द्वारा प्रधानभावापन्न दोनों धर्मोंका कथन नही हो सकता है। अतः एक धर्मकी प्रधानतासे वर्णित वस्तुकी अपेक्षासे क्रमशः दोनों धर्मोंकी प्रधानतासे वर्णित वस्तु कुछ विलक्षण ही होती है। यही कारण है कि केवल विधिवाक्य या प्रतिषेधवाक्यके द्वारा क्रमशः प्रधानभावापन्न दोनो धर्मोंका कथन नही हो सकता है। अतः उभयधर्मात्मक वस्तुको विषय करनेवाला तृतीय भंग मानना अत्यन्त आवश्यक है। जिस समय दोनों धर्मोंका एक साथ कथन करनेकी अपेक्षा हो, उस समय वस्तुका स्वरूप पहिलेकी अपेक्षा नितान्त विलक्षण होता है। उस समय वस्तु अवर्णनीय होती है, और ऐसी वस्तुको विषय करने-वाला अवक्तव्य नामक चतुर्थ भंग भी मानना आवश्यक है। जहाँ सत्, असत् और उभयधर्मोंके साथ अवक्तव्यत्वके वर्णन करनेकी भी अपेक्षा होती है, वहाँ तीन भंग और भी होते हैं। इस प्रकार अस्तित्व धर्मको लेकर वस्तुमें सात भंग होते हैं—१. स्यादस्ति वस्तु, २. स्यान्नास्ति वस्तु, ३. स्यादस्ति च नास्ति च वस्तु, ४. स्यादवक्तव्य वस्तु, ५. स्यादस्ति चावक्तव्य च वस्तु, ६ स्यान्नास्ति चावक्तव्य च वस्तु, ७ स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च वस्तु। यहाँ प्रत्येक वाक्यके साथ स्यात् शब्द लगा हुआ है। यह स्यात्[1] शब्द क्या है? स्यात् शब्द निपात शब्द है। वह इस बातको बतलाता है कि वस्तु सर्वथा सत् नही है, किन्तु अनेकधर्मा-त्मक है। कथंचित् शब्द स्यात् शब्दका ही पर्यायवाची है। इसीलिए कारिकामें कथंचित् शब्दका प्रयोग किया गया है। प्रत्यक्षादिविरुद्ध धर्मों-की कल्पना करना सप्तभंगी नही है, किन्तु अविरोधी धर्मोंकी कल्पना

१. सर्वथास्तित्वनिषेधकोऽनेकान्तद्योतक कथंचिदित्यपरनामकः स्याच्छब्दो निपात ।

करना ही सप्तभंगी है। इसीलिए सप्तभंगीके लक्षणमें 'अविरोधेन' यह विशेषण दिया गया है। इसी प्रकार एक वस्तुमें विधिकी कल्पना करना और दूसरी वस्तुमें प्रतिषेधकी कल्पना करना भी सप्तभंगी नहीं है। किन्तु जहाँ एक ही वस्तुमें विधि और प्रतिषेधकी कल्पना की जाती है, वहीं सप्तभंगी होती है। इसीलिए सप्तभंगीके लक्षणमें 'एकत्र वस्तुनि' यह विशेषण दिया है। यह शंका भी ठीक नहीं है कि एक ही वस्तुमें अनन्तधर्म पाये जाते हैं, इसलिए अनन्तधर्मोंकी अपेक्षासे अनन्तभंगी मानना पड़ेगी। क्योंकि प्रत्येक धर्मकी अपेक्षासे एक सप्तभंगी होती है, इसलिए अनन्त सप्तभंगियाँ मानना तो उचित है किन्तु अनन्तभंगी मानना किसी भी प्रकार उचित नहीं है।

वस्तुमें सत्त्वधर्म मानना आवश्यक है, क्योंकि सत्त्वके अभावमें वस्तुमें वस्तुत्व ही नहीं बन सकता है। द्रव्यका लक्षण ही 'सत्' है, 'सद् द्रव्यलक्षणम्' ऐसा आगम भी है। सत्त्वकी तरह असत्त्व भी वस्तुका धर्म है, क्योंकि वस्तु कथंचित् सत् है, सर्वथा सत् नहीं है। यदि वस्तु सर्वथा सत् हो, तो जिस प्रकार वह स्वद्रव्य आदिकी अपेक्षासे सत् है, उसी प्रकार पर द्रव्य आदिकी अपेक्षासे भी सत् होगी। और ऐसा माननेमें सब वस्तुएँ सब रूप हो जाँयगी। इसी प्रकार उभय, अवक्तव्य आदि भी वस्तुके धर्म हैं। क्योंकि उस प्रकारका विकल्प और शब्द व्यवहार देखा जाता है, उस रूप वस्तुकी प्रतीति, प्रवृत्ति तथा प्राप्ति भी देखी जाती है। इस प्रकारका जो व्यवहार देखा जाता है वह ऐसा नहीं है कि विना विषयके ही हो जाता हो। यदि ऐसा हो तो प्रत्यक्षादिके द्वारा होनेवाले व्यवहारको भी निर्विषय मानना पड़ेगा तथा किसी इष्ट तत्त्वकी व्यवस्था भी नहीं हो सकेगी।

शंका—जिस प्रकार प्रथम और द्वितीय धर्म पृथक् हैं तथा प्रथम और द्वितीय धर्मको मिलाकर तृतीयधर्म भी एक पृथक् धर्म है, उसी प्रकार प्रथम और तृतीय धर्मको मिलाकर तथा द्वितीय और तृतीयधर्मको मिलाकर सात धर्मोंसे अतिरिक्त दो धर्म और भी सिद्ध होंगे।

उत्तर—प्रथम और तृतीय धर्मको मिलाकर एक पृथक् धर्म नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रथम धर्म और तृतीय धर्मगत सत्त्व भिन्न-भिन्न नहीं है। जो सत्त्व प्रथम धर्मगत है, वही सत्त्व तृतीय धर्मगत है। प्रथम धर्मगत सत्त्वसे तृतीय धर्मगत सत्त्व भिन्न नहीं है। इसी प्रकार द्वितीय धर्मगत असत्त्व और तृतीय धर्मगत असत्त्व भी भिन्न-भिन्न नहीं है।

जो असत्त्व द्वितीय धर्मगत है, वही असत्त्व तृतीय धर्मगत है। प्रथम धर्ममें प्रधानरूपसे सत्‌की विवक्षा है, और तृतीय धर्ममें क्रमशः प्रधानरूपसे सत् और असत्‌की विवक्षा है। यदि प्रथम और तृतीय धर्म तथा द्वितीय और तृतीय धर्मको मिलाकर अन्य दो पृथक् धर्म माने जावें, तो उनका रूप ऐसा होगा—क्रमशः सत्, सत् तथा असत्‌की विवक्षा, क्रमशः असत्, सत् तथा असत्‌की विवक्षा। अब प्रथम और तृतीय धर्ममे जो दो बार सत्‌की विवक्षा है, व द्वितीय और तृतीय धर्ममें जो दो बार असत्‌की विवक्षा है, उसमे दो सत् और दो असत् भिन्न-भिन्न नही हैं, किन्तु वही सत् तथा वही असत् ही पुनः विवक्षित है। इसलिए प्रथम और तृतीय धर्मको मिलाकर तथा द्वितीय और तृतीय धर्मको मिलाकर दो पृथक् धर्म किसी भी प्रकार सिद्ध नही हो सकते हैं।

शका—यदि प्रथम और तृतीय धर्मको मिलाकर तथा द्वितीय और तृतीय धर्मको मिलाकर पृथक्-पृथक् धर्म सिद्ध नही होते हैं, तो प्रथम और चतुर्थ, द्वितीय और चतुर्थ तथा तृतीय और चतुर्थ धर्मोंको मिलाकर भिन्न-भिन्न धर्म कैसे सिद्ध हो सकते हैं।

उत्तर—प्रथम और चतुर्थ, द्वितीय और चतुर्थ तथा तृतीय और चतुर्थ धर्मोंको मिला कर अन्य तीन पृथक् धर्म माननेमे कोई बाधा नही है। क्योंकि चतुर्थ जो अवक्तव्यत्व धर्म है, उसमें सत्त्व और असत्त्वका कुछ भी परामर्श नही होता है। वहाँ तो सत्त्व और असत्त्व दोनोकी एक साथ प्रधानरूपसे विवक्षा रहती है, किन्तु दोनो धर्मोंका एक साथ और एक ही समयमें प्रतिपादन होना असंभव है। इसीलिये अवक्तव्यत्व नामक एक पृथक् धर्म माना गया है। जहाँ पहले सत्त्व धर्मको प्रधानरूपसे कहनेकी अपेक्षा होती है, और पुनः दोनो धर्मोंको एक साथ कहनेकी अपेक्षा होती है, वहाँ 'स्यादस्ति अवक्तव्य वस्तु' इस प्रकारके एक पृथक् धर्मकी व्यवस्था होती है। यहाँ प्रथम धर्ममे जो अस्तित्व है, तथा चतुर्थ धर्म अवक्तव्यत्वमे जो अस्तित्व है, वह एक ही है, ऐसा मानना ठीक नही है। क्योंकि अवक्तव्यत्वमे अस्तित्वका कोई विचार ही नही है। जिस प्रकार प्रथम भंगमें अस्तित्वका पृथक् सत्त्व है, उस प्रकार चतुर्थभंगमें अस्तित्वका कोई पृथक् सत्त्व नही है। इसलिए प्रथम और चतुर्थ भंगको मिलाकर एक पृथक् धर्म सिद्ध होता है। इसी प्रकार द्वितीय और चतुर्थ तथा तृतीय और चतुर्थ धर्मोंको मिलाकर भी पृथक्-पृथक् धर्म सिद्ध होते हैं। क्योंकि अवक्तव्य शब्दके द्वारा न तो अस्तित्वका ही प्रतिपादन

होता है, और न नास्तित्व का ही। इसलिए नास्तित्वके साथ अवक्तव्यत्व तथा अस्तित्व और नास्तित्वके साथ अवक्तव्यत्वका मिलानेमें पृथक्-पृथक् धर्म अवश्य ही सिद्ध होते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रथम भंगमें सत्त्वका प्रधानरूपसे कथन होता है। द्वितीय भंगमें असत्त्वका प्रधानरूपसे कथन होता है। तृतीय भंगमें क्रमसे प्रधानभावापन्न सत्त्व और असत्त्वका प्रतिपादन होता है। चतुर्थ भंगमें दोनों धर्मोंकी युगपत् विवक्षा होनेसे अवक्तव्यत्व धर्मका प्रतिपादन होता है। पञ्चम भंगमें सत्त्व सहित अवक्तव्यत्व का, छठवें भंगमें असत्त्व सहित अवक्तव्यत्व का, और सातवें भंगमें क्रमसे सत्त्व और असत्त्व सहित अवक्तव्यत्वका प्रतिपादन होता है।

शंका—जिस प्रकार वस्तुमें एक अवक्तव्यत्व धर्म माना गया है, उसी प्रकार एक वक्तव्यत्व धर्म भी मानना चाहिए। इसलिए वक्तव्यत्व धर्मकी अपेक्षासे आठ धर्म होनेसे सात धर्मोंकी सिद्धि नही हो सकती है।

उत्तर—एक पृथक् वक्तव्यत्व धर्मकी कल्पना करना ठीक नही है। सत्त्वादि धर्मोंके द्वारा वस्तुका जो प्रतिपादन होता है, वही वक्तव्यत्व है, उसको छोड़कर अन्य कोई वक्तव्यत्व धर्म नही है। फिर भी यदि अवक्तव्यत्वकी तरह वक्तव्यत्वको भी एक पृथक् धर्म माननेका आग्रह हो, तो वक्तव्यत्व और अवक्तव्यत्वकी अपेक्षासे एक पृथक् सप्तभङ्गी सिद्ध हो सकती है, किन्तु सत्त्वादि धर्मोंकी तरह एक पृथक् वक्तव्यत्व धर्म नही माना जा सकता।

अतः यह कहना ठीक ही है कि सत्त्वादि सात धर्मोंको विषय करने वाली वाणीका नाम सप्तभङ्गी है। कथंचित् अथवा स्यात् शब्द अनेकान्तका वाचक अथवा द्योतक है। ऐसी आशंका करना ठीक नही है कि कथंचित् शब्दसे ही अनेकान्तका प्रतिपादन हो जानेसे सत् आदि वचनोंका प्रयोग अनर्थक है। कथंचित् शब्दके द्वारा सामान्यरूपसे अनेकान्तका प्रतिपादन होता है। किन्तु जो व्यक्ति विशेष जाननेका इच्छुक है, उसके लिए सत् आदि विशेष वचनोंका प्रयोग करना आवश्यक है। जैसे जो वृक्षको नही जानता है उसको 'यह वृक्ष है' इस वाक्यके द्वारा सामान्यरूपसे वृक्षका ज्ञान हो जाता है। फिर भी उसको वृक्ष विशेषकी जिज्ञासा होने पर 'यह आमका वृक्ष है' अथवा 'नीमका वृक्ष है' इत्यादि वाक्योंका प्रयोग करना आवश्यक है। कथंचित् शब्दको अनेकान्तका द्योतक मानने में तो सत् आदि वचनोंका प्रयोग करना युक्तिसंगत ही है। सत् आदि

वचनोंके द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त कथंचित् शब्दके द्वारा द्योतित होता है। यदि कथंचित् शब्दके द्वारा अनेकान्तका द्योतन न किया जाय तो तत्त्वमें सर्वथैकान्तकी शंका रह सकती है। अतः तत्त्वमें सर्वथैकान्तकी आशंकाको दूर करके अनेकान्तात्मक वस्तुके ज्ञानके लिए कथंचित् शब्दका प्रयोग अवश्य करना चाहिए। ऐसी शंका भी की जा सकती है कि कथंचित् शब्दका अर्थ अनेकान्तात्मक वस्तुकी सामर्थ्यसे ही ज्ञात हो जानेसे कथंचित् शब्दका प्रयोग निरर्थक है। किन्तु अनेकान्तका प्रतिपादन करने वाला व्यक्ति यदि स्याद्वादन्यायके प्रयोग करनेमें कुशल नहीं है, तो शिष्योंको कथंचित् शब्दके प्रयोगके बिना अनेकान्तका ज्ञान होना कठिन है। अतः ऐसी स्थितिमें कथंचित् शब्दका प्रयोग करना ही चाहिए। और यदि प्रतिपादक स्याद्वादन्यायके प्रयोग करनेमें कुशल है, तो कथंचित् शब्दके प्रयोगके बिना भी काम चल सकता है। 'सर्वं सत्', 'सब पदार्थ सत् हैं', ऐसा कहने पर भी 'सब पदार्थ कथंचित् सत् हैं' ऐसा ज्ञान होना कठिन नहीं है।

बौद्ध रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धोंको छोड़कर आत्माकी पृथक् कोई सत्ता नहीं मानते हैं। जैन आत्माको ज्ञानदर्शन स्वरूप मानते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे ज्ञान पाँच प्रकार का है। चक्षुःदर्शन, अचक्षुःदर्शन, अवधिदर्शन, और केवलदर्शनके भेदसे दर्शन चार प्रकारका है। ज्ञानदर्शनका नाम उपयोग है। उपयोग ही जीवका लक्षण है[1]।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके भेदसे मतिज्ञानके चार भेद हैं। इसी प्रकार अन्य ज्ञानोंके भी अवान्तर भेद हैं। यहाँ बौद्ध कह सकते हैं कि दर्शन, अवग्रह आदिको छोड़कर आत्मा कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। किन्तु समीचीनरूपसे विचार करने पर ज्ञान, दर्शन आदि पर्यायोंमें रहने वाला एक नित्य आत्मा मानना आवश्यक प्रतीत होता है। यदि ज्ञान, दर्शन आदिका आत्माके साथ तथा परस्परमें कोई सम्बन्ध नहीं है, तो जिस प्रकार एक आत्माका ज्ञान दूसरी आत्माके ज्ञानसे भिन्न है, उसी प्रकार एक ही आत्मामें होने वाले ज्ञानोंकी एक और दर्शनोंकी एक संतति नहीं बन सकेगी। तथा दर्शन और ज्ञानमें भी परस्परमें सम्बन्ध न होनेसे एकके विषयको दूसरा नहीं जान सकेगा। ऐसा देखा है कि जिसका दर्शन होता है, उसीका अवग्रह होता है, ईहा, अवाय

---

१. उपयोगो लक्षणम्—तत्त्वार्थसूत्र २।८।

और धारणा भी उसीमें होते हैं, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि भी उसीमें होते हैं। दर्शन, अवग्रह आदि तथा स्मृति आदि समस्त पर्यायोंमें एक ही आत्मा मणियोंमें तन्तुकी तरह विद्यमान रहता है। जो दृष्टा होता है, वही अवगृहीता होता है। यदि ऐसा न हो तो 'यदेव दृष्टं तदेव अवगृहीतं' 'जिस वस्तुका दर्शन किया, अवग्रह भी उसी का किया', तथा 'अहमेव दृष्टा अहमेव अवगृहीता' 'मैं ही दृष्टा हूँ, और मैं ही अवगृहीता हूँ,' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान नहीं होना चाहिए। नैयायिकोंने भी माना है कि दर्शन और स्पर्शनके द्वारा एक ही अर्थका ग्रहण[1] होनेसे दोनों अवस्थाओं-में रहने वाला आत्मा एक ही है। 'यदेव मया दृष्टं तदेव स्पृशामि' 'जिसको मैंने प्रातः देखा था, उसीका सायं स्पर्श कर रहा हूँ' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान दोनों अवस्थाओं (दर्शन और स्पर्शन अवस्था) में एक ही आत्माके विना कैसे संभव है। इसलिए दर्शन, अवग्रह, स्मृति आदि अवस्थाओंमें एक ही आत्माका मानना आवश्यक है।

मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं ज्ञानवान् हूँ, मैं दर्शनवान् हूँ, इस प्रकार सुख, दुःखादि पर्यायोंको अनुभव करनेवाला आत्मा अनादि निधन है, और सब लोगोंको अपने अपने अनुभवसे प्रत्यक्ष है। परस्परमें भिन्न सहभावी गुण और क्रमभावी पर्यायें आत्मासे उसी प्रकार अभिन्न है, जिस प्रकार बौद्धोंके यहाँ चित्रज्ञानसे नील, पीत आदि आकार अभिन्न है। यदि क्रम-से होनेवाले सुख, दुःखादि और मति, श्रुत आदि गुणों और पर्यायोंका आत्माके साथ एकत्व नहीं है, तो अनेक पुरुषोंके समान एक पुरुषमें भी इनकी एक सन्तान सिद्ध नहीं हो सकती है। जिस प्रकार कि नील, पीत आदि आकारोंका चित्र ज्ञानके साथ यदि एकत्व नहीं है तो उसे चित्रज्ञान ही नहीं कह सकते हैं। आत्मामें जो हर्ष, विषाद आदि पर्यायें होती हैं उनमें भी परस्परमें सत्त्व, द्रव्यत्व, चेतनत्व आदिकी अपेक्षासे अभेद है। यदि ऐसा न हो तो हर्ष, विषाद आदि विषयक नाना प्रकारकी प्रतिपत्ति नहीं होना चाहिए। किन्तु ऐसा देखा जाता है कि मुझे जिस विषयमें पहिले हर्ष हुआ था उसी विषयमें द्वेष, भय आदि होता है। तथा जिस आत्मामें पहले हर्ष हुआ था उसीमें द्वेष, भय आदि होता है। इसलिये ऐसा नहीं है कि कोई आत्मा नामका तत्त्व ही न हो, किन्तु सुख, दुखादि पर्यायोंको अनुभव करने वाला आत्मा नामका तत्त्व प्रत्यक्षसिद्ध है और कथंचित् सत् है।

१. दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्।

जिस प्रकार आत्म-तत्त्व कथंचित् सत् है, उसीप्रकार अन्य अजीवादि तत्त्व भी कथंचित् सत् हैं। जीवादि तत्त्व सर्वथा सत् नहीं हैं। यदि जीव तत्त्व सर्वथा सत् हो, तो जिस प्रकार वह जीवत्वेन सत् है, उसी प्रकार अजीवत्वेन भी सत् होगा। इस प्रकार सब तत्त्वोंमें शंकर दोषका आना अनिवार्य है। यदि इस दोषका परिहार इष्ट है, तो जीवादि तत्त्वोंको कथंचित् सत् मानना ही होगा। जितने भी जीवादि तत्त्व हैं वे सब सजातीय और विजातीय तत्त्वोंसे व्यावृत्त हैं। इसलिए जगत् अन्योन्याभावरूप है। यदि एक पदार्थका दूसर पदार्थमें अभाव न हो तो सब पदार्थोंमें एकत्वका प्रसग अनिवार्य है।

ऐसा मानना भी ठीक नही है कि जगत् सर्वथा उभयात्मक (सदसदात्मक) है। क्योंकि सर्वथा सदसदात्मक माननेसे जिसरूपसे जगत् सत् है उसरूपसे असत् भी होगा और जिसरूपसे असत् है उसरूपसे सत् भी होगा। ऐसा माननेमें विरोध स्पष्ट है। अतः द्रव्यनय और पर्यायनयकी अपेक्षासे तत्त्व कथंचित् सदसदात्मक है। द्रव्यनयकी अपेक्षासे सब तत्त्व सत् हैं और पर्यायनयकी अपेक्षासे असत् है। भावाभावस्वभाव रहित जात्यन्तररूप वस्तुको मानना भी ठीक नही है। यदि वस्तु जात्यन्तररूप है तो भाव और अभावरूप विशेषोका ज्ञान नही हो सकेगा और ऐसा होनेसे वस्तुका अभाव हो जायगा। किन्तु हम देखते हैं कि विशेष प्रतिपत्तिके कारणभूत सत्त्व और असत्त्व दोनोका ज्ञान होता है, जैसा कि दधि, गुड, चातुर्जातक आदि द्रव्योंके संयोगसे बनने वाले पानक (एक प्रकारका शर्बत) में दधि, गुड़ आदि विशेषोका ज्ञान होता है। अतः तत्त्व सर्वथा जात्यन्तररूप (विलक्षण) नही है। तथा सर्वथा उभयरूप भी नही है। सर्वथा उभयरूप माननेसे जात्यन्तररूपक ज्ञान नहीं होगा। लेकिन जात्यन्तररूपका भी ज्ञान देखा जाता है, जैसे दधि, गुड, आदिसे भिन्न पानकका ज्ञान होता है। इसलिए तत्त्व कथंचित् जात्यन्तररूप है और कथंचित् उभयात्मक है।

तत्त्वको सर्वथा अवाच्य मानना भी प्रमाणविरुद्ध है। यदि तत्त्व सत्, असत् आदि किसी भी रूपसे अभिलाप्य नही है, तो विधि, प्रतिषेध आदि सब प्रकारके व्यवहारका निषेध होनेके कारण जगत् मूक हो जायगा। जिस प्रकार गूँगा मनुष्य शब्दोंका उच्चारण नही कर सकता है, इसलिए उसको सारा जगत् मूक प्रतीत होता है। उसी प्रकार सारा जगत् शब्दके द्वारा अवाच्य होनेसे मूक मनुष्यके समान होगा। अर्थात् तत्त्वको सर्वथा अवाच्य होनेसे ज्ञानके द्वारा उसका निश्चय नहीं हो सकेगा और जो तत्त्व

अनिश्चित है वह मूर्च्छित व्यक्तिके द्वारा गृहीत वस्तुके समान गृहीत होकरके भी अगृहीतके समान है। इसलिए तत्त्वको सर्वथा अवाच्य मानना ठीक नहीं है। अवाच्यकी तरह तत्त्व सर्वथा वाच्य भी नहीं है।

शब्दाद्वैतवादियोंके मतानुसार तत्त्व सर्वथा वाच्य है। उनका कहना है कि—

लोकमें ऐसा कोई भी प्रत्यय नहीं है जो शब्दके विना होता हो, सम्पूर्ण पदार्थ शब्दमें प्रतिष्ठित एवं अनुविद्ध हैं। ज्ञानमेंसे यदि वचनरूपता निकल जावे तो ज्ञान अपना प्रकाश नहीं कर सकता है, क्योंकि वचनरूपता ही अवमर्श करने वाली है[1]।

उक्त मत भी अविचारित ही है। तत्त्व यदि सर्वथा वाच्य है, तो चक्षुरादि इन्द्रियोंसे होने वाले ज्ञानमें तथा शब्दजन्य ज्ञानमें कोई विशेषता ही नहीं रहेगी। जिस प्रकार शब्दजन्य ज्ञानका विषय वाच्य है, उसी प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियजन्य ज्ञानका विषय भी वाच्य होनेसे दोनों ज्ञान समान हो जावेंगे। चक्षुरादि और शब्दादि सामग्रीके भेदसे ज्ञानोंमें भेद मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि तब दोनों प्रकारके ज्ञानों द्वारा वाच्य वस्तुकी प्रतिपत्ति समानरूपसे होगी।

इस प्रकार तत्त्व न तो सर्वथा अवाच्य है, और न सर्वथा वाच्य, किन्तु कथंचित् अवाच्य है। कथंचित् अवाच्य कहनेसे यह स्वय सिद्ध हो जाता है कि तत्त्व कथंचित् वाच्य है। इसी प्रकार तत्त्व कथंचित् सदवाच्य, असदवाच्य और सदसदवाच्य भी है। क्योंकि सर्वथा सत् अथवा असत् तत्त्व अवाच्य नही हो सकता है। जो स्वद्रव्य आदिकी अपेक्षासे सत् और पर द्रव्य आदिकी अपेक्षासे असत् है, उसीमें अवाच्यत्व धर्म पाया जाता है। इस प्रकार सामान्यरूपसे सात भंगोंका निरूपण करके अग्रिम कारिका द्वारा प्रथम और द्वितीय भंगोंमें नययोगको दिखलाते हुए आचार्य कहते हैं—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टया ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

---

१. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥
वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥
—वाक्यप० १।१२४-१२५

स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षासे सब पदार्थोंको सत् कौन नही मानेगा और पररूपादि चतुष्टयकी अपेक्षासे सब पदार्थोंको असत् कौन नही मानेगा ।

प्रत्येक तत्त्व स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षासे सत् है, और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षासे असत् है । जितना भी चेतन या अचेतन तत्त्व है, वह सब स्वद्रव्य आदिकी अपेक्षासे सत् है, और पर द्रव्य आदिकी अपेक्षासे असत् है । चाहे कोई लौकिक हो या परीक्षक, स्याद्वादी हो या सर्वथैकान्तवादी, यदि उसका मस्तिष्क सुस्थ है, तो उसको ऐसा मानना ही पडेगा । जिस प्रकार तत्त्व स्वरूप आदिकी अपेक्षासे सत् है, उसी प्रकार पररूप आ।दकी अपेक्षासे भी सत् हो, तो चेतन और अचेतनमे कोई भेद ही नही रहेगा । चेतन और अचेतनमे ही क्या, चेतन और अचेतन तत्त्वोमे भी परस्परमे कोई भेद नही रहेगा । और यदि तत्त्व परद्रव्य आदिकी अपेक्षाकी तरह स्व-द्रव्य आदिकी अपेक्षासे भी असत् हो, तो सब तत्त्व शून्य हो जायगे । वस्तु यदि स्वद्रव्यकी अपेक्षाकी तरह परद्रव्यकी अपेक्षासे भी सत् हो, तो द्रव्य-का कोई नियम नही रहेगा, घट पट हो जायगा और पट घट हो जायगा । और परद्रव्यकी तरह स्वद्रव्यकी अपेक्षासे भी वस्तु असत् हो, तो जगत्मे किसी तत्त्वका सद्भाव नही रहेगा । इसी प्रकार स्वक्षेत्रकी तरह परक्षेत्र-की अपेक्षासे भी वस्तु सत् हो तो किसीका कोई नियत क्षेत्र नही होगा, स्वकालकी अपेक्षाकी तरह परकालकी अपेक्षासे भी सत् हो तो किसीका कोई नियत काल नही होगा, और स्वभावकी तरह परभावकी अपेक्षासे भी सत् हो तो किसीका कोई नियत स्वभाव नही रहेगा । इसके विपरीत वस्तु यदि परक्षेत्रकी तरह स्वक्षेत्रकी अपेक्षासे भी असत् हो, तो वस्तु क्षेत्र रहित हो जायगी, परकालकी तरह स्वकालकी अपेक्षासे भी असत् हो, तो वस्तु कालरहित हो जायगी । तथा परभावकी तरह स्वभावकी अपेक्षासे भी असत् हो, तो वस्तु स्वभाव रहित हो जायगी । अत वस्तु न तो सर्वथा सत् है, और न सर्वथा असत्, किन्तु स्वद्रव्यादिकी अपेक्षासे सत् और परद्रव्यादिकी अपेक्षासे असत् है ।

यहाँ यह शका की जा सकती है कि वस्तुमे स्वरूपसत्त्व और पर-रूपासत्त्व कोई पृथक्-पृथक् धर्म नही हैं, किन्तु स्वरूपसत्त्वका नाम ही पररूपासत्त्व है । अतः स्वरूपसत्त्व और पररूपासत्त्वको पृथक्-पृथक् धर्म न होनेसे प्रथम और द्वितीय भग नही बन सकते हैं । उक्त शका निराधार है । स्वरूपादि चतुष्टय तथा पररूपादि ...ष्टयकी अपेक्षासे

वस्तुमें स्वरूपभेद हो जानेसे स्वरूपसत्त्व, और पररूपासत्त्वमें भी भेद होना आवश्यक है। यदि स्वरूपसत्त्व और पररूपासत्त्वमें भेद न हो, तो स्वरूपादि चतुष्टयकी तरह पररूपादि चतुष्टयकी अपेक्षासे भी वस्तु सत् होगी, और पररूपादि चतुष्टयकी तरह स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षासे भी असत् होगी। सर्वत्र अपेक्षाभेदसे धर्मभेद पाया जाता है। बेरकी अपेक्षासे बेल स्थूल है, और मातुलिङ्गकी अपेक्षासे सूक्ष्म है। बेलमें स्थूलत्व और सूक्ष्मत्व दोनोंके सद्भावमें कोई बाधा भी नहीं आती है। ये दोनों धर्म एक भी नहीं हैं, किन्तु पृथक्-पृथक् हैं। इसी तरह स्वरूप-सत्त्व और पररूपासत्त्व भी दो पृथक्-पृथक् धर्म हैं, और उनके सम्बन्धसे प्रथम और द्वितीय दो पृथक्-पृथक् भंग सिद्ध होते हैं।

पदार्थको कथंचित् सदसदात्मक सिद्ध करनेमें अन्य युक्तियाँ भी दी जा सकती हैं। पदार्थ कथंचित् सदसदात्मक है, क्योंकि सब पदार्थ सब पदार्थोंके कार्यको नहीं कर सकते हैं। शीतसे रक्षा करना, शरीरका आच्छादन करना आदि पटका कार्य है, और कूपसे पानी निकालना, पानी भरना आदि घटका कार्य है। पटका जो कार्य है, उसको घट नहीं कर सकता है, क्योंकि घट घटरूपसे सत् है, पटरूपसे नहीं। यदि घट पटरूपसे भी सत् होता, तो उसे पटका काम करना चाहिए था। यही बात सब पदार्थोंके विषयमें है। सब पदार्थ अपना-अपना कार्य करते हैं, दूसरोंका नहीं। इससे सिद्ध होता है कि सब पदार्थ स्वरूपकी अपेक्षासे सत् हैं, और पररूपकी अपेक्षासे असत् हैं। यदि स्वरूपकी अपेक्षासे भी असत् होते तो, जिस प्रकार वे दूसरोंका कार्य नहीं करते हैं, उसी प्रकार अपना भी कार्य नहीं करते। किन्तु देखा यही जाता है कि प्रत्येक पदार्थ अपना ही कार्य करता है, और कोई भी पदार्थ दूसरे पदार्थका कार्य कभी नहीं करता। इससे सिद्ध होता है कि पदार्थ कथंचित् सत् और कथंचित् असत् है।

यह कहा जा सकता है कि एक ही वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व मानना युक्ति विरुद्ध है, क्योंकि परस्पर विरोधी धर्मोंका एक ही वस्तुमें होना संभव नहीं है। उक्त कथन ठीक नहीं है। ध्यानपूर्वक विचार करनेपर प्रतीत होता है कि एक ही वस्तुमें सत्त्व और असत्त्वका सद्भाव युक्ति-विरुद्ध नहीं है, किन्तु प्रतीति सिद्ध है। विरोध तो तब होता, जब सत्त्व और असत्त्व दोनोंका सद्भाव एक ही दृष्टिसे माना जाता। स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षासे वस्तु सत् है। और यदि वस्तु स्वरूपादि चतुष्टयकी

अपेक्षासे ही असत् होती तो विरोध स्पष्ट था। किन्तु जब भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे वस्तु सत् और असत् है, तो उसमे विरोधकी कोई बात ही नही है। इसीप्रकार एक वस्तुको विषय करनेवाले, एक ही आत्मामें रहनेवाले और भिन्न-भिन्न कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले शाब्दज्ञान और प्रत्यक्षज्ञानमें स्वभावभेद होने पर भी आत्मद्रव्यकी अपेक्षासे एकपना है, क्योंकि दोनों ज्ञान आत्मासे अभिन्न हैं, आत्मासे उनको पृथक् नही किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि दोनों ज्ञान कथंचित् भिन्न तथा कथंचित् अभिन्न हैं। भिन्न तो इसलिये हैं कि भिन्न कारणोंसे उनकी उत्पत्ति होती है, तथा स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतिभास भेद भी पाया जाता है। और अभिन्न होनेका कारण यह है कि जिस आत्मामें वे उत्पन्न होते हैं, उससे पृथक् नही किये जा सकते। शाब्दज्ञान और प्रत्यक्षज्ञानकी उत्पत्तिका उपादान कारण आत्मा है तथा दोनोकी उत्पत्तिके निमित्तकारण क्रमश॰ शब्द और इन्द्रियादि हैं।

बौद्धोंके अनुसार न तो एकत्व है, और न आत्मा है। प्रत्येक पदार्थ क्षण क्षणमें नष्ट होता है, एक क्षणका दूसरे क्षणके साथ कोई सम्बन्ध नही है। यदि ऐसा है, तो कार्य और कारणमे उपादान और उपादेयभाव नही बन सकता है। घटरूप कार्यका मिट्टी उपादान कारण है। मिट्टी द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य है। मिट्टी नित्य है, इसीलिए घटपर्यायरूपसे उसका परिणमन होता है। यदि उपादान कारण नितान्त क्षणिक होनेसे कार्यकाल तक स्थिर नही रहता है, और कार्योत्पत्तिके एक क्षण पूर्व ही नष्ट हो जाता है, तो जिम प्रकार दो घण्टा अथवा दो दिन पहले नष्ट हुआ कारण कार्योत्पत्तिमे निमित्त नही हो सकता है, उसी प्रकार एक क्षण पूर्व नष्ट हुआ कारण भी कार्योत्पत्तिमे निमित्त नही हो सकता है। अत॰ यह मानना आवश्यक है कि उपादान कारण कार्यकाल तक केवल जाता ही नही है, किन्तु कार्यरूपसे परिणत भी होता है। उपादान और उपादेयमें द्रव्यकी अपेक्षासे एकत्व है, और पर्यायकी अपेक्षासे नानात्व है। ऐसा नही कहा जा सकता है कि पूर्व और उत्तर स्वभाव अथवा पर्यायें भिन्न-भिन्न हैं, एक नही हैं, पूर्व और उत्तर पर्यायोमे क्रम है, एकत्व नहीं है। यथार्थमे पूर्व और उत्तर पर्यायोमें क्रमकल्पनाका कारण प्रतिभासविशेष है। एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमें भिन्न प्रतिभास पाया जाता है, इसलिए उनमें एकत्व नही है। लेकिन सम्यग्रीतिसे विचार करने पर यह भी अनुभवमे आता है कि नाना पर्यायोंमें सर्वथा प्रतिभास विशेष ही नहीं पाया जाता है, किन्तु कथंचित् प्रतिभास सामान्य भी पाया जाता है। इसलिए

प्रतिभास सामान्यकी अपेक्षासे नाना पर्यायोंमें, उपादान और उपादेयमें तथा गुण-गुणी आदिमें कथंचित् एकत्व भी है। प्रत्येक तत्त्वकी व्यवस्था प्रतिभास या अनुभवके अनुसार होती है। अतः अपेक्षाभेदसे एक ही वस्तुमें सत्त्व और असत्त्वका सद्भाव माननेमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं आता है। सत्त्व और असत्त्वमें शीत और उष्ण स्पर्शके समान सहानवस्थानलक्षण विरोध संभव नहीं है। क्योंकि एक ही वस्तुमें दोनोंका एक साथ सद्भाव देखा जाता है। परस्परपरिहारस्थितिलक्षण विरोध भी नहीं हो सकता है। क्योंकि यह विरोध उन्हीं दो पदार्थोंमें पाया जाता है, जो एक ही स्थानमें संभव हैं। जैसे एक आम्रफलमें रूप और रसमें परस्परपरिहार-स्थितिलक्षण विरोध है। असभव दो पदार्थोंमें यह विरोध नही पाया जाता है, जैसे पुद्गलमे ज्ञान और दर्शनका विरोध कभी नही हो सकता। एक सभव हो और दूसरा असम्भव हो, तो ऐसे पदार्थोंमे भी यह विरोध सम्भव नही है। जैसे पुद्गलमे रूप और ज्ञानका विरोध सम्भव नहीं है। तात्पर्य यह है कि परस्पर परिहारस्थितिलक्षण विरोध सम्भव पदार्थोंमें ही होता है। यदि कोई कहता है कि सत्त्व और असत्त्वमें परस्परपरिहारस्थितिलक्षण विरोध है, तो उसके कहनेसे ही दोनोंका एक ही स्थानमें सद्भाव सिद्ध होता है। बध्यघातकलक्षण विरोध भी एक बलवान् तथा दूसरे अबलवान् पदार्थोंमें पाया जाता है, जैसे सर्प और नकुलमें। सत्त्व और असत्त्व दोनोको समान बलवाला होनेसे उनमें यह विरोध भी सम्भव नही है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि सत्त्व और असत्त्व दोनोंमें किसी प्रकारका विरोध नही है। और प्रत्येक पदार्थ द्रव्यकी अपेक्षासे एक, क्रमरहित, अन्वयरूप, सामान्यात्मक, सत्स्वरूप और स्थितिरूप है। तथा पर्यायकी अपेक्षासे अनेक, क्रमिक, व्यतिरेकरूप, विशेषात्मक, असत्स्वरूप और उत्पत्ति-विनाशरूप है। आत्मद्रव्य निश्चयनयसे स्वप्रदेशव्यापी है, व्यवहारनयसे स्वशरीरव्यापी है, और कालकी अपेक्षासे त्रिकालगोचर है। आत्मा चैतन्यकी अपेक्षासे एक होकर भी सुखादिके भेदसे अनेकरूप है, तथा सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न है। चाहे चेतन तत्त्व हो या अचेतन, प्रत्येक तत्त्व सत्-असत्, सामान्य-विशेष आदिरूपसे अनेकान्तात्मक है, और इस प्रकारके तत्त्वका प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ज्ञान होता है। प्रत्येक तत्त्वके विषयमें यही व्यवस्था है। ऐसा न माननेसे किसी भी तत्त्वकी व्यवस्था नहीं बन सकती है।

इस प्रकार प्रथम और द्वितीय भङ्गको बतलाकर अन्य भङ्गोंका

निर्देश करते हुए आचार्य कहते हैं—

> क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः ।
> अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ॥१६॥

दोनों धर्मोंकी क्रमसे विवक्षा होनेसे वस्तु उभयात्मक है और युगपत् विवक्षा होनेसे कथनकी असामर्थ्यके कारण अवाच्य है। इसी प्रकार 'स्यादस्ति अवक्तव्य' आदि तीन भंग भी अपने अपने कारणोंके अनुसार बन जाते हैं।

प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म पाये जाते हैं। उन धर्मोंमेंसे जिस धर्मका प्रतिपादन किया जाता है वह धर्म अर्पित या मुख्य कहा जाता है। उसको छोड़कर अन्य शेष धर्म अनर्पित या गौण हो जाते हैं। जब कमसे स्वरूपादिचतुष्टयकी अपेक्षासे सत् तथा पररूपादिचतुष्टयकी अपेक्षासे असत् अर्पित होते हैं उस समय वस्तु कथंचिदुभय (सदसदात्मक) होती है। और जब कोई व्यक्ति स्वरूपादिचतुष्टय तथा पररूपादि चतुष्टयके द्वारा वस्तुके सत्त्वादि धर्मोंका एक साथ प्रतिपादन करना चाहता है, तो ऐसा कोई भी शब्द नहीं मिलता है जो एक ही समयमें दोनों धर्मोंका प्रतिपादन कर सके। ऐसी स्थितिमें वस्तुको अवाच्य मानना पड़ता है। इसी प्रकार स्वरूपादिचतुष्टयकी अपेक्षाके साथ ही स्वरूपादिचतुष्टय तथा पररूपादि चतुष्टयकी युगपत् अपेक्षा होनेसे 'स्यादस्ति अवक्तव्य' भंग, पररूपादिचतुष्टयकी अपेक्षाके साथ ही स्वरूपादि चतुष्टय तथा पररूपादिचतुष्टयकी युगपत् अपेक्षा होनेसे 'स्यान्नास्ति अवक्तव्य' भंग और क्रमशः स्वरूपादिचतुष्टय तथा पररूपादिचतुष्टयकी अपेक्षाके साथ ही युगपत् स्वरूपादिचतुष्टय और पररूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा होनेसे 'स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य' भंग सिद्ध होते हैं।

पहले यह बतलाया जा चुका है कि वस्तु स्वरूपादिकी अपेक्षासे सत् है तथा पररूपादिकी अपेक्षासे असत् है। वस्तुके विषयमें इसी प्रकारका दर्शन होता है, और दर्शनके अनुसार ही प्रत्येक वस्तुकी व्यवस्था होती है। वस्तु पररूपादिचतुष्टयकी अपेक्षासे सत् तथा स्वरूपादिचतुष्टयकी अपेक्षासे असत् कभी नहीं हो सकती है। वस्तुकी ऐसी प्रतीति या दर्शन भी कभी नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि जिस वस्तुका जैसा दर्शन हो उसको उसी रूपमें मानना चाहिए।

बौद्ध मानते हैं कि जो ज्ञान वस्तुसे उत्पन्न हो, वस्तुके आकार हो

और उसका व्यवसाय करे वह ज्ञान प्रमाण है। ऐसा मानकर भी उनको यह मानना ही पड़ता है, कि जो ज्ञान अपने विषयकी उपलब्धि करता है, वह ज्ञान प्रमाण है। बुद्धिमें ऐसी योग्यता तो मानना ही पड़ेगी जिसके कारण वह पदार्थके आकारको धारण करती है। फिर उसी योग्यताके द्वारा नियमसे उस अर्थकी उपलब्धि माननेमें कौन सी हानि है। पदार्थजन्य, पदार्थाकार और पदार्थका व्यवसाय करनेवाला ज्ञान भी अप्रमाण देखा जाता है, जैसे कामला रोगवाले व्यक्तिको शुक्ल शंखमें पीताकार ज्ञान। अतः ज्ञानकी प्रमाणताका नियामक तदुत्पत्ति आदि नहीं हैं, किन्तु अपने विषयकी सम्यक् प्रतीति ही ज्ञानकी प्रमाणताका नियामक है। जो व्यक्ति यथार्थ प्रतीतिको प्रमाण नहीं मानता है, वह न तो स्वपक्षकी सिद्धि ही कर सकता है, और न पर-पक्षमें दूषण ही दे सकता है। जो प्रमाणको ही नहीं मानता है, वह स्वतमास [illegible] पदार्थका ज्ञान नहीं कर सकता है, दूसरोंके लिए उसका प्रतिपादन नहीं कर सकता है, और दूसरे मतका खण्डन भी नहीं कर सकता है। इसलिए प्रमाणको मानना अत्यन्त आवश्यक है। स्व-विषयकी उपलब्धि [illegible] प्रमाण इस बातकी सिद्धि करता है, कि पदार्थ स्वरूपादिकी अपेक्षासे भावरूप है, तथा पररूपादिकी अपेक्षा-से अभावरूप है। जो व्यक्ति स्वविषयकी उपलब्धि करनेवाले प्रमाण-को नहीं मानता है, वह न किसी विषयमें प्रवृत्ति कर सकता है, और न निवृत्ति। जैसे कि वह दूसरेके ज्ञानसे किसी विषयमें प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं कर सकता है। प्रमाण अपने अर्थकी उपलब्धि करता है, और दूसरेके अर्थकी उपलब्धि नहीं करता है। इसलिए प्रमाण भी कथंचित् सद-सदात्मक है। इस प्रकार जितने भी पदार्थ हैं, वे सब क्रमसे उभय (सत्त्व और असत्त्व) धर्मोंकी प्रधानता होनेसे उभयात्मक हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब वस्तु उभयात्मक है, तो अवाच्य होना कैसे संभव है। इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है। वस्तु अवक्तव्य उस समय होती है, जब कोई व्यक्ति वस्तुके उभय धर्मोंको एक समयमें एक ही शब्दके द्वारा प्रधान -पसे कहना चाहता है। शब्दमें वाचक शक्ति है, उसका ऐसा स्वभाव है कि एक समयमें एक शब्दके द्वारा एक ही धर्म-का कथन किया जा सकता है। एक समयमें एक शब्दके द्वारा दो धर्मों-का कथन किसी भी प्रकार संभव नहीं है। जब कोई एक समयमें एक शब्दके द्वारा वस्तुके दो धर्मोंको कहना चाहता है, तो उसको ऐसे शब्द-के अभावमें उस समय चुप ही रहना पड़ेगा। अतः यह सिद्ध होता है,

कि वस्तु कथंचित् अवाच्य है। सत् आदि जितने भी पद हैं, वे सब एक ही अर्थको विषय करते हैं। 'सत्' पद सत्को ही विषय करता है असत्को नही, और 'असत्' पद असत्को ही विषय करता है, सत्को नहीं। ऐसा कोई एक पद नही है, जो सत् और असत् दोनोंका कथन कर सके। प्रत्येक शब्द, पद तथा वाक्य एक ही अर्थका प्रतिपादन करते हैं। जहाँ 'गो' आदि शब्द अनेक अर्थोंका प्रतिपादन करते हैं, वहाँ अर्थभेदकी अपेक्षासे कथंचित् शब्दभेद भी मानना होगा। इस प्रकार यह निश्चित है कि कोई भी शब्द सत् और असत् इन दो धर्मोंका एक समयमें प्रतिपादन नही कर सकता है। ऐसी स्थितिमें वस्तुको अवाच्य माननेके अतिरिक्त और कोई उपाय नही है। पहिले स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा हो, तदनन्तर स्वरूपादि चतुष्टय तथा पररूपादि चतुष्टयकी युगपत् अपेक्षा हो, तो वस्तु कथंचित् सदवक्तव्य होती है। पहले पररूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा हो, तदनन्तर स्वरूपादिचतुष्टय तथा पररूपादि चतुष्टयकी युगपत् अपेक्षा हो तो वस्तु कथंचित् असदवक्तव्य कही जाती है। पहले स्वरूपादि चतुष्टय और पररूपादि चतुष्टयकी क्रमसे अपेक्षा हो, तदनन्तर स्वरूपादिचतुष्तुटय तथा पररूपादि चतुष्टयकी युगपत् विवक्षा हो, तो वस्तु कथंचित् सदसदवक्तव्य मानी जाती है।

अकलङ्क देवका ऐसा अभिप्राय है कि वस्तु परमतकी अपेक्षासे सदवक्तव्त, असदवक्तव्य और सदसदवक्तव्य है। ब्रह्माद्वैतवादियोंके अनुसार सन्मात्र तत्त्व है। बौद्ध मानते हैं कि स्वलक्षणमात्र तत्त्व है। विशेषके अतिरिक्त सामान्य तत्त्वका सद्भाव नही है। नैयायिक-वैशेषिकोंके अनुसार तत्त्व पृथक्-पृथक् रूपसे सामान्य और विशेषरूप है। अकलङ्क देवकी दृष्टिमें अद्वैतमतके अनुसार तत्त्व सदवक्तव्य है। बौद्धमतके अनुसार असदवक्तव्य है, और न्याय-वैशेषिक मतके अनुसार सदसदवक्तव्य है।

यदि विशेषनिरपेक्ष सामान्यमात्र तत्त्व है, तो ऐसे तत्त्वका प्रतिपादन अशक्य होनेसे उक्त तत्त्व सदवक्तव्य सिद्ध होता है। अर्थात् वेदान्तमतानुसार तत्त्व सत् होकर भी अवक्तव्य है। जो तत्त्व सर्वथा सन्मात्र है, वह किसी भी शब्दका वाच्य नहीं हो सकता है। और ऐसे तत्त्वके द्वारा अर्थक्रिया भी नहीं हो सकती है। मनुष्य व्यक्तिके अभावमें केवल मनुष्यत्वमात्र कोई कार्य नहीं कर सकता है। गो व्यक्तिके बिना

सामान्यमात्रसे दुग्धका दोहन नहीं हो सकता है। केवल सामान्य अपने विषयका ज्ञान करानेमें भी असमर्थ है। जो सामान्य सर्वथा नित्य है, वह न तो क्रमसे ही अर्थक्रिया कर सकता है, और न युगपत्। ऐसा कहना ठीक नहीं है कि सामान्य साक्षात् अर्थक्रिया नहीं करता है, किन्तु परम्परासे अर्थक्रिया करता है। ऐसा कहना तब ठीक हो सकता है, जब विशेषके साथ सामान्यका कोई सम्बन्ध हो। परन्तु विशेषके साथ सामान्य का न तो संयोग सम्बन्ध है, और न समवाय। फिर सामान्य परम्परासे कार्य कैसे कर सकता है। सर्वथा नित्य, सर्वगत, अमूर्त और एकरूप सामान्यकी उपलब्धि न होनेसे उसमें संकेत भी संभव नहीं है। और जिस अर्थमें संकेत नहीं होता है, वह शब्दका वाच्य भी कैसे हो सकता है। इस प्रकार सामान्यमात्र तत्त्व ब्रह्माद्वैतवादियोंके अनुसार सत् होकर भी अवाच्य है।

बौद्ध केवल विशेष तत्त्वका सद्भाव मानते हैं, सामान्यका नही। उनकी दृष्टिमें सामान्यकी कोई सत्ता नहीं है, सामान्य अभावरूप है, अभावरूप सामान्यको अन्यापोह कहते हैं। और अन्यापोहको शब्दका वाच्य मानते है। किन्तु जब अन्यापोह सर्वथा असत् है, तो वह शब्दका वाच्य भी नही हो सकता है। बौद्धोंके अनुसार शब्द वस्तुके वाचक नही हैं, और न वस्तु शब्दका वाच्य है। शब्दोंके द्वारा अन्यव्यावृत्तिका कथन होता है। गो शब्द गायको नही कहता है, किन्तु अगोव्यावृत्तिको कहता है। गौको छोड़कर हाथी, घोड़ा आदि समस्त पदार्थ अगौ हैं। यह हाथी नहीं है, घोड़ा नहीं है, इत्यादि रूपसे अन्य पदार्थोंकी व्यावृत्ति हो जाने पर गौकी प्रतीति होती है। किन्तु हम देखते हैं कि गो शब्दको सुनकर साक्षात् गायका ज्ञान होता है, अन्यव्यावृत्ति का नही। जिस शब्दको सुनकर जिस अर्थमें प्रतीति, प्रवृत्ति और प्राप्ति हो, वही शब्दका वाच्य होता है। गो शब्दको सुनकर गायमें ही प्रतीति आदि होते हैं, अतः गायको ही गो शब्दका वाच्य मानना ठीक है, अगोव्यावृत्ति को नहीं। अन्यापोहमें संकेत भी संभव नहीं है, क्योंकि न तो उसका कोई स्वभाव है, और न वह कोई अर्थक्रिया करता है। इसलिए यह सुनिश्चित है कि बौद्धोंके द्वारा माना गया असत् सामान्य शब्दोंका वाच्य नहीं हो सकता है। बौद्ध स्वलक्षणका सद्भाव मानते हैं, किन्तु स्वयं उनके अनुसार स्वलक्षण शब्दका वाच्य नहीं है। क्योंकि शब्द तथा विकल्पका स्वलक्षणके साथ कोई सम्बन्ध नहीं हैं। इस दृष्टिसे बौद्धमतके अनुसार सामान्यकी अपेक्षासे

तत्त्व असदवक्तव्य है, विशेषकी अपेक्षासे सदवक्तव्य है, और दोनोंकी अपेक्षासे सदसदवक्तव्य है।

नैयायिक-वैशेषिक मानते हैं कि सामान्य और विशेष पृथक्-पृथक् स्वतंत्र पदार्थ हैं। सामान्य विशेष निरपेक्ष है, और विशेष सामान्यनिरपेक्ष है। उनके अनुसार सामान्य और विशेष सत् हैं। परन्तु जब सामान्य और विशेष पृथक् पृथक् हैं, तो वे किसी भी प्रकार सत् नहीं हो सकते हैं। कहा भी है—

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्।

अर्थात् विशेष रहित सामान्य खरगोशके सींगके समान असत् होता है, और सामान्य रहित विशेष भी ऐसा ही होता है। परस्पर निरपेक्ष होनेसे असत् सामान्य और विशेष शब्दके वाच्य कैसे हो सकते हैं। इस दृष्टिसे नैयायिक-वैशेषिकों के अनुसार तत्त्व सदसदवक्तव्य है। इस प्रकार अकलङ्क देवके अभिप्रायसे अन्तके तीन भंग परमतकी अपेक्षासे सिद्ध होते हैं।

ब्रह्माद्वैतवादियोंका कहना है कि तत्त्व अस्तित्वरूप ही है, नास्तित्वरूप तो पर वस्तुके आश्रित है, वह वस्तुका स्वरूप कैसे हो सकता है। उत्तरमें आचार्य कहते हैं—

अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।
विशेषणत्वात् साधर्म्यं यथा भेदविवक्षया ॥१७॥

विशेषण होनेसे अस्तित्व एक ही वस्तुमें प्रतिषेध्य (नास्तित्व) का अविनाभावी है, जैसे हेतुमें विशेषण होनेसे साधर्म्य वैधर्म्यका अविनाभावी होता है।

अस्तित्व और नास्तित्व ये परस्परमें अविनाभावी धर्म हैं। अस्तित्वके विना नास्तित्व नहीं हो सकता है, और नास्तित्वके विना अस्तित्व नहीं होता है। अविनाभाव एक सम्बन्धका नाम है। यह उन दो पदार्थोंमें होता है, जिनमेंसे एक पदार्थके विना दूसरा कभी नहीं हो सकता है। धूम और वह्निमें अविनाभाव सम्बन्ध है। वह्निके होने पर ही धूम होता है, और वह्निके अभावमें धूम कभी नहीं होता है। धूमका वह्निके साथ अविनाभाव है, वह्निका धूमके साथ नहीं। क्योंकि वह्नि विना धूमके भी पायी जाती है। ऐसा नहीं है कि धूमके होने पर ही वह्नि हो और धूमके अभावमें वह्नि न हो। किन्तु अस्तित्व और नास्तित्वमें उभयतः अविनाभाव है। अस्तित्वके विना नास्तित्व नहीं हो

सकता है, और नास्तित्वके विना अस्तित्व नहीं हो सकता है। इन दोनों धर्मोंका अधिकरण एक ही वस्तु होती है। एक वस्तुमें अस्तित्व हो और दूसरी वस्तुमें नास्तित्व हो, ऐसा मानना प्रतीति विरुद्ध है। अस्तित्व और नास्तित्व ये एक ही वस्तुके विशेषण हैं। अस्तित्व जिस वस्तुका विशेषण होता है, नास्तित्व भी उसी वस्तुका विशेषण होता है।

हेतुका साध्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक पाया जाता है। अन्वयको साधर्म्य तथा व्यतिरेकको वैधर्म्य कहते हैं। हेतुके होने पर साध्यका होना अन्वय है और साध्यके अभावमें हेतुका नहीं होना व्यतिरेक है। 'पर्वतमें वह्नि है, धूम होनेसे'। यहाँ धूम हेतु है, और वह्नि साध्य है। जहाँ जहाँ धूम होता है, वहाँ वहाँ वह्नि होती है, और जहाँ वह्नि नहीं होती है, वहाँ धूम नही होता है। इस प्रकार धूम और वह्निमें साधर्म्य और वैधर्म्य दिखलाया जाता है। साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों हेतुके विशेषण हैं, तथा परस्परमें एक दूसरेके सापेक्ष हैं। साधर्म्य वैधर्म्यकी अपेक्षा रखता है और वैधर्म्य साधर्म्यकी। जिस हेतुमें साधर्म्य होगा उसमें वैधर्म्य भी अवश्य होगा, और जिसमें वैधर्म्य होगा उसमें साधर्म्य भी अवश्य होगा।

यहाँ यह शंकाकी जा सकती है कि कुछ हेतु केवलान्वयी होते हैं, और कुछ हेतु केवलव्यतिरेकी। जो हेतु केवलान्वयी हैं, उनमें केवल अन्वय ही पाया जाता है, व्यतिरेक नहीं। और जो हेतु केवलव्यतिरेकी हैं, उनमें केवल व्यतिरेक ही पाया जाता है, अन्वय नहीं। अतः यह कैसे माना जा सकता है कि अन्वय और व्यतिरेक परस्पर सापेक्ष हैं।

उक्त शंका कथंचित् ठीक हो सकती है। यह ठीक है कि कुछ हेतुओंको केवलान्वयी तथा कुछ हेतुओंको केवलव्यतिरेकी कहा जाता है। किन्तु सूक्ष्मरीतिसे विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि जिन हेतुओंको केवलान्वयी कहा जाता है, वे हेतु भी कथंचित् व्यतिरेकी हैं, और जिन हेतुओंको केवलव्यतिरेकी कहा जाता है, वे भी कथंचित् अन्वयी हैं। यथा—'सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात्, सब पदार्थ अनित्य हैं, प्रमेय होनेसे।' इस अनुमानमें प्रमेयत्व हेतुको केवलान्वयी कहा गया है। जो प्रमेय (ज्ञानका विषय) होता है, वह अनित्य होता है, जैसे घट। इस प्रकार प्रमेयत्व हेतुका अन्वय तो मिल जाता है, किन्तु जो अनित्य नहीं होता है, वह प्रमेय नहीं होता है, ऐसा व्यतिरेक न मिलनेसे यह हेतु केवलान्वयी है। परन्तु प्रमेयत्व हेतु व्यतिरेकी भी है। प्रमेयत्व वस्तुका धर्म है, वह अवस्तुमें नहीं पाया जाता है। जो अनित्य नहीं होता

है, वह प्रमेय नही होता है, जैसे गगन कुसुम। यहाँ गगन कुसुमसे साध्य-साधन दोनोंका व्यतिरेक होनेसे प्रमेयत्व हेतु व्यतिरेकी भी है।

गगनकुसुममें भी जो लोग प्रमेयत्वका व्यवहार करना चाहते हैं उनके यहाँ प्रमेय और प्रमेयाभावकी कोई व्यवस्था नही हो सकती है। प्रमेयाभावको भी प्रमेय होनेसे प्रमेय क्या है, और प्रमेयाभाव क्या है, इसका कोई नियामक ही नही रहेगा। 'खःऽप्रमेयम्' 'गगनकुसुम अप्रमेय है' ऐसा कहने पर भी गगनकुसुम प्रमेय नही होता है। जिस प्रकार बौद्धोंके अनुसार प्रत्यक्षको कल्पनापोढ कहने पर भी वह कल्पनापोढ शब्दके द्वारा कल्पना सहित नही होता है। तथा स्वलक्षणको अनिर्देश्य कहने पर भी वह अनिर्देश्य शब्दके द्वारा निर्देश्य नही होता है। उसी प्रकार 'गगनकुसुम अप्रमेय है' ऐसा कहने पर वह अप्रमेय शब्दके द्वारा भी प्रमेय नही होता है। गगनकुसुम प्रमेय तब हो सकता है जब वह प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाणका विषय हो। गगनकुसुम प्रत्यक्षका विषय नही होता है, क्योंकि गगनकुसुमसे प्रत्यक्षकी उत्पत्ति नही होती है, और न प्रत्यक्षमे गगनकुसुमका आकार आता है। गगनकुसुमका न तो कोई स्वभाव है, और न कोई कार्य भी है। अत स्वभाव तथा कार्य हेतुके अभावमे अनुमान प्रमाणकी उत्पत्ति भी कैसे हो सकती है, जिससे वह अनुमान प्रमाणका विषय हो सके। फिर भी यदि गगनकुसुम प्रमेय है तो उसे प्रत्यक्ष और अनुमानसे अतिरिक्त किसी तीसरे प्रमाणका प्रमेय मानना होगा। किन्तु तृतीय प्रमाण बौद्धोंको इष्ट नही है। ऐसा मानना भी ठीक नही है कि गगनको छोडकर अन्य कोई गगनकुसुमका अभाव नही है, किन्तु गगनका नाम ही गगनकुसुमका अभाव है। क्योकि भाव और अभाव सर्वथा एक नही हो सकते हैं। एक ही पदार्थको भावरूप तथा अभावरूप माननेमे तो कोई विरोध नही है, परन्तु वह पदार्थ जिस रूपसे भावरूप है, उसी रूपसे अभावरूप भी है, ऐसा माननेमे विरोध आता है। गगन और गगनकुसुमका अभाव ये सर्वथा एक नही हो सकते हैं। आकाशमें आकाशका व्यवहार और आकाश पुष्पके अभावका व्यवहार स्वभावभेदके विना नही हो सकता है। आकाश अपने स्वरूपकी अपेक्षासे है और आकाशकुसुम आदि पररूपकी अपेक्षासे नहीं है।

इस प्रकार जितने पर पदार्थ हैं, उनकी अपेक्षासे वस्तुमें उतने ही स्वभावभेद होते हैं। घट पटकी अपेक्षासे नही है, यह घटका एक

भिन्न स्वभाव है। घट पुस्तककी अपेक्षासे नहीं है, यह भी घटका एक भिन्न स्वभाव है। इस दृष्टिसे घटमें पर पदार्थोंकी अपेक्षासे अनन्त स्वभावभेद होते हैं। यदि पर पदार्थके निमित्तसे स्वभावभेद न माने जावें तो घट पट नहीं है, पुस्तक नहीं है, इत्यादि रूपसे घटमें जो शब्द-व्यवहार देखा जाता है उसका अभाव हो जायगा। घटमें वैसा संकेत भी नहीं हो सकेगा। अतः यह सुनिश्चित है कि दूसरे पदार्थोंके निमित्तसे पदार्थमें स्वभावभेद होता है। गगन और गगनकुसुमका अभाव एक ही वस्तु नहीं है। यदि दूसरे पदार्थोंके निमित्तसे वस्तुमे स्वभावभेद न हो, तो बौद्धोंका यह कहना कैसे ठीक हो सकता है, कि नित्य पदार्थ क्रमवर्ती सहकारी कारणोंकी सहायतासे कार्य नहीं कर सकता है, क्योंकि नित्य एक स्वभाववाला है, और नाना सहकारी कारणोंकी सहायतासे कार्य करनेमे उसके नाना स्वभाव हो जावेंगे। बौद्ध यदि पर पदार्थके निमित्तसे वस्तुमे स्वभावभेद नहीं मानेंगे तो नित्य पदार्थमें भी क्रमवर्ती सहकारी कारणोंके द्वारा कोई स्वभावभेद नहीं होगा, और नित्य पदार्थ एक स्वभावको धारण करते हुए भी क्रमवर्ती सहकारी कारणोंकी सहायतासे कार्य कर सकेगा। इसलिए जब बौद्ध यह मानते है कि अन्य पदार्थ किसी वस्तुके स्वभावके भेदक होते हैं, तब स्वलक्षण और अन्यापोह ये एक कैसे हो सकते हैं। स्वलक्षण भिन्न है, और अन्यापोह भिन्न है। गगन पृथक् है, और गगमकुसुमका अभाव पृथक् है। गगन और गगनसुमनका अभाव एक ही वस्तु है, ऐसा किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। जितने भी पदार्थ हैं, वे सब अस्तित्व और नास्तित्वसे सम्बद्ध हैं। पदार्थोंमें जो विधि और निषेधका व्यवहार होता है, वह काल्पनिक नहीं है किन्तु पारमार्थिक है।

बौद्ध मानते हैं, कि तत्त्व (स्वलक्षण) अवाच्य है। और उसमें विधि-निषेध व्यवहार संवृति (कल्पना)से होते हैं। उक्त कथन सर्वथा असंभव है। यदि वास्तवमें पदार्थ अस्तित्व, नास्तित्व आदिरूपसे अनेक स्वभाववाला न हो, तो इसका अर्थ यह होगा कि पदार्थमें अनेकरूपों-की उपलब्धि असंभव है और वह संवृत्तिसे होती है। किन्तु ऐसा मानना तब उचित हो सकता है, जब एकरूप पदार्थकी उपलब्धि होती हो। यह कहना भी ठीक नहीं है कि अनेक स्वभावोंकी उपलब्धि अनादि-कालीन अविद्याके उदयसे होती है। क्योंकि निर्बाध और अनुभव सिद्ध विषयकी उपलब्धिको अविद्याके द्वारा माननेसे संसारमें किसी तत्त्वकी व्यवस्था ही नहीं हो सकेगी। यदि पदार्थमे अनेकत्वकी प्रतीति संवृतिके

कारण होती है, तो संवृतिमे भी जो विशेषण, विशेष्य आदि रूपसे अनेकत्वकी प्रतीति होती है वह किस कारणसे होती है। अनेक आकारात्मक सवृति ही स्वय इस बातको सिद्ध करती है कि पदार्थ अनेकान्तात्मक हैं। यह कैसे कहा जा सकता है कि सवृति तो अनेकान्तात्मक है, परन्तु पदार्थ अनेकान्तात्मक नही है। पदार्थोंको अनेकान्तात्मक सिद्ध होनेमे यह बात निश्चित हो जाती है कि गगन और गगनकुसुमका अभाव ये दोनो एक ही वस्तु नही हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न हैं।

इस प्रकार गगनकुसुममे अनित्यत्व और प्रमेयत्व दोनोका अभाव होनेसे दोनोका व्यतिरेक पाया जाता है। अत प्रमेयत्व हेतु केवल अन्वयी ही नही है किन्तु व्यतिरेकी भी है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक हेतुमे परस्परमे अविनाभावी साधर्म्य और वैधर्म्य दोनो धर्म पाये जाते हैं। जिस प्रकार हेतुमे साधर्म्य वैधर्म्यका अविनाभावी है, उसी प्रकार वस्तुमे अस्तित्व नास्तित्वका अविनाभावी है। एक पदार्थकी दूसरे पदार्थसे जो व्यावृत्ति है, वह न तो सर्वथा भावात्मक है और न सर्वथा नि स्वभाव या मिथ्या है। बौद्ध मानते हैं कि अन्यव्यावृत्ति वस्तुका स्वभाव नही है। यदि ऐसा है तो वस्तु केवल एकरूप होगी और अन्य वस्तुओमे उसमे कुछ भी भेद सिद्ध न होगा। अत अस्तित्वकी तरह अन्यव्यावृत्ति (नास्तित्व) भी वस्तुका स्वभाव है। वस्तुमे जो विशेषण होता है वह प्रतिषेध्यसे अविनाभावी होता है। अत वस्तुमे अस्तित्व विशेषण अपने प्रतिषेध्य नास्तित्वका अविनाभावी है, जैसे कि हेतुमे साधर्म्य वैधर्म्यका अविनाभावी है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अस्तित्वकी तरह नास्तित्व भी वस्तुका स्वरूप है।

यहाँ कोई कहता है—यह ठीक है कि अस्तित्व नास्तित्वका अविनाभावी है। किन्तु नास्तित्व अस्तित्वका अविनाभावी कैसे हो सकता है। आकाशपुष्पमे किसी भी प्रकार अस्तित्व सभव नही है। इसके उत्तरमे आचार्य कहते हैं—

नास्तित्व प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेदविवक्षया ॥१८॥

एक ही वस्तुमे विशेषण होनेसे नास्तित्व अपने प्रतिषेध्य अस्तित्वका अविनाभावी है। जैसे हेतुमे वैधर्म्य साधर्म्यका अविनाभावी होता है।

पहले बतलाया जा चुका है कि अस्तित्व और नास्तित्व ये परस्पर-

में अविनाभावी धर्म हैं। जिस प्रकार नास्तित्वके विना अस्तित्व नही हो सकता है, उसी प्रकार अस्तित्वके विना नास्तित्व भी नही हो सकता है। हेतुमें वैधर्म्यका सद्भाव साधर्म्यकी अपेक्षासे ही होता है। शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कृतक है। जो अनित्य नही होता है, वह कृतक भी नही होता है, जैसे आकाश, यह हेतु का वैधर्म्य है। जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, जैसे घट। यह हेतुका साधर्म्य है। हेतु मे जो वैधर्म्य पाया जाता है वह साधर्म्यके विना नही हो सकता है। हेतुमे अन्वय और व्यतिरेकका कथन साधर्म्य और वैधर्म्य धर्मोंकी अपेक्षासे होता है। यदि अन्वय और व्यतिरेकका कथन वास्तविक धर्मोंके आधारसे न हो तो विपरीतरूपसे भी अन्वय और व्यतिरेक दिखाये जा सकते हैं। जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है, जैसे आकाश, और जो अनित्य नही होता है, वह कृतक नही है, जैसे घट। इस प्रकार पारमार्थिक धर्मोंके अभावमें विपरीत रूपसे भी अन्वय और व्यतिरेकके दिखानेमे कौनसी बाधा हो सकती है। तात्पर्य यह है कि हेतुमे अन्वय और व्यतिरेक वास्तविक होते हैं, काल्पनिक नही। जो धर्म किसीका विशेषण होता है वह नियमसे अपने प्रतिपक्षी धर्मका अविनाभावी होता है। जिस प्रकार हेतुमे वैधर्म्य विशेषण अपने प्रतिपक्षी साधर्म्यका अविनाभावी है, उसी प्रकार वस्तुमें नास्तित्व विशेषण अपने प्रतिपक्षी अस्तित्वका अविनाभावी है। वस्तु पररूपादिकी अपेक्षासे असत् है। यदि ऐसा न हो अर्थात् पररूपादिकी अपेक्षासे भी वस्तु सत् हो तो किसी वस्तुका कोई निश्चित स्वभाव न होनेके कारण ससारके समस्त पदार्थोंमे संकर (मिश्रण) हो जायगा। घटका काम घट ही करता है, पट नही, क्योंकि घटका स्वभाव भिन्न है, और पटका स्वभाव भिन्न है। यदि घट और पटका स्वभाव एक हो, तो पटको घटका काम करना चाहिए और घटको पटका काम करना चाहिए। सब पदार्थ अपनी अपनी शक्ति और स्वभावके अनुसार अपना अपना कार्य करते हैं। कोई भी पदार्थ दूसरे पदार्थका कार्य कभी भी नही करता है। इससे प्रतीत होता है कि सब पदार्थोंका स्वभाव पृथक् पृथक् है। धर्म, धर्मी, गुण, गुणी आदिकी व्यवस्था भी कल्पित न होकर पारमार्थिक है। पदार्थोंमे भेद, अभेद आदि व्यवस्था पदार्थोंके स्वभावके अनुसार होती है। पदार्थोंमें जो नास्तित्व धर्म है वह अस्तित्वका अविनाभावी है, और जो अस्तित्व धर्म है वह नास्तित्वका अविनाभावी है। दोनों धर्म परस्पर सापेक्ष हैं। इसी प्रकार नित्यत्वादि जितने भी धर्म हैं वे सब अपने प्रतिषेध्यके अविनाभावी होते हैं।

वस्तुके विषयमें अनुभव तथा युक्तिसिद्ध यही पारमार्थिक व्यवस्था है।

कुछ लोग कहते हैं कि अस्तित्व और नास्तित्व जीवादि वस्तुओंसे सर्वथा भिन्न हैं, और वस्तु अस्तित्व-नास्तित्वरूप नहीं है। अन्य लोग कहते हैं कि अस्तित्व और नास्तित्व विशेषण ही हैं, विशेष्य नहीं। दूसरे लोग कहते हैं कि अस्तित्व और नास्तित्व अभिलाप्य नहीं हैं। इन लोगों-को उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—

विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः।
साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥१९॥

शब्दका विषय होनेसे विशेष्य विधेय और प्रतिषेध्यात्मक होता है। जैसे साध्यका धर्म अपेक्षाभेदसे हेतु भी होता है और अहेतु भी।

अस्तित्व विधेय है और नास्तित्व प्रतिषेध्य है। अस्तित्व और नास्तित्व जीवादि वस्तुओंकी आत्मा (स्वरूप) हैं। अस्तित्व और नास्तित्वको जीवादि वस्तुओंके विशेषण होनेसे जीवादि वस्तुएँ विशेष्य कहलाती हैं। विशेष्य होनेसे जीवादि पदार्थ अस्तित्व और नास्तित्वरूप हैं। अत विशेष्य होने जीवादि वस्तुओमे अस्तित्व और नास्तित्व विशे-षणोकी सिद्धि की जाती है, और जीवादि वस्तुओको शब्द गोचर होनेसे उनमे विशेष्यत्वकी सिद्धि होती है। जो लोग वस्तुको शब्दगोचर नही मानते हैं, उनके लिए विशेष्यत्व हेतुसे शब्दगोचरत्वकी सिद्धि की गयी है।

तात्पर्य यह है कि जो वस्तुको शब्दका विषय नही मानते हैं, उनके प्रति वस्तुमे शब्दगोचरत्व सिद्ध करनेके लिए विशेष्यत्व हेतुका प्रयोग किया जाता है। और जो वस्तुको विशेष्य नही मानते हैं उनके प्रति वस्तुमे विशेष्यत्व सिद्ध करनेके लिए शब्दगोचरत्व हेतुका प्रयोग किया जाता है। जो वस्तुमें न तो शब्दगोचरत्व मानते हैं और न विशेष्यत्व मानते हैं, उनके लिए वस्तुत्व हेतुके द्वारा दोनों धर्मोंकी सिद्धिकी जाती है। अपेक्षाभेदसे एक ही वस्तुमे भिन्न भिन्न धर्मोंको माननेमे कोई विरोध नही आता है जैसे साध्यका धर्म धूम साध्यका साधक होनेसे कही हेतु होता है और साध्यका साधक न होनेसे कही हेतु नही भी होता है। यदि साध्य वह्नि है तो वहाँ धूम हेतु होता है, और यदि साध्य जल है तो वहाँ धूम अहेतु है। इस प्रकार धूममें हेतुत्व और अहेतुत्व धर्मोंकी तरह जीवादि वस्तुओं-में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्म रहते हैं।

बौद्ध मानते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा निरंश स्वलक्षणकी

ही प्रतीति होती है। और अस्तित्व-नास्तित्व आदि विशेषणोंका ज्ञान केवल सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा होता है। यथार्थमें निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा निरंश स्वलक्षणका जो ज्ञान होता है वह सत्य ज्ञान है। और सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा जो अस्तित्व आदि अंश सहित स्वलक्षणका ज्ञान होता है वह मिथ्या है।

बौद्धोंका उक्त कथन नितान्त अयुक्त है। यदि वस्तु यथार्थमें निरंश है, तो निर्विकल्पकके बादमें होनेवाले सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा भी उसमें अंशोंकी कल्पना कैसे की जा सकती है। निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा पीतका ज्ञान होने पर तत्पृष्ठभावी सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा भी उसमें पीतका ही ज्ञान होता है, नीलका नहीं। जब कोई वस्तु किसी विशेषणसे सहित ग्रहण की जाती है तो विशेषण, विशेष्य और उनके सम्बन्ध आदिका ज्ञान होना आवश्यक है। और विशेषणोंका पृथक् पृथक् ज्ञान होना भी आवश्यक है। यदि सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा अस्तित्व, नास्तित्व आदि विशेषणोंकी प्रतीति होती है, तो निर्विकल्पकके द्वारा भी उनकी प्रतीति होना चाहिए।

स्वलक्षणका ही प्रत्यक्ष होता है, अस्तित्व, नास्तित्व आदि विशेषणोंका नहीं। ऐसा मानना ठीक नहीं है। अस्तित्व और नास्तित्व तो वस्तुकी आत्मा हैं, उनके अभावमें वस्तुका अपना कुछ भी स्वरूप शेष नहीं रहता है। यह अनुभव सिद्ध बात है कि वस्तुमें सत् और असत् दोनों अंशोंकी प्रतीति होती है। वस्तु न केवल सामान्यमात्र है, और न विशेषमात्र, किन्तु उभयात्मक है। समान्य और विशेष पृथक्-पृथक् भी नहीं है, दोनोंमें तदात्म्य सम्बन्ध है। सामान्यविशेषात्मक वस्तु प्रत्यक्ष, शब्द आदिके द्वारा जानी जाती है। प्रत्यक्ष और शब्दका विषय भिन्न-भिन्न नहीं है, किन्तु वही वस्तु प्रत्यक्षका विषय होती है, और वही वस्तु शब्दके द्वारा जानी जाती है। इतना आवश्य है कि दोनों ज्ञानोंमें प्रतिभास भेद पाया जाता है। प्रत्यक्षके द्वारा स्पष्ट प्रतिभास होता है, और शब्दके द्वारा अस्पष्ट प्रतिभास होता है। जैसे एक ही वृक्षमें दूरसे देखने वाले पुरुषको अस्पष्ट ज्ञान और समीपसे देखने वाले पुरुषको स्पष्ट ज्ञान होता है। यहाँ वृक्षके एक होनेपर भी कारणके भेदसे ज्ञान भिन्न-भिन्न होता है।

तात्पर्य यह है कि अपेक्षाभेदसे तत्त्व व्यवस्थामें कोई विरोध नहीं आता है। धूम वह्निका हेतु होता है, और जलका हेतु नहीं होता है।

वही धूम हेतु है, और वही धूम अहेतु भी है। अपेक्षाके भेदसे उसी धूम को हेतु और अहेतु माननेमें कोई विरोध नहीं है। विरोध तो तब होता जब धूमको वह्निका हेतु और वह्नि का ही अहेतु माना जाता। उसी प्रकार वस्तुको भी कथंचित अस्तित्व और नास्तित्वरूप माननेमें किञ्चिन्मात्र भी विरोध नहीं है। वस्तुमें अस्तित्व दूसरी अपेक्षासे है, और नास्त्त्वि दूसरी अपेक्षासे है। अस्तित्व और नास्तित्व वस्तुके विशेषण हैं, और वस्तु विशेष्य है। वस्तु निरंश और निरभिलाप्य नहीं है, किन्तु सांश और शब्दगोचर है।

शेषभंगोंका निरूपण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

शेषभङ्गाश्च नेतव्या यथोक्तनययोगतः।
न च कश्चिद्विरोधोऽस्ति मुनीन्द्र तव शासने ॥२०॥

यथोक्त नयके अनुसार शेष भंगोंको भी लगा लेना चाहिए। हे भगवन् ! आपके शासनमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है।

पहले प्रथम तीन भंगोंका विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। अस्तित्व नास्तित्वका अविनाभावी है, तथा नास्तित्व अस्तित्वका अविनाभावी है। अस्तित्व और आस्तित्व वस्तुके विशेषण हैं। वस्तु उभयरूप तथा शब्दका विषय है, अर्थात् अस्तित्व-नास्तित्वरूपसे वक्तव्य है। वस्तु अवक्तव्य भी है, क्योंकि अवक्तव्यत्व वस्तुका विशेषण होता है, और अपने प्रतिषेध्य वक्तव्यत्वका अविनाभावी है, वस्तु सदवक्तव्य है, और अपने प्रतिषेध्य असदवक्तव्यका अविनाभावी है। वस्तु असदवक्तव्य भी है, क्योंकि असदवक्तव्यत्व वस्तुका विशेषण होता है, और अपने प्रतिषेध्य सदवक्तव्यत्वका अविनाभावी है। इसी प्रकार वस्तु सदसदवक्तव्य भी है। सातों भंग वस्तुके विशेषण होते हैं। और वे अपने-अपने प्रतिषेध्यके अविनाभावी हैं, जैसे कि हेतुमें साधर्म्य वैधर्म्यका अविनाभावी होता है, और वैधर्म्य साधर्म्यका अविनाभावी होता है। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्के शासनमें अनेकान्तात्मक वस्तुकी सिद्धि होती है। वस्तुमें अनन्त धर्म पाये जाते हैं। उनमेंसे प्रत्येक धर्मकी अपेक्षासे सात-सात भङ्ग होते हैं। और वस्तुगत अनन्त धर्मोंकी अपेक्षासे अनन्त सप्तभङ्गियाँ होती हैं। वही वस्तु सत् भी होती है और वही वस्तु असत् भी। अपेक्षा भेदसे एक ही वस्तुको सत् तथा असत् माननेमें कोई विरोध नहीं है। कारिकामें जो 'विरोध' शब्द दिया गया है वह उपलक्षण है। वहाँ किसी वस्तुका

धर्मके कहनेपर अन्य वस्तुओं और धर्मोंका भी ग्रहण होता है, वह उपलक्षण कहलाता है। जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्।' 'कौओंसे दधिको रक्षा करो।' उक्त वाक्यमें कौआ शब्दसे केवल कौआका ही ग्रहण नहीं होता है, किन्तु दधिभक्षक बिल्ली आदि सब प्राणियोंका ग्रहण होता है। कहने वालेका तात्पर्य यह है कि कौआ, बिल्ली आदि समस्त दधिभक्षक प्राणियोंसे दधिकी रक्षा करना है। इसी प्रकार 'विरोध' शब्दसे संकर आदि अन्य दोषोंका ग्रहण किया जाता है।

कुछ लोग वस्तुको सत्-असत् आदि रूप माननेमें विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और अभाव इस प्रकार आठ दोष बतलाते हैं। जो लोग वस्तुमें उक्त दोषोंको बतलाते है वे अपनी अनभिज्ञता ही प्रकट करते हैं। यह पहले विस्तार पूर्वक बतलाया जा चुका है कि एक ही वस्तुको अपेक्षा भेदसे सत्, असत् आदिरूप माननेमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है। और विरोधके अभावमें अन्य दोषोंका परिहार भी स्वतः हो जाता है।

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌के शासनमें अर्थात् वस्तुको अनेकान्तात्मक माननेमें कोई विरोध नहीं है।

अनेकान्तात्मक वस्तुको अर्थ क्रियाकारी बतलाते हुए आचार्य एकान्तरूप वस्तुमें अर्थक्रियाका निषेध करते हैं—

एवं विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत् ।
नेति चेन्न यथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः ॥२१॥

इस प्रकार विधि और निषेधके द्वारा अनवस्थित अर्थात् उभयरूप जो अर्थ है वही अर्थक्रियाकारी होता है। अन्यथा नहीं। जैसेकि बहिरंग और अन्तरंग दोनों कारणोंके बिना कार्यकी निष्पत्ति नहीं होती है।

पदार्थ न केवल विधिरूप है, और न निषेधरूप, किन्तु दोनों रूप है। जो लोग पदार्थको विधिरूप ही मानते हैं, अथवा निषेधरूप ही मानते हैं, उनके यहाँ पदार्थ अपना कार्य नहीं कर सकते हैं। जो पदार्थ सर्वथा सत् है वह सदा सत् ही रहेगा। उसमें कुछ भी परिवर्तन संभव नही है। जो सर्वथा सत् है, किसी रूपसे भी असत् नहीं है, उसकी उत्पत्ति और विनाश भी संभव नहीं है। वह तो सदा अपनी उसी अवस्थामें रहेगा, उसमें किञ्चिन्मात्र भी विकार होनेकी संभावना नहीं है। इसी प्रकार जो पदार्थ सर्वथा असत् है, वह आकाशपुष्पके समान है। उसकी भी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश संभव नहीं है। असत् पदार्थकी कभी

उत्पत्ति नही होती है। क्या कभी किसीने आकाश व्यक्त उत्पत्ति देखी है। जो पदार्थ सर्वथा सत् या असत् है, उसकी उत्पत्तिकी कल्पना भी नहींकी जा सकती है। आकाशको सत् होनेसे तथा वन्ध्यासुतको असत् होनेसे इनकी उत्पत्ति संभव नही है। जो पदार्थ द्रव्यकी अपेक्षासे सत् होता है और पर्यायकी अपेक्षासे असत् होता है, उसीकी उत्पत्ति और विनाश होता है।

यथार्थमें द्रव्य वही है, जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित है। द्रव्यकी अपेक्षासे वह ध्रौव्यरूप है, एवं पर्यायकी अपेक्षासे उत्पाद और व्ययरूप है, सत् भी वही कहलाता है जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाये जावें। मिट्टी द्रव्यरूपसे सदा ध्रुव रहती है, द्रव्यका नाश त्रिकालमें भी नही होता है। नाश केवल पर्यायका होता है। स्वर्ण सब अवस्थाओंमें स्वर्णही रहता है, केवल उसकी पर्यायें बदलती रहती हैं। स्वर्ण के अनेक आभूषण बनते है। कुण्डल को तुड़वाकर चूड़ा बनवा लिया जाता है। किन्तु इन सब पर्यायमें स्वर्णकी सत्ता बराबर बनी रहती है। केवल कुण्डल पर्यायका नाश और चूड़ा पर्यायकी उत्पत्ति होती है। किसी पर्यायका जो विनाश होता है, वह निरन्वय नही होता है, जैसा कि बौद्ध मानते है। निरन्वय विनाश माननेसे आगे की पर्यायकी उत्पत्ति नही हो सकती है। यदि कुण्डल पर्यायका सर्वथा विनाश हो जाय, और चूड़ा पर्यायके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध न हो, तो चूड़ाकी उत्पत्ति होना असंभव है। अत: यह मानना आवश्यक है कि किसी भी पर्यायका विनाश निरन्वय न होकर सान्वय होता है। कोई भी पर्याय सर्वथा नष्ट नही होती है, किन्तु एक पर्याय दूसरी पर्यायमें बदल जाती है। इस बातको विज्ञान भी स्वीकार करता है कि ससारमें जितने जड़ पदार्थ या अणु हैं, वे सदा उतने ही रहते है, कभी घटते या बढ़ते नही है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी पदार्थका द्रव्यरूपसे कभी नाश नहीं होता है, द्रव्यकी अपेक्षासे वह सदा स्थिर रहता है।

अत: जो द्रव्यकी अपेक्षासे सत् और पर्यायकी अपेक्षासे असत् होता है, वही पदार्थ अर्थक्रिया कर सकता है। इसके अभावमें अर्थक्रियाका होना असंभव है। जो पदार्थ सर्वथा सत् अथवा असत् है, वह सैकड़ों सहकारी कारणोंके मिलने पर भी कार्य नहीं कर सकता है।

प्रथम भंगसे सत्‌रूप जीवादि तत्त्वोंकी प्रतीति होने पर द्वितीय आदि भंगोंके द्वारा प्रतिपाद्य असत्त्व आदि धर्मोंका ज्ञान भी प्रथम भंगसे

ही हो जायगा, क्योंकि सत्त्व, असत्त्व आदि धर्म जीवसे अभिन्न हैं। अतः एक धर्मका ज्ञान होनेसे ही अन्य धर्मोंका ज्ञान हो जाना स्वाभाविक है। ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मणः।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गता ॥२२॥

अनन्तधर्मवाले धर्मीके प्रत्येक धर्मका अर्थ भिन्न-भिन्न होता है। और एक धर्मके प्रधान होने पर शेष धर्मोंकी प्रतीति गौणरूपसे होती है।

जीवादि जितने पदार्थ है, उन सबमे अनन्त धर्म पाये जाते है। उन अनन्त धर्मोंमेंसे प्रत्येक धर्मका अर्थ पृथक्-पृथक् होता है। एक धर्मका जो अर्थ होता है, दूसरे धर्मका अर्थ उससे भिन्न होता है। यदि सब धर्मोंका अर्थ एक ही होता, तो प्रथम भंगमें एक धर्मकी प्रतीति होनेपर शेष धर्मोंकी प्रतीति भी प्रथम भंगमें ही हो जाती। और ऐसा होनेसे इतर भंगोंकी निरर्थकता भी सिद्ध होती। प्रथम भङ्गसे सत्त्व धर्मकी प्रधानरूपसे प्रतीति होती है, और द्वितीय भङ्गसे असत्त्व धर्मकी प्रधानरूपसे प्रतीति होती है। एक भङ्गके द्वारा अपने धर्मकी प्रतीति होती है, दूसरेके धर्मकी नही। धर्मी भी धर्मोसे सर्वथा अभिन्न नही है, जिससे एक धर्मकी प्रतीति होने पर शेष धर्मोंकी प्रतीति सिद्ध की जा सके। प्रत्येक धर्मकी अपेक्षासे धर्मीका स्वभाव भी भिन्न हो जाता है। यदि प्रत्येक धर्मकी अपेक्षासे धर्मीमें स्वभाव भेद न होता, तो किसी पदार्थको एक प्रमाणके द्वारा जानने पर उसमें शेष प्रमाणोंकी प्रवृत्ति निरर्थक होती। और गृहीतग्राही होनेसे पुनरुक्त दोष भी आता। इसलिए प्रत्येक धर्मकी अपेक्षासे धर्मीमें स्वभाव भेद होता है।

बौद्ध यद्यपि धर्मीमें स्वतः स्वभाव भेद नही मानते हैं, किन्तु अन्यव्यावृत्तिके द्वारा स्वभावभेदकी कल्पना करते है। जैसे शब्दमें स्वतः कोई स्वभावभेद नहीं है, किन्तु असत्, अकृतक आदिसे व्यावृत्त होनेके कारण शब्दको सत्, कृतक आदि कहते हैं। बौद्धोंका यह कहना तब ठीक होता, जब उनके यहाँ वस्तुभूत असत्, अकृतक आदि रूप कोई पदार्थ होता। जब वैसा कोई पदार्थ ही नहीं है, तो उससे किसीकी व्यावृत्ति कैसे हो सकती है, और सत्, कृतक आदिकी कल्पना भी कैसे की जा सकती है। वास्तविक स्वभावोंकी सद्भाव होने पर कोई स्वभाव प्रधान

तथा कोई स्वभाव गौण हो सकता है, और एक स्वभावकी अन्य स्वभावों-से व्यावृत्ति भी हो सकती है। सब स्वभावोंके असत् होनेपर स्वभावोंके विषयमे किसी प्रकारकी व्यवस्था होना सभव नही है। अश्वविषाण, खरविषाण, गगनकुसुम ये सब ही असत् हैं। इनमेंसे एककी दूसरेसे व्यावृत्ति नही हो सकती है, तथा एकको प्रधान और दूसरोको गौण नही कहा जा सकता है। इसलिए कल्पनाकृत अन्यव्यावृत्तिके द्वारा वस्तुमे स्वभावभेद मानने पर वस्तुके स्वभावका ही अभाव हो जायगा। तब वास्तविक वस्तुके माननेकी भी कोई आवश्यकता नही रहेगी, क्योकि अवस्तुकी व्यावृत्तिमे वस्तु व्यवहार और वस्तुकी व्यावृत्तिसे अवस्तु व्यवहार बन जायगा। सब व्यवस्था व्यावृत्तिके द्वारा मानने पर प्रत्यक्ष प्रमाण भी स्वलक्षणको विषय न करके केवल व्यावृत्तिको ही विषय करेगा। यदि व्यावृत्तिका ही सद्भाव है, तो परमार्थभूत प्रमाण, प्रमेय आदि तत्त्वोंके अभावमे शून्यके अतिरिक्त कुछ भी शेष नही रहेगा। अतः सत्, असत् आदि धर्म अन्यव्यावृत्तिके द्वारा काल्पनिक न होकर पार-मार्थिक हैं। और एक धर्मकी विवक्षा होनेपर अन्य धर्म गौण हो जाते हैं, तथा वस्तुमें अनन्तधर्मोंके सद्भावमे अनन्त स्वभावभेद भी पाये जाते हैं। इस प्रकार एक भङ्गके द्वारा एक ही धर्मका कथन होता है, शेष धर्मोंका नही। इसलिए द्वितीय आदि भङ्गोका प्रयोग सार्थक और आव-श्यक है।

ऊपर सत्त्व और असत्त्वको लेकर सप्तभङ्गी की जो प्रक्रिया बतलायी गयी है, वही प्रक्रिया एक, अनेक आदि धर्मोंको लेकर बनने वाली सप्त-भङ्गीमे भी होती है, इसी बातको बतलानेके लिए आचार्य कहते है—

एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत्।
प्रक्रियां भङ्गिनीमेनां नयैर्नयविशारदः ॥२३॥

नयविशारदोंको एक, अनेक आदि धर्मोंमे भी सात भङ्गवाली उक्त प्रक्रियाकी नयके अनुसार योजना करना चाहिए।

ऊपर सत्त्व धर्मको लेकर सप्तभङ्गीका विवेचन किया गया है। इसी प्रकार अन्य जितने धर्म है, उनमेंसे प्रत्येक धर्मको लेकर सप्तभङ्गी होती है। जिस प्रक्रिया के अनुसार सत्त्वधर्मविषयक सप्तभङ्गी सिद्ध होती है वही प्रक्रिया अन्यधर्मनिमित्तक सप्तभङ्गीमे भी जानना चाहिए। एकत्व धर्मको लेकर सप्तभङ्गीकी प्रक्रिया निम्न प्रकार होगी। १. स्या-देक द्रव्यम्, २. स्यादनेक द्रव्यम्, ३. स्यादेकमनेक द्रव्यम्, ४. स्यादवक्तव्यं

द्रव्यम्, ५. स्यादेकमवक्तव्यं च द्रव्यम्, ६. स्यादनेकवक्तव्यं च द्रव्यम्, ७. स्यादेकमनेकमवक्तव्यं च द्रव्यम् ।

सामान्यकी अपेक्षासे सब द्रव्य समान हैं, एक द्रव्यसे दूसरे द्रव्योंमें कोई भेद नहीं है। सबमें द्रव्यत्व, सत्त्व आदि धर्म समान रूपसे पाये जाते हैं। यद्यपि अनेक द्रव्योंमें प्रतिभास विशेषका अनुभव होता है, किन्तु सत्त्व, द्रव्यत्व आदिकी समानताके कारण उनमे कोई भेद नही है। जिस प्रकार चित्रज्ञानमें अनेक आकार होनेपर भी चित्रज्ञान एक ही रहता है, अनेक नहीं, उसी प्रकार समस्त द्रव्योंमें द्रव्यत्व, सत्त्व आदिके कारण द्रव्य व्यवहार होता है। इसलिए द्रव्य कथंचित् एक है। द्रव्य कथंचित् अनेक भी है। प्रत्येक द्रव्यका कार्य, स्वभाव आदि सब पृथक् पृथक् हैं। एक द्रव्यका जो स्वभाव है वह दूसरे द्रव्यका नहीं है, और एक द्रव्यका जो कार्य है वह दूसरे द्रव्यका नही है। उनका प्रतिभास भी भिन्न भिन्न रूपसे होता है। इसलिए द्रव्य कथंचित् अनेक है। अर्थात् सामान्यकी अपेक्षासे द्रव्य एक है और विशेषकी अपेक्षासे अनेक है। जब सामान्य और विशेषकी अपेक्षासे क्रमशः कथन किया जाता है तब द्रव्य कथंचित् एक और अनेक सिद्ध होता है। उभय दृष्टिसे युगपत् कथनकी विवक्षा होनेपर द्रव्य अवक्तव्य सिद्ध होता है। सामान्य और विशेषकी अपेक्षासे किसी वस्तुका जो प्रतिपादन किया जायगा वह क्रमश ही संभव है, एक साथ और एक शब्दके द्वारा दो धर्मोंका प्रतिपादन किसी भी प्रकार संभव नहीं है। ऐसी स्थितिमें द्रव्यको अवक्तव्य ही कहना पड़ेगा। इसी प्रक्रियाके अनुसार आगेके तीन भगोको भी समझ लेना चाहिए।

एकत्व धर्म निमित्तक सप्तभंगी अन्य पदार्थोंमें भी उक्त क्रमसे घटित होती है। जैसे –स्वर्णं स्यादेक, स्यादनेकम्, स्यादुभयम्, स्यादवक्तव्यम्, स्यादेकमवक्तव्यम्, स्यादनेकमवक्तव्यम्, स्यादेकानेकमवक्तव्यम् ।

द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे सब स्वर्ण एक है। स्वर्णके जितने भी आभूषण हैं उनमें स्वर्णकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं है। अतः सामान्यकी अपेक्षासे अथवा द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे स्वर्ण एक सिद्ध होता है। वही स्वर्ण विशेषकी अपेक्षासे अथवा पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे अनेक सिद्ध होता है। स्वर्णकी जितनी पर्यायें हैं वे सब एक दूसरेसे भिन्न हैं, एक पर्यायका जो काम है वह दूसरी पर्याय नहीं कर सकती है। कुण्डल, कटक, केयूर आदि स्वर्णके जितने आभूषण हैं, वे पर्यायकी

अपेक्षासे सब पृथक् पृथक् हैं। क्योंकि कुण्डलका जो काम है वह कुण्डल ही कर सकता है, कटक नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वर्ण कथं-चित् अनेक है।

जब द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे स्वर्णका क्रमसे प्रतिपादन करना विवक्षित हो तो स्वर्ण कथंचिदुभय सिद्ध होता है। यदि दोनों नयोंकी दृष्टिसे स्वर्णका युगपत् कथन विवक्षित हो तो स्वर्णको अवक्तव्य ही मानना होगा। प्रधानरूपसे दो धर्मोंका कथन एक ही समयमे एक शब्दके द्वारा सभव नही है। इसी प्रकार स्वर्ण कथंचित् एक-अवक्तव्य, कथंचित् अनेक-अवक्तव्य और कथंचित् एक-अनेक-अवक्तव्य है। द्रव्यार्थिक नयके साथ दोनों नयोंकी युगपत् विवक्षा होनेसे स्वर्ण कथंचित् एक-अवक्तव्य है। पर्यायार्थिक नयके साथ दोनों नयोंकी युगपत् विवक्षा होनेसे स्वर्ण कथंचित् अनेक-अवक्तव्य है। दोनों नयोकी पहले क्रमशः, और पुनः युगपत् विवक्षा होनेसे स्वर्ण कथंचित् एक-अनेक-अवक्तव्य है। एकत्व अनेकत्वका अविनाभावी है, और अनेकत्व एकत्वका अविनाभावी है। एकत्व और अनेकत्व दोनो एक द्रव्यमें विशेषण होते हैं।

इस प्रकार सत्त्व, एकत्व आदि धर्मोंको लेकर सप्तभंगीकी जो प्रक्रिया है वही प्रक्रिया अन्य सप्तभंगियोंमें भी लगाना चाहिए।

द्वितीय परिच्छेद

भन् आदि एकान्तोंमें दोषोंको बतलाकर अद्वैतैकान्तमें दूषण बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते ।
कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते ॥२४॥

अद्वैतैकान्त पक्षमें भी कारकों और क्रियाओंमें जो प्रत्यक्ष सिद्ध भेद है उसमें विरोध आता है। क्योंकि एक वस्तु स्वय अपनेसे उत्पन्न नही हो सकती है।

जहाँ केवल एक ही वस्तुका सद्भाव माना जाता है वह अद्वैतैकान्त पक्ष कहलाता है। कुछ लोग केवल ब्रह्मकी ही सत्ता मानते हैं, अन्य लोग केवल ज्ञानकी ही सत्ता मानते हैं, दूसरे लोग शब्दकी ही सत्ता मानते हैं। इस प्रकार ब्रह्माद्वैत, ज्ञानाद्वैत, शब्दाद्वैत इत्यादि रूपसे अनेक अद्वैत माने गये हैं। यहाँ सामान्यरूपसे अद्वैतैकान्त पक्षमे दूषण बतलाये जांयगे।

कारकों तथा क्रिया आदिमे जो भेद पाया जाता है वह सर्वजन प्रसिद्ध है। कर्ता, कर्म, करण आदि कारक कहलाते हैं। गमन, आगमन, परिस्पन्दन आदि क्रिया है। प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति भिन्न-भिन्न कारकोंसे होती है। और प्रत्येक पदार्थमे क्रिया भी भिन्न-भिन्न पायी जाती है। यह कारक इस कारकसे भिन्न है, यह क्रिया इस क्रियासे भिन्न है, अथवा क्रिया कारकसे भिन्न है, इस प्रकार क्रिया और कारकोमे जो भेद प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे देखा जाता है वह प्रत्येक व्यक्तिको अनुभव सिद्ध है। और यह भेद अद्वैतैकान्तका बाधक है।

यहाँ अद्वैतैकान्तवादी कहता है कि अद्वैतमें भी कारक आदिका भेद बन जाता है। एक ही वृक्षमें युगपत् या क्रमसे कर्ता आदि अनेक कारको-

की प्रतीति होती है[1]। एक ही पुरुषमें देशादिकी अपेक्षासे गमन, अगमन आदि क्रियायें भी एक समयमें बन जाती हैं। उसी प्रकार एक ब्रह्ममें क्रिया, कारक आदिका भेद होनेपर भी कोई विरोध नहीं है। क्योंकि चित्रज्ञानकी तरह विचित्र प्रतिभास होने पर भी उसके एकत्वमें कोई व्याघात नहीं होता है।

ऐसा कहने वालेसे हम पूँछ सकते हैं कि क्रिया, कारक आदिका भेद किसीसे उत्पन्न होता है या नहीं। यदि वह किसीसे उत्पन्न नहीं होता है, तो उसे नित्य मानना चाहिए। किन्तु क्रिया, कारक आदिके भेदको नित्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसकी प्रतीति कभी कभी होती है। जिसकी प्रतीति कभी कभी होती है वह नित्य नहीं हो सकता है। उक्त भेदको अनित्य मानने पर उसकी उत्पत्तिका प्रश्न उपस्थित होता है। यदि क्रिया, कारक आदिके भेदकी उत्पत्ति अद्वैतमात्र तत्त्वसे होती है, तो यहाँ दो विकल्प होते हैं—अद्वैत और उसके कार्यमें भेद है या अभेद। प्रथम पक्षमें अद्वैत और उसके कार्यमें भेद होनेसे द्वैतकी सिद्धि होना अनिवार्य है। द्वितीय पक्षमें अद्वैतके कार्यको अद्वैतसे अभिन्न मानने पर यह अर्थ फलित होता है कि स्वकी उत्पत्ति स्वसे होती है। किन्तु ऐसा कभी नहीं देखा गया। यदि अद्वैत तत्त्व अपने कार्यसे अभिन्न है, तो वह नित्य कैसे हो सकता है। इस दोषको दूर करनेके लिए क्रिया, कारक आदिके भेदकी उत्पत्ति अन्य किसी पर पदार्थसे मानने पर भी अद्वैत तथा परके भेदसे द्वैतकी सिद्धिका प्रसंग पुनः आता है। इस प्रकार अद्वैतवादीको दोनों ओरसे स्वपक्ष हानि होती है। क्रिया, कारक आदिका भेद न स्वतः होता है और न परतः होता, किन्तु होता अवश्य है, ऐसा कहनेवाला अद्वैतवादी केवल अपनी अज्ञता ही प्रगट करता है। जब कादाचित्क भेदका सद्भाव है, तो उसकी उत्पत्ति भी किसी न किसी हेतुसे होगी ही। जो वस्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरुद्ध होती है उसकी सत्ता किसी भी प्रकार संभव नहीं है। अद्वैतमात्र तत्त्वको माननेमें क्रिया, कारक आदिके प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्ध भेद द्वारा स्पष्ट रूपसे विरोध

१. वृक्षस्तिष्ठति कानने कुसुमिते वृक्षं लताः संश्रिताः,
[illegible]णाभिहता गजो निपतितो वृक्षाय देयं जलम्।
वृक्षादानय मंजरीं कुसुमितां वृक्षस्य शाखोन्नताः,
वृक्षे नीडमिदं कृतं शकुनिना हे वृक्ष किं कम्पसे॥

आता है। इसलिए अद्वैतमात्र तत्त्वकी सत्ताका सद्भाव किसी भी प्रकार संभव नहीं है।

अद्वैतैकान्तमें अन्य दूषणोंको दिखलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्।
वि[illegible]ं न स्याद् बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥२५॥

अद्वैत एकान्तमें शुभ और अशुभ कर्म, पुण्य और पाप, इहलोक और परलोक, ज्ञान और अज्ञान, बन्ध और मोक्ष, इनमेंसे एक भी द्वैत सिद्ध नहीं होता है।

लोकमें दो प्रकारके कर्म देखे जाते हैं—शुभकर्म और अशुभकर्म। हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना आदि अशुभकर्म हैं। हिंसा नहीं करना, सत्य बोलना, चोरी नहीं करना, परोपकार करना, दान देना, आदि शुभकर्म हैं। दो प्रकारके कर्मोंका फल भी दो प्रकारका मिलता है—अच्छा और बुरा। जो शुभ कर्म करता है उसे अच्छा फल मिलता है। इसे पुण्य कहते हैं। और जो अशुभ कर्म करता है, उसको बुरा फल मिलता है। इसे पाप कहते हैं। अद्वैतमात्र तत्त्वके सद्भावमें दो कर्मोंका अस्तित्व कैसे हो सकता है। जब कर्म ही नहीं है, तो उसका फल भी नही हो सकता है। अतः दो कर्मोंके अभावमें दो प्रकारके फलका अभाव स्वतः हो जाता है। दो प्रकारके लोकको भी प्रायः सब मानते हैं। इहलोक तो सबको प्रत्यक्ष ही है। इस लोकके अतिरिक्त एक परलोक भी है, जहाँसे यह जीव इस लोकमें आता है, और मृत्युके बाद पुनः वहीं चला जाता है। [illegible]रलोकका अर्थ है जन्मके पहले और मृत्युके बादका लोक। ऐसा भी माना गया है कि इस जन्ममें किये गये कर्मोंका फल अगले जन्ममें मिलता है। किन्तु अद्वैतवादमें न कर्म है, न कर्मफल है, और न परलोक है।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत आदिकी कल्पना अविद्याके निमित्तसे होती है। क्योंकि विद्या और अविद्याका सद्भाव भी अद्वैतवादमें नहीं हो सकता है। यहाँ तक कि बन्ध और मोक्षकी भी व्यवस्था अद्वैतमें नहीं बन सकती है। यदि कोई व्यक्ति प्रमा[illegible] किसी तत्त्वकी कल्पना करता है, तो किसी न किसी फलकी अपेक्षासे ही करता है। बिना प्रयोजनके मूर्ख भी किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता है। अतः कोई बुद्धिमान् व्यक्ति सुख-दुःख पुण्य-पाप बन्ध-मोक्ष आदिसे रहित अ[illegible]तवादका आश्रय कैसे ले सकता है। अतः [illegible]द्वैतकी सत्ता स्व[illegible]द्धिकल्पित है।

ब्रह्माद्वैतवादियोंका कहना है कि ब्रह्मका सद्भाव स्वविकल्पित नहीं है, किन्तु प्रमाणसिद्ध है। अनुमान और आगम प्रमाणसे ब्रह्मकी सिद्धि होती है। 'सब पदार्थ ब्रह्मके अन्तर्गत हैं, प्रतिभासमान होनेसे'। इस अनुमानका तात्पर्य यह है कि सब पदार्थ स्वतः प्रकाशित होते हैं, इसलिए वे स्वतः प्रकाशमान ब्रह्मके अन्तर्गत ही हैं। इस प्रकार स्वतः प्रकाशमानत्व हेतुके द्वारा ब्रह्मकी सिद्धि की जाती है। आगम प्रमाणसे भी ब्रह्मकी सिद्धि होती है। वेदमें 'सर्वमात्मैव' 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य आते हैं। इन वाक्योंकी व्याख्या उपनिषदोमे निम्न प्रकार की गयी है।

> ब्रह्मेति ब्रह्मशब्देन कृत्स्नं वस्त्वभिधीयते ।
> ब्रह्मस्यात्मकात्स्न्र्यस्य वै शब्दः स्मृतये मतः ॥
> सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ।
> आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन ॥

'सर्वमात्मैव' इस वाक्यमें आत्मा या ब्रह्म शब्द द्वारा संसारकी समस्त वस्तुओंका कथन होता है। 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इस वाक्य में 'वै' शब्द इस बातको बतलाता है कि सारे संसारमें या पदार्थोंमें ब्रह्मकी ही एकमात्र सत्ता है। इस जगत्में सब कुछ ब्रह्म ही है, अनेक कुछ भी नही है। लोग केवल ब्रह्मकी पर्यायोंको ही देखते हैं, ब्रह्मको कोई नही देखता।

इस प्रकार ब्रह्माद्वैतवादी अनुमान और आगम इन दो प्रमाणोंसे ब्रह्मकी सिद्धि करते हैं।

उक्त मतका खण्डन करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

> **हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः ।**
> **हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥२६॥**

हेतुके द्वारा अद्वैतकी सिद्धि करने पर हेतु और साध्यके सद्भावमे द्वैतकी सिद्धिका प्रसग आता है। और यदि हेतुके विना अद्वैतकी सिद्धि की जाती है, तो वचनमात्रसे द्वैतकी सिद्धि भी क्यो नही होगी।

पहले ब्रह्माद्वैतवादियोंने हेतुके द्वारा ब्रह्मकी सिद्धि की है। उनका कहना है कि हेतुके द्वारा ब्रह्मकी सिद्धि करनेपर भी द्वैतकी सिद्धि नही होगी, क्योंकि हेतु और साध्यमे तादात्म्य सम्बन्ध है। वे पृथक्-पृथक् नहीं हैं।

ब्रह्माद्वैतवादियोंका उक्त कथन ठीक नहीं है। हेतु और साध्यमें कथंचित् तादात्म्य मानना तो ठीक है, किन्तु सर्वथा तादात्म्य मानना ठीक नहीं है। सर्वथा तादात्म्य माननेपर उनमें साध्य-साधनभाव हो ही नहीं सकता है। इसी प्रकार आगमसे भी ब्रह्मकी सिद्धि करनेपर आगम-को ब्रह्मसे अभिन्न नहीं माना जा सकता है। यदि ब्रह्मसाधक आगम ब्रह्मसे अभिन्न है, तो अभिन्न आगमसे ब्रह्मकी सिद्धि कैसे हो सकती है। अतः हेतु और ब्रह्मका द्वैत तथा आगम और ब्रह्मका द्वैत होनेसे अद्वैतकी सिद्धि संभव नहीं है।

स्वसंवेदनसे भी पुरुषाद्वैतकी सिद्धि संभव नहीं है स्वसंवेदन से पुरुषाद्वैतकी सिद्धि करनेपर पूर्वोक्त दूषणसे मुक्ति नहीं मिल सकती है। ब्रह्म साध्य है, और स्वसंवेदन साधक है। यहाँ साध्य-साधकके भेदसे द्वैतकी सिद्धिका प्रसंग बना ही रहता है। और साधनके विना अद्वैतकी सिद्धि करनेपर द्वैतकी सिद्धि भी उसी प्रकार क्यों नहीं होगी। कहने मात्रसे अभीष्ट तत्त्वकी सिद्धि माननेपर वादीकी तरह प्रतिवादीके अभीष्ट तत्त्वकी सिद्धि भी हो जायगी।

बृहदारण्यकवार्तिकमें ब्रह्मके विषयमें कहा गया है—

आत्माऽपि सदिदं ब्रह्म मोहात्पारोक्ष्यदूषितम्।
ब्रह्मापि स तथैवात्मा सद्वितीयतयेक्ष्यते ॥
आत्मा ब्रह्मेति पारोक्ष्यसद्वितीयत्वबाधनात्।
पुमर्थे निश्चितं शास्त्रमिति सिद्धं समीहितम् ॥

इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि एक सद्रूप ब्रह्म ही सत्य है, किन्तु मोहके कारण आत्मा या ब्रह्मको दो रूपसे प्रतीति होती है। आगम द्वैतका बाधक एवं अद्वैतका साधक है।

उक्त कथन भी तर्कसंगत नहीं है। यदि मोहके कारण द्वैतकी प्रतीति होती है, तो मोहका सद्भाव वास्तविक है या अवास्तविक। यदि मोह अवास्तविक है, तो वह द्वैतकी प्रतीतिका कारण कैसे हो सकता, और मोहके वास्तविक होनेपर द्वैतकी सिद्धि अनिवार्य है।

इस प्रकार ब्रह्मकी सिद्धिमें उभयतः दूषण आता है। हेतु और आगमसे ब्रह्मकी सिद्धि करनेपर द्वैतकी सिद्धि होती ही है। और वचन-मात्रसे अद्वैतकी सिद्धि माननेपर द्वैतकी सिद्धि भी वचनमात्रसे होनेमें कौनसी बाधा है।

अद्वैत द्वैतका अविनाभावी है, इस बातको दिखलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना।
संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥२७॥

द्वैतके विना अद्वैत नही हो सकता है, जैसे कि हेतुके विना अहेतु नही होता है। कही भी प्रतिषेध्यके विना संज्ञीका निषेध नही देखा गया है।

जो लोग केवल अद्वैतका सद्भाव मानते हैं उनको द्वैतका सद्भाव मानना भी आवश्यक है। क्योकि अद्वैत द्वैतका अविनाभावी है। अद्वैत शब्द भी द्वैत शब्द पूर्वक बना है। 'न द्वैत इति अद्वैतम्' जो द्वैत नही है, वह अद्वैत है। जब तक यह ज्ञात न हो कि द्वैत क्या है, तब तक अद्वैतका ज्ञान होना असभव है। अत अद्वैतको जाननेके पहले द्वैतका ज्ञान होना आवश्यक है। द्वैतके विना अद्वैत हो ही नही सकता है। जैसे अहेतुके विना हेतु नही होता है। साध्यका जो साधक होता है, वह हेतु कहलाता है। किसी साध्यमे एक पदार्थ हेतु होता है, और दूसरा अहेतु। वह्निके सिद्ध करनेमें धूम हेतु होता है, और जल अहेतु होता है। अथवा एक ही पदार्थ किसी पदार्थको सिद्ध करनेम हेतु होता है, और दूसरे पदार्थको सिद्ध करनेमे अहेतु होता है। जैसे वह्निको सिद्ध करनेमें धूम हेतु होता है, और जलको सिद्ध करनेमे धूम अहेतु होता है। कहनेका तात्पर्य केवल इतना है कि अहेतुका सद्भाव हेतुका अविनाभावी है। विना हेतु के अहेतु नही हो सकता है। अत अद्वैत द्वैतका उसी प्रकार अविनाभावी है, जिस प्रकार कि अहेतु हेतुका अविनाभावी है।

जो लोग द्वैतका निषेध करते हैं उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी संज्ञी (नामवाले) का निषेध निषेध्य वस्तुके अभावमे सभव नही है। गगनकुसुम या खरविषाणका जो निषेध किया जाता है, वह भी कुसुम और विषाणका सद्भाव होनेपर ही किया जाता है। यदि कुसुम और विषाणका सद्भाव न होता तो गगनकुसुम और खरविषाणका निषेध नही किया जा सकता था। इसलिए जो लोग द्वैतका निषेध करते हैं। उन्हे द्वैतका सद्भाव मानना ही पड़ेगा।

अद्वैतवादी कहते हैं कि परप्रसिद्ध द्वैतका प्रतिषेध करके अद्वैतकी सिद्धि करनेमे कोई दूषण नही है। स्व और परके विभागसे भी द्वैत

की सिद्धिका प्रसंग नहीं आ सकता है, क्योंकि स्व और परकी कल्पना अविद्याकृत है। अविद्या भी कोई वास्तविक पदार्थ नही है, किन्तु अवस्तुभूत है। उसमें किसी प्रमाणका व्यापार नही होता है। वह प्रमाणागोचर है। अविद्यावान् मनुष्य भी अविद्याका निरूपण नही कर सकता है। जैसे कि जन्मसे तैमिरिक मनुष्य चन्द्रद्वयकी भ्रान्तिको नही बतला सकता है। इस अनिर्वचनीय अविद्याके द्वारा स्व-पर आदिके भेदकी प्रतीति होती है। यथार्थमे तो अद्वैत तत्त्व ब्रह्मका ही सद्भाव पाया जाता है।

वेदान्तवादियोंके उक्त कथनमें कुछ भी सार नही है। सर्वथा अनिर्वचनीय तथा प्रमाण-गोचर अविद्याको मानकर उसके द्वारा द्वैतकी कल्पना करना उचित प्रतीत नहीं होता है। ऐसी बात नही है कि प्रमाण अविद्याको विषय न कर सकता हो। जिस प्रकार प्रमाण विद्याको विषय करता है उसी प्रकार अविद्याको भी विषय कर सकता है। विद्याकी तरह अविद्या भी वस्तु है, तथा प्रमाणका विषय है। अविद्या प्रमाणागोचर और अनिर्वचनीय नहीं हो सकती है। अतः अविद्याके द्वारा द्वैतकी कल्पना मानना ठीक नही है, उसके द्वारा तो द्वैतकी सिद्धि ही होती है।

इस प्रकार अद्वैतैकान्त पक्षकी सिद्धि किसी प्रमाणसे नही होती है। प्रत्युत युक्तिसे यही सिद्ध होता है कि अद्वैत द्वैतका अविनाभावी है। और बिना द्वैतके अद्वैतका सद्भाव किसी भी प्रकार नही हो सकता है।

जो लोग सब पदार्थोंको नितान्त पृथक् पृथक् मानते हैं, उनके पृथक्त्वैकान्तका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

पृथक्त्वैकान्तपक्षेऽपि पृथक्त्वादपृथक् तु तौ।
पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादनेकस्थो ह्यसौ गुणः ॥ २८ ॥

पृथक्त्वैकान्त पक्षमें द्रव्य, गुण आदि यदि पृथक्त्वगुणसे अपृथक् है तो स्वमतविरोध होता है। और यदि द्रव्य आदि पृथक्त्वगुणसे पृथक् हैं तो वह पृथक्त्व गुण ही नहीं हो सकता है, क्योंकि पृथक्त्व गुण अनेक पदार्थोंमें रहता है।

कुछ लोगोंका कहना है कि सब पदार्थ पृथक् पृथक् हैं। गुणीसे गुण पृथक् है, क्रियासे क्रियावान् पृथक् है, अवयवोंसे अवयवी पृथक् है, सामान्यसे सामान्यवान् पृथक् है, और विशेषसे विशेषवान् पृथक् है। ऐसा मत नैयायिक-वैशेषिकोंका है। बौद्ध मानते हैं कि सब परमाणु सजातीय

और विजातीय परमाणुओंसे पृथक् पृथक् हैं। इन लोगोंका पृथक्त्वै-कान्तवाद भी अद्वैतवादकी तरह ठीक नही है। यदि सब पदार्थ पृथक्त्व गुणके कारण पृथक् पृथक् हैं तो प्रश्न यह है कि पृथक् पदार्थोंसे पृथक्त्व गुण अपृथक् है या पृथक् है। यदि पृथक्त्व गुण पृथक् पदार्थोंसे अपृथक् है, तो पृथक्त्वैकान्तका त्याग कर देनेसे स्वमत विरोध स्पष्ट है। गुण और गुणीमे भेद माननेके कारण भी पृथक्त्व गुण पृथग्भूत पदार्थोंसे अपृथक् नही माना जा सकता है। और यदि पृथक्त्व गुण पृथग्भूत पदार्थोंसे पृथक् है, तो पृथक् गुणसे पृथक् होनेके कारण पृथक्भूत पदार्थ परस्परमे अपृथक् हो जावेंगे। तथा पृथक्त्व गुण भी पृथक्त्व नामसे नही कहा जा सकेगा। क्योंकि ऐसा माना गया है कि यह गुण अनेक पदार्थोंमे रहता है। इसलिए पृथक्त्व गुणके कारण सब पदार्थोंको पृथक् पृथक् मानना ठीक नही है।

यथार्थमें सब पदार्थ पृथक्-पृथक् नही हैं। गुण, गुणी आदिको एक दूसरेसे सर्वथा पृथक् माननेपर ज्ञान आत्माका गुण है, गन्ध पृथिवीका गुण है, इत्यादि प्रकारसे व्यपदेश नही हो सकता है। गुण, गुणी आदि न तो सर्वथा पृथक् हैं, और न सर्वथा अपृथक् हैं। किन्तु कथंचित् पृथक् हैं, और कथंचित् अपृथक्। पृथक् तो इसलिये हैं कि उनका स्वरूप पृथक्-पृथक् है। यह गुण है, यह गुणी है, इत्यादि व्यवहार भी पृथक्-पृथक् होता है। अपृथक् इसलिये हैं कि एक दूसरेको घट और पटकी तरह पृथक् नही किया जा सकता है। घट और पटको सर्वथा पृथक् होनेसे उनमे गुण, गुणी आदि व्यवहार नही होता है। यदि गुण, गुणी आदि सर्वथा पृथक् हैं, तो समवायके द्वारा भी उनमें एकत्वकी प्रतीति नहीं हो सकती है। इसलिए गुण, गुणी आदिमें समवाय सम्बन्ध न मानकर तादात्म्य मानना ही श्रेयस्कर है। पृथक्त्व गुण भी यदि सर्वथा एक है, तो वह अनेक पदार्थों में नही रह सकता है। जैसे कि एक परमा-का सम्बन्ध दो पदार्थोंके साथ नही हो सकता है। पृथग्भूत पदार्थोंसे अतिरिक्त कोई पृथक्त्व गुण भी नही है। जिस पदार्थकी जैसी प्रतीति हो उस पदार्थको उसी रूपमें मानना ठीक है। जो पदार्थ पृथक्-पृथक् हैं उनमें पृथक्त्वकी प्रतीति स्वतः होती है। जैस घट और पटकी पृथक् प्रतीति पृथक्त्व गुणके बिना स्वयं ही होती है। और जो पदार्थ अपृथक् हैं, उनको पृथक्त्व गुण भी पृथक् नहीं कर सकता है। इसलिए पृथक्त्व गुणके द्वारा सब पदार्थोंको पृथक्-पृथक् मानकर पृथक्त्वैकान्तकी कल्पना करना उचित नहीं है।

क्षणिकैकान्तका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

संतानः समुदायश्च साधर्म्यं च निरंकुशः ।
प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे ।।२९।।

एकत्वके अभावमें निर्बाध संतान, समुदाय, साधर्म्य और प्रेत्यभाव आदिका भी अभाव हो जायगा ।

बौद्ध मानते हैं कि सब पदार्थ प्रतिक्षण विनश्वशील हैं । कोई भी पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है । पदार्थका स्थितिकाल केवल एक क्षण है । वे पदार्थोंमें क्षणिकत्वकी सिद्धि अनुमान प्रमाणसे करते हैं । वह अनुमान इस प्रकार है—'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' । 'सब पदार्थ क्षणिक हैं, सत् होनेसे' । पदार्थोंको क्षणिक सिद्ध करनेमें उनकी युक्ति यह है कि नित्य पदार्थ न तो क्रमसे अर्थक्रिया कर सकता है और न युगपत् अर्थक्रिया कर सकता है । अर्थक्रियाके अभावमे सत्त्वका अभाव होना स्वाभाविक ही है । अतः सत्त्वका सद्भाव क्षणिक पदार्थमें ही हो सकता है, नित्यमें नही । पदार्थोंके क्षणिक होने पर भी भ्रान्तिवश वे स्थिर मालूम पड़ते हैं । जिस प्रकार दीपककी लौ भिन्न-भिन्न होने पर भी सादृश्यके कारण एक ही मालूम पड़ती है, उसी प्रकार यद्यपि पदार्थ प्रतिक्षण नष्ट होते रहते है, किन्तु आगे-आगे उसीके सदृश पदार्थोंकी संतान उत्पन्न होती रहती है । उस सदृश संतानके कारण ही एकत्व या स्थिरत्वकी प्रतीति होती है ।

बौद्ध एकत्वको न मानकर भी सन्तान, समुदाय, साधर्म्य और प्रेत्यभाव आदिको मानते है । उनके यहाँ सन्तान एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा सारे काम चल जाते हैं । आत्मा नामका कोई पदार्थ नही है, केवल ज्ञानकी सन्तानमे आत्माका व्यवहार होता है । ज्ञानको क्षणिक होनेपर भी ज्ञानकी सन्तान (धारा) चालू रहती है, उसी सन्तानके कारण स्मृति आदि होती है । एक प्राणी कर्मोंका बन्ध करता है, किन्तु उसका फल उस प्राणीकी सन्तानको मिलता है, मुक्ति भी सन्तानकी ही होती है । एक प्राणी मरकर दूसरे लोकमें नहीं जाता है, केवल उसकी सन्तान-दूसरे लोकमें जाती है । इसलिए सन्तानकी अपेक्षासे प्रेत्यभाव भी सिद्ध हो जाता है । सब परमाणु पृथक्-पृथक् हैं, एक परमाणुका दूसरे परमाणु-के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । फिर भी बौद्ध उसमें समुदायकी कल्पना करते हैं । एक पदार्थका दूसरे पदार्थके साथ साधर्म्य है, ऐसा भी वे मानते हैं ।

किन्तु जब उक्त बातों पर युक्ति पूर्वक विचार किया जाता है तो यही फलित होता है कि एकत्वके अभावमें उक्त बातोंमेंसे कोई भी बात सिद्ध नहीं हो सकती है। मूल (जड़) के अभावमें जैसे वृक्षकी स्थिति नहीं हो सकती है वैसे ही एकत्वके अभावमें संतान आदि कुछ भी नहीं बन सकते हैं। बौद्ध कार्य और कारण क्षणोंको ही सन्तान कहते हैं। किन्तु जब कारणका निरन्वय विनाश होता है, और कारण कार्यकाल तक नहीं जाता है, तो कार्यकारणकी संतान कैसे बन सकती है। अन्वय रहित कार्य और कारणकी संतान नहीं होती है, किन्तु जिनमें अन्वयरूप अतिशय पाया जाता है, और जो पूर्वापरकालभावी हैं, ऐसे कार्य और कारण-के सम्बन्धका नाम सन्तान है। जीवमें ज्ञान आदिकी सन्तान पारमार्थिक है, और इसके द्वारा स्मृति आदि व्यवहार होता है। एक जीव मरकर दूसरे लोकमें जाता है। अतः प्रेत्यभावके सद्भावमें जीवको एक मानना आवश्यक है। यदि जीव प्रतिक्षण बदलता रहता है, तो प्रेत्यभाव कदापि संभव नहीं है। यदि परमाणु भी सर्वथा क्षणिक और अन्य सजातीय-विजातीय परमाणुओंसे व्यावृत्त हैं, तो उनके समुदायकी प्रतीति कैसे हो सकती है। समुदायकी प्रतीतिको मिथ्या मानना ठीक नहीं है। सबको सर्वदा निर्बाधरूपसे समुदायको प्रतीति होनेसे उसको मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार एकत्वके अभावमें अनेक पदार्थोंमें साधर्म्य भी नहीं बन सकता है। एक पदार्थका दूसरे पदार्थके साथ-साधर्म्य होनेका कारण यह है कि उन पदार्थोंका सदृशरूपसे परिणमन होता है। जब सदृश परिणामरूप एकत्व ही नहीं है, तो साधर्म्य या सादृश्य कैसे सिद्ध हो सकता है। बौद्ध सन्तान, समुदाय, साधर्म्य और प्रेत्यभाव आदिको मानते हैं, अतः उनको एकत्व मानना भी आवश्यक है। एकत्वके अभाव-में उनमेंसे कोई भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

पृथक्त्वैकान्त पक्षमें अन्य दोषोंको बतलाते हुए आचार्य कहते हैं—

सदात्मना च भिन्नं चेज्ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाप्यसत्।
ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम् ॥३०॥

यदि ज्ञान ज्ञेयसे सत्त्वकी अपेक्षासे भी पृथक् है, तो दोनों असत् हो जांयगे। हे भगवन् ! आपसे द्वेष करने वालोंके यहां ज्ञानके अभावमें बहिरङ्ग और अन्तरंग ज्ञेय कैसे हो सकता है ?

सब पदार्थोंमें सर्वथा पृथक्त्वैकान्त मानना ठीक नहीं है। सत्ताकी

अपेक्षासे संसारके सब पदार्थ कथंचित् एक हैं। सब पदार्थोंमें सत्, सत् ऐसी अनुवृत्त प्रतीति होनेके कारण सबको एक कहनेमें कोई विरोध भी नही है। विजातीय पदार्थ भी सत्ताकी अपेक्षासे सजातीय ही हैं। यद्यपि ज्ञान और ज्ञेय पृथक्-पृथक् दो स्वतंत्र पदार्थ हैं, किन्तु सत्ताकी अपेक्षा से उनमें भी कोई भेद नहीं है। यदि ज्ञान और ज्ञेयमं सत्ताकी अपेक्षासे भी भेद माना जाय तो असत् होनेके कारण दोनोंका अभाव ही सिद्ध होगा। ज्ञानको ज्ञेयसे और ज्ञेयको ज्ञानसे सत्ताकी अपेक्षासे भी भिन्न माननेपर न ज्ञान सत् हो सकता है, और न ज्ञेय। अतः दोनोंको असत् होनेसे दोनोंका अभाव स्वतः सिद्ध हो जाता है। ज्ञान और ज्ञेय परस्पर सापेक्ष पदार्थ हैं। जो जानता है वह ज्ञान है, और जो जाना जाता है वह ज्ञेय है। ज्ञेयके अभावमें ज्ञान किसको जानेगा और ज्ञानके अभावमें ज्ञेयका ज्ञान कैसे होगा? ज्ञेय दो प्रकारका होता है—बहिरंग ज्ञेय और अन्तरंग ज्ञेय। घट, पट आदि बहिरंग ज्ञेय हैं। आत्मा और आत्माकी समस्त पर्यायें तथा गुण अन्तरंग ज्ञेय हैं। ज्ञानके अभावमें किसी भी ज्ञेयका सद्भाव नहीं हो सकता है। ज्ञानका ज्ञेयसे कथंचित् स्वभावभेद होनेपर भी सत्ताकी अपेक्षासे उनमें तादात्म्य है। विज्ञानाद्वैतवादियोंके यहाँ एक ही ज्ञानमें ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार ये दो आकार होते हैं। आकारोंकी अपेक्षासे ज्ञानमें भेद होनेपर भी ज्ञानकी अपेक्षासे उन दोनों आकारोमें तादात्म्य माना गया है। यदि सत्ताकी अपेक्षासे भी ज्ञानका ज्ञेयसे तादात्म्य न हो तो ज्ञान आकाशपुष्पके समान असत् होगा। और ज्ञानके अभावमें ज्ञेयका भी अस्तित्व नहीं सिद्ध हो सकेगा। क्योंकि ज्ञेय ज्ञानकी अपेक्षा रखता है। अतः ज्ञान और ज्ञेयमें सत्ताकी अपेक्षासे तादात्म्य मानना ही श्रेयस्कर है।

शब्दका वाच्य पदार्थ नहीं है, किन्तु सामान्य (अन्यापोह) है, इस मतका खण्डन करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

सामान्यार्था गिरोऽन्येषां विशेषो नाभिलप्यते।
सामान्याभावतस्तेषां मृषैव सकला गिरः ॥२१॥

कुछ लोगोंके मतमें शब्द सामान्यका कथन करते हैं। शब्दोंके द्वारा विशेषका कथन नहीं होता है। उन लोगोंके यहाँ सामान्यके मिथ्या होनेसे सामान्य प्रतिपादक समस्त वचन असत्य ही हैं।

बौद्धोंके अनुसार शब्दोंके द्वारा अर्थका कथन नहीं होता है, किन्तु

शब्द सामान्यका प्रतिपादन करते हैं। शब्द जिस सामान्यका प्रतिपादन करते हैं, वह सामान्य भी पारमार्थिक नही है, किन्तु कल्पित है। अन्य व्यावृत्तिका नाम सामान्य है। मनुष्योंमे कोई मनुष्यत्व सामान्य नही रहता है, किन्तु सब मनुष्य अमनुष्योंसे व्यावृत्त हैं, इसलिए उनमें एक मनुष्यत्व सामान्यकी कल्पना करली जाती है। यही बात गोत्व आदि प्रत्येक सामान्यके विषयमे है। शब्दका कोई अर्थ वाच्य तब होता है जब उसमे सकेत ग्रहण कर लिया जाता है। 'इस शब्दमे इस अर्थको प्रतिपादन करनेकी शक्ति है' इस प्रकार शब्द और अर्थमे वाच्य-वाचक सम्बन्धके ग्रहण करनेका नाम संकेत है। विशेष अनन्त हैं। उन अनन्त विशेषोंमे सकेत सभव नही है। इसलिए विशेष शब्दके वाच्य नही है। क्योंकि सकेत कालमे देखा गया विशेष क्षणिक होनेके कारण अर्थ प्रतिपत्तिके कालमे नही रहता है। प्रत्यक्षके द्वारा स्वलक्षणका जैसा स्पष्ट ज्ञान होता है, वैसा ज्ञान शब्दके द्वारा नही होता है, शब्दज्ञानमे स्वलक्षणकी सन्निधिकी अपेक्षा भी नही रहती है। प्रत्युत स्वलक्षणके अभावमे भी शब्दज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अत स्वलक्षण शब्दका वाच्य नही हो सकता है। केवल सामान्य ही शब्दका वाच्य होता है।

बौद्धोका उक्त कथन युक्तिसगत नही है। यदि स्वलक्षण शब्दका वाच्य नही है, और अवस्तुभूत सामान्य शब्दका वाच्य है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि शब्दका वाच्य वस्तु न होकर अवस्तु है। फिर शब्दका उच्चारण करने की और सकेत ग्रहण करनेकी भी कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती है। जैसे अश्व शब्दके द्वारा गौका कथन नही होता है, वैसे गो शब्दके द्वारा भी गौका कथन असभव है। यदि शब्द वस्तुका प्रतिपादन नही करते हैं, तो मौनालम्बन ही श्रेयस्कर है।

बौद्धोंका कहना है कि शब्दकी प्रवृत्तिका नियामक परमार्थभूत वस्तु नही है, किन्तु वासनाविशेष है। जैसे ईश्वर, प्रधान आदिके वास्तविक न होने पर भी अपनी-अपनी वासनाके अनुसार भिन्न-भिन्न मतावलम्बी भिन्न-भिन्न अर्थोंमे ईश्वर, प्रधान आदि शब्दोंका प्रयोग करते हैं।

यदि शब्दकी प्रवृत्तिका नियामक वासनाविशेष है, तो प्रत्यक्षकी प्रवृत्तिका भी नियामक वासनाविशेष क्यों न होगा। हम कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष वासनाविशेषके कारण ही अर्थका प्रकाशक होता है, न कि अर्थका सद्भाव होनेसे। यदि प्रत्यक्ष अर्थके सद्भावके कारण अर्थका प्रकाशक होता, तो एक चन्द्रमें दो चन्द्रकी भ्रान्ति क्यों होती। ऐसा

कहना भी ठीक नहीं है कि प्रत्यक्ष अर्थसंनिधानकी अपेक्षा रखने तथा विशद होनेके कारण परमार्थभूत वस्तुको विषय करता है। क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान नियमसे अर्थसन्निधिकी अपेक्षा नहीं रखता है। यदि ऐसा होता तो केशोण्डुकज्ञानकी तरह अर्थके अभावमें भी ज्ञान क्यों होता। इन्द्रियज्ञान नियमसे विशद भी नही होता है। निकटसे अर्थका जैसा विशद ज्ञान होता है, वैसा दूरसे नहीं होता है। इसलिए प्रत्यक्ष एकान्तरूपसे अर्थ संनिधानापेक्ष और विशद नहीं है, जिससे कि उसमें परमार्थभूत वस्तुको विषय करनेका नियम सिद्ध हो सके। जिस प्रकार शब्द अर्थको विषय नहीं करते हैं, और वासनाविशेषके कारण शब्दोंकी प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार अर्थको विषय न करने पर भी वासनाविशेषसे प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति हो जायगी।

बौद्धोंका एक मत यह भी है कि शब्द अर्थको न कहकर वक्ताके अभिप्रायमात्रको सूचित करते हैं। इस मतके अनुसार कोई भी वचन सत्य नही हो सकता है। जिस प्रकार ईश्वर, प्रधान आदिको सिद्ध करनेवाले वचन मिथ्या हैं, उसी प्रकार क्षणभंगके साधक वचन भी मिथ्या ही होंगे। क्योंकि दोनों प्रकारके वचन केवल वक्ताके अभिप्रायमात्रको सूचित करते हैं। हम कह सकते हैं कि क्षणभंगके साधक वचन विद्यमान अर्थके प्रतिपादक न होनेसे सत्य नहीं हैं। जैसे कि 'नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः', यह वाक्य सत्य नही है। इसलिए यदि वचन वक्ताके अभिप्रायमात्रको सूचित करते हैं तो यह निश्चित है कि सम्यक् और मिथ्या वचनोंमें कोई भेद नहीं किया जा सकता है।

बौद्धोंके यहाँ स्वलक्षणको दृश्य कहते हैं, और सामान्यको विकल्प्य कहते हैं। लोग दृश्य और विकल्प्यमें एकत्वाध्यवसाय करके (अर्थात् दोनोंको एक समझकर) स्वलक्षणका भी शब्दका विषय समझने लगते हैं, ऐसा बौद्धोंका मत है, जो समीचीन नहीं है। यथार्थमें न तो दृश्य और विकल्प्य पृथक्-पृथक् हैं, और न उनमें भ्रमवश लोग एकत्वाध्यवसायकी कल्पना ही करते हैं। स्वलक्षण और सामान्य दोनोंका तादात्म्य है। यदि दृश्य और विकल्प्यमें कथंचित् भी तादात्म्य न हो, तो स्वलक्षणके स्वरूपका निर्णय ही नहीं किया किया जा सकता है। क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे स्वलक्षणका अवधारण नहीं हो सकता है। शब्द भी स्वलक्षणको विषय नहीं करते हैं। फिर स्वलक्षणके स्वरूपके निर्णय

करनेका कोई उपाय ही नहीं है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष अर्थको विषय करता है, और सविकल्पक प्रत्यक्ष अनर्थ (सामान्य) को विषय करता है, इस बातका निर्णायक भी कोई नहीं है। क्योंकि निर्विकल्पक सविकल्पकको नहीं जानता है, और सविकल्पक निर्विकल्पकको नहीं जानता है। बौद्ध प्रत्यक्षको अनिश्चयात्मक मानते हैं। यद्यपि विकल्पज्ञान निश्चयात्मक है, किन्तु सामान्यको विषय करनेके कारण वह भ्रान्त है। इसलिए अर्थ-का निर्णयात्मक कोई ज्ञान न होने से यह जगत् अन्धे आदमीके समान हो जायगा। जिस प्रकार अन्धे आदमीको किसी वस्तुका चाक्षुष ज्ञान नही होता है, उसी प्रकार हम लोगोंको जगत्के किसी पदार्थका निश्च-यात्मक ज्ञान नही होगा। और तब मीमांसकके परोक्षज्ञानवादसे बौद्धके अनिश्चयात्मक ज्ञानमें कोई विशेषता नही रहेगी। जैसे अप्रत्यक्ष ज्ञानसे अर्थका प्रत्यक्ष नही हो सकता है, वैसे ही अनिश्चयात्मक ज्ञानसे भी अर्थका निश्चय नही हो सकता है। यदि अनिर्णीत ज्ञानके द्वारा अर्थकी व्यवस्था होने लगे तो संसारमें कोई भी तत्त्व अव्यवस्थित नही रहेगा। और सबके इष्ट तत्त्वोंकी सिद्धि सरलतासे हो जायगी।

इसलिए शब्दका वाच्य केवल सामान्य नही है, किन्तु सामान्यविशे-षात्मक पदार्थ शब्दका वाच्य है। न तो सामान्य अवास्तविक है, और न विशेषसे पृथक् है। सामान्य और विशेष दोनोंके तादात्म्यका नाम ही पदार्थ है। ऐसा पदार्थ शब्दका भी विषय होता है, और प्रत्यक्षादि ज्ञानोंका भी।

उभयैकान्त और अवाच्यतैकान्त में दूषण बतलाने के लिए आचार्य कहते हैं—

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥३२॥

स्याद्वादन्याय से द्वेष रखने वालों के यहाँ विरोध आने के कारण उभयैकात्म्य नहीं बन सकता है। और अवाच्यतैकान्त पक्ष में भी 'अवाच्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

पहले सर्वथा अभेदैकान्त और सर्वथा भेदैकान्त का निराकरण किया गया है। कुछ लोग उभयैकान्त (भेदैकान्त और अभेदैकान्त) की निरपेक्ष सत्ता स्वीकार करते है। किन्तु एकान्तवाद में उभयैकान्त किसी भी प्रकार संभव नहीं है। पूर्णरूप से विरोधी दो धर्म एक वस्तु में नहीं रह

सकते हैं। कथंचित् उभयैकान्त मानना तो ठीक है, परन्तु सर्वथा उभयैकान्त मानना किसी भी प्रकार ठीक नहीं है। सर्वथा विरोधी दो धर्मों में से एक की विधि होने पर दूसरे का निषेध स्वतः प्राप्त होता है। वन्ध्या और वन्ध्यापुत्र ये परस्पर विरोधी बातें हैं। इन में से वन्ध्या के सिद्ध होने पर वन्ध्यापुत्र का निषेध स्वतः हो जाता है और वन्ध्यापुत्र का निषेध होने पर वन्ध्या का सद्भाव स्वतः सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार तत्त्व को सर्वथा भेदरूप होने पर अभेद का निषेध और सर्वथा अभेदरूप होने पर भेद का निषेध स्वतः प्राप्त है। अतः दोनों का सद्भाव संभव न होने से उभयैकान्त की कल्पना आकाशपुष्प के समान निरर्थक ही है।

सर्वथा भेदैकान्त, अभेदैकान्त और उभयैकान्तके सिद्ध न होने पर जो लोग अवाच्यतैकान्त को मानते हैं, उनका मत भी ठीक नहीं है। तत्त्व को सर्वथा अवाच्य होने पर 'अवाच्य' शब्द के द्वारा उसका प्रतिपादन कैसे किया जा सकता है। जब तत्त्व को अवाच्य शब्द के द्वारा कहा जाता है तब अवाच्य शब्द का वाच्य होने से तत्त्व सर्वथा अवाच्य नहीं रहता है। इस प्रकार उभयैकान्त और अवाच्यतैकान्त पक्ष ठीक नहीं हैं।

परस्पर सापेक्ष पृथक्त्व और एकत्व अर्थक्रियाकारी होते हैं, इस बात को बतलाने के लिए आचार्य कहते हैं—

अनपेक्षे पृथक्त्वैक्ये ह्यवस्तु द्वयहेतुतः ।
तदेवैक्यं पृथक्त्वं च स्वभेदैः साधनं यथा ॥३३॥

परस्पर निरपेक्ष पृथक्त्व और एकत्व दोनों दो हेतुओं से अवस्तु हैं। वही वस्तु एक भी है और पृथक् भी है। जैसे कि साधन के एक होने पर भी अपने भेदों के द्वारा वह अनेक भी है।

पहले भेदैकान्त और अभेदैन्त का खण्डन किया गया है। भेदैकान्त और अभेदैकान्त के खण्डन में जो हेतु दिये गये हैं, उनको भी पहले बतलाया जा चुका है। परस्पर निरपेक्ष पृथक्त्व और एकत्व दोनों अवस्तु हैं। पृथक्त्व अवस्तु है, एकत्व निरपेक्ष होने से। एकत्व भी अवस्तु है, पृथक्त्व निरपेक्ष होने से। इस प्रकार दो हेतुओं से दोनों में अवस्तुत्व सिद्ध किया जाता है। वस्तु न सर्वथा भेदरूप है, और न सर्वथा अभेदरूप। क्योंकि वस्तु को सर्वथा भेदरूप और सर्वथा अभेदरूप मानने में प्रत्य-

आदि प्रमाणों से विरोध आता है। प्रत्यक्ष से जिस वस्तु की निर्बाधरूप से जैसी प्रतीति होती हो उसको वैसा ही मानना चाहिए। प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है कि पदार्थ एक होकर के भी अनेकरूप है और अनेक पदार्थ भी एकरूप हैं। इसलिए पदार्थ कथंचित् एकरूप है और कथंचित् अनेकरूप। अनुमान प्रमाण से भी परस्पर निरपेक्ष पृथक्त्व और एकत्व में अवस्तुत्व की सिद्धि होती है। यथा— सर्वथा एकत्व नहीं है, पृथक्त्व निरपेक्ष होने से, आकाशपुष्प के समान। इसी प्रकार सर्वथा पृथक्त्व नहीं है, एकत्व निरपेक्ष होने से, खरविषाण के समान। अतः पृथक्त्व और एकत्व को निरपेक्ष न मानकर सापेक्ष ही मानना चाहिए। एकत्व और पृथक्त्व को सापेक्ष मानने पर एक ही वस्तु उभयात्मक और अर्थक्रिया-कारी सिद्ध होती है। धूम आदि हेतु एक होकर भी अपने धर्मोंकी अपेक्षा-से अनेक भी होता है। हेतु में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व ये तीन परस्पर सापेक्ष धर्म पाये जाते हैं। इन धर्मों के कारण हेतु कथंचित् अनेक रूप भी है। चित्रज्ञान एक होने पर भी आकारों की अपेक्षा से अनेकरूप भी होता है। घट एक होकर भी परमाणुओं अथवा कपालों की अपेक्षा से अनेकरूप है। प्रधान एक होकर के भी सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के कारण अनेकरूप होता है। इस प्रकार अनेक पदार्थ एकानेकरूप देखे जाते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि कोई भी पदार्थ न सर्वथा एकरूप है, और न सर्वथा अनेकरूप। एकत्व और अने-कत्व ये परस्पर सापेक्ष धर्म हैं। और जिसवस्तु में परस्पर सापेक्ष दोनों धर्म पाये जाते हैं वही वस्तु अर्थक्रिया करती है।

एक ही वस्तुमें एकत्व और पृथक्त्वको सिद्ध करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादिभेदतः।
भेदाभेदविवक्षायामसाधारणहेतुवत् ॥३४॥

सत्ता सामान्यकी अपेक्षासे सब पदार्थ एक हैं, और द्रव्य आदिके भेद से अनेक हैं। जैसे असाधारण हेतु भेद की विवक्षा से अनेक और अभेद की विवक्षा से एक होता है।

सत्ता के दो भेद हैं—एक सामान्य सत्ता और दूसरी विशेष सत्ता। सामान्य सत्ता वह है जिसके कारण सब पदार्थों में सत्, सत् ऐसा प्रत्यय होता है। सत्ता सामान्य सब पदार्थों में समानरूप से रहता है। विशेष सत्ता सब पदार्थों की पृथक् पृथक् है। घट की सत्ता से पट की सत्ता

भिन्न है, और द्रव्य की सत्ता से गुण की सत्ता भिन्न है, यही विशेष सत्ता है। सामान्य सत्ता एक है, और विशेष सत्ता अनेक है। सामान्य सत्ता की दृष्टि से सब पदार्थ एक हैं। घट और पट में तथा द्रव्य और गुण में कोई भेद नहीं है, क्योंकि सब समान रूप मे सत् हैं। किन्तु जब विशेष सत्ता की दृष्टि से विचार किया जाता है, तो सब पदार्थ पृथक् पृथक् ही प्रतीत होते हैं। द्रव्य, गुण आदि के भेद से अनेक तत्त्वों का सद्भाव पाया जाता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से भिन्न तो है ही, किन्तु एक द्रव्य के जितने अवान्तर भेद हैं, वे भी सब भिन्न-भिन्न हैं। अत. सामान्य सत्ता की दृष्टि से मब पदार्थ एक हैं, और विशेष सत्ता की दृष्टि से सब पदार्थ पृथक्-पृथक् हैं। एक ही वस्तु अनेकरूप भी होती है, इस बात की सिद्धि के लिए हेतु का दृष्टान्त दिया गया। हेतु कारक को भी कहते हैं, और ज्ञापक को भी। धूम वह्नि का ज्ञापक (ज्ञान कराने वाला) हेतु (साधन) है, और मृत्पिण्ड घट का कारक (उत्पन्न करने वाला) हेतु (कारण) है। भेदकी विवक्षा होने पर धूम पक्षधर्मत्व सपक्षसत्व और विपक्षासत्वके भेद से तीन रूप हो जाता है। और अभेदकी विवक्षासे धूम एक ही है। भेद-की विवक्षा होने पर मृत्पिण्ड परमाणु, द्व्यणुक, त्र्यणुक आदिकी अपेक्षासे अनेक रूप हो जाता है। और अभेदकी विवक्षासे मृत्पिण्डके एक होनेमे कोई सन्देह नही है।

बौद्धोंके अनुसार सब पदार्थ अत्यन्त पृथक् हैं, उनमें किसी भी दृष्टि-से एकत्व सभव नही है। उनका कहना है कि यद्यपि पदार्थोंमे समान परिणमन पाया जाता है, किन्तु उनमें स्वभावसाङ्कर्य नही हो सकता है। एक पदार्थका जो स्वभाव है, वह त्रिकालमे भी दूसरे पदार्थका नही हो सकता है। सब मनुष्योमे जो एकसी प्रतीत होती है, उसका कारण अतत्कार्यकारणसे व्यावृत्ति है। अर्थात् सब मनुष्य अमनुष्योके कार्य नही करते हैं, और अमनुष्योके कारणोंसे उत्पन्न नही हुए हैं, इसलिए वे सब समान प्रतीत होते हैं। यथार्थमें एक मनुष्यका स्वभाव दूसरे मनुष्यके स्वभावसे सर्वथा भिन्न है।

उक्तमत समीचीन नहीं है। जिस प्रकार एक मनुष्यमें कोई भेद नही है, क्योंकि उसका एक स्वभाव पाया जाता है, उसी प्रकार सब मनुष्योंमें भी एक स्वभाव (मनुष्यत्व) के पाये जानेके कारण सब मनुष्य भी कथंचित् एक हैं। सब पदार्थोंमें भी एक स्वभाव (सत्ता सामान्य) पाया जाता है, इसलिए सब पदार्थ भी कथंचित् एक हैं। सत्ताकी अपेक्षासे एक पदार्थसे दूसरे पदार्थमें कोई भेद नहीं है। यदि भेद हो तो इसका

अर्थ यह होगा कि एक पदार्थ सत् है, और दूसरा असत् है। सब पदार्थों-के एक होनेपर भी स्वभाव सङ्कर्य नही होगा, क्योंकि उनमें एकत्व सर्वथा नही है, किन्तु कथंचित् है। इसलिए सब पदार्थोंमें न तो सर्वथा अभेद है और न सर्वथा भेद है, किन्तु कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है।

अनेकान्त शासनमें सब व्यवस्था विवक्षा और अविवक्षासे की जाती है, किन्तु विवक्षा और अविवक्षाका कोई वास्तविक विषय नही है, ऐसा कहने वालेके प्रति आचार्य कहते हैं—

विवक्षा चाविवक्षा च विशेष्येऽनन्तधर्मिणि ।
सतो विशेषणस्यात्र नासतस्तैस्तदर्थिभिः ॥३५॥

विवक्षा और अविवक्षा करने वाले व्यक्ति अनन्त धर्मवाली वस्तु मे विद्यमान विशेषण की ही विवक्षा और अविवक्षा करते हैं, अविद्यमान की नही।

यह पहले बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु मे अनन्त धर्म पाये जाते हैं। उन अनन्त धर्मों मे से जब किसी एक धर्म की विवक्षा होती है उस समय अन्य समस्त धर्मों की अविवक्षा रहती है। विवक्षित धर्म प्रधान और अविवक्षित धर्म गौण हो जाते हैं। विवक्षा और अवि-वक्षा विद्यमान धर्मों की ही होती है, अविद्यमान धर्मों की नही। क्योंकि अविद्यमान धर्मो की विवक्षा और अविवक्षा से कोई लाभ नही है। खर-विषाण की विवक्षा और गगनकुसुम की अविवक्षा से किसी अर्थ की सिद्धि नही होती है। ऐसा संभव है कि किसी की विवक्षा का विषय असत् हो, जैसे कि मनोराज्य असत् है। किन्तु एक विवक्षा के विषय को असत् होने से सब विषयोको असत् नही माना जा सकता। अन्यथा केशोण्डुक विषयक एक प्रत्यक्ष के मिथ्या होने पर सब प्रत्यक्ष मिथ्या हो जांयगे। यहाँ शब्दाद्वैतवादी का कहना है कि सब धर्मों के वाच्य होने से अविवक्षा का कुछ भी विषय नहीं है। उक्त कथन ठीक नही है। घट शब्द के उच्चारण करने के समय घट शब्द की ही विवक्षा होती है, और अन्य शब्दों की अविवक्षा रहती है। इसलिए विवक्षा और अविवक्षा विद्यमान धर्मों की ही होती है, अविद्यमान की नही। अविद्यमान धर्मों की विवक्षा और अविवक्षा केवल उपचार से ही की जा सकती है। जैसे कि उपचार से बालक को अग्नि कह दिया जाता है। बालक को अग्नि

कह देने से वह अग्नि का कार्य जलाना आदि नहीं कर सकता है। इसी प्रकार अविद्यमान धर्मों की विवक्षा और अविवक्षा से कोई अर्थक्रिया नहीं हो सकती है।

भेद और अभेद दोनों परमार्थ सत् हैं, इस बात को बतलाने के लिए आचार्य कहते हैं—

प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदौ न संवृती।
तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया ॥३६॥

हे भगवन्। आपके मत में भेद और अभेद प्रमाण के विषय होने से वास्तविक हैं, काल्पनिक नहीं। गौण और प्रधान की विवक्षा से एक ही वस्तु में उन दोनों के होने में कोई विरोध नहीं है।

कुछ लोग वस्तु में अभेद को मिथ्या मानते हैं, दूसरे लोग भेद को मिथ्या मानते हैं, अन्य लोग भेद और अभेद दोनों को ही मिथ्या मानते हैं। इन सब का निराकरण केवल एक ही हेतु से हो जाता है, जो इस प्रकार है—वस्तु मे अभेद सत् है, प्रमाण का विषय होने से, भेद भी सत् है, प्रमाण का विषय होने से, भेद और अभेद दोनो सत् हैं, प्रमाण के विषय होने से। सब के स्वेष्ट तत्त्वों की सिद्धि प्रमाण के द्वारा ही होती है। प्रमाण से जिस अर्थ की जैसी प्रतीति होती है, वह अर्थ वैसा ही माना जाता है। यदि प्रमाण के द्वारा की गयी तत्त्व व्यवस्था ठीक न हो, तो फिर इष्ट तत्त्व की सिद्धि का कोई उपाय ही शेष नहीं रहता है। अविसंवादी ज्ञान का नाम प्रमाण है। जो वस्तु जैसी हो उसको उसीरूप में जानना अविसंवाद है। प्रमाण न तो केवल भेद को विषय करता है, और न केवल अभेद को। वह परस्परनिरपेक्ष दोनों को भी विषय नहीं करता है। एकान्तवादियों के द्वारा माने गये सर्वथा भेदरूप अथवा सर्वथा अभेदरूप तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती है। जिसका जैसा आकार है, उसकी उपलब्धि उसीरूप से होती है। स्थूल आकार की स्थूलरूप से और सूक्ष्म आकार की सूक्ष्मरूप से ही उपलब्धि होती है। ऐसा नहीं हो सकता कि स्थूल पदार्थकी सूक्ष्मरूपसे उपलब्धि होने लगे और सूक्ष्म-पदार्थकी स्थूलरूपसे उपलब्धि होने लगे। प्रत्यक्षके द्वारा परमाणुओंका कभी प्रतिभास नहीं होता है। अतः तत्त्व या पदार्थको परमाणुरूप मानना ठीक नहीं है। ऐसा मानना भी ठीक नहीं है कि संवृति के कारण सूक्ष्म परमाणुओंका स्थूलरूपसे प्रतिभास होता है। यथार्थमें अनेक परमा-

णुओंका एक स्कन्ध बन जाता है। वह स्कन्ध स्थिर और स्थूल होता है, और उसका प्रतिभास भी उसीरूपसे होता है। बौद्ध ज्ञानको पदार्थाकार मानते हैं। प्रत्यक्षमें जो आकार प्रतिभासित होता है, वह परमाणुओंका नहीं, किन्तु स्थूल पदार्थका ही होता है। फिर भी परमाणुओंका प्रत्यक्ष माना जाय तो कोई भी वस्तु अप्रत्यक्ष न रहेगी। एक वस्तुमें अनेक स्वभाव होते हैं। उनमेंसे एकके प्रधान होने पर शेष स्वभाव गौण हो जाते हैं। घटकी विवक्षा होने पर परमाणु और रूपादिक गौण हो जाते हैं। और रूपादिककी विवक्षा होने पर घट गौण हो जाता है। अतः एक ही वस्तुमें विवक्षा और अविवक्षाके द्वारा भेद और अभेदकी सत्ता माननेमें कोई विरोध नहीं है।

इस प्रकार एकत्व और पृथक्त्वको लेकर दो भङ्गोंको विस्तार पूर्वक बतला दिया है। शेष पाँच भङ्गोंकी प्रक्रियाको अस्तित्व-नास्तित्वकी तरह समझ लेना चाहिये।

तृतीय परिच्छेद

नित्यत्वैकान्तका खण्डन करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते ।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥३७॥

नित्यत्वैकान्त पक्षमें भी विक्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती है। जब पहले ही कारकका अभाव है तब प्रमाण और प्रमाणका फल ये दोनों कहाँ बन सकते हैं।

सांख्य मतके अनुसार सब पदार्थ कूटस्थ नित्य हैं। जो तीनों कालोंमें एकरूपसे रहता है, उसे कूटस्थ नित्य कहते हैं। सांख्यमतमें भी किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता है, केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है। घटादि पदार्थ अपने कारणोंमें छिपे रहते हैं, यही उनका तिरोभाव है, और अनुकूल कारणोंके मिलने पर उनका प्रकट हो जाना आविर्भाव कहलाता है। घटकी न तो उत्पत्ति होती है, और न नाश होता है। किन्तु आविर्भाव और तिरोभाव होता है। अन्धेरेमे तिरोभाव हो जानेके कारण घट नहीं दिखता है, और प्रकाशमें आविर्भाव हो जानेके कारण दिखने लगता है। घट तो ज्योंका त्यों रहा। यही बात घटादिकी उत्पत्ति और नाशके विषयमें जानना चाहिये।

सांख्यका उक्त मत किसी भी प्रकार समीचीन नहीं है। तत्त्वको सर्वथा नित्य माननेपर उससे कोई भी क्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती है। उससे न तो परिणमनरूप क्रिया उत्पन्न हो सकती है, और न परिस्पन्द-रूप क्रिया। सर्वथा नित्य पदार्थ न तो कार्यकी उत्पत्तिके पहिले कारक है, और न कार्योत्पत्तिके समय भी कारक है। ऐसी स्थितिमें उसके द्वारा कार्यकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है। जब पदार्थ अकारक है और विक्रिया-रहित है, तो प्रमाण और प्रमाणका फल भी नहीं बन सकता है। जो अकारक है वह प्रमाता नहीं हो सकता है, और प्रमाताके अभावमें प्रमिति-रूप फल भी संभव नहीं है। जो पदार्थ न किसीकी उत्पत्ति करता है, और न परिच्छित्ति ही करता है, उसकी सत्ता असंभव है।

सांख्यका कहना है कि पुरुषकी अर्थक्रिया चैतन्यरूप है, कार्यकी उत्पत्ति या ज्ञप्ति उसकी अर्थक्रिया नही है। उत्पत्ति या ज्ञप्ति क्रिया तो प्रधानका कार्य है। चैतन्य पुरुषसे भिन्न नही है, किन्तु वह तो उसका स्वरूप है। कहा भी है—'चैतन्य पुरुषस्य स्वरूपम्', पुरुषका स्वरूप चैतन्य मात्र है। वह चैतन्य नित्य पुरुषका स्वभाव होनेसे नित्य है। 'पुरुषस्य चैतन्यमस्ति', इस प्रकार अस्तिरूप क्रिया भी पुरुषमे पायी जाती है। वस्तुका लक्षण अर्थक्रिया करना नही है, केवल अस्तित्व ही उसका लक्षण है। यदि पुरुषका लक्षण अर्थक्रिया करना हो तो उदासीनरूपसे बैठे हुए एक पुरुषमे वस्तुत्वका अभाव मानना पड़ेगा। और एक अर्थक्रियामे दूसरी अर्थक्रिया न होनेके कारण अर्थक्रिया भी अवस्तु हो जायगी। अत पुरुषमे चैतन्यरूप अर्थक्रियाका सद्भाव होनेसे वह वस्तु ही है।

सांख्यका उक्त मत ठीक नही है। यदि चैतन्य सर्वथा नित्य है, तो वह अर्थक्रियारूप कैसे हो सकता है। प्रत्यक्षादि किसी प्रमाणसे नित्य अर्थक्रियाका कभी ज्ञान नही होता है। नित्य पुरुष के नित्य चैतन्यको अर्थक्रिया कहना केवल वचनमात्र है। पूर्व आकारका त्याग और उत्तर आकारकी प्राप्तिका नाम अर्थक्रिया है। यदि कूटस्थ नित्य पदार्थमे पूर्व आकारके त्याग और उत्तर आकारकी प्राप्तिरूप अर्थक्रिया पायी जाती है, तो वह सर्वथा नित्य नही रह सकता है। नित्य पदार्थमे न तो कारकका ही व्यापार होता है, और न ज्ञापकका ही। तब उसमे अर्थक्रिया कैसे सभव है। पुरुषकी चैतन्यरूप अर्थक्रिया न तो उत्पत्तिरूप है, और न ज्ञप्तिरूप, जिससे कि उसमे कारक अथवा ज्ञापक का व्यापार सभव होता। कारक और ज्ञापकके व्यापारके अभावमे अर्थक्रिया भी सभव नही है। चैतन्यको अर्थक्रिया न मानकर पुरुषका स्वभाव माननेसे भी पुरुषमे नित्यत्व सिद्ध नही होता है, किन्तु परिणामित्व ही प्राप्त होता है, क्योकि परिणाम, विवर्त, धर्म, अवस्था और विकार ये सब स्वभावके पर्यायवाची हैं। यदि किसी पदार्थका स्वभाव किसी प्रमाणसे नही जाता है, तो उसका सद्भाव ही सिद्ध नही हो सकता है। और यदि किसी प्रमाणसे वह जाना जाता है, तो अज्ञातरूप पूर्व आकारका त्याग और ज्ञातरूप उत्तर आकारकी उत्पत्ति होनेसे उसमे परिणमन स्वतः सिद्ध है। अत. चैतन्यरूप स्वभावमें भी परिणमन मानना ही होगा। सांख्यका यह कहना भी ठीक नहीं है कि पदार्थकी उत्पत्ति और नाश नही होता है, केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है। क्योंकि एक

आकारके तिरोभाव और दूसरे आकारके आविर्भावका अर्थ नाश और उत्पत्ति ही है। नाश और उत्पत्तिको तिरोभाव और आविर्भाव नामसे कहनेमें कोई आपत्ति नही है। अर्थ तो वही रहा, केवल नाममें ही भेद हुआ। उत्पत्ति और नाशकी सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे भी होती है। प्रत्यक्षसे यह अनुभवमें आता है कि पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होते है।

सांख्यमतमे प्रकृति और पुरुष ये दो मुख्य तत्त्व माने गये है। ये दानो ही कूटस्थ नित्य हैं। प्रकृतिसे महत् आदि २३ तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है, जिनको व्यक्त कहते हैं। और प्रकृतिको अव्यक्त कहते हैं। पुरुष-को सर्वथा नित्य मानना प्रमाण विरुद्ध है। क्योकि पुरुषको सर्वथा नित्य होनेसे उसमे किसी भी प्रकारकी विक्रिया नही हो सकेगी। और विक्रिया-के अभावमे संसार, बन्ध, मोक्ष आदि सबका अभाव हो जायगा। पुरुष-की तरह प्रधान भी सर्वथा नित्य नही है। प्रधानको सर्वथा नित्य मानने-से उसके द्वारा महत् आदिकी उत्पत्ति नही हो सकेगी। तथा अव्यक्त-को नित्य माननेसे अव्यक्तसे अभिन्न व्यक्त भी नित्य होगा। यदि नित्य-से अभिन्न वस्तुको अनित्य माना जाय तो पुरुषसे अभिन्न चैतन्यको भी अनित्य मानना पड़ेगा। और यदि व्यक्तको भी सर्वथा नित्य माना जाय तो उसमें प्रमाण, कारक आदिका व्यापार न हो सकनेसे उसका ज्ञान भी नहीं हो सकेगा। इस प्रकार सांख्यका सर्वथा नित्यत्वैकान्त युक्ति तथा प्रमाणविरुद्ध है।

व्यक्त और प्रमाण आदिमें व्यंग्य-व्यञ्जकभाव मानना भी ठीक नही हैं। इसी बातको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

प्रमाणकारकव्यक्त व्यक्तं चेदिन्द्रियार्थवत् ।
ते च नित्ये विकार्यं किं साधोःस्ते शासनाद्बहिः ॥२८॥

यदि महदादि व्यक्त पदार्थ प्रमाण और कारकोंके द्वारा अभिव्यक्त होते हैं, जैसे कि इन्द्रियोंके द्वारा अर्थ अभिव्यक्त होता है, तो प्रमाण और कारक दोनोंको नित्य होनेसे अनेकान्त शासनसे बाहर कोई भी वस्तु विकार्य कैसे हो सकती है।

प्रमाणके द्वारा जो अभिव्यक्ति होती है, उसको प्रमिति कहते हैं, और कारकोंके द्वारा जो अभिव्यक्ति होती है, उसको उत्पत्ति कहते हैं। प्रमाण नित्य नहीं है। अन्यथा उसके द्वारा महत्, अहंकारादिमें की

गयी प्रमितिरूप अभिव्यक्ति नित्य हो जायगी। कारक भी नित्य नही है। अन्यथा उसके द्वारा महत् आदिमे की गयी उत्पत्तिरूप अभिव्यक्ति नित्य हो जायगी। ऐसी स्थितिमे व्यक्तको प्रमाण और कारकोसे अभिव्यक्त नही कह सकते, क्योकि जो पहले अनभिव्यक्त हो उसीकी व्यजकके व्यापारसे अभिव्यक्ति होती है। प्रमाण और कारकोसे अभिव्यक्त होने वाला व्यक्त (महदादि) भी नित्य नही हो सकता है, क्योकि अनभिव्यक्त आकारको छोड़कर अभिव्यक्त आकारको ग्रहण करनेसे उसमे अनित्यत्वकी प्राप्ति स्वाभाविक है। यदि व्यक्त प्रमाण और कारकोका व्यापार होनेपर भी अपने अनभिव्यक्त आकारको नही छोडता है, तो उसको अभिव्यक्त ही नही कह सकते। चक्षु इन्द्रियके द्वारा किसी अर्थका ज्ञान होनेपर वह अर्थ अभिव्यक्त कहा जाता है। उस अर्थमे भी कथचित् परिवर्तन मानना ही पडता है, अन्यथा उस अर्थका ज्ञान ही नही हो सकता है। यदि प्रमाण और कारक सर्वथा नित्य हैं, तथा व्यग्य महदादि भी सर्वथा नित्य हैं, तो न प्रमाण और कारक उसके अभिव्यजक हो सकते हैं, और न महदादि व्यग्य ही हो सकते हैं। दीपक रात्रिमे घटका व्यजक होता है, और घट व्यग्य होता है। घट अनभिव्यक्त स्वभावको छोडकर अभिव्यक्त स्वभावको धारण करता है, दीपक अव्यञ्जक स्वभावको छोड़कर व्यञ्जक स्वभावको ग्रहण करता है। व्यजक और व्यग्य दोनोको कथचित् अनित्य माननेसे ही इष्ट तत्त्वकी सिद्धि होती है, अन्यथा नही। साख्यके यहाँ प्रमाण, कारक, महत् आदि सब नित्य हैं। तब उनमे व्यग्य-व्यजकभाव कैसे हो सकता है। कथचित् अपूर्व पर्यायकी उत्पत्तिके अभावमे व्यग्य अथवा कार्य विकार्य नही कहा जा सकता है।

इस प्रकार साख्यमतमे सब पदार्थोके सर्वथा नित्य होनेसे उनमे व्यग्य-व्यजकभाव किसी प्रकार सभव नही है। ऐसा मानना ठीक नही है कि प्रधान कारण है, और महदादि उसके कार्य है। क्योकि कार्यके विषयमे दो विकल्प होते हैं—कार्य सत् है, अथवा असत्।

दोनो पक्षोमें दूषण दिखलाते हुए आचार्य कहते हैं—

यदि सत्सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति।
परिणामप्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्तबाधिनी ॥३९॥

यदि कार्य सर्वथा सत् है, तो पुरुषके समान उसकी उत्पत्ति नही हो

सकती है। और उत्पत्ति न मानकर कार्यमें परिणाम की कल्पना करना नित्यत्वैकान्तकी बाधक है।

जो सर्वथा सत् है, वह कार्य नही हो सकता है, जैसे कि चैतन्य। चैतन्यको सांख्य कार्य नहीं मानते हैं, अन्यथा चैतन्यस्वरूप पुरुषको भी कार्य मानना पडेगा। जो सर्वथा सत् है, कथंचित् भी असत् नही है, उसमें कार्यत्वकी सिद्धि सभव नहीं है। और जो सर्वथा असत् है, वह भी कार्य नही हो सकता है। गगनकुसुम किसीका कार्य नही है। साख्य कार्यको असत् न मानकर सत् ही मानते हैं। उनका कहना है—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥

कार्यको सत् सिद्ध करनेके लिए साख्यने पाँच हेतु दिये है—

१ 'असदकरणत्' असत्की कभी उत्पत्ति नही होती है। यदि असत्की भी उत्पत्ति होने लगे तो गगनकुसुम, वन्ध्यापुत्र आदि की भी उत्पत्ति होना चाहिए। २ 'उपादानग्रहणात्' प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिके लिए नियत उपादानका ग्रहण किया जाता है। तेलके लिए तिलोंकी और दधिके लिए दूधकी आवश्यकता होती है। इससे प्रतीत होता है कि तिलोमे तेल और दूधमे दधि पहिलेसे ही विद्यमान रहता है। यदि एसा न होता तो बालूसे तेल और जलसे दधिकी उत्पत्ति होना चाहिए। ३ 'सर्वसभवाभावात्' सबसे सबका सभव नही होता है। यदि कार्य असत् होता तो किसी भी कारणसे किसी भी कार्यकी उत्पत्ति हो जाना चाहिए। ४. 'शक्तस्य शक्यकरणात्' समर्थ कारणसे समर्थ कार्यकी उत्पत्ति होती है। यदि कार्य असत् होता तो असमर्थ कारणसे भी समर्थ कार्यकी उत्पत्ति होना चाहिए। ५. कारणभावाच्च' कारणका सद्भाव पाया जाता है, इसलिए भी कार्यको सत् मानना आवश्यक है। क्योकि कार्य-कारणभाव विद्यमान पदार्थोंमे ही होता है, अविद्यमान पदार्थोंमे नही। तथा एक विद्यमान और दूसरे अविद्यमानमे भो कार्यकारणाव नही होता है।

अब प्रश्न यह है कि यदि कार्य असत् नही है, तो कैसा है। साख्यका यह कहना भी ठीक नही है कि कार्य विवर्त या परिणामरूप है। क्योंकि पूर्व आकारके त्याग और उत्तर आकारकी उत्पत्तिका नाम ही विवर्त या परिणाम है। और ऐसा मानने पर एकान्तवादका त्याग करना ही पड़ता है। सांख्यका कहना है कि महदादिमें नित्यत्वका प्रतिषेध होनेसे उनका

प्रधानमें तिरोभाव हो जाता है। तथा तिरोभाव हो जाने पर भी उनके विनाशका प्रतिषेध होनेसे उनका अस्तित्व बना रहता है। सांख्यका उक्त कथन [illegible] ही कथन है। और वह 'अन्धसर्पबिलप्रवेशन्याय'का ही अनुसरण कर रहा है।

नित्यत्वैकान्तमे पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदि कुछ भी सभव नही है। इस बातको बतलानेके लिए आचार्य कहते है—

पुण्यपापक्रिया न स्यात् प्रेत्यभावः फलं कुतः।
बन्धमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः ॥४०॥

हे भगवन्! जिनके आप नायक नही हैं, उन नित्यत्वैकान्तवादियोके मतमे पुण्य-पापकी क्रिया, परलोक गमन, सुखादिफल, बन्ध और मोक्ष ये सब नही बन सकते हैं।

नित्यत्वैकान्तवादियोंके यहाँ पुण्य और पापकी उत्पत्ति नही हो सकती है। इस जन्मसे दूसरे जन्ममे गमन भी नही हो सकता है। सुख, दुख आदि फलका अनुभव भी नही हो सकता है। इसी प्रकार बन्ध और मोक्ष भी सभव नही हैं। तात्पर्य यह है कि नित्यत्वकान्तमे विक्रियाके अभावम कुछ भी सभव नही है। जब पदार्थ सर्वदा जैसाका तैसा रहेगा, उसम कुछ भी परिवर्तन नही होगा, तो पुण्य-पाप आदिकी उत्पत्ति कैसे सभव हो सकती है। इसलिए नित्यत्वैकान्त पक्ष पुण्य, पाप, प्रेत्य-भाव, बन्ध, मोक्ष आदिसे रहित होनेके कारण बुद्धिमानोंके द्वारा सर्वथा त्याज्य है। ऐसी बात नही है कि नित्यत्वैकान्तम ही पुण्य, पाप आदि नही बनते है, किन्तु किसी भी एकान्तमे पुण्य, पाप आदि सभव नही हैं। इसी बातको 'न कुशलाकुशल कर्म' इस कारिकामे विस्तारपूर्वक बतलाया गया है।

क्षणिकैकान्तमे दोष बतलाते हुए आचार्य कहते हैं—

क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारंभः कुतः फलम् ॥४१॥

क्षणिकैकान्त पक्षमे भी प्रेत्यभाव आदि सभव नही हैं। प्रत्यभिज्ञान आदिका अभाव होनेसे कार्यका आरम्भ भी सभव नही है। और कार्यके अभावमे उसका फल कैसे सभव हो सकता है।

क्षणिकैकान्त पक्षमे नित्य आत्माके अभावमे प्रत्यभिज्ञान, स्मृति,

इच्छा आदि संभव नहीं हैं। प्रत्यभिज्ञान आदिके अभावमें पुण्य-पाप आदि कार्य भी नही हो सकता है। ऐसा मानना भी ठीक नही है कि सतान कार्य करती है। क्योंकि अवस्तु होनेसे सन्तान कार्य नही कर सकती है। पुण्य, पाप आदि कार्यके अभावमे प्रेत्यभाव, बन्ध, मोक्ष आदि भी नही हो सकते हैं। इसलिए क्षणिकैकान्त नित्यैकान्त, शून्यैकान्त आदिकी तरह प्रेत्यभाव आदिसे रहित होनेके कारण श्रेयस्कर नही है।

बौद्धोंका कहना है कि चित्तक्षणोंके क्षणिक होने पर भी वासनाके कारण प्रत्यभिज्ञान आदि हो जाते हैं। अतः पुण्य-पाप आदि कार्यारंभ, और प्रेत्यभाव आदिके होनेमे कोई विरोध नही है। उक्त कथन ठीक नही है। क्योंकि भिन्न-भिन्न कालवर्ती क्षणोंमें वासना नही बन सकती है। पहला चित्तक्षण दूसरे चित्तक्षणका कारण भी नही हो सकता है। क्योंकि निरन्वय क्षणिकवादमें कार्यकारणभाव भी सभव नही है। जो सर्वथा विनष्ट हो गया, वह किसीका कारण कैसे हो सकता है। चाहे वह एक क्षण पहिले नष्ट हुआ हो या एक वर्ष पहिले नष्ट हुआ हो। उन दोनोमे कोई अन्तर नही है। अत· जैसे एक वर्ष पहले नष्ट क्षण कारण नही हो सकता, वैसे ही एक क्षण पहले नष्ट पूर्वक्षण उत्तरक्षणका कारण नही हो सकता। निरन्वयक्षणिकवादमे उत्तरक्षण पूर्वक्षणका कार्य भी नही हो सकता है। उत्तरक्षणकी उत्पत्ति पूर्वक्षणके अभावमे होनेसे, और पूर्वक्षणके सद्भावमे न होनेसे उत्तरक्षणको पूर्वक्षणका कार्य कैसे कह सकते हैं। सर्वदा कारणका अभाव होने पर भी यदि कार्य किसी नियत समयमें होता है, तो नित्यैकान्तवादी साख्य भी कह सकते हैं कि कारणके सर्वदा विद्यमान रहने पर भी कार्य किसी नियत समयमें होता है। क्षणिकैकान्तमें पूर्वक्षणके नष्ट हो जाने पर पूर्वक्षणके अभावमें उत्तरक्षणकी उत्पत्ति होती है। यहाँ प्रश्न यह है कि यदि पूर्वक्षणके अभावमें ही उत्तरक्षणकी उत्पत्ति होना है, तो पूर्वक्षणका अभाव तो एक क्षणको छोड़कर सर्वदा रहता है, उस समय उत्तरक्षणकी उत्पत्ति क्यों नही हो जाती। यदि कार्यकारणमें अन्वय-व्यतिरेकके न होने पर भी कार्यकी उत्पत्ति होती है, तो वह निर्हेतुक होनेसे आकस्मिक ही मानी जायगी। क्षणिक पक्षमें कारणका कार्यके प्रति कुछ भी उपयोग नहीं होता है, फिर भी किसी कार्यको किसी कारणका कार्य माना जाय तो नित्यपक्षमें भी कारणके सदा विद्यमान रहनेपर भी किसी कार्यको नित्यका कार्य कहनेमें कौनसी आपत्ति है। नित्यमें अनेक कार्य करनेके कारण

अनेक स्वभावोंका मानना अनुचित नहीं है। क्षणिक पदार्थमें भी अनेक स्वभाव पाये जाते हैं। अन्यथा वह अनेक कार्योंको करनेमें समर्थ कैसे होता। एक ही दीपक वर्तिकादाह, तैलशोषण, कज्जलमोचन, तमोनिरसन आदि अनेक कार्य करता है। इन अनेक कार्योंका करना अनेक स्वभावोंसे ही हो सकता है। घटमे जो रूपज्ञान, रसज्ञान आदि नानाप्रकारका ज्ञान देखा जाता है, वह अनेक स्वभावोके कारण ही होता है। इस प्रकार अनेक स्वभावोंका सद्भाव नित्य पदार्थमे ही नही पाया जाता है, किन्तु क्षणिकमें भी पाया जाता है। प्रत्येक पदार्थमें अनेक शक्तियाँ रहती हैं, और उन शक्तियोंके कारण उसके नाना कार्य देखे जाते है।

बौद्धोंका कहना है कि शक्तियोंका सद्भाव सिद्ध नही होता है। क्योंकि शक्तियाँ शक्तिमानसे भिन्न हैं या अभिन्न। यदि भिन्न है, तो 'ये उसकी शक्तियाँ हैं' यह कैसे कहा जा सकता है। और अभिन्न पक्षमें या तो शक्तियाँ ही रहेगी या शक्तिमान् ही। इत्यादि विकल्पोके कारण शक्तियोंका सद्भाव सिद्ध नही होता है।

उक्त प्रकारसे शक्तियोंका अभाव सिद्ध करना ठीक नही है। इस प्रकार तो घटादि पदार्थोंमे रूपादि गुणोका भी अभाव सिद्ध किया जा सकता है। घटसे रूपादि भिन्न हैं या अभिन्न, इत्यादि विकल्पो द्वारा रूपादिका भी अभाव हो जायगा। यद्यपि प्रत्यक्षसे शक्तियाँ नही दिखती है, किन्तु अनुमानसे शक्तियोंका सद्भाव सिद्ध होता है। यदि अनुमानसिद्ध बातको न माना जाय तो पदार्थोंमें क्षणिकत्वकी सिद्धि, दान आदिमें स्वर्गप्रापण शक्ति आदिकी सिद्धि कैसे होगी। एक स्वभावके होने पर भी सामग्रीके भेदसे नाना कार्योंकी उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं है। अन्यथा घटमें रूपादि गुणोंके न होने पर भी चक्षुरादि सामग्रीके भेदसे रूपादिका ज्ञान मानना होगा। बौद्ध घटमें रूपादि ज्ञानके भेदसे रूपादि गुणोंको तो मानते हैं, किन्तु दीपकमें अनेक कार्योंके देखे जाने पर भी अनेक स्वभावोंको नहीं मानना चाहते हैं। यदि दीपक आदिका स्वभाव सर्वथा एक है, तो घटादिका स्वभाव भी सर्वथा एक मानना चाहिए। उनमें घटसे भिन्न रूपादि के माननेसे क्या लाभ है। यदि क्षणिक पक्षमें एक कारण स्वभावभेदके विना भी एक समयमें अनेक कार्य करता है, तो नित्य पदार्थको भी सहकारी कारणोंकी सहायतासे क्रमसे कार्य करनेमें कौनसी बाधा है। सहकारी कारणों द्वारा जिस प्रकार क्षणिक पदार्थमें स्वभावभेद नहीं होता है, उसी प्रकार नित्य पदार्थमें भी स्वभावभेद

नहीं होगा। यह कहना भी ठीक नहीं है कि सहकारी कारण ही कार्यको कर लेंगे, नित्यको माननेकी क्या आवश्यकता है। क्यों कि यह प्रश्न तो क्षणिक पक्षमें भी समान रूपसे पूँछा जा सकता है। क्षणिक पक्षमें भी तो सहकारी कारण कार्यकी उत्पत्तिमें सहायता करते ही हैं। पृथिवी, जल आदिकी सहायतासे बीजके द्वारा अंकुरकी उत्पत्ति होती है। यहाँ ऐसा भी कहा जा सकता है कि पृथिवी आदिसे ही अंकुरकी उत्पत्ति हो जायगी, बीजके माननेकी क्या आवश्यकता है। यदि क्षणिक पदार्थ सहकारी कारणोंके साथ कार्यको करता है, तो नित्य पदार्थको भी सहकारी कारणोंके साथ कार्य करनेमे कौनसी हानि है। तात्पर्य यह है कि नित्यकी तरह क्षणिक पदार्थमें भी शक्तियाँ या स्वभाव भेद पाये जाते हैं, जिनके कारण वह एक ही समयमें अनेक कार्य करता है। यथार्थमे पदार्थ न तो सर्वथा क्षणिक है, और न नित्य।

बौद्धोंका मत है कि प्रत्येक पदार्थ क्षण क्षणमे नष्ट होता रहता है, और वह विनाश किसी कारणसे नहीं होता है, किन्तु निर्हेतुक है। पदार्थ स्वभावसे ही विनाशशील उत्पन्न होता है। वह अपने नाशके लिए किसी दूसरे पदार्थकी अपेक्षा नहीं रखता है। जो जिस कार्यके लिए किसी दूसरे पदार्थकी अपेक्षा नहीं रखता है, वह उसका स्वभाव है। जैसे कि अन्तिम कारणसामग्रीका स्वभाव कार्यको उत्पन्न करनेका है। क्योंकि वह कार्यकी उत्पत्तिमें अन्य किसीकी अपेक्षा नहीं रखती है। घटका विनाश स्वभावसे ही होता है, मुद्गर आदि किसी अन्य कारणसे नहीं। यदि मुद्गरसे घटका विनाश होता है, तो वह विनाश घटसे भिन्न होता है, या अभिन्न होता है। यदि विनाश घटसे भिन्न होता है तो घटका क्या बिगड़ा, वह तो ज्यो का त्यो रक्खा रहेगा। और उस समय पूर्ववत् घटका दर्शन भी होना चाहिए। यदि विनाश घटसे अभिन्न होता है, तो विनाश होनेका अर्थ हुआ 'घटका होना'। और घटतो पहलेसे ही निष्पन्न है। तब उसके विनाशका होना व्यर्थ ही है। अतः पदार्थोंका विनाश स्वभावसे ही होता है, किसी कारणसे नहीं।

बौद्धोंका उक्त प्रकारसे पदार्थोंको विनाशशील सिद्ध करना युक्तिसंगत नहीं है। अनुभवसे यही प्रतीत होता है कि प्रत्येक पदार्थ कुछ काल तक स्थिर रहता है, और विनाशके कारण मिलने पर उसका नाश हो जाता है। जिस प्रकारसे बौद्ध पदार्थका विनाश सिद्ध करते हैं, उस प्रकारसे पदार्थका स्थिति स्वभाव भी तो सिद्ध किया जा सकता

पदार्थका स्वभाव स्थिति है, क्योंकि वह अपनी स्थितिके लिए किसी-की अपेक्षा नहीं करता है। यदि पदार्थकी स्थिति दूसरे कारणोंसे होती है, तो प्रश्न होता है कि वह स्थिति पदार्थसे भिन्न होती है या अभिन्न। भिन्न स्थितिसे तो कोई लाभ नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर पदार्थ स्थिर नहीं रह सकेगा। अभिन्न स्थिति मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्थिति उसीकी होगी जो स्थित है, और स्थित पदार्थकी स्थिति करना व्यर्थ ही है। जो पदार्थ स्थित हो नहीं है उसकी स्थिति कैसे होगी। खरविषाण-की स्थिति कभी नहीं हो सकती है।

बौद्ध कहते हैं कि शब्द, विद्युत् आदिका अन्तमें विनाश देखा जाता है, इसलिए आदिमें शब्द आदिका विनाश मान लेना ठीक है। यही बात स्थितिके विषयमें भी कही जा सकती है। शब्द, विद्युत् आदिकी आदिमे स्थिति देखे जानेसे अन्तमें भी उनकी स्थिति मान लेना चाहिए। शब्द, विद्युत् आदिकी उत्पत्तिका कोई कारण न दिखने पर भी उनके उपादान कारणका अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार शब्द, विद्युत् आदिके नष्ट हो जाने पर उनके कार्यको न दिखने पर भी कार्यका अनुमान किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि शब्द, विद्युत् आदिका भी सर्वथा नाश नही होता है, किन्तु पर्यायका ही नाश होता है। और उस पर्यायके नाश होने पर दूसरो पर्यायकी उत्पत्ति होती है। जो पदार्थ द्रव्यकी अपेक्षासे स्थितिशील है उसीमें पर्यायका होना संभव है। जो पदार्थ स्थित ही नही है उसको पर्यायें नही हो सकती हैं। जैसे कि गगनकुसुमकी कोई पर्याय सभव नही है। इस प्रकार सर्वथा क्षणिकवाद असंगत ही है।

यथार्थ में बौद्धाभिमत निरन्वय क्षणिकवाद में कार्य-कारण सम्बन्ध आदि कुछ भी नही बन सकता है। कार्य-करण सम्बन्धके अभावमें प्रेत्यभाव, पुण्य, पाप आदि भी संभव नही हैं। क्षणक्षयैकान्तमे सतान भी संभव नही है, जिससे कि संतानकी अपेक्षा से प्रेत्यभाव आदि बन सकें। इस प्रकार क्षणिकवाद बुद्धिमानोंके द्वारा ग्राह्य नही है, क्योंकि उसमें किसी प्रकारकी अर्थक्रिया सभव नहीं है। और अर्थक्रियाके अभाव में पुण्य, पाप, प्रेत्यभाव, प्रत्यभिज्ञान, बन्ध, मोक्ष आदि कुछ भी संभव नही है।

बौद्ध कार्यको सर्वथा असत् मानते हैं। इसका खण्डन करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्माजनि खपुष्पवत् ।
मोपादाननियामोऽभून्माश्वासः कार्यजन्मनि ॥४२॥

यदि कार्य सर्वथा असत् है, तो आकाशपुष्पकी तरह उसकी उत्पत्ति नही हो सकती है। तथा कार्यकी उत्पत्तिमे उपादान कारणका नियम और विश्वास भी नही हो सकता है।

कार्य कथंचित् सत् है, और कथंचित् असत्। द्रव्यकी अपेक्षासे कार्य सत् है, और पर्यायकी अपेक्षासे असत् है। यदि द्रव्यकी अपेक्षासे भी कार्य असत् हो, तो उसकी उत्पत्ति ही नही हो सकती है। अकाशपुष्पके सर्वथा असत् होनेसे त्रिकालमें भी उसकी उत्पत्ति संभव नहीं है। कार्य उपादानरूपसे सत् है। घटका उपादान मिट्टी है, मिट्टीरूपसे घटका सद्भाव सदा रहता है। मिट्टीका ही घटरूपसे परिणमन होता है। इसलिए मिट्टीद्रव्यकी अपेक्षासे घटका सद्भाव घटकी उत्पत्तिके पहिले भी रहता है। यथार्थमें अन्वय-व्यतिरेकके सद्भावमें ही कार्यकारणभाव सिद्ध होता है। कारणके होनेपर कार्यका होना अन्वय है, और कारणके अभावमें कार्यका न होना व्यतिरेक है। सर्वथा क्षणिकवादमें अथवा सर्वथा असत्कार्यवादमें कार्य-कारणमें अन्वय-व्यतिरेक बन ही नही सकता है। क्योंकि वहाँ कारणके अभावमें ही कार्यकी उत्पत्ति मानी गयी है, और कारणके होनेपर कार्यकी उत्पत्ति नही मानी गयी है। असत्कार्यवादमें अन्वय-व्यतिरेकके अभावमे कार्य-कारण सम्बन्ध किसी भी प्रकार संभव नहीं है। अतः कार्य सर्वथा असत् नही है। कार्यके सर्वथा असत् होनेपर उसकी उत्पत्ति असंभव है। जो कार्य सर्वथा असत् है, उसका कोई कारण नही हो सकता है। वन्ध्यापुत्र सर्वथा असत् है, तो उसका कोई कारण भी नही है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित द्रव्यमें ही कार्य-कारण सम्बन्ध बनता है। निरन्वय विनाशमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं बन सकता है। दो पदार्थोंमें कार्यकारण सम्बन्ध सिद्ध होनेपर ही पूर्व-पूर्व पर्याय उत्तर-उत्तर पर्यायमें परिणत हो जाती है। जैसे मृत्पिण्ड, स्थास, कोश, कुसूल और घट, इनमें से पूर्व-पूर्व पर्याय उत्तर-उत्तर पर्यायमें परिणत हो जाती है। यह बात सबको प्रत्यक्षसिद्ध है।

बौद्ध कहते हैं कि जहाँ आगे-आगे सदृश पर्यायोंकी उत्पत्ति होती जाती है, वहाँ उपादानका नियम होता है। अर्थात् वहाँ पूर्व पर्याय उत्तरपर्यायकी उपादान होती है। और जहाँ सदृश पर्यायकी उत्पत्ति नही होती है वहाँ उपादानका नियम नहीं होता है। मिट्टी और घटमें

उपादान का नियम है। क्योंकि मिट्टीके द्वारा उसीके सदृश घटकी उत्पत्ति होती है। तन्तु और घटमें उपादानका नियम नहीं है, क्योंकि तन्तुसे घट विसदृश है।

बौद्धोंके उक्त कथनमें कोई तथ्य नही है। मृत्पिण्ड और घटमें अन्वय-व्यतिरेकके अभावमें उसी प्रकारका वैलक्षण्य है जिस प्रकार कि तन्तु और घटमें है। मृत्पिण्डका घटकी उत्पत्तिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, क्यों कि मृत्पिण्डके सर्वथा नाश होनेपर घटकी उत्पत्ति होती है। अतः घट मृत्पिण्डसे सर्वथा विलक्षण है। मृत्पिण्ड और घटमें सर्वथा वैलक्षण्य होनेपर भी यदि उपादानउपादेयभाव है, तो तन्तु और घटमें भी उपादान-उपादेयभाव होना चाहिए। अन्वयरहित पदार्थों मे ऐसा स्वभाव मानना भी ठीक नही है, जिस स्वभावके कारण मृत्पिण्ड घटका ही कारण होता है, पटका नहीं। क्योंकि अन्वयके अभावमें जिस प्रकार भिन्न सन्तानमे सर्वथा भेद है, उमी प्रकार अभिन्न सन्तानमें भी भेद है। इसलिए कारणका ऐसा स्वभाव मानना आवश्यक है जिससे कारण वह पूर्व स्वभावको छोडकर उत्तर स्वभावको ग्रहण करता हुआ द्रव्यरूपसे स्थिर रहता है। पूर्व स्वभावका मर्वथा नाश होनेपर और किमी पदार्थके द्रव्यरूपसे स्थित न रहनेपर भी कार्यकी उत्पत्ति मानने पर न तो उपा-दानका नियम मिद्ध हो सकता है, और न कार्यकी उत्पत्तिमे विश्वास ही हो सकता है। यदि कार्य मर्वथा असत् है, तो तन्तुओसे पटकी ही उत्पत्ति होती है, घटकी नही, यह नियम कैसे बन सकता है। वास्तवमें तन्तुओकी अपेक्षासे पटरूप कार्य सत् है, और घटकी अपेक्षासे असत् है। तन्तुओमे पटरूपसे परिणत होनेकी विशेषता पायी जाती है, तभी तन्तुओसे पटकी उत्पत्ति होती है। आतान, वितान आदिरूपसे परिणत तन्तुओंसे पटकी उत्पत्ति माननेमे कोई बाधा भी नही आती है। क्योंकि तन्तु और पटमें अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है।

इम प्रकार असत्कार्यवाद एवं निरन्वय-क्षणिकवादमें कार्यकी उत्पत्ति असभव है। और उपादान कारणके अभावमे कार्यकी उत्पत्तिमें विश्वाम भी नही किया जा सकता है।

क्षणिकैकान्तमें अन्य दोषोको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

न हे[illegible]त्वभावादन्यभावादनन्वया[illegible] ।
संतान्नान्तरवन्नैकः संतानस्तद्वतः पृथक् ॥४२॥

क्षणिकपक्षमें अन्वयके अभावमें कार्य-कारणभाव आदि नही बन सकते

हैं। क्योंकि कारणसे कार्य संतानान्तरके समान सर्वथा पृथक् है। संतानियोंसे पृथक् कोई एक सन्तान भी नही है।

यह पहले विस्तारपूर्वक बतलाया गया है कि क्षणिकैकान्तमें अन्वयका सर्वथा अभाव है। अन्वयके अभावमें हेतुफलभाव, वास्यवासकभाव, कर्मफलभाव, प्रवृत्ति, निवृत्ति आदि कुछ भी नहीं बन सकते हैं। क्योंकि जिन पदार्थोंमें उक्त सम्बन्ध संभव है, वे पदार्थ अन्वयके अभावमें एक दूसरेसे सर्वथा पृथक् हैं। यह कहना भी ठीक नहीं है कि प्रत्येक पदार्थमें एक सन्तान पायी जाती है, जिसके कारण पदार्थोंमें हेतुफलभाव आदि सम्बन्ध बन जाते हैं। क्योंकि अन्वयके अभावमें जैसे एक सन्तानका दूसरी सन्तानके साथ सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार एक संतानके अनेक क्षणोंमें भी कोई सम्बन्ध नहीं है। बौद्ध प्रत्येक पदार्थकी सन्तान मानते हैं। घट प्रत्येक क्षणमें नष्ट होता रहता है, किन्तु घटकी एक पृथक् सन्तान चलती रहती है, और पटकी एक पृथक् सन्तान चलती रहती है। घटके क्षण-क्षणमें नष्ट होनेपर भी एक सन्तानके कारण एक घटसे उसके सदृश दूसरे घटकी उत्पत्ति होती है, पटकी नहीं, क्योंकि घटकी सन्तानसे पटकी सन्तान भिन्न है। बौद्ध एक सन्तानके पूर्वापर क्षणोंमें तो कार्यकारणभाव मानते हैं, किन्तु एक संतानके पूर्व क्षणका अन्य सन्तानके उत्तर क्षणके साथ कार्यकारणभाव नहीं मानते हैं। किन्तु जैसे भिन्न सन्तानवर्ती क्षणोंमें कार्यकारणभाव नहीं हो सकता है, वैसे ही एक सन्तानके पूर्वापर क्षणोंमें भी कार्यकारणभाव नही हो सकता है। क्योंकि एक सन्तानका प्रथम क्षण दूसरे क्षणसे सर्वथा पृथक् है, जैसे कि एक सन्तानका प्रथम क्षणसे दूसरी सन्तानका द्वितीय क्षण सर्वथा पृथक् है। संतानियोंसे पृथक् कोई एक सन्तान भी सिद्ध नही होती है। स्वयं बौद्धोंने सन्तानियोंको ही सन्तान माना है। सब क्षणोंके अत्यन्त विलक्षण होनेपर भी उनमें पृथक्-पृथक् अनेक सन्तानोंकी कल्पना करना और उन सन्तानोंके द्वारा कार्य-कारणभाव, कर्मफल आदिको मानना ऐसा ही है, जैसे कोई शशविषाणमें गोल आकार आदिकी कल्पना करे। जिस अर्थकी प्रतीति ही नहीं होती है, उस अर्थकी कल्पना करना, उसकी सन्तान मानना और फिर सन्तानके द्वारा कार्य-कारण आदि सम्बन्धोंका सद्भाव सिद्ध करना, वैसा ही है, जैसे वन्ध्यापुत्रमें रूप, लावण्य, ज्ञान आदिका सद्भाव सिद्ध करना। क्योंकि सन्तानकी सिद्धि प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाणसे नहीं होती है। इस प्रकार सन्तानके अभावमें सन्तान द्वाराकी गयी कोई भी व्यवस्था नहीं बन सकती है।

संन्तानके विषयमें अन्य दूषणोंको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

अन्येष्वनन्यशब्दोऽयं संवृतिर्न मृषा कथम् ।
मुख्यार्थः संवृतिर्न स्याद् विना मुख्यान्न संवृतिः ।।४४।

पृथक्-पृथक् क्षणोंमे अनन्य शब्द (सन्तान)का व्यवहार सवृति है, और सवृत्ति होनेसे वह मिथ्या क्यो नही है। मुख्य अर्थ सवृतिरूप नही होता है, और मुख्य अर्थके विना सवृति नही हो सकती है।

प्रत्येक पदार्थके ममस्त क्षण परस्परमे नितान्त पृथक् है। घटके जितने क्षण है वे एक दूसरेसे पृथक् है, पटके समम्त क्षण भी एक दूसरेसे पृथक् हैं। यही बात ममस्त पदार्थोके क्षणोके विषय मे है। सब क्षण पृथक् पृथक् होनेसे अन्य हैं। उन अन्य क्षणोमे अनन्य (अभिन्न अथवा एक) की कल्पना करनेका नाम सन्तान है। अर्थात् पृथक्-पृथक् क्षणोको एक मान लेना मन्तान है। इम प्रकारकी मन्तानकी कल्पना केवल सवृति (उपचार) से ही हो सकती है। जो बात उपचारसे मानी जाती है, वह मुख्य नही होती है, और न वह मुख्य अर्थके अभावमे होती है। बालकको उपचारसे सिंह कह देते हैं—'सिंहोऽय माणवक' यहाँ मुख्य सिंहके सद्भावमे ही बालकमे सिंहका उपचार सभव है। जब क्षणिकैकान्तमे कुछ भी अनन्य नही है, तो वहाँ अनन्य शब्दका व्यवहार कैसे हो सकता है। अत मुख्यार्थके अभावमे उपचाररूप मन्तानकी कल्पना मिथ्या या असत्य ही है।

यह भी प्रश्न है कि सतान सतानियो (पृथक्-पृथक् क्षणो) से अनन्य है या अन्य। बौद्ध सतानको सतानियोसे अनन्य मानते है। किन्तु सतानको सतानियोसे अभिन्न माननेमे या तो केवल मतान ही रहेगी या सतानी ही। चित्तक्षणोकी सन्तानको यदि सन्तानियोंसे भिन्न माना जाय तो आत्माका ही दूसरा नाम सन्तान होगा। यहाँ भी मन्तानियोंसे भिन्न सन्तान नित्य है या अनित्य, इस प्रकार दो विकल्प होते हैं। नित्यपक्ष तो स्वय बौद्धोको इष्ट नही है। अनित्य पक्षमे भी मन्तानियोंसे भिन्न सन्तानमे अनन्य व्यवहार कैसे किया जा सकता है। अन्या मे अनन्य व्यवहार केवल सवृत्तिसे ही किया जाता है। इम प्रकार कल्पनामे किया गया अन्योंमें जो अनन्य व्यवहार है, वह मिथ्या ही है। और मिथ्या व्यवहार द्वारा कार्य-कारण सम्बन्ध आदिकी व्यवस्था भी नही हो मकती है। यदि सन्तानको काल्पनिक न मानकर मुख्य माना जाय तो मुख्य

अर्थ होनेसे सन्तान संवृत्तिरूप नहीं हो सकती है। उसे वास्तविक मानना होगा। और यदि सन्तान संवृत्तिरूप है तो वह मुख्य न होकर उपचाररूप ही होगी। किन्तु उपचारसे भी सन्तानकी कल्पना सभव नहीं है, क्योंकि मुख्य अर्थके अभावमें उपचार नहीं होता है। उपचरित पदार्थसे मुख्य अर्थका कार्य भी नहीं होता है। बालकमें उपचारसे अग्निका व्यवहार करनेपर बालकसे पाक आदि क्रिया संभव नहीं है। उपचरित सन्तान अन्य क्षणोंमें अनन्य प्रत्ययका कारण नहीं हो सकती है। और पृथक्-पृथक् क्षणोंमें अनन्य प्रत्यय भी संभव नहीं है। और अनन्य प्रत्ययके अभावमें संतानको सिद्धि किसी भी प्रकार नहीं हो सकती है।

यहाँ बौद्ध कहते हैं कि सन्तान न तो सन्तानियोंसे भिन्न है, और न अभिन्न, न उभयरूप है, और न अनुभयरूप, वह तो अवाच्य है। तथाहि—

चतुष्कोटेर्विकल्पस्य सर्वान्तेषूक्त्ययोगतः।
तत्त्वान्यत्वमवाच्यं चेत्तयोः सन्तानतद्वतोः ॥४५॥

सत्त्व आदि सब धर्मोंमें चार प्रकारका विकल्प नही हो सकता है। अतः सन्तान और सन्तानियोंमें एकत्व और अन्यत्व अवाच्य है।

बौद्धोंका कहना है कि प्रत्येक धर्ममें चार प्रकारके विकल्प हो सकते हैं। और वे इस प्रकार होते हैं—वस्तु सत् है, असत् है, उभय है, या अनुभय है। यदि सत् है, तो उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। असत् है, तो शून्यताको प्राप्ति होती है। उभयरूप माननेमें दोनों पक्षोंमे दिये गये दूषण आते हैं। अनुभयरूप मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि एक धर्मका निषेध होनेपर दूसरेका विधान स्वतः प्राप्त होता है। दोनों धर्मोंका निषेध संभव नहीं है। फिर भी दोनों धर्मोंका निषेध माना जाय तो वस्तु निःस्वभाव हो जायगो। सन्तानको भी सन्तानियोंसे अभिन्न माननेपर सन्तानी ही रहेंगे, और भिन्न माननेपर 'यह इनकी सन्तान है' ऐसा विकल्प भी नहीं हो सकता है। उभयरूप माननेमें उभय पक्षोंमें दिये गये दूषण आते हैं। और अनुभयरूप माननेमें सन्तान और सन्तानी दोनों निःस्वभाव हो जाँयगे। इसलिए सन्तान और सन्तानियोंमें जो भिन्न, अभिन्न आदि विकल्प किये गये हैं वे ठीक नहीं हैं। सन्तान सन्तानियोंसे भिन्न है, या अभिन्न ? इस विषयमें यही कहा जा सकता है कि सन्तान सन्तानियोंसे न तो भिन्न है, और न अभिन्न है, किन्तु अवाच्य है।

बौद्धोंको उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—

अवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोऽपि न कथ्यताम् ।
असर्वान्तमवस्तु स्यादविशेष्यविशेषणम् ॥४६॥

बौद्धोंको वस्तुमें सत् आदि चार प्रकारके विकल्पको अवक्तव्य नहीं कहना चाहिए। जो सर्व धर्म रहित है वह अवस्तु है, और उसमें विशेष्य-विशेषणभाव भी नही बन सकता है।

बौद्ध स्वलक्षणको अवक्तव्य मानते हैं। और उसमें सत् आदिका विकल्प करके अवक्तव्यत्वकी सिद्धि करते हैं। स्वलक्षण सत् है, असत् है, उभयरूप है या अनुभयरूप है? स्वलक्षण 'सत् है' ऐसा नही कह सकते हैं, 'असत् है' ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, उभयरूप तथा अनुभय-रूप भी नही कहा जा सकता है। अत: चारों प्रकारसे वक्तव्य न होनेसे स्वलक्षण अवक्तव्य है। इस प्रकार बौद्ध स्वलक्षमें चार प्रकारका विकल्प करके उसको अवक्तव्य कहते हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि यदि स्व-लक्षण सर्वथा अवक्तव्य है, तो 'वह सत् रूपसे अवक्तव्य है, असत् रूपसे अवक्तव्य है, उभयरूपसे अवक्तव्य है, और अनुभयरूपसे अवक्तव्य है' ऐसा चार प्रकारका विकल्प नही किया जा सकता है' और यदि स्व-लक्षणमें उक्त चार प्रकारका विकल्प किया जाता है, तो उसमें कथं-चित् अभिलाप्यत्व भी मानना होगा। क्योंकि जो वस्तु वक्तव्य, अवक्तव्य आदि सब प्रकारके विकल्पोंसे रहित है, वह अवस्तु हो जायगी। इस प्रकार जो पदार्थ सर्व धर्मोंसे रहित है। वह न तो विशेष्य हो सकता है, और न उसका कोई विशेषण हो सकता है। अर्थात् सर्वथा असत् पदार्थ न तो विशेष्य हो सकता है, और न अनभिलाप्य उसका विशेषण हो सकता है। गगनकुसुम न तो विशेष्य है, और न उसका कोई विशेषण है। ऐसी किसी भी वस्तुका प्रत्यक्षसे ज्ञान नही होता है, जो न तो विशे-ष्य हो और न उसका कोई विशेषण हो।

अवस्तुमें विधि और निषेध भी संभव नही है, इस बातको बतलाने-के लिए आचार्य कहते हैं—

द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः संज्ञिनः सतः ।
असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः ॥४७॥

विद्यमान संज्ञीका दूसरे द्रव्य आदिकी अपेक्षासे निषेध होता है। जो सर्वथा असत् है, वह विधि और निषेधका स्थान नहीं हो सकता है।

जो पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे सत् है, उसका दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे निषेध होता है। जो अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे भी सर्वथा असत् है, उसकी न तो विधि ही हो सकती है, और न प्रतिषेध ही। सर्वथा असत् पदार्थका अस्तित्व असंभव होनेसे उसकी विधि (सद्भाव) असंभव ही है। और विधिके अभावमें उसका प्रतिषेध भी संभव नहीं है। क्योंकि प्रतिषेध विधिपूर्वक ही होता है। जो पदार्थ कथंचित् अभिलाप्य है, उसमें अभिलाप्यत्वका निषेध करके कथंचित् अनभिलाप्यत्व सिद्ध किया जाता है। जो कथंचित् विशेषण-विशेष्यरूप है, वही कथंचित् अविशेषण-अविशेष्यरूप होता है, अतः एकान्तरूपसे न तो कोई अनभिलाप्य है, और न अविशेषण-अविशेष्यरूप है। जो अभिलाप्य है, उसको अनभिलाप्य माननेमें और जो विशेषण-विशेष्यरूप है, उसको अविशेषण-अविशेष्यरूप माननेमें कोई विरोध नहीं है। बौद्ध स्वयं स्वलक्षणको अनिर्देश्य मानकर अनिर्देश्य शब्दके द्वारा निर्देश्य मानते हैं। यह कहना भी ठीक नहीं है कि अभाव अनभिलाप्य है। क्योंकि जहाँ अभावका कथन किया जाता है, वहाँ भावका भी कथन होता है। अभाव सर्वथा अभावरूप नहीं होता है, किन्तु भावान्तररूप होता है। जब कोई कहता है कि यहाँ घट नहीं है, इसका अर्थ यह होता है कि यहाँ घटरहित भूतलका सद्भाव है। घटाभावका अर्थ है घटरहित भूतल। इसी प्रकार जहाँ भावका कथन किया जाता है, वहाँ अभावका कथन भी होता है। 'यह घट है' ऐसा कहनेपर 'घट पट नहीं है' ऐसा तात्पर्य स्वयं फलित हो जाता है। अतः यह सिद्ध होता है कि भाववाचक शब्दोंके द्वारा अभावका और अभाववाचक शब्दोंके द्वारा भावका कथन होता है।

इस प्रकार स्वद्रव्य आदिकी अपेक्षासे जो सत् है, वही विधि और निषेधका विषय होता है। सर्वथा असत् पदार्थमें विधि और निषेधका होना असंभव है।

बौद्धों द्वारा माना गया तत्त्व सब धर्मोंसे रहित होनेके कारण अवस्तु है, और अनभिलाप्य है, इस बातको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

> अवस्त्वनभिलाप्यं स्यात् सर्वान्तैः परिवर्जितम्।
> वस्त्वेवावस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात् ॥४८॥

जो सर्व धर्मोंसे रहित है वह अवस्तु है, और अवस्तु होनेसे वह अन-

भिलाप्य है। वस्तु ही प्रक्रियाके विपर्ययसे अवस्तु हो जाती है।

इसमें सन्देह नहीं है कि जो सकल धर्मोंसे रहित है, वह अवस्तु है। वह किसी प्रमाणसे जानी भी नहीं जा सकती है। और ऐसी अवस्तु ही सर्वथा अनभिलाप्य है। तथा जिसमें धर्म पाये जाते है वह वस्तु है, वह प्रमाणके द्वारा जानी भी जाती है, और अभिलाप्य भी होती है। ऊपर जो सर्व धर्मोंसे रहितको अवस्तु कहा है, वह एकान्तवादकी अपेक्षासे ही कहा है। अनेकान्त शासनमें तो वस्तु ही प्रक्रियाके विपर्ययसे अवस्तु हो जाती है। सर्वथा अवस्तु कोई नहीं है। जो स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे वस्तु है, वही परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे अवस्तु है। भाव-वाचक शब्दोंके द्वारा अभावका और अभाववाचक शब्दोंके द्वारा भावका प्रतिपादन होता है, यह पहले बतलाया ही जा चुका है। किसीने कहा— 'अब्राह्मणमानय' 'अब्राह्मणको लाओ'। इस वाक्यका अर्थ यह है कि ब्राह्मणके अतिरिक्त क्षत्रिय आदिको लाना है। अब्राह्मण शब्द अभाव वाचक होकर भी क्षत्रिय आदि भावोंको कहता है। और किसीने कहा— 'ब्राह्मणमानय' 'ब्राह्मणको लाओ'। इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण को ही लाना है, क्षत्रिय आदिको नहीं। यहाँ ब्राह्मण शब्द भाववाचक होकर भी क्षत्रिय आदिका निषेध करता है।

अतः यह कहना ठीक ही है कि जो अवस्तु है, वह अनभिलाप्य है, जैसे शून्यता। और जो अभिलाप्य है वह वस्तु है, जैसे आकाशपुष्पका अभाव। आकाशपुष्पाभावका कथन किया जाता है, अतः आकाशपुष्पाभाव सर्वथा अवस्तु न होकर वस्तु है। आकाशमें जो पुष्पका अभाव है, वह आकाशस्वरूप होनेसे वस्तु है। पुष्परहित आकाशका नाम ही आकाश-पुष्पाभाव है। प्रत्येक पदार्थ स्वभावकी अपेक्षासे भावरूप और परभाव-की अपेक्षासे अभावरूप होता है। एक द्रव्यमें एकत्व संख्याका व्यवहार होता है, वही द्रव्य जब दूसरी द्रव्यके साथ मिल जाती है, तो उसीमें द्वित्व संख्याका व्यवहार होने लगता है। अपेक्षाभेदसे अनेकान्त शासनमें सर्व प्रकारकी व्यवस्था बन जाती है। जो वस्तुको सर्व धर्मोंसे रहित मानते हैं उनके मतमें उसमें वस्तुत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता है। और तत्त्वके सर्वथा अवस्तु होनेसे वह सर्वथा अनभिलाप्य भी होता है। इस प्रकार एकान्त मतमें किसी भी तत्त्वकी व्यवस्था नहीं बनती है।

अवक्तव्यवादियोंको अन्य दूषण देते हुए आचार्य कहते हैं–

सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां किं वचनं पुनः ।
संवृतिश्चेन्मृषैवैषा परमार्थविपर्ययात् ॥४९॥

यदि सर्व धर्म अवक्तव्य हैं तो उनका कथन क्यो किया जाता है। यदि उनका कथन सवृतिरूप है, तो परमार्थसे विपरीत होनेके कारण वह मिथ्या ही है।

जो लोग कहते हैं कि सब धर्म अवक्तव्य हैं, वे धर्मदेशनारूप तथा स्वपक्षके साधन और परपक्षके दूषणरूप वचनोका प्रयोग क्यो करते हैं। उन लोगोको तो मौनावलम्बन ही श्रेयस्कर है। जो सब तत्त्वोको अवक्तव्य कहता हुआ भी उनका प्रतिपादन करता है, वह उस व्यक्तिके समान है, जो कहता है कि मै मौनी हूँ। यदि सब धर्म वास्तवमे अवक्तव्य हैं, तो उनका प्रतिपादन किसी प्रकार सभव नही है। यदि कहा जाय कि सवृतिसे उनका प्रतिपादन होता है, तो यहाँ अनेक विकल्प होते हैं— स्वरूप, पररूप, उभयरूप, तत्त्व, और मृषा, इनमेंसे सवृतिका अर्थ क्या है। 'सवृतिसे सब धर्म अभिलाप्य है' इसका अर्थ यह माना जाय कि स्वरूपसे अभिलाप्य हैं, तो उनको अनभिलाप्य कैसे कहा जा सकता है। यदि वे पररूपसे अभिलाप्य हैं, तो पररूप भी उनका स्वरूप ही है। अत पररूपसे अभिलाप्यका अर्थ स्वरूपसे अभिलाप्य ही हुआ। केवल कहनेमे स्खलन हो गया। 'स्वरूपकी अपेक्षासे अभिलाप्य हैं' ऐसा कहना चाहिए था, किन्तु उच्चारणके दोषसे ऐसा कथन हो गया कि पररूपकी अपेक्षासे अभिलाप्य हैं। यदि धर्म उभयरूपसे वक्तव्य है, तो दोनो पक्षोमे दिये गये दूषण आते हैं। इसी प्रकार धर्म यदि तत्त्वत वक्तव्य हैं, तो स्वप्नमे भी वे अवक्तव्य नही हो सकते है। यहाँ भी कथनमे दोष हो गया। तत्त्वत. वक्तव्य हैं, ऐसा कहनेके स्थानमे सवृतिसे वक्तव्य हैं, ऐसा कथन हो गया। यदि सवृतिका अर्थ मृषा है, तो सवृतिसे धर्म वक्तव्य है, इसका अर्थ हुआ कि मिथ्यारूपसे धर्म वक्तव्य हैं। यदि धर्म मिथ्यारूपसे वक्तव्य हैं, तो उनका कथन ही नही करना चाहिये। क्योंकि परमार्थसे विपरीत होनेके कारण सवृतिसे वक्तव्य धर्म तत्त्वत. अवक्तव्य ही होगे। इस प्रकार धर्मोको सर्वथा अनभिलाप्य मान कर भी उनका जो प्रतिपादन किया जाता है उसमें विरोध स्पष्ट है। यदि तत्त्व सर्वथा अनभिलाप्य है तो उसका प्रतिपादन नही हो सकता है। और यदि उसका प्रतिपादन किया जाता है, तो उसको अवक्तव्य नही कह सकते। सर्वथा अवक्तव्य धर्म 'अवक्तव्य' शब्दके द्वारा भी वक्तव्य नही हो सकता है।

विकल्प पूर्वक तत्त्वकी अवाच्यताका निराकरण करनेके आचार्य कहते हैं—

अवक्त्यत्वा वाच्यं किमभावात्किमबोधतः ।
आद्यन्तोक्ति यं न स्यात् किं व्याजेनाच्यतां स्फुटम् ॥५०॥

तत्त्व अवाच्य क्यों है। क्या अशक्य होनेसे अवाच्य है, या अभाव होनेसे अवाच्य है, या ज्ञान न होनेसे अवाच्य है। पहला और अन्तका विकल्प तो ठीक नहीं है। यदि अभाव होनेसे तत्त्व अवाच्य है, तो इस प्रकारके बहानेसे क्या लाभ है। स्पष्ट कहिए कि तत्त्वका सर्वथा अभाव है।

तत्त्वको अवाच्य होनेके विषयमे ऊपर तीन विकल्प किये गये हैं। अन्य विकल्प सभव नही है। यद्यपि ऐसी आशका की जा सकती है कि मौनव्रतसे, प्रयोजनके अभावसे, भयसे और लज्जा आदिसे भी तत्त्व अवाच्य हो सकता है। किन्तु मौनव्रत आदिका अन्तर्भाव [illegible] हो जानेसे ये सब विकल्प पृथक् नही हैं। ऐसा नही है कि अनवबोध और अशक्यत्व भी पृथक् पृथक् न हो। क्योंकि अनवबोधमें बुद्धिकी अपेक्षा होती है, और अशक्यत्वमे इन्द्रियपूर्णताकी अपेक्षा होती है। अशक्यत्वका अर्थ है वक्तामे कहनेको शक्तिका अभाव। और अनवबोधका अर्थ है वक्तामे ज्ञानका अभाव। यह भी सभव नही है कि सब पुरुषोंमें ज्ञानका और इन्द्रियपूर्णताका अभाव हो। स्वय बौद्धोने सुगतको सर्वज्ञ माना है। सुगतमें इन्द्रियपूर्णता भी पायी जाती है। अत. यह कहना तो उचित नही है कि वक्तामे कहनेकी शक्ति न होनेसे या ज्ञान न होनेके कारण तत्त्व अवाच्य है। जब तत्त्व अशक्ति या अनवबोधके कारण अवाच्य नही है, तो पारिशेष्यमे यही अर्थ निकलता है कि अभाव होनेके कारण तत्त्व अवाच्य है। तब 'तत्त्व अवक्तव्य है' ऐसा बहाना बनानेसे क्या लाभ है। स्पष्ट कहना चाहिए कि तत्त्वका सर्वथा अभाव है। और ऐसा मानने पर केवल नैरात्म्यवाद या शून्यताकी ही प्राप्ति होगी।

अर्थमे सकेत सभव न होनेसे अर्थको अनभिलाप्य कहना भी ठीक नही है। क्योंकि अर्थमे सकेत पूर्णरूपसे सभव है। प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है, और उसमें सकेत भी किया जाता है। इस बातको पहले भी बतलाया जा चुका है। जिस अर्थमें संकेत किया जाता है, वह उसी समय नष्ट हो जाता है, और व्यवहारकालमे भिन्न ही अर्थ उपलब्ध होता है, अतः शब्द अर्थका वाचक नही है, ऐसी आशंका भी ठीक नही

है। क्योंकि जिस प्रकारका कालभेद शब्द और शब्दके विषयमे पाया जाता है, वैसा कालभेद बौद्धोंके अनुसार प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षके विषयमे भी पाया जाता है। प्रत्यक्षके समय उसका विषय नष्ट हो जाता है, फिर भी प्रत्यक्षके द्वारा उसका ज्ञान माना गया है। यही बात शब्द-ज्ञानके विषयमे भी है। जिस प्रकार सकेतकालमें गृहीत अर्थके व्यवहार-कालमे न रहने पर भी शब्दके द्वारा तत्सदृश अर्थका ज्ञान होता है। उसी प्रकार शब्दके द्वारा अर्थको जानकर प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषको भी किसी प्रकारका विसवाद नहीं देखा जाता है।

बौद्ध पृथक्-पृथक् दो तत्त्वोंको मानते हैं—स्वलक्षण और सामान्य। स्वलक्षण दर्शनका विषय होता है, और सामान्य विकल्पका विषय होता है। स्वलक्षण दृष्ट है, और सामान्य अदृष्ट है। दृष्ट स्वलक्षणमे निर्णय या विकल्प सभव नही है। और अदृष्ट सामान्यमे निर्णयकी कल्पना की जाती है, जोकि प्रधान, ईश्वर आदि विकल्पोंके समान है। अत जब तक दर्शन और विकल्पका विषय सामान्य-विशेषात्मक एक तत्त्व न माना जायगा, तब तक किसी भी इष्ट तत्त्वकी सिद्धि नही हो सकती है। इस प्रकार तत्त्वको अवक्तव्य माननेवाले बौद्धोके यहाँ सम्पूर्ण प्रमाणो और प्रमेयोका अभाव होनेसे शून्यैकान्तकी ही प्राप्ति होती है।

क्षणिकैकान्त पक्षमे कृतनाश और अकृताभ्यागमका प्रसग दिखलाते हुए आचार्य कहते हैं—

हिनस्त्यनभिसंधातृ न हिनस्त्यभिसंधिमत् ।
बध्यते तद्द्वयापेतं चित्तं बद्धं न मुच्यते ॥५१॥

हिंसा करनेका जिसका अभिप्राय नही है, वह हिंसा करता है, और जिसका हिंसा करनेका अभिप्राय है, वह हिंसा नही करता है। जिसने हिंसाका कोई अभिप्राय नही किया, और न हिंसा ही की, वह चित्त बन्धनको प्राप्त होता है। और जिसका बन्ध हुआ, उसकी मुक्ति नही होती है, किन्तु दूसरे की ही मुक्ति होती है।

बौद्धमतमे क्षण क्षणमें प्रत्येक पदार्थका निरन्वय विनाश होता रहता है। एक प्राणीने दूसरे प्राणीको मार डाला। यहाँ यह विचारणीय है कि हिंसा करनेवाला कौन है। मोहनने सोहनको मार डाला तो हिंसाका दोष मोहनको लगेगा या नही। पहले मोहनने सोहनको हिंसा करनेका

विचार किया होगा, और कुछ समय बाद मारा होगा। कल्पना कीजिए कि पहले क्षणमे मोहनने सोहनको मारनेका विचार किया, और दूसरे क्षणमे उसे मार डाला। यत प्रथम क्षणके मोहनसे दूसरे क्षणका मोहन नितान्त भिन्न है, अत हिंसाका विचार करनेवाला मोहन दूसरा है, और मारने वाला मोहन दूसरा है। अथवा जिस मोहनने हिंसाका विचार किया था, उसने मारा नही, और जिसने मारा उसने हिंसाका विचार नही किया। अब बन्ध किसका होता है, इस बात पर भी विचार करना है। बन्ध होगा तीसरे क्षण वाले मोहन का, जोकि पहले, और दूसरे क्षणवाले मोहनसे भिन्न है। अत बन्ध उसका हुआ, जिसने न हिंसाका विचार किया था, और न हिंसा ही की थी। मुक्ति भी जिसने बन्ध किया था, उसको नही होगी, किन्तु जिसने बन्ध नही किया, ऐसे मोहन की ही मुक्ति होगी। क्योकि जिस समय मुक्ति होगी, उस समयका मोहन बन्धके समयके मोहनसे अत्यन्त भिन्न है। इस प्रकार क्षणक्षयैकान्तमे कृतनाश और अकृत अभ्यागमका प्रसग सुनिश्चित है। जिसने दान दिया या हिंसाकी उसको दान या हिंसाका फल नही मिलेगा। यह कृतनाश है। जिसने दान नही दिया या हिंसा नही की, उसको दानका या हिंसाका फल बिना इच्छाके भी मिलेगा। यह अकृताभ्यागम है। निरन्वयक्षणिकवादमे ही कृतनाश और अकृताभ्यागमका प्रसग आता है। किन्तु स्याद्वाद सिद्धान्तमे इस प्रकारका कोई दोष सभव नही है। क्योकि पदार्थका विनाश निरन्वय नही होता है, किन्तु सान्वय होता है। और पूर्व पर्यायका उत्तर पर्यायरूपसे परिणमन होता है। इसलिए जो कर्ता है, वही उसके फलको पाता है। जो बँधता है, वही मुक्त होता है। निरन्वय विनाशमे सन्तानकी अपेक्षासे भी बन्ध, मोक्ष आदिकी व्यवस्था नही बन सकती है, इस बात को पहले विस्तारपूर्वक बतलाया जा चुका है।

निर्हेतुक विनाश माननेमे दोष बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः।
चित्तसन्ततिनाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्गहेतुकः ॥५२॥

विनाशके अहेतुक होनेसे हिंसा करनेवाला हिंसक नही हो सकता है। और चित्तसन्ततिके नाशरूप मोक्ष भी अष्टागहेतुक नहीं हो सकता है।

बौद्ध नाशको अहेतुक मानते हैं। प्रत्येक पदार्थका विनाश स्वभावसे ही होता है, अन्य किसी कारणसे नहीं। यदि ऐसा है, तो सोहनके मारनेवाले मोहनको हिंसक कहना उचित नहीं है। क्योंकि सोहनका जो विनाश हुआ, वह स्वभावसे ही हुआ। इसी प्रकार मोक्षका भी कोई हेतु नही होगा। बौद्धोंके यहाँ चित्तसंततिके नाशका नाम मोक्ष है। और बौद्धोंने स्वयं मोक्षके हेतु आठ अंग माने हैं। हिंसा करनेवालेको हिंसक कहना, और मोक्षको अष्टांगहेतुक कहना, इस बातको सिद्ध करता है कि विनाश अहेतुक नही है।

इस कारिकाके अष्टशती-भाष्यमे अकलंकदेवने लिखा है—

'तथा निर्वाणं सन्तानसमूलतलप्रहाणलक्षणं सम्यक्त्वसंज्ञासंज्ञीवाक्कायकर्मान्तर्व्यायामाजीवस्मृतिसमाधिलक्षणाष्टाङ्गहेतुकम्।'

अकलंक देव द्वारा कथित इन आठ अंगोंके स्थानमें उपलब्ध बौद्ध-ग्रन्थोंमे आठ अंगोंके नाम इस प्रकार हैं[1]—१ सम्यग्दृष्टि, २ सम्यक् संकल्प, ३ सम्यक् वचन, ४ सम्यक्कर्मान्त, ५ सम्यक् आजीव, ६. सम्यक् व्यायाम, ७ सम्यक् स्मृति, और ८ सम्यक् समाधि।

अकलंक देव कथित आठ नामोमेसे छह नामोकी संगति बौद्ध ग्रन्थोंमें उपलब्ध नामोके साथ हो जाती है। किन्तु संज्ञा और संज्ञी ये दो नाम ऐसे है, जो बौद्धदर्शनकी दृष्टिसे नूतन मालूम पड़ते है। संभव है कि अकलंक देवने प्रथम दो नामोका प्रयोग सम्यग्दृष्टि और सम्यक्-संकल्पके अर्थमे किया हो। आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमे इन नामोंके विषयमे कोई स्पष्टीकरण नही किया है।

विनाशके हेतुसे पदार्थका विनाश नही होता है, किन्तु विसदृश पदार्थकी उत्पत्ति होती है। इस मतका खण्डन करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

विरूपकार्यारंभाय यदि हेतुसमागमः।
आश्रयिभ्यामनन्योऽसावविशेषादयुक्तवत् ॥५३॥

यदि विसदृश पदार्थकी उत्पत्तिके लिए हेतुका समागम होता है, तो अपृथक् पदार्थोंकी तरह नाश और उत्पादको अभिन्न होनेके कारण नाशका हेतु भी नाश और उत्पादसे अभिन्न होगा।

---

१. देखो पृ० ३२-३४।

बौद्धोंका कहना है कि लोग जिसको विनाशका कारण कहते हैं उससे यथार्थमें पदार्थका विनाश नहीं होता है, किन्तु विसदृश कार्यकी उत्पत्ति होती है। मुद्गर घटके नाशका कारण नहीं है, किन्तु कपालोंकी उत्पत्तिका कारण है। स[illegible] आदि आठ अंग चित्तसंततिके नाश-के कारण नहीं है किन्तु मोक्षकी उत्पत्तिके कारण हैं। इस प्रकार यदि विसदृश कार्यकी उत्पत्तिके लिए हेतुका समागम होता है, तो हेतुको नाश और उत्पादसे अभिन्न मानना होगा। नाश और उत्पाद भी अभिन्न हैं, क्योंकि पूर्व पर्यायके नाशका नाम ही उत्तर पर्यायकी उत्पत्ति है। नाश और उत्पाद आश्रयी हैं और हेतु उनका आश्रय है। जब नाश और उत्पाद अभिन्न हैं, तो उनका आश्रय हेतु भी उनसे अभिन्न ही होगा। जैसे शिंशपात्व और वृक्षत्व ये दोनों अभिन्न हैं, तो उनकी उत्पत्तिका कारण भी एक ही होता है। ऐसा नहीं है कि शिंशपात्वकी उत्पत्ति किसी दूसरे कारणसे होती हो और वृक्षत्वकी उत्पत्ति किसी दूसरे कारण-से। अतः पदार्थके नाश और उत्पत्तिका भी एक ही कारण होना चाहिए। बौद्ध विनाशको अहेतुक कहते हैं, क्योंकि विसदृश कार्यकी उत्पत्तिका जो हेतु है, उससे भिन्न विनाशका कोई हेतु नहीं है। यहाँ इससे विपरीत भी कहा जा सकता है कि विनाशके हेतुको छोड़कर विसदृश कार्यकी उत्पत्तिका अन्य कोई हेतु न होनेसे विसदृश कार्यकी उत्पत्ति अहेतुक है। यदि माना जाय कि विसदृश सन्तानकी उत्पत्तिके लिए हेतुका समागम होता है, प्रध्वंसके लिए नहीं, क्योंकि प्रध्वंस तो स्वभावसे हो जाता है, तो विसदृश (कपालरूप) पदार्थकी उत्पत्ति भी स्वभावसे क्यों नहीं हो जाती। जिस प्रकार विनाशका हेतु अकिंचित्कर है, उसी प्रकार उत्पत्तिका हेतु भी अकिंचित्कर है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि उत्पत्ति भी स्वभावसे ही होती है, किन्तु कारणके समागमके बाद होनेसे उसको सहेतुक कहते हैं। क्योंकि इस प्रकार विनाशको भी सहेतुक मानना होगा। विनाश भी तो कारणके समागमके बाद होता है। यदि लोगोंका अभिप्राय उत्पत्तिको सहेतुक कहनेका है, इसलिए उत्पत्ति-को सहेतुक कहा जाता है, तो लोगोंका अभिप्राय विनाशको भी तो सहेतुक कहनेका है, फिर विनाशको सहेतुक क्यों नहीं कहा जाता।

निरन्वय विनाशवादियोंके यहाँ सदृश और [illegible] विभाग भी नहीं हो सकता है, जिससे कि विसदृश कार्यकी उत्पत्तिके लिए हेतुका समागम माना जाय। क्योंकि निरन्वय विनाशमें सदा विसदृश कार्यकी ही

उत्पत्ति होती है। यदि सदृश और विसदृशका विभाग भी लोगोंके अभिप्राय के अनुसार किया जाय तो नाशको भी सहेतुक क्यों नही माना जाता। यथार्थमें नाश और उत्पाद न तो परस्परमें भिन्न हैं और न आश्रयसे भी भिन्न हैं। कहा भी है—

'नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः।'

जिस प्रकार तराजूमें नाम और उन्नाम (एक पलड़े का ऊँचा रहना और दूसरेका नीचा रहना) एक साथ होते हैं, उसी प्रकार नाश और उत्पाद भी युगपत् होते हैं। जब नाश और उत्पाद अभिन्न हैं, और एक साथ होते हैं, तो एक सहेतुक हो और दूसरा निर्हेतुक हो यह कैसे हो सकता है।

नाश और उत्पाद उसी प्रकार अभिन्न हैं जिस प्रकार विज्ञानवादियो-के यहाँ ज्ञानके ग्राह्याकार और ग्राहकाकार अभिन्न हैं। ग्राह्याकार और ग्राहकाकारमे शब्दभेद और ज्ञानभेद होनेपर भी दोनोम तादात्म्य होनेसे दोनो एक हैं। इसी प्रकार नाश और उत्पाद भी एक हैं। सज्ञा (प्रत्य-भिज्ञा), छन्द (अभिलाषा), मति, स्मृति आदि की तरह भेद होनेपर भी एक कालमे होनेवाले नाश और उत्पादमेंसे एक सहेतुक हो और दूसरा निर्हेतुक हो, यह कैसे सभव है। यद्यपि नाश और उत्पादमे भेद है, फिर भी एककालभावी होनेसे जो मुद्गर कपालकी उत्पत्तिका कारण होता है वही घटके विनाशका भी कारण होता है। रूप और रस सहभावी हैं। अत जो रूपकी उत्पत्तिका कारण होता है। वह रस की उत्पत्तिका भी कारण होता है। पूर्वरूप उत्तररूपकी उत्पत्तिका ही कारण नही होता है, किन्तु उत्तर रसकी उत्पत्तिका भी कारण होता है। पूर्व रस उत्तर रसकी उत्पत्तिका ही कारण नही होता है, किन्तु उत्तर रूपकी उत्पत्तिका भी कारण होता है। अतः समकालभावी विनाश और उत्पाद दोनो सहेतुक है और दोनोका हेतु एक ही होता है।

बौद्ध कहते हैं कि विनाशके हेतुसे विनाशका कुछ नही होता है, केवल पदार्थ नही होता है, तो फिर उत्पादके हेतुसे भी उत्पादका कुछ नही होता है, केवल पदार्थ हो जाता है, ऐसा कहने मे क्या विरोध है। जिस प्रकार विनाशका हेतु भावको अभावरूप करता है, उसी प्रकार उत्पादका हेतु अभावको भावरूप करता है। अतः उत्पाद-के हेतुकी तरह विनाशका भी हेतु अकिंचित्कर नही है। बौद्धो द्वारा सहेतुक विनाशमें भिन्न-अभिन्न विकल्पको लेकर जो दूषण दिया जाता है, वह सहेतुक उत्पादमें भी दिया जा सकता है।

बौद्ध कहते हैं कि यदि विनाश पदार्थसे भिन्न होता है, तो पहलेकी तरह पदार्थकी उपलब्धि होना चाहिए, और यदि विनाश पदार्थसे अभिन्न होता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि विनाशके हेतुसे पदार्थ ही उत्पन्न हुआ, जो कि पहिलेसे ही विद्यमान है। यहाँ हम भी कह सकते हैं कि उत्पादका हेतु उत्पादको पदार्थसे अभिन्न करता है या भिन्न। यदि अभिन्न करता है, तो सत्का उत्पाद करता है या असत्का। सत्का उत्पाद करना व्यर्थ है। गगनकुसुमकी तरह असत् पदार्थका उत्पाद तो संभव ही नहीं है। यदि उत्पादका हेतु उत्पादको पदार्थसे भिन्न करता है, तो भी उससे कोई लाभ नहीं। भिन्न उत्पाद होनेसे पदार्थको क्या हुआ, कुछ नहीं। इसलिए यदि विनाशके लिए हेतुका समागम नहीं होता है, तो उत्पादके लिए भी हेतुका समागम व्यर्थ है। तात्पर्य यह है कि उत्पाद और विनाश दोनों सहेतुक हैं। एकको सहेतुक और दूसरेको निर्हेतुक मानना प्रतीतिविरुद्ध है।

बौद्धमतमें क्षणिक परमाणुओंकी सिद्धि नहीं होती है। स्कन्धोंकी भी सिद्धि नहीं होती है। इस बातको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं

स्कन्धसंततयश्चैव संवृतित्वादसंस्कृताः।
स्थित्युत्पत्तिव्ययास्तेषां न स्युः खरविषाणवत् ॥५४॥

स्कन्धोंकी संततियाँ भी संवृतिरूप होनेसे अपरमार्थभूत हैं। उनमें खरविषाणके समान स्थिति, उत्पत्ति और व्यय नहीं हो सकते हैं।

बौद्ध पाँच प्रकारके स्कन्ध मानते हैं—रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध संज्ञास्कन्ध और संस्कारस्कन्ध। इन पाँच प्रकारके स्कन्धोंकी संतति चलती रहती है। किन्तु इन स्कन्धोंकी सन्तान भी संवृत्तिरूप होनेसे अपरमार्थभूत है। जो संवृतिरूप नहीं होता है वह परमार्थभूत होता है, जैसे कि बौद्धों द्वारा माना गया स्वलक्षण। जब स्कन्धोंकी सन्तति अपरमार्थभूत है तो पदार्थका लक्षण (स्थिति, उत्पत्ति और व्यय) भी उसमें संभव नहीं हो सकता है। अपरमार्थभूत वस्तुकी न तो कभी उत्पत्ति होती है, और न उसकी स्थिति ही कहीं देखी जाती है। खरविषाणकी उत्पत्ति और स्थिति कभी नहीं होती है। उत्पत्ति और स्थितिके अभावमें विनाशकी तो कल्पना ही नहीं की जा सकती है। न तो सजातीय-विजातीयव्यावृत्त तथा क्षणिक परमाणुओंका सद्भाव सिद्ध होता है और न स्कन्धोंका ही, तो विसदृश कार्यकी उत्पत्तिके लिए हेतुका समागम कैसे हो सकता है। यदि किसी पदार्थका अस्तित्व होता

तो उसकी उत्पत्ति होती और उत्पत्तिका हेतु भी माना जाता। किन्तु जहाँ कोई भी परमार्थभूत तत्त्व नहीं है, सब कुछ संवृतिरूप है, तो वहाँ न उत्पत्ति है और न विनाश। विनाशको निर्हेतुक कहना और उत्पत्ति-को सहेतुक कहना बन्ध्यासुतके सौभाग्यवर्णनके समान ही है। इस प्रकार क्षणिकैकान्त नित्यैकान्तकी तरह प्रतीतिविरुद्ध एवं अश्रेयस्कर होनेसे सर्वथा त्याज्य है।

उभयैकान्त और अवाच्यैकान्तमें दोष बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥५५॥

स्याद्वादन्यायसे द्वेष रखने वालोंके यहाँ विरोध आनेके कारण उभयैकात्म्य नहीं बन सकता है। और अवाच्यतैकान्त माननेमे भी अवाच्य शब्दका प्रयोग नहीं हो सकता है।

सर्वथा एकान्तवादियोंके यहाँ उभयैकान्त (नित्यैकान्त और क्षणि-कैकान्त) संभव नहीं है। जो सर्वथा नित्य है वह क्षणिक नहीं हो सकता है, और जो सर्वथा क्षणिक है वह नित्य नहीं हो सकता है। नित्यैकान्त और क्षणिकैकान्तमें विरोध होनेसे उभयैकात्म्य कैसे हो सकता है। जैसे जीवन और मरण ये परस्पर विरोधी दो बातें एक साथ संभव नहीं हैं, वैसे ही उभयैकान्त भी संभव नहीं है। उक्त दोषोंसे भयभीत होकर जो लोग तत्त्वको सर्वथा अवाच्य मानते हैं, उनका मानना भी ठीक नहीं है। यदि तत्त्व सर्वथा अवाच्य है, तो उसको अवाच्य शब्दके द्वारा कैसे कहा जा सकता है। इस प्रकार सर्वथा एकान्तवादियोंके यहाँ उभयैकान्त और अवाच्यैकान्तकी मान्यता भी काल्पनिक है।

नित्यैकान्त और क्षणिकैकान्तका खण्डन करके अनेकान्तकी सिद्धि करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा ।
क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः ॥५६॥

प्रत्यभिज्ञानका विषय होनेके कारण तत्त्व कथंचित् नित्य है। प्रत्य-भिज्ञानका सद्भाव बिना किसी कारणके नहीं होता है, क्योंकि अविच्छेद-रूपसे वह अनुभवमें आता है। हे भगवन् ! आपके अनेकान्त मतमें काल-भेद होनेसे तत्त्व कथंचित् क्षणिक भी है। सर्वथा नित्य और सर्वथा क्षणिक तत्त्वमें बुद्धिका संचार नहीं हो सकता है।

तत्त्व न सर्वथा नित्य है, और न सर्वथा अनित्य, किन्तु द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य है, और पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य है। प्रत्येक पदार्थ प्रत्यभिज्ञानका विषय होता है। पूर्व और उत्तर पर्यायमे रहने वाले एकत्व आदिको जानने वाले ज्ञानका नाम प्रत्यभिज्ञान है। प्रत्यभिज्ञान दो अवस्थाओंका सकलनरूप ज्ञान होता है। जिस पदार्थको पहले देखा हो उसको पुन. देखने पर 'यह वही देवदत्त है' इस प्रकारका जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यभिज्ञान है। प्रत्यभिज्ञानके कारण प्रत्यक्ष और स्मृति हैं। प्रत्येक पदार्थके विषयमे जो 'यह वही है' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है उससे प्रतीत होता है कि प्रत्येक पदार्थ कथंचित् नित्य है। अन्यथा उसमे प्रत्यभिज्ञान कैसे होता। ऐसा नही है कि प्रत्यभिज्ञान अकस्मात् ही उत्पन्न हो जाता है। क्योकि निर्बाधरूपसे प्रत्यभिज्ञान अनुभवमे आता है। जीवादि तत्त्वोमे जो प्रत्यभिज्ञान होता है, उसमे किमी प्रमाणसे बाधा नही आती है। प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञानके विषयका बाधक नही हो सकता है, क्योकि वह केवल वर्तमान पर्यायको जानता है, अतीत पर्यायको नही। अनुमान भी बाधक नही है, क्योकि वह अन्यव्यावृत्तिरूप सामान्यका विषय करता है, और हेतुसे उसकी उत्पत्ति होती है।

कुछ लोग कहते है कि स्मृति और प्रत्यक्षसे व्यतिरिक्त प्रत्यभिज्ञान नामका कोई पृथक् प्रमाण नही है। इसलिए प्रत्यभिज्ञानके द्वारा नित्यत्वकी सिद्धि करना युक्त नही है। उक्त कथन ठीक नही है। क्योकि प्रत्यभिज्ञान एक स्वतन्त्र प्रमाण है, और उसका विषय भी किसी अन्य प्रमाणसे नही जाना जा सकता है। पूर्व और उत्तर अवस्थाओमे रहनेवाला एकत्व प्रत्यभिज्ञानका विषय होता है। ऐसे विषयको स्मृति नही जान सकती, क्योकि वह केवल अतीत पर्यायको ही जानती है। प्रत्यक्ष भी केवल वर्तमान पर्यायको जानता है। इसलिए दोनो अवस्थाओका सकलन करने वाला अन्य कोई ज्ञान नही है। प्रत्यभिज्ञान ही एक ऐसा ज्ञान है जो दोनो अवस्थाओको जानता है। स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों मिलकर प्रत्यभिज्ञानकी उत्पत्ति करते हैं। यदि प्रत्यभिज्ञानका विषय एकत्व यथार्थ न होता तो 'जिसको मैंने प्रात देखा था उसका इस समय स्पर्श कर रहा हूँ' इस प्रकारके एकत्वको परामर्श करने वाला ज्ञान कैसे होता? प्रात· देखने वाला जो व्यक्ति है, वही व्यक्ति सायकाल स्पर्श करने वाला भी है। प्रत्यभिज्ञानमे प्रमाता भी एक होना चाहिए और प्रमेय भी एक होना चाहिए। यदि प्रमाता एक न हो तो प्रत्यभिज्ञान नही हो सकता है। प्रातः रामने देखा हो तो सायंकाल मोहनको प्रत्यभिज्ञान

नही होगा। इसी प्रकार एक विषयके अभावमे भी प्रत्यभिज्ञान नही हो सकता है। प्रात देखे गये विषयसे सायकाल भिन्न विषय देखनेपर प्रत्यभिज्ञान नही होगा। इसप्रकार प्रत्यभिज्ञानके द्वारा पदार्थोमे कथचित् नित्यत्वकी सिद्धि होती है।

कथचित् क्षणिकत्वकी सिद्धि भी प्रत्यभिज्ञानके द्वारा होती है। प्रत्यभिज्ञान दो पर्यायोका सकलन करता है। उन दो पर्यायोमे कालभेद पाया जाता है। यदि उन पर्यायोमे कालभेद न हो, तो एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमे बुद्धिका सचार कैसे हो सकता है। 'यह वही है' इस प्रकार पूर्व पर्यायसे उत्तर पर्यायमे बुद्धिका सचार अवश्य होता है। पूर्व और उत्तर पर्यायमे एकत्वको जानने वाला प्रत्यभिज्ञान उन पर्यायोमे कालभेदका भी ज्ञान करता है। इसलिए कालभेदसे पदार्थोमे कथचित् क्षणिकत्व सिद्ध होता है। कालभेद ज्ञानमे भी पाया जाता है, और पर्यायाम भी। प्रत्यभिज्ञानके विषयभूत पदार्थके दर्शनका काल भिन्न है, और प्रत्यभिज्ञानका काल भिन्न है। इसी प्रकार पूर्व पर्यायके कालसे उत्तर पर्यायका काल भी भिन्न है। विषयके कथचित् एक और कथचित् क्षणिक होनेपर ही प्रत्यभिज्ञान सभव है। विषय सर्वथा एक हो या सर्वथा क्षणिक हो तो प्रत्यभिज्ञान नही हो सकता है।

इसी प्रकार प्रमाता यदि सर्वथा क्षणिक है तो भी प्रत्यभिज्ञान नही हो सकता है। पूर्व और उत्तर पर्यायोको देखनेवाला एक ही होना चाहिए, तभी प्रत्यभिज्ञान होगा। यदि किसी पदार्थको देवदत्तने देखा हो तो उसमे यज्ञदत्तको प्रत्यभिज्ञान नही होगा। जिन पदार्थोमें कार्यकारणभाव है उनमें भी एकके द्वारा पूर्व पर्यायको देखनेपर और दूसरेके द्वारा उत्तर पर्यायको देखनेपर प्रत्यभिज्ञान नही होगा। पिता-पुत्रमे उपादान-उपादेय सम्बन्ध होनेपर भी पिताके द्वारा देखे हुए पदार्थमे पुत्रको प्रत्यभिज्ञान नही होगा, क्योकि पितासे पुत्र सर्वथा पृथक् है। यह कहना भी ठीक नही है कि जिसकी एक सन्तान चलती है उसम प्रत्यभिज्ञान होता है, और जिसकी एक सन्तान नही चलती उसमे प्रत्यभिज्ञान नही होता है। क्योकि एक सन्तति और भिन्न सन्ततिका निणय कैसे होगा। जिसमे प्रत्यभिज्ञान हो उसकी एकसन्तति होती है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञानके द्वारा एक सन्ततिका निर्णय करनेपर अन्योन्याश्रय दोष आता है। प्रत्यभिज्ञानकी सिद्धि एक सन्तति की सिद्धिपर निर्भर है, और एक सन्ततिकी सिद्धि प्रत्यभिज्ञानकी सिद्धिपर निर्भर है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय स्पष्ट है। किन्तु स्याद्वाद मतमें इस प्रकारका दूषण नही आता

है। वहाँ नित्यत्वकी सिद्धिसे प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि और प्रत्यभिज्ञानकी सिद्धिसे नित्यत्वकी सिद्धि नहीं होती है। वहाँ तो भेदज्ञानसे भेदकी सिद्धि और अभेदज्ञानसे अभेदकी सिद्धि होती है। यदि पदार्थकी स्थितिके अनुभवको विभ्रम कहा जाय तो उत्पत्ति और विनाश भी विभ्रम ही होंगे। जो स्थितिके विना उत्पाद और विनाशकी कल्पना करते हैं उनकी कल्पना भी प्रतीतिविरुद्ध होनेसे कल्पनामात्र है।

जिस प्रकार सर्वथा क्षणिकैकान्तमे प्रत्यभिज्ञान नही हो सकता है, उसी प्रकार सर्वथा नित्यैकान्तमें भी प्रत्यभिज्ञान नही हो सकता है। सर्वथा नित्य पदार्थमें कोई स्वभावभेद नही हो सकता है, और स्वभावभेदके विना पूर्व और उत्तर पर्यायका सकलन भी नही हो सकता है। इसलिये पदार्थको कथचित् नित्य मानना आवश्यक है। इसी प्रकार उसे कथंचित् क्षणिक मानना भी आवश्यक है। इस प्रकार सर्वथा क्षणिक पक्षमे अथवा सर्वथा नित्यपक्षमे ज्ञानका सचार नही हो सकता है। अर्थात् सर्वथा क्षणिक और सर्वथा नित्य वस्तु ज्ञानका विषय नही हो सकती है। अतः वस्तुको अनेकान्तात्मक मानना आवश्यक है। वस्तुको अनेकान्तात्मक माननेमे विरोध, वैयधिकरण्य, सकर आदि दोप नही आते हैं, इस बातको पहले ही बतलाया जा चुका है।

वस्तुमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको सिद्ध करनेके लिये आचार्य कहते हैं—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥५७॥

हे भगवन्! आपके शासनमे वस्तु सामान्यकी अपेक्षासे न उत्पन्न होती है, और न नष्ट होती है। यह बात स्पष्ट है, क्योकि सब पर्यायोमे उसका अन्वय पाया जाता है। तथा विशेषकी अपेक्षासे वस्तु नष्ट और उत्पन्न होती है। एक साथ एक वस्तुमें उत्पाद आदि तीनका होना ही सत् है।

यह बात सबको अनुभव सिद्ध है कि द्रव्यकी अपेक्षासे पदार्थका उत्पाद और विनाश नही होता है। केवल उसकी पर्यायें बदलती रहती हैं। मिट्टीका पिण्ड बनता है, पुनः स्थास, कोश, कुसूल आदि पर्यायोंकी उत्पत्ति के अनन्तर घटकी उत्पत्ति होती है। और घटके फूटने पर कपाल उत्पन्न हो जाते हैं। इन सब पर्यायोंमें मिट्टीका अन्वय पाया जाता है। जो मिट्टी पिण्ड पर्यायमें थी, वही मिट्टी कपाल पर्यायमें भी रहती है। स्वर्णका

कुण्डल बनवा लिया जाता है, कुण्डलको तुड़वाकर चूड़ा, चूड़ाको तुड़वाकर अँगूठी आदि कोई भी आभूषण बनवा लिया जाता है। किन्तु प्रत्येक पर्यायमें स्वर्णका अन्वय पाया जाता है। जब प्रत्येक पर्यायमे वही द्रव्य बना रहता है, तो यह स्पष्ट है कि द्रव्यका उत्पाद और विनाश नही होता है। उत्पाद और विनाश पर्यायका होता है। एक पर्याय नष्ट होती है, और दूसरी पर्याय उत्पन्न हो जाती है। किन्तु उन सब पर्यायोंमें 'यह वही द्रव्य है' इस प्रकार द्रव्यका अन्वय सदा बना रहता है। नख, केश आदिके काटे जानेके बाद पुनः उनके निकलनेपर 'ये वही नख, केश हैं,' इस प्रकारका जो एकत्व ज्ञान होता है, वह भ्रान्त है। किन्तु एक विषयमें किसी ज्ञानके भ्रान्त होनेसे सब विषयोंमें उसको भ्रान्त कहना वैसा ही है, जैसे एक पुरुषके असत्यवादी होनेसे सबको असत्यवादी कहना। अतः अन्वयकी अपेक्षासे वस्तु ध्रौव्यरूप है, और विशेषकी अपेक्षासे उत्पाद-विनाशरूप है।

उत्पाद आदि तीनों परस्परमें पृथक्-पृथक् नही हैं, किन्तु उत्पाद आदि तीनोंके समुदायका नाम ही वस्तु है। उत्पादादिके समुदायका नाम वस्तु है, यह कथन कल्पित नही है, किन्तु प्रमाणसिद्ध है। वस्तुके कृतक होनेसे उत्पाद-विनाशकी सिद्धि और अकृतक होनेसे ध्रौव्यकी सिद्धि होती है। वस्तुमें जो पूर्व स्वभावका त्याग और उत्तर स्वभावका उपादान होता है, वह दूसरेके द्वारा किया जाता है। अतः वस्तु कृतक है। और उसके ध्रौव्य स्वभावके लिए किसीकी अपेक्षा न होनेसे वह अकृतक है। चेतन पदार्थ हो या अचेतन, किसीकी भी उत्पत्ति द्रव्यकी अपेक्षासे नही होती है। जो सामान्यरूपसे सत् है उसमें किसी पर्याय विशेषकी उपलब्धि होनेसे उसकी उत्पत्ति कही जाती है, जैसे मिट्टीमें घटरूप पर्याय विशेषकी उपलब्धि होनेसे मिट्टीकी उत्पत्ति मानी जाती है। जो ध्रौव्यरूप है, उसीकी उत्पत्ति और विनाश होता है। तथा जो उत्पाद और विनाशरूप है, उसीमें ध्रौव्यत्व पाया जाता है। इस प्रकार वस्तुमें उत्पाद आदि तीनकी सिद्धि होती है।

प्रत्येक पदार्थमें परिणमन करनेका विशिष्ट स्वभाव रहता है। तन्तुओंका स्वभाव पटरूपसे परिणमन करनेका है, घटरूपसे परिणमन करनेका नहीं। मिट्टीमें घटरूपसे परिणमन करनेका स्वभाव है, पटरूपसे परिणमन करनेका नहीं। प्रत्येक पदार्थमें जिस पर्यायरूप परिणमन करनेका स्वभाव होता है, वह उसीरूपसे परिणमन करता है। मिट्टीमें घट-

रूप परिणमन करनेका एक विशेष प्रकारका स्वभाव है। मिट्टी सत्त्व स्वभावसे घटरूप परिणमन नहीं करती है, और न पृथिवीत्व स्वभावसे ही घटरूप परिणमन करती है, अन्यथा तन्तुको भी घटरूप परिणमन करना चाहिए। क्योंकि सत्त्व और पृथिवीत्व तो उसमें भी पाया जाता है। इसलिए प्रत्येक पदार्थमें परिणमन करनेका पृथक्-पृथक् स्वभाव होता है, और प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं, इस बातको सिद्ध करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात् पृथक् ।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥५८॥

एक हेतुका नियम होनेसे हेतुके क्षय होनेका नाम ही कार्यका उत्पाद है। उत्पाद और विनाश लक्षणकी अपेक्षासे पृथक्-पृथक् हैं। और जाति के अवस्थानके कारण उनमें कोई भेद नही है। परस्पर निरपेक्ष उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आकाशपुष्पके समान अवस्तु हैं।

उपादान कारणका क्षय होनेपर कार्यकी उत्पत्ति होती है। उपादान कारणका क्षय निरन्वय नही होता, किन्तु उपादान कारण पूर्व पर्यायको छोड़कर उत्तर पर्यायको धारण कर लेता है। उत्पाद और विनाश परस्परमें अविनाभावी हैं। उत्पाद और विनाश दोनोंमें एक हेतुका नियम है। जो कार्यके उत्पादका हेतु होता है, वही उपादानके विनाशका हेतु है। अतः उपादान (मिट्टी)का क्षय ही उपादेय (घट) का उत्पाद है। इससे यह सिद्ध होता है कि उत्पाद और विनाश दोनों सहेतुक हैं। एक को सहेतुक और दूसरेको निर्हेतुक मानना प्रतीतिविरुद्ध है। दोनोंके हेतुको अभिन्न होनेसे दोनोंमें सर्वथा अभेद मानना ठीक नहीं है। क्योंकि उत्पाद और विनाशके लक्षण भिन्न-भिन्न होनेसे उन दोनोंमें कथंचित् भेद है। कार्यके उत्पादका लक्षण है—स्वरूपका लाभ करना। और कारणके विनाशका लक्षण है—स्वरूपकी प्रच्युति हो जाना। अतः सुख, दुःखादि-की तरह भिन्न-भिन्न लक्षण पाये जानेके कारण उत्पाद और विनाश कथंचित् भिन्न हैं। पुरुषमें सुख, दुःख आदि पर्यायें पायी जाती हैं। उन सब पर्यायोंका स्वरूप भिन्न-भिन्न होनेसे वे पर्यायें कथंचित् भिन्न हैं। उत्पाद और विनाशमें कथंचित् भेदकी तरह कथंचित् अभेद भी

है। क्योंकि पुरुष और सुखादिकी तरह उत्पाद और विनाशमें जाति, संख्या आदिकी अभेदरूपसे स्थिति रहती है। सत्त्व, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि जाति-रूप होनेसे, एक संख्यारूप होनेसे तथा उत्पादन-विनाशरूप शक्तिविशेषका अन्वय होनेसे उत्पाद और विनाश कथंचित् अभिन्न हैं। पृथिवी द्रव्यको छोड़कर घटका अन्य कोई नाश और उत्पाद नहीं है। मिट्टी ही घटरूपसे नष्ट होकर कपालरूपसे उत्पन्न हो जाती है। अतः मिट्टीरूप द्रव्यकी अपेक्षासे उत्पाद और विनाश अभिन्न हैं। द्रव्यकी अपेक्षासे उत्पाद और विनाशमें एकत्व संख्याकी उपलब्धि होती है। उनमें एक शक्तिविशेष भी पायी जाती है। इन कारणोंसे उत्पाद और विनाश अभिन्न हैं। जैसे 'मैं ही सुखी था और मैं ही दुःखी हूँ' ऐसी प्रतीति होनेसे सुख, दुःखादिसे अभिन्न पुरुषकी सिद्धि होती। इस प्रकार उत्पाद और विनाश कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं।

इसी प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भी कथंचित् भिन्न और कथं-चित् अभिन्न हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कथंचित् भिन्न हैं, क्योंकि इनकी भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतीति होती है। जैसे एक फलमें रूपादिकी भिन्न-भिन्न प्रतीति होती है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कथंचित् अभिन्न भी हैं, क्योंकि वस्तुसे ये तीनों अपृथक् हैं, अथवा इन तीनोंकी अभिन्नता या समुदायका नाम ही वस्तु है। परस्पर सापेक्ष होकर ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अर्थक्रिया करते हैं। व्यय और ध्रौव्यसे रहित उत्पाद, व्यय और उत्पादसे रहित ध्रौव्य, तथा उत्पाद और ध्रौव्यसे रहित विनाशकी कल्पना गगनकुसुमकी कल्पनाके समान ही है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके समूहका नाम ही सत् या द्रव्य है। और तीनोंमेंसे एकके भी अभावमें सत्त्व संभव नहीं है।

वस्तुके उत्पाद और विनाश एक हेतुक होनेसे अभिन्न हैं। घटके विनाश और कपालकी उत्पत्तिका हेतु मुद्गर होता है। नैयायिक-वैशेषिक मानते हैं कि उत्पाद और विनाश के हेतु भिन्न हैं। घट में मुद्गरके आघातसे घटके अवयवोंमें क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रियासे घटके अवयवोंका विभाग होता है, अवयव-विभागसे घटके अवयवोंके संयोग-का नाश होता है, इसके अनन्तर घटका विनाश हो जाता है। यह तो हुआ घटके विनाशका क्रम। पुनः परमाणुओंमें क्रिया होनेसे द्वयणुक आदिकी उत्पत्तिके क्रमसे अवयवोंकी उत्पत्ति होती है। यह कपालकी उत्पत्तिका क्रम है। नैयायिक-वैशेषिक द्वारा माना गया उत्पत्ति और विनाशका उक्त

क्रम युक्त नहीं है। प्रत्यक्षद्वारा मुद्गरके आघातसे ही घटका विनाश और कपालकी उत्पत्ति देखी जाती है। यदि मुद्गरके आघातसे घटके अवयवोंमें केवल क्रिया ही होती है, तो उस क्रियाको ही दोनों (घटका विनाश और कपालकी उत्पत्ति) का कारण मान लीजिए। क्रियासे अवयवोंमें विभाग ही होता है, तो अवयव विभागको ही दोनोंका कारण मान लेना चाहिए। और यदि अवयव विभागसे संयोगनाश ही होता है, तो संयोग नाशको ही दोनोंका कारण माननेमें कौनसी बाधा है। क्योंकि महास्कन्धके अवयवोंके संयोगनाशसे भी लघुस्कन्धकी उत्पत्ति देखी जाती है।

नैयायिक-वैशेषिकोंका एक मत यह भी है कि अल्पपरिमाणवाले कारणसे ही महत्परिमाणवाले कार्यकी उत्पत्ति होती है, और महत्परिमाणवाले कारणसे अल्पपरिमाणवाले कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। अतः घटके नाशसे सीधे कपालोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यह मत भी समीचीन नहीं है। क्योंकि समानपरिमाणवाले कारणसे और महत्परिमाणवाले कारणसे भी कार्यकी उत्पत्ति होती है। तन्तुओंसे जो पटकी उत्पत्ति होती है वह आतान, वितान आदि रूपसे पटाकार परिणत तन्तुओंसे ही पटकी उत्पत्ति होती है। अतः पटका कारण पटसे अल्पपरिमाणवाला न होकर समानपरिमाणवाला ही है। महापरिमाणवाले शिथिल कार्पासपिण्डसे अल्प परिमाण वाले निबिड कार्पास पिण्डकी उत्पत्ति भी देखी जाती है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पदार्थका उत्पाद और विनाश दोनों एक हेतुसे ही होते हैं, और महापरिमाणवाले कारणसे भी कार्यकी उत्पत्ति होती है। तथा इस विषयमें किसी प्रमाणसे बाधा नहीं आती है।

वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है। इस बातको दृष्टान्तपूर्वक स्पष्ट करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥

सुवर्णके घटका, सुवर्णके मुकुटका और केवल सुवर्णका इच्छुक मनुष्य क्रमशः सुवर्ण-घटका नाश होने पर शोकको, सुवर्ण-मुकुटके उत्पन्न होने पर हर्षको, और दोनों ही अवस्थाओंमें सुवर्णकी स्थिति होनेसे माध्यस्थ्य-भावको प्राप्त होता है। और यह सब सहेतुक होता है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंकी प्रतीति भिन्न-भिन्न रूपसे होती है, इस बातको लोकमें प्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। एक मनुष्य

सुवर्णके घटको चाहता है, दूसरा मनुष्य सुवर्णके मुकुटको चाहता है और तीसरा मनुष्य केवल सुवर्णको चाहता है। स्वर्णकारने सुवर्ण-घटको तोड़ कर मुकुट बनाया। उस समय सुवर्ण-घटके नष्ट हो जाने पर सुवर्ण-घटके चाहने वाले पुरुषको शोक होता है। शोकका कारण है वस्तुका नाश। तोड़ गये घटके सुवर्णका मुकुट बन जाने पर मुकुटके चाहने वाले पुरुषको हर्ष होता है। हर्षका कारण है वस्तुका उत्पाद। और केवल सुवर्णके चाहने वाले पुरुषको घटके नष्ट हो जाने पर न तो शोक होता है, और न मुकुटके उत्पन्न होने पर हर्ष होता है, वह तो दोनों अवस्थाओंमें मध्यस्थ रहता है। मध्यस्थ रहनेका कारण है वस्तुका ध्रौव्यत्व। यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पृथक्-पृथक् न होते तो वही सोना एक पुरुषको शोकका कारण, दूसरे पुरुषको हर्षका कारण, और तीसरे पुरुषको माध्यस्थ्यभावका कारण कैसे होता। हर्ष, विषाद आदि निर्हेतुक नहीं हो सकते हैं, उनका कोई न कोई हेतु तो होना ही चाहिये। अतः घट पर्यायका विनाश शोकका हेतु है, मुकुट पर्यायकी उत्पत्ति हर्षका हेतु है, और सुवर्णद्रव्यका ध्रौव्यत्व माध्यस्थ्यभावका हेतु है। जो सुवर्णमात्रको चाहता है उसको घटके टूटने और मुकुटके उत्पन्न होनेसे कोई प्रयोजन नहीं है। घटके बने रहने पर उसका काम चल सकता है, मुकुटके बने रहने पर भी उसका काम चल सकता है, और घटके टूट जानेके बाद मुकुटके बन जाने पर भी उसका काम चल सकता है। इस प्रकार वस्तुमें निर्बाधरूपसे उत्पाद आदि तीनकी प्रतीति होती है। और वह प्रतीति वस्तुको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप सिद्ध करती है।

पूर्वोक्त बातको लोकोत्तर दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥६०॥

जिसके दूध खानेका व्रत है वह दधि नहीं खाता है, जिसके दधि खानेका व्रत है वह दूध नहीं खाता है, और जिसके गोरस नहीं खानेका व्रत है वह दोनों नहीं खाता है। इसलिए तत्त्व तीन रूप है।

दूध पर्यायका नाश होने पर दधिकी उत्पत्ति होती है। किन्तु गोरसका सद्भाव दोनों अवस्थाओंमें बना रहता है। किसीने यह व्रत लिया कि मैं आज दुग्ध ही खाऊँगा, तो वह उस दिन दधि नहीं खाता है। यदि दधिके उत्पन्न होने पर भी उसमें दुग्धका सद्भाव रहता तो उसको दधि भी

खा लेना चाहिए। जिसने यह व्रत लिया कि मैं आज दधि ही खाऊँगा, वह उस दिन दुग्ध नहीं खाता है। यदि दुग्धमें भी दधिका सद्भाव रहता तो उसको दुग्ध भी खालेना चाहिए। और जिसने ऐसा व्रत लिया कि मैं आज गोरस नही खाऊँगा, वह उस दिन न दुग्ध खाता है, और न दधि खाताहै। यदि दुग्ध और दधिमें गोरसका अन्वय न रहता तो उसको दुग्ध और दधि दोनों खालेना चाहिए। उक्त दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता है कि दुग्ध पर्यायका नाश होने पर दधि पर्यायकी उत्पत्ति होती है। तथा दुग्ध और दधि पर्यायें पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु गोरसका अन्वय दोनोंमें पाया जाता है। अतः तत्त्व उत्पाद आदि तीन रूप है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि वस्तुके त्रयात्मक होने पर उसमे अनन्तात्मकत्व कैसे सिद्ध होगा। उक्त शंका निर्मूल है। क्योंकि वस्तुके त्रयात्मक होने पर भी अनन्तात्मक होनेमें कोई विरोध नही है। उत्पाद आदि तीन धर्मोंमेंसे प्रत्येक धर्म भी अनन्तरूप है। एक वस्तुका उत्पाद उत्पन्न होने वाली अनन्त वस्तुओंके उत्पादसे भिन्न होनेके कारण अनन्त रूप है। एक वस्तुका विनाश नष्ट होने वाली अनन्त वस्तुओंके नाशसे भिन्न होनेके कारण अनन्तरूप है। तथा एक वस्तुका ध्रौव्यत्व अनन्त वस्तुओंके ध्रौव्यत्वसे भिन्न होनेके कारण अनन्तरूप है। वस्तुके त्रयात्मक या अनन्तधर्मात्मक होनेपर भी उसके नित्यानित्यात्मक होनेमें कोई विरोध नही है। क्योंकि ध्रौव्यत्वकी अपेक्षासे वस्तु नित्य है, तथा उत्पाद और विनाशकी अपेक्षासे अनित्य है। इसलिए यह कहना ठीक ही है कि वस्तु कथंचित् नित्य है, कथंचित् अनित्य है, कथंचित् उभयरूप है, कथंचित् अवक्तव्य है, कथंचित् नित्य और अवक्तव्य है, कथंचित् अनित्य और अवक्तव्य है, तथा कथंचित् नित्य, अनित्य और अवक्तव्य है।

चतुर्थ परिच्छेद

नैयायिक-वैशेषिकके भेदवादका खण्डन करने के लिए आचार्य कहते हैं—

कार्यकारणनानात्वं गुणगुण्यन्यतापि च ।
सामान्यतद्वदन्यत्वं चैकान्तेन यदीष्यते ॥६१॥

यदि नैयायिक-वैशेषिक कार्य-कारणमे, गुण-गुणीमे और सामान्य-सामान्यवान्में सर्वथा भेद मानते हैं (तो ऐसा मानना ठीक नही है)

इस कारिका द्वारा नैयायिक-वैशेषिकका मत उपस्थित किया गया है। नैयायिक-वैशेषिक अवयव-अवयवीमे, गुण-गुणीमे, कार्य-कारणमे, सामान्य-सामान्यवान्मे, और विशेष-विशेषवान्मे सर्वथा भेद मानते है। अवयवोमे अवयवीका प्रतिभास भिन्न होता है, कारणसे कार्यका प्रतिभास भिन्न होता है, गुणोंसे गुणीका प्रतिभास भिन्न होता है, सामान्यसे सामान्यवान्का प्रतिभास भिन्न होता है, और विशेषसे विशेषवान्का प्रतिभास भिन्न होता है। अत प्रतिभासभेद होनेसे अवयव, अवयवी आदि पृथक्-पृथक् हैं। सह्याचल और विन्ध्याचलके भिन्न होनेका कारण प्रतिभास भेद ही है। वह प्रतिभासभेद अवयव-अवयवी आदिमें भी पाया जाता है। प्रतिभासभेदका कारण भी लक्षणभेद है। कार्य, कारण आदिका लक्षण एक दूसरेसे भिन्न है, और वह भिन्न लक्षण भिन्न प्रतिभासका हेतु है। अत प्रतिभासभेदके कारण अवयव-अवयवी आदिमे सर्वथा भेद माननेमे कोई बाधा नही है। कार्य-कारण आदिका देश भिन्न-भिन्न होनेसे भी उनमें भेद है। कार्य अपने अवयवोमे रहता है, और कारण अपने देशमे रहता है। यही बात गुण-गुणी, अवयव-अवयवी आदिके विषयमे जानना चाहिए। जो लोग अभिन्न देशके कारण कार्य, कारण आदिमे तादात्म्य मानते है, उनका वैसा मानना प्रतीतिविरुद्ध है। क्योकि उनमे न तो शास्त्रीय देशाभेद सिद्ध होता है, और लौकिक देशाभेद। ऐसा नैयायिक-वैशेषिकका मत है।

इस मतका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्बहूनि वा ।
भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते ॥६२॥

एककी अनेकोंमें वृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि उसके भाग (अंश) नहीं होते हैं। और यदि एकके अनेक भाग हैं, तो भागवाला होनेके कारण वह एक नहीं हो सकता है। इस प्रकार अनार्हत मतमें वृत्ति-विकल्पके द्वारा अनेक दोष आते हैं।

नैयायिक-वैशेषिक मानते हैं कि अवयवी समवाय सम्बन्धसे अवयवों-में रहता है। यहाँ प्रश्न यह है कि अवयवी अपने अवयवोंमे एक देशसे रहता है या सर्वदेशसे रहता है। एक अवयवी अनेक अवयवोंमें भिन्न-भिन्न देशसे नहीं रह सकता है, क्योंकि उसको प्रदेशरहित माना गया है। और यदि अवयवी अपने अवयवोंमें सर्वदेशसे रहता है, तो जितने अवयव हैं, उतने ही अवयवी मानना होंगे, क्योंकि प्रत्येक अवयवमें पूराका पूरा अवयवी रहेगा। एक विकल्प यह भी होता है कि अवयवी अवयवोंमें भिन्न-भिन्न स्वभावसे रहेगा या एक ही स्वभावसे। भिन्न-भिन्न स्वभावसे रहने पर जितने अवयव हैं, उतने ही अवयवी होंगे। और एक स्वभावसे रहने पर सब अवयव एक हो जावेंगे। इस प्रकार वृत्तिविकल्पके द्वारा अवयवीका अवयवोंमे रहना सभव नहीं है। इसी प्रकार गुणोंका गुणीमे, कार्यका कारणोंमे, सामान्यका सामान्यवान्मे, और विशेषका विशेषवान्मे रहना भी सभव नहीं है। अत अवयव-अवयवी आदिमे सर्वथा भेद मानना ठीक नहीं है।

नैयायिक-वैशेषिकका कहना है कि अवयवी अवयवोंमे न एक देशसे रहता है, और न सर्वदेशसे, किन्तु समवाय सम्बन्धसे रहता है। यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ भी वही प्रश्न होगा कि अवयवी का अवयवोंमे समवाय एक देशसे है, या सर्वदेशसे। और पहले दिये गये दूषण इस पक्षमे भी ज्योंके त्यों बने रहेंगे। ये दूषण एकान्त पक्षमे ही आते हैं, अनेकान्त मतमें नहीं। अनेकान्त मतके अनुसार अवयव-अवयवी आदिमे तादात्म्य होनेके कारण पूर्वोक्त दूषणोंमेंसे कोई दूषण सभव नहीं है। अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि न तो सर्वथा पृथक्-पृथक् है, और न समवाय सम्बन्धसे एक दूसरेमे रहते हैं। अवयवीको अव-यवोंसे पृथक् नहीं कर सकते हैं, और गुणीको गुणोंसे पृथक् नहीं कर सकते हैं। वे दोनों एक दूसरेमें इस प्रकार मिले हुए हैं, जैसे ज्ञानाद्वैत-वादियोंके यहाँ ज्ञानके वेद्य और वेदक आकार ज्ञानमें मिले हुए हैं। ज्ञान और आकारोंमें तादात्म्य होनेसे वहाँ ऐसा विकल्प नहीं किया जा सकता कि ज्ञान अपने आकारोंमें एक देशसे रहता है या सर्वदेशसे।

इसी प्रकार अवयव-अवयवी आदिमें भी तादात्म्य होनेसे उक्त प्रकारका विकल्प नही किया जा सकता है।

नैयायिक-वैशेषिक एक ही धर्मको सामान्य भी मानते हैं, और विशेष भी मानते हैं। द्रव्यत्व सामान्य भी है, और विशेष भी है। द्रव्यत्व सब द्रव्योमे रहनेके कारण सामान्य है, तथा गुण और कर्ममें न रहनेके कारण विशेष है। वे द्रव्यत्व, गुणत्व, आदिको अपर सामान्य कहते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि द्रव्यत्वमे दो अंश पाये जाते हैं, एक सामान्य और दूसरा विशेष। द्रव्यत्व न तो सर्वथा सामान्यरूप है, और न सर्वथा विशेषरूप। द्रव्यत्वके इन दोनो अंशोमें तादात्म्य ही मानना चाहिये। न तो उनका परस्परमे समवाय है, और न द्रव्यत्वके साथ समवाय है। द्रव्यत्वके साथ भी उनका तादात्म्य ही है। इस प्रकार अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदिमें भी तादात्म्य होनेसे वे एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न नही हैं, किन्तु कथंचित् एक हैं।

भेद पक्षमे अन्य दोषोको बतलानेके लिये आचार्य कहते हैं—

[illegible]शकालविशेषेऽपि स्याद्वृत्तिर्युतसिद्ध[illegible] ।
समान[illegible]ता न स्यात् [illegible]कारणकार्ययोः ॥६३॥

यदि अवयव-अवयवी, कार्य-कारण आदि एक दूसरेसे सर्वथा पृथक् हैं, तो पृथक्सिद्ध पदार्थोंकी तरह भिन्न देश और भिन्न कालमे उनकी वृत्ति (स्थिति) मानना पड़ेगी। क्योंकि मूर्त कारण और कार्यमें समान-देशता नही बन सकती है।

यदि अवयव-अवयवी आदिमे अत्यन्त भेद है, तो उनमे देशभेद, और कालभेद भी मानना होगा। अर्थात् अवयवी अन्य देशमे रहेगा, और अवयव किसी दूसरे देशमे रहेगा, अवयवका काल दूसरा होगा, और अवयवीका काल दूसरा होगा। घट और पट युतसिद्ध पदार्थ हैं। अत. उनका देश और काल भिन्न-भिन्न है। इसी प्रकार अवयव-अवयवी, कार्य-कारण आदिका भी देश और काल भिन्न-भिन्न होगा। कार्य-कारण आदिका काल एक होने पर भी उनका एक देश तो किसी भी प्रकार संभव नहीं है। क्योंकि जो मूर्त पदार्थ हैं, वे एक देशमे नही रह सकते हैं। घट और पट कभी भी एक देशमें नहीं पाये जाते हैं। घटका देश दूसरा है, और पटका [illegible] प्रकार अवयव-अवयवी आदिके मूर्त होनेसे एक देशमें इनकी स्थिति असंभव है।

नैयायिक[illegible] कहना है कि जिस प्रकार आत्मा और आकाशमें

अत्यन्त भेद होने पर भी उनमें देश-काल भेद नहीं है, उसी प्रकार अवयव-अवयवी आदिमें अत्यन्त भेद मानने पर भी देश-काल भेद नहीं है। वैशेषिक द्वारा उक्त कथन आत्मा और आकाशको व्यापक मानकर किया गया है। वैशेषिक मतके अनुसार यद्यपि आत्मा और आकाश अत्यन्त भिन्न हैं, किन्तु दोनोंके व्यापक और नित्य होनेसे दोनोका देश और काल एक ही है।

उक्त कथन समीचीन नही है। क्योंकि आत्मा, और आकाश भी सर्वथा भिन्न नही हैं किन्तु उनमे भी सत्त्व, द्रव्यत्व आदिकी अपेक्षासे अभिन्नता है। यदि वैशेषिक भी आत्मा, और आकाशका सर्व मूर्तिमान् द्रव्योंके साथ सयोग होनेके कारण आत्मा और आकाशमें अभेद मानकर उनमें देश-काल भेद नही मानना चाहता है, तो अवयव-अवयवी आदिमें भी इसी प्रकार अभेद मानना चाहिये। किन्तु स्वमतका त्याग करके ही अभेद पक्ष स्वीकार किया जा सकता है। यदि कोई यह कहे कि रूप, रस आदिमें अत्यन्त भेद होने पर भी देश-काल भेद नही है, तो ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योंकि रूप, रस आदि भी न तो अपने आश्रयसे अत्यन्त भिन्न हैं, और न परस्परमें अत्यन्त भिन्न हैं। अत यदि नैयायिक-वैशेषिक अवयव-अवयवी आदिको सर्वथा पृथक् मानते हैं, तो उनमें देश-काल भेद भी मानना चाहिये। और यदि उनमें देश-काल भेद नही है, तो सर्वथा भेद भी नही हो सकता है। यथार्थ बात तो यह है कि अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि न तो सर्वथा भिन्न हैं, और न सर्वथा अभिन्न, किन्तु कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं। अर्थात् उनमे तादात्म्य सम्बन्ध है।

उक्त मतमे अन्य दोषोंको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

आश्रयाश्रयिभावान्न स्वातन्त्र्यं समवायिनाम् ।
इत्ययुक्तः स सम्बन्धो न युक्तः समवायिभिः ॥६४॥

यदि कहा जाय कि समवायियों में आश्रय-आश्रयीभाव होने से स्वातन्त्र्य न होनेके कारण देश-काल भेद नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जो समवायियोंके साथ असम्बद्ध है वह सम्बन्ध नहीं हो सकता है।

नैयायिक-वैशेषिक अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, कार्य-कारण, सामान्य-सामान्यवान् और विशेष-विशेषवानमें समवाय सम्बन्ध मानते है। समवाय

सम्बन्धसे अवयवी अवयवोंमें, गुण गुणीमें, कार्य कारणमें, सामान्य सामान्यवान्में और विशेष विशेषवान्में रहता है। जिनमें समवाय सम्बन्ध पाया जाता है वे समवायी कहलाते हैं। जैसे अवयव और अवयवी समवायी हैं। समवायियोंमें आश्रय-आश्रयीभाव होता है। अवयव आश्रय है, और अवयवी आश्रयी है। समवाय सम्बन्धसे पट तन्तुओं में रहता है। वैशेषिकका कहना है कि समवायियोंके सर्वथा भिन्न होने पर भी उनमें आश्रय-आश्रयी भाव होनेके कारण उन्हें भिन्न-भिन्न देशमे रहनेकी स्वतंत्रता नही है। यही कारण है कि उनमें देशभेद और कालभेद सम्भव नही है। अवयव और अवयवी पृथक् पृथक् हैं और समवायके द्वारा उनका परस्परमें सम्बन्ध होता है।

यहाँ प्रश्न यह है, कि समवाय अपने समवायियोंमें अन्य समवायसे रहता है या स्वतः। यदि समवाय अपने समवायियोंमे दूसरे समवायसे रहता है, तो उस समवायका सम्बन्ध भी समवायियोंके साथ तीसरे समवायसे होगा। इस प्रकार अनवस्था दोषका प्रसग उपस्थित होता है। इस दोषके भयसे यदि ऐसा माना जाय कि समवाय समवायियोंमें अन्य सम्बन्धकी अपेक्षाके विना स्वतः रहता है, तो अवयवी भी अपने अवयवोंमें समवायकी अपेक्षाके विना स्वतः रहेगा। तब समवाय सम्बन्ध माननेकी कोई आवश्यकता नही है। यदि यह कहा जाय कि समवाय अनाश्रित होनेसे अन्य सम्बन्धकी अपेक्षा नही रखता है, किन्तु असम्बद्ध ही रहता है, तो ऐसा कहना उचित नही है। क्योंकि जो स्वयं समवायियोंके साथ असम्बद्ध है, वह अवयवोंका अवयवीके साथ सम्बन्ध कैसे करा सकता है। यदि असम्बद्ध पदार्थमें भी सम्बन्धकी कल्पनाकी जाय तो दिशा, काल आदिको भी सम्बन्ध मानना चाहिए। इस प्रकार यह निश्चित है कि समवायका अपने समवायियोंके साथ सम्बन्ध नही बन सकता है। अतः सत्तासामान्यकी कल्पनाकी तरह समवायकी कल्पना भी व्यर्थ है। प्रत्येक पदार्थ स्वतः सत् होता है। असत् पदार्थ सत्तासामान्यके योगसे कभी भी सत् नही हो सकता है। अन्यथा बन्ध्यापुत्र भी सत् हो जायगा। और जो स्वतः सत् है उसमें सत्तासामान्यकी कल्पना व्यर्थ ही है। इसलिए यह ठीक ही कहा है कि समवायियोंसे अयुक्त (असम्बद्ध) समवायको सम्बन्ध मानना युक्त नही है।

सामान्य और समवायका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

सामान्यं समवायश्चाप्येकैकत्र समाप्तितः।
अन्तरेणाश्रयं न स्यान्नाशोत्पादिषु को विधिः ॥६५॥

सामान्य और समवाय अपने अपने आश्रयोंमें पूर्णरूपसे रहते हैं। और आश्रयके विना उनका सद्भाव नही हो सकता है। तब नष्ट और उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंमें उनके रहनेकी व्यवस्था कैसे बन सकती है।

इस कारिकामें सामान्य और समवायका एक साथ और एक ही आधारसे खण्डन किया गया है। वैशेषिक मानते हैं कि सामान्य एक, नित्य और व्यापक है। गोत्व आदि प्रत्येक सामान्य एक है, अनेक नहीं। सामान्य कभी उत्पन्न या नष्ट नही होता है, व्यक्ति ही उत्पन्न और नष्ट होते है। गोत्व सामान्य एक होकर भी सब गायोमें पूराका पूरा रहता है, इसलिए सामान्य व्यापक है। सामान्यकी तरह समवाय भी एक, नित्य और व्यापक है। सामान्य और समवाय अपने आश्रयोंके आश्रित रहते हैं।

जब सामान्य और समवाय आश्रित हैं, और अपने अपने आश्रयोंमें पूर्णरूपसे रहते हैं, तो इससे यह अर्थ निकलता है कि आश्रयके अभावमें सामान्य और समवाय नही रह सकते हैं। तब उत्पन्न होनेवाले पदार्थों-में सामान्य और समवायके रहनेकी व्यवस्था कैसे होगी। एक स्थानमें किसी पदार्थके उत्पन्न होने पर उसके साथ सामान्य और समवायका सम्बन्ध कैसे होगा। यदि यह कहा जाय कि सामान्य और समवाय वहाँ पहलेसे थे, तो ऐसा कहना ठीक नही है। क्योंकि आश्रयके विना वहाँ सामान्य और समवायका सद्भाव सम्भव नही है। यह भी संभव नही है कि वे अन्य व्यक्तिसे पूर्णरूपमें या अंश रूपसे यहाँ आते हैं। क्योंकि पूर्णरूपसे आनेमें पूर्वाधारका अभाव हो जायगा और एक देशसे आनेमें अंश सहित होनेका प्रसंग आयगा। ऐसा संभव नही है कि सामान्य और समवायका एक अंश पूर्व पदार्थमें रहे, और एक अंश उत्पन्न होनेवाले पदार्थमें रहे, क्योंकि वे दोनों निरंश हैं। पदार्थके उत्पन्न होने पर वहाँ सामान्य और समवाय उत्पन्न नही हो सकते हैं, क्योंकि वे दोनो नित्य हैं। इसी प्रकार जो पदार्थ नष्ट हो गया उसके सामान्य और समवाय कहाँ रहेंगे। किसी पदार्थके नष्ट हो जाने पर उसके सामान्य और समवाय निराश्रित हो जायगे। किन्तु वे निराश्रित नही रह सकते है। ऐसा मानना वैशे-षिकको भी इष्ट नही है। एक गायके उत्पन्न होने पर वहाँ गोत्व सामान्य स्वयं हो जाता है, क्योंकि वह अपना प्रत्यय कराता है। गायके मर जाने पर गोत्वका नाश नहीं होता है, क्योंकि वह नित्य है। तथा सब गायोंमें गोत्व पूराका पूरा रहता है। यह सब कथन परस्पर विरुद्ध है।

वैशेषिकका कहना है कि सत्तासामान्य द्रव्यादिक पदार्थोंमें पूर्णरूपसे रहता है, क्योंकि सबमें समानरूपसे सत् प्रत्यय होता है और उस प्रत्यय-का कभी विच्छेद भी नहीं होता है। समवाय भी अपने नित्य समवायियों-में सदा पूर्ण रूपसे रहता है। अनित्य जो समवायी हैं, उनमें भी उत्पन्न होने वालोंमें सत्ताका समवाय हो जाता है। उत्पत्ति और सत्तासमवायका एक ही काल है। सत्ता और समवायका न पहले असत्त्व था, न कहींसे उनका आगमन होता है, और न बादमें, उनकी उत्पत्ति होती है। अतः सामान्य और समवायके विषयमें पूर्वोक्त दूषण ठीक नहीं है।

उक्त कथन निर्दोष नहीं है। क्योंकि व्यापक होने पर भी एक सामान्य और समवायका अपने प्रत्येक आश्रयमें पूराका पूरा रहना संभव नहीं है। यदि वे अपने प्रत्येक आश्रयमें पूरेके पूरे रहते है, तो नियमसे उनको अनेक मानना होगा। ऐसी बात नहीं है कि सत्ता और समवाय-का कहीं विच्छेद न पाया जाता हो। क्योंकि प्रागभाव आदि अभावोंमें सत्ता और समवायके न रहनेसे उनका विच्छेद होता ही है। यह कहना भी ठीक नही है कि सर्वत्र सत्प्रत्यय समानरूपसे होता है, इसलिए सत्ता-सामान्य एक है। क्योंकि प्रागभाव आदि अभावोंमें भी तो अभावप्रत्यय समानरूपसे होता है। इसलिए सत्ताकी तरह अभावको भी एक ही मानना पड़ेगा। और अभावको एक माननेसे एक कार्यकी उत्पत्ति होनेपर सब कार्यों-के प्रागभावका अभाव हो जायगा। और प्रागभावके न रहनेसे सब कार्यों-की उत्पत्ति एक साथ हो जायगी। प्रध्वंस आदि अभावोंके अभावमें सब कार्य अनन्त, सर्वात्मक आदिरूप हो जायेंगे। इस प्रकार अभावके एक माननेमें जो दूषण दिये जाते हैं, वे दूषण भावके एक माननेमे भी दिये जा सकते हैं। सत्ताके एक माननेपर उत्पन्न होनेवाले एक पदार्थके साथ सत्ताका संबंध होनेसे अनुत्पन्न सब पदार्थोंके साथ भी सत्ताका सम्बन्ध हो जायगा। और नष्ट होने वाले एक पदार्थके साथ सत्ताके सम्बन्धका विच्छेद होने पर विद्यमान सब पदार्थोंके साथ भी सत्ताके सम्बन्धका विच्छेद हो जायगा।

इसलिए अभावकी तरह सत्ता और समवाय भी अनेक ही हैं। किन्तु सत्ता और समवाय सर्वथा अनेक नहीं हैं, वे कथंचित् एक भी हैं। विशेषकी अपेक्षासे सत्ता और समवायके अनेक होनेपर भी सामान्यकी अपेक्षासे वे एक हैं। सत्तासामान्य और सत्ताविशेष, समवायसामान्य और समवायविशेषका सद्भाव मानना आवश्यक है। सब पदार्थोंमें सत्ताकी समानरूपसे प्रतीतिका जो कारण है, वही सत्तासामान्य है। घटकी

सत्तासे पटकी सत्ता भिन्न है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थकी सत्ता भिन्न-भिन्न है। यही सत्ताविशेष है। सामान्य और विशेष परस्पर सापेक्ष होकर ही अर्थक्रिया करते हैं। सामान्य और समवाय इन दोनो पदार्थों-का नित्य व्यक्तियो मे सत्त्व सिद्ध होनेपर भी अनित्य व्यक्तियोमे उनका सद्भाव सिद्ध नही होता है। इस प्रकार वैशेषिकने जिस प्रकारके सामान्य और समवायकी कल्पनाकी है, वह ठीक नही है।

सामान्य और समवायके विषयमे दूषणान्तर बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं —

सामान्यसमवायौ चेदेकत्र समवायिनि: ।
ताभ्यामर्थो न सम्बद्धस्तानि त्रीणि खपुष्पवत् ॥६६॥

सामान्य और समवायका परस्परमे किसी प्रकारका सम्बन्ध नही है। सामान्य और समवायके साथ पदार्थका भी सम्बन्ध नही है। अत: सामान्य, समवाय और पदार्थ ये तीनो ही आकाशपुष्पके समान अवस्तु हैं।

इस कारिकामे इस बातका विचार किया गया है कि सामान्य, समवाय और अर्थ इनका परस्परमे सम्बन्ध हो सकता है या नही। सामान्य और समवायका परस्परमे सम्बन्ध सभव नही है। क्योकि सामान्य और समवायका सम्बन्ध करानेवाला अन्य कोई सम्बन्ध नही है। सयोग द्रव्योमे ही होता है, इसलिए सामान्य और समवायमे सयोग सम्बन्ध नही हो सकता है। समवायमे समवाय नही रहता है, अत: सामान्य और समवायमे समवाय सम्बन्ध नही है। परस्परमे असम्बद्ध सामान्य और समवायके साथ अर्थका सम्बन्ध होना भी सभव नही है। और अर्थमे सत्ताका समवाय न होनेसे अर्थका असत्त्व स्वत सिद्ध है। परस्परमे असम्बद्ध सामान्य और समवाय भी असत् ही हैं। इस प्रकार परस्परमें असम्बद्ध अर्थ आदि तीनो कूर्मरोमके समान अवस्तु सिद्ध होते हैं।

वैशेषिकका कहना है कि परस्परमे असम्बद्ध भी सामान्य, समवाय और अर्थ असत् नही हैं। उनमे स्वरूपसत्त्व पाया जाता है, इसलिए स्वरूप सत्त्वके कारण वे सत् हैं। कूर्मरोम आदिमे स्वरूप सत्त्व न होनेसे उनका दृष्टान्त ठीक नही है। वैशेषिकका उक्त कथन असगत ही है। यदि द्रव्य, गुण और कर्ममे स्वरूपसत्त्व रहता है, तो फिर उनमें सत्ताका समवाय माननेकी कोई आवश्यकता नही है। जिस प्रकार सामान्य, विशेष और समवायके स्वरूपसत् होनेसे उनमे सत्ताका समवाय नहीं है, उसी प्रकार द्रव्यादिकके भी स्वरूपसत् होनेसे उनमें भी सत्ताका

समवाय मानना व्यर्थ है। यदि स्वरूप सत् होनेपर भी द्रव्यादिकमें सत्ताका समवाय माना जाता है, तो फिर सामान्यादिकमें भी सत्ताका समवाय मानना चाहिए। जब द्रव्य, गुण और कर्मसे सत्ता सर्वथा भिन्न एवं असंबद्ध है, तो द्रव्यादिक में ही सत् प्रत्यय क्यो होता है, और कूर्मरोमादिकमें क्यों नही होता है। समवाय द्रव्यादिकमें सत्ताका सम्बन्ध नही करा सकता है। क्योंकि सत्ता, समवाय और द्रव्यादिक सब पृथक्-पृथक् हैं। जब तक समवायका द्रव्य और सत्ताके साथ सम्बन्ध नही होगा तब तक सत्ताका द्रव्यके साथ सम्बन्ध नही हो सकता है। कोई भी सम्बन्ध अपने सम्बन्धियोंसे असम्बद्ध रहकर उनका सम्बन्ध नही कहला सकता है। द्रव्यादिकसे पृथक् सत्ता अवस्तु है, और सत्तासे पृथक् द्रव्यादिक अवस्तु हैं। यही बात समवायके विषयमें है। समवायके अभावमे कार्य-कारण, गुण-गुणी आदिमें कार्यकारणभाव आदि मानना उचित नही है। क्योंकि खपुष्पके समान असत् समवाय कार्य-कारण आदिका परस्परमें सम्बन्ध करानेमें समर्थ नहीं हो सकता है। इसलिए कार्य-कारण, गुण-गुणी आदिमें भेदैकान्त मानना ठीक नहीं है।

यहाँ कोई (वैशेषिक विशेष) कहता है कि कार्य-कारण आदिमें अन्यतैकान्तकी सिद्धि न होनेसे कोई हानि नही है। क्योकि परमाणुओंके नित्य होनेके कारण सब अवस्थाओमे अन्यत्वका अभाव होनेसे परमाणुओमे अनन्यतैकान्त है।

इस मतका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

अनन्यतैकान्तेऽणूनां संघातेऽपि विभागवत् ।
असंहतत्वं स्याद्भूतचतुष्कं भ्रांतिरेव सा ॥६७॥

अनन्यतैकान्तमे परमाणुओंका संघात होनेपर भी विभागके समान अन्यत्व ही रहेगा। और ऐसा होनेपर पृथिवी आदि चार भूत भ्रान्त ही होंगे।

जो लोग परमाणुओको सर्वथा नित्य मानते हैं, और कहते हैं कि संयोग होनेपर भी उनमें किसी प्रकारका परिवर्तन नही होता है, उनका ऐसा मत अनन्यतैकान्त है। इसका अर्थ है कि परमाणु सदा अनन्य रहते हैं, और कभी भी अन्य नही होते हैं, वे जिस अवस्थामें हैं, उसी अवस्थामें रहते हैं, उस अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थाको प्राप्त नहीं होते हैं। इस मतमें सबसे बड़ा दोष यह आता है कि जिस प्रकार विभाग अवस्थामें परमाणु

पृथक्-पृथक् रहते हैं, उसी प्रकार संयोग अवस्थामें भी पृथक्-पृथक् रहेंगे। उनमें अवस्थान्तररूप परिणमन रूप परिवर्तन भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि यदि उनमें परिवर्तन होता है, तो उनका अनित्य होना दुर्निवार है। परमाणुओंमें किसी प्रकारके अतिशयके अभावमें पृथिवी आदि चार भूतोंकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकेगी। और ऐसा होनेपर स्कन्धरूप पृथिवी आदि चार भूतोंको भ्रान्त ही मानना पड़ेगा। किन्तु पृथिवी आदि चार भूतोंको भ्रान्त मानना प्रतीतिविरुद्ध है। देखा जाता है कि परमाणुओंके संयोगसे स्कन्धरूप अवयवीकी उत्पत्ति होती है, और उसीके द्वारा अर्थक्रिया होती है। परमाणुओंके समुदायसे रस्सी, घट आदि स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है। रस्सीकी सहायतासे कूपमेंसे पानी निकाला जाता है और घटमें पानी भरा जाता है। यदि रस्सी और घटके परमाणु पृथक्-पृथक् हों तो, न तो रस्सीकी सहायतासे पानी निकाला जा सकता है और न घटमें पानी भरा जा सकता है। अतः यह मानना आवश्यक है कि संयोग अवस्थामें परमाणुओंमें एक अतिशय उत्पन्न होता है जिसके कारण परमाणु अपने परमाणुरूप पूर्व स्वभावको छोड़कर स्कन्धरूप परिणमन करते हैं, और वह स्कन्ध अर्थक्रिया करनेमें समर्थ होता है। यदि सहज परमाणु अपने परमाणुरूपको नहीं छोड़ते हैं तो उनमें अतिशय माननेपर भी उनके द्वारा अर्थक्रिया संभव नहीं हो सकती है। पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चार स्कन्धात्मक भूतोंको सत्ता सबने स्वीकार की है। यदि परमाणु अपनी संयोग अवस्थामें विभक्त ही रहते हैं, तो चार भूतोंका मानना भ्रमके अतिरिक्त और क्या हो सकता है। पृथिवी आदि भूतोंको भ्रान्त माननेमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंमें विरोध स्पष्ट है। प्रत्यक्षके द्वारा बाह्यमें वर्ण, संस्थान आदि रूप स्कन्धोंकी तथा अन्तरङ्गमें हर्ष, विषाद आदिरूप आत्माकी प्रतीति सबको सिद्ध है। अतः कार्यके भ्रान्त होनेपर कारणका भ्रान्त होना स्वाभाविक ही है। और जब परमाणुओंमें उत्पन्न होनेवाले चार भूतरूप स्कन्ध भ्रान्त हैं, तो परमाणुओंका भ्रान्त होना भी अनिवार्य है।

इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्तिः कार्यलिङ्गं हि कारणम्।
उभयाभावतस्तत्स्थं गुणजातीतरच्च न ॥६८॥

कार्यके भ्रान्त होनेसे अणु भी भ्रान्त होंगे। क्योंकि कार्यके द्वारा कारणका ज्ञान किया जाता है। तथा कार्य और कारण दोनोंके अभावमें

उनमें रहने वाले गुण, जाति आदिका भी अभाव हो जायगा।

इस कारिकामें कार्यके भ्रान्त होनेसे कारणके भ्रान्त होनेका विचार किया गया है। ऐसा संभव नहीं है कि कार्य मिथ्या हो और कारण सत्य हो। यदि कार्य मिथ्या है, तो कारण भी मिथ्या अवश्य होगा। जो लोग ऐसा मानते हैं कि परमाणुओंके कार्य पृथिवी आदि चार भूत मिथ्या हैं, उनके मतमें पृथिवी आदि भूतोंके कारण परमाणु भी मिथ्या ही होंगे। परमाणु प्रत्यक्षसिद्ध तो हैं नहीं। किन्तु कार्यके द्वारा कारण का अनुमान करके परमाणुओंकी सिद्धिकी जाती है। 'परमाणुरस्ति घटा-द्यन्यथानुपपत्तेः'। परमाणु हैं, अन्यथा घटादिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है'। इस अनुमानसे परमाणुओंकी सिद्धि की जाती है। प्रत्यक्षके द्वारा तो स्थूलाकार स्कन्धकी ही प्रतीति होती है, और परमाणुओंकी प्रतीति कभी भी नहीं होती है। परमाणुओंका ज्ञान दो प्रकारसे ही संभव है—प्रत्यक्ष द्वारा या अनुमान द्वारा। प्रत्यक्षसे तो उनका ज्ञान होता नहीं है। कार्यके भ्रान्त होनेसे कार्यके द्वारा उनका अनुमान भी नहीं किया जा सकता है। ऐसी स्थितिमें परमाणुओंके जाननेका कोई उपाय ही शेष नहीं रह जाता है। प्रत्युत कार्यके भ्रान्त होनेसे परमाणुओंमे भ्रान्तता ही सिद्ध होती है। कार्य और कारण दोनोंके भ्रान्त होनेसे दोनोका अभाव स्वतः प्राप्त है। और दोनोंका अभाव होनेसे उनमें रहने वाले गुण, सामान्य, क्रिया आदिका भी अभाव हो जायगा। गुण आदि या तो कार्यमें रहेंगे या कारणमें। किन्तु दोनोंके अभावमें आधारके विना गुण आदि कैसे रह सकते हैं। गगनकुसुमके अभावमें उसमें सुगन्धि नहीं रह सकती है। अतः यदि गुण, जाति आदिका सद्भाव अभीष्ट है, तो कार्यद्रव्यको अभ्रान्त मानना भी आवश्यक है। और स्कन्धरूप कार्यद्रव्य अभ्रान्त तभी हो सकता है, जब परमाणु अपने पूर्वरूपको छोड़कर स्कन्धरूप पर्यायको धारण करें। इस प्रकार परमाणुओंमें अनन्यतैकान्त मानना ठीक नहीं है।

कार्य-कारणमें सर्वथा अभेदका खण्डन करनेके लिए आचार्य कहते हैं

एकत्वेऽन्यतराभावः शेषाभावोऽविनाभुवः ।
द्वित्वसंख्याविरोधश्च संवृतिश्चेन्मृषैव सा ॥६९॥

कार्य और कारणको सर्वथा एक मानने पर उनमेंसे किसी एकका अभाव हो जायगा। और एकके अभावमें दूसरेका भी अभाव होगा ही। क्योंकि उनका परस्परमें अविनाभाव है। द्वित्वसंख्याके माननेमें भी

विरोध होगा। संवृतिके मिथ्या होनेसे द्वित्वसंख्याको संवृतिरूप मानना भी ठीक नही है।

सांख्य मानते हैं कि कार्य और कारण सर्वथा एक हैं। प्रधान कारक है और महत् आदि उसके कार्य हैं। कार्य कारणसे भिन्न नहीं है, किन्तु अभिन्न है। यदि कार्य और कारण यथार्थमें सर्वथा एक हैं तो, या तो कारण ही रहेगा या कार्य ही रहेगा, या तो प्रधानका ही सद्भाव होगा या महत् आदिका ही। तथा कार्य और कारणमेसे किसी एकके अभावमें दूसरेका अभाव स्वत. हो जाता है। क्योकि कार्य और कारण परस्परमें अविनाभावी हैं। कारणके विना कार्य नही होता है, और कार्यके विना कारणका अस्तित्व भी सिद्ध नही हो सकता है। जब कोई कार्य हो तो कोई उसका कारण भी होता है। अत. कार्यके अभावमे कार्यके अविनाभावी कारणका अभाव निश्चित है, और कारणके अभावमे कारणके अविनाभावी कार्यका अभाव भी निश्चित है।

सांख्य यह भी मानते हैं कि महत् आदि कार्य प्रधानरूप कारणमें लीन हो जाते हैं। अत कार्यका अभाव होने पर भी एक नित्य कारण (प्रधान) के सद्भावमे कोई बाधा नही है। यदि ऐसा है तो कार्य और कारण एक हो जायगे। और ऐसा होने पर उनमे द्वित्वसंख्याका प्रयोग नही हो सकेगा। यदि द्वित्वसख्याका प्रयोग सवृतिमे होता है, तो सवृतिके मिथ्या होनेसे द्वित्व सख्या भी मिथ्या होगी। प्रधानकी सिद्धि किसी प्रमाणसे होती भी नही है। प्रत्यक्षसे प्रधानकी सिद्धि नही होती है। यदि प्रत्यक्षसे प्रधानकी सिद्धि होती हो तो किसीको प्रधानके विषय मे विवाद ही क्यो होता। अविनाभावी हेतुके अभावमे अनुमानसे भी प्रधानकी सिद्धि नही होती है। इसी प्रकार यदि पुरुष और चैतन्यमे भी सर्वथा अभेद है, तो दोनोंमें से किसी एकका ही सद्भाव रहेगा। चैतन्यका पुरुषमे प्रवेश होनेसे पुरुष मात्रका अथवा पुरुषका चैतन्यमे प्रवेश होनेसे चैतन्य मात्रका सद्भाव रहेगा। पुरुष और चैतन्य परस्परमे अविनाभावी हैं। अत. एकके अभावमे दूसरेका भी अभाव होना निश्चित है। पुरुषके अभावमें चैतन्यका अभाव और चैतन्यके अभावमें पुरुषका अभाव निश्चित है। बन्ध्यापुत्रका रूप और आकार अविनाभावी हैं। अत: बन्ध्यापुत्रके रूपके अभावमें आकारका अभाव और आकारके अभावमें रूपका अभाव स्वयं सिद्ध है। पुरुष और चैतन्य यदि सर्वथा एक हैं, तो उनमें द्वित्वसंख्याका प्रयोग भी नही होना चाहिए। तथा संवृतिसे द्वित्वसंख्याका प्रयोग माननेमें कोई

काम नहीं है। इस प्रकार कार्य और कारणमें अभेदैकान्तका मानना युक्ति और प्रतीतिविरुद्ध है।

उभयैकान्त तथा अवाच्यतैकान्तमें दोष बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

> विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
> अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥७०॥

स्याद्वादन्यायसे द्वेष रखनेवालोंके यहाँ विरोध आनेके कारण उभयैकात्म्य नहीं बन सकता है। और अवाच्यतैकान्तमें भी अवाच्य शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

अवयव-अवयवी आदि सर्वथा भिन्न हैं, और सर्वथा अभिन्न हैं, इस प्रकारका उभयैकान्त संभव नहीं है। क्योंकि उनमें परस्परमें विरोध होनेसे उनमें एकात्म्य अथवा तादात्म्य असंभव है। अनेकान्तवादमें अपेक्षाभेदसे भिन्न और अभिन्न पक्ष माननेमें कोई विरोध नहीं आता है, किन्तु एकान्तवादमें एक पक्ष ही माना जा सकता है, दोनों पक्षोंको मानना सर्वथा अनुचित है। ऐसा कैसे हो सकता है कि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तुसे सर्वथा भिन्न भी हो और सर्वथा अभिन्न भी हो। ऐसा माननेमें विरोध स्पष्ट है। इसी प्रकार अवाच्यतैकान्त पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि तत्त्वके सर्वथा अवाच्य होनेपर उसको 'अवाच्य' शब्दके द्वारा भी नहीं कहा जा सकता है। और यदि 'अवाच्य' शब्दके द्वारा उसका प्रतिपादन किया जाता है, तो वह अवाच्य नहीं रह सकता है।

इस प्रकार एकान्त पक्षमें अनेक दोष आते हैं। किन्तु स्याद्वादन्यायके मानने वालोंके यहाँ किसी भी दोषका आना संभव नहीं है! अवयव-अवयवी आदि कथंचित् भिन्न भी हैं और कथंचित् अभिन्न भी हैं। तत्त्व कथंचित् वाच्य भी है, और कथंचित् अवाच्य भी है। क्योंकि अपेक्षाभेदसे वस्तुमें अनेक धर्मोंके होनेमें कोई विरोध संभव नहीं है।

भेदैकान्त और अभेदैकान्तका निराकरण करके अनेकान्तकी सिद्धि करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

> द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः ।
> परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः ॥७१॥
> संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः ।
> प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥७२॥

द्रव्य और पर्यायमें कथंचित् ऐक्य (अभेद) है, क्योंकि उन दोनोंमें अव्यतिरेक पाया जाता है। द्रव्य और पर्याय कथंचित् नाना भी हैं, क्योंकि द्रव्य और पर्यायमे परिणामका भेद है, शक्तिमान् और शक्तिभावका भेद है, संज्ञाका भेद है, संख्याका भेद है, स्वलक्षणका भेद है, और प्रयोजनका भेद है। आदि शब्दसे कालादिके भेदका भी ग्रहण किया गया है।

उक्त कारिकामे द्रव्य शब्दके द्वारा गुणी, सामान्य और उपादान कारणका ग्रहण किया गया है। और पर्याय शब्दके द्वारा गुण, विशेष और कार्य द्रव्यका ग्रहण किया गया है, 'अव्यतिरेक' शब्द अशक्य-विवेचनका वाचक है। अर्थात् द्रव्य और पर्यायको एक दूसरेसे पृथक् नही किया जा सकता है। द्रव्य और पर्याय कथंचित् अभिन्न है, क्योंकि द्रव्यसे पर्यायको पृथक् नही किया जा सकता है, और पर्यायसे द्रव्यको पृथक् नही किया जा सकता है। यद्यपि द्रव्य और पर्यायका प्रतिभास भिन्न-भिन्न होता है, किन्तु प्रतिभासभेद होनेपर भी जिनको पृथक् नही किया जा सकता है, वे एक ही हैं। ज्ञानाद्वैतवादियोके यहाँ एक ही ज्ञान वेद्य और वेदकरूप होता है। वेद्य और वेदकरूपसे प्रतिभास भेद होनेपर भी दो ज्ञान नही माने गये। मेचकज्ञान (चित्रज्ञान) मे नील, पीत आदि अनेक आकार होनेपर भी मेचकज्ञान एक ही रहता है। इसी प्रकार द्रव्य और पर्याय भी एक ही वस्तु हैं, दो नही। ब्रह्माद्वैतवादी द्रव्यको ही वास्तविक मानते हैं, और बौद्ध पर्यायको ही वास्तविक मानते हैं। उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि दोनोमें से एकके अभावमें अर्थक्रिया नही हो सकती है। पर्यायरहित द्रव्य और द्रव्यरहित पर्याय अर्थक्रिया करनेमे समर्थ नही हो सकते हैं। अतः दोनोको वास्तविक मानना आवश्यक है। द्रव्य और पर्याय दोनोंके वास्तविक माननेपर प्रतिभासभेदके कारण दोनोको सर्वथा भिन्न-भिन्न मानना ठीक नही है। क्योंकि भिन्न सामग्री जन्य होनेके कारण प्रतिभासभेद अर्थभेदका नियामक नही हो सकता है। एक ही वृक्षमें दूर देशमे स्थित पुरुषको अस्पष्ट प्रतिभास और निकट देशमे स्थित पुरुषको स्पष्ट प्रतिभास होता है। एक ही घटमे चक्षुके द्वारा रूपका प्रतिभास और घ्राणके द्वारा गन्धका प्रतिभास होता है। यहाँ प्रतिभासभेद होनेपर भी न तो वृक्ष अनेक है, और न घट। यही बात द्रव्य और पर्यायके विषय में है। द्रव्य और पर्यायको एक माननेमें विरोध आदि दोषोंकी कल्पना वही कर सकता है, जिसे अनेकान्त शासनका बोध नही है। केवल एक द्रव्य ही है, अथवा अनेक पर्यायें ही हैं, इस प्रकार एकत्व और अनेकत्व पक्षके आग्रहमे न

तो कोई प्रमाण है और न कोई युक्ति है। इसलिए द्रव्य और पर्यायको सर्वथा भिन्न तथा सर्वथा अभिन्न न मानकर कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानना ही श्रेयस्कर है।

द्रव्य और पर्यायमें अभेदसाधक हेतुको बतलाकर अब भेदसाधक हेतुओंको बतलाते हैं। द्रव्य और पर्याय भिन्न-भिन्न है, क्योंकि उनके परिणमनमें विशेषता पायी जाती है। द्रव्यमें अनादि और अनन्तरूपसे स्वाभाविक परिणमन होता रहता है। और पर्यायोंका जो परिणमन होता है, वह सादि और सान्त होता है। द्रव्य शक्तिमान् है, और पर्यायें शक्तिरूप हैं। एक की द्रव्य संज्ञा (नाम) है, और दूसरेकी पर्याय संज्ञा है। द्रव्य एक है, पर्यायें अनेक हैं, द्रव्यका लक्षण दूसरा है, और पर्यायका लक्षण दूसरा है। द्रव्यका प्रयोजन अन्वयज्ञानादि कराना है, और पर्यायोंका प्रयोजन व्यतिरेकज्ञानादि करना है। द्रव्य त्रिकालगोचर होता है, और पर्याय वर्तमानकालगोचर होती है। इत्यादि कारणोंसे द्रव्य और पर्याय कथंचित् नाना हैं। उक्त हेतुओंमें भिन्न लक्षणत्व प्रमुख हेतु है।

द्रव्यका लक्षण है—'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्।' जिसमें गुण और पर्यायें पायी जावें वह द्रव्य है। द्रव्य आश्रय है, गुण और पर्यायें आश्रयी है। द्रव्यका दूसरा लक्षण भी है—'सद्द्रव्यलक्षणम्।' द्रव्यका लक्षण सत् है। अर्थात् जिसमें सत्त्व पाया जाय वह द्रव्य है। जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जाय वह सत् कहलाता है। द्रव्यमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जाता है। उत्पाद और व्यय द्रव्यकी पर्यायें ही हैं। पर्यायका लक्षण है—'तद्भावः परिणामः।' द्रव्यका जो परिणमन होता है, उसीका नाम परिणाम या पर्याय है। गुणका लक्षण है—'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।' जो द्रव्यके आश्रित हों और गुण रहित हों वे गुण कहलाते हैं। गुण सहभावी होते हैं, और पर्यायें क्रमभावी। इस प्रकार द्रव्य और पर्यायका लक्षण भिन्न-भिन्न है। इसलिए लक्षणभेदके कारण द्रव्य और पर्यायमें नानात्वका सद्भाव मानना युक्तिसंगत है। ऐसा नहीं हो सकता है कि द्रव्य और पर्यायमें लक्षण भेद तो हो, किन्तु नानात्व न हो। विरोधी धर्मोंके पाये जानेसे तथा निर्बाध प्रतिभासभेदके होनेसे वस्तुके स्वभावमें भेद मानना आवश्यक है। यदि ऐसा न माना जाय तो संसारके सब पदार्थोंको भी एक मानना पड़ेगा।

उक्त कथनका फलितार्थ यह है कि लक्षणभेद आदिके कारण द्रव्य और पर्याय कथंचित् नाना हैं, और अवक्तव्यविवेचनके कारण कथंचित्

एक हैं। इसीप्रकार कथंचित् उभय हैं, कथंचित् अवक्तव्य हैं, कथंचित् नाना और अवक्तव्य हैं। कथंचित् एक और अवक्तव्य हैं, कथंचित् उभय और अवक्तव्य हैं। इस प्रकार द्रव्य और पर्यायके भेदाभेदके विषयमें सत्त्व, असत्त्व आदि धर्मोंकी तरह सप्तभंगीकी प्रक्रियाको समझ लेना चाहिए।

पाचवाँ परिच्छेद

अपेक्षैकान्त और अनपेक्षैकान्तका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं ।

यद्यापेक्षिकसिद्धिःस्यान्न द्वयं व्यवतिष्ठते ।
अनापेक्षिकसि ी च न सामान्यविशेषता ॥७३॥

यदि पदार्थोंकी सिद्धि आपेक्षिक होती है, तो दोनोंकी सिद्धि नही हो सकती है। और अनापेक्षिक सिद्धि मानने पर उनमे सामान्य-विशेष-भाव नही बन सकता है।

इस कारिकामे इस बातपर विचार किया गया है कि धर्म, धर्मी आदिकी सिद्धि आपेक्षिक होती है या अनापेक्षिक। बौद्ध मानते हैं कि धर्म और धर्मीकी सिद्धि आपेक्षिक होती है। प्रत्यक्षबुद्धिमे कभी भी धर्म या धर्मीका प्रतिभास नही होता है। जो किसीकी अपेक्षासे धर्म है वही अन्य की अपेक्षासे धर्मी हो जाता है। किन्तु प्रत्यक्षके बाद होने वाली विकल्प-बुद्धिके द्वारा धर्म-धर्मी आदिके भेदकी कल्पना करली जाती है। 'शब्द. अनित्यः सत्त्वात्' 'सत् होनेसे शब्द अनित्य है।' यहाँ शब्दकी अपेक्षासे सत्त्व धर्म है, और शब्द धर्मी है, क्योकि शब्दमे सत्त्व पाया जाता है। किन्तु वही सत्त्व ज्ञेयत्वकी अपेक्षासे धर्मी हो जाता है। 'सत्त्वं ज्ञेयं' 'सत्त्व ज्ञेय है।' यहाँ सत्त्व धर्मी है, और ज्ञेयत्व उसका धर्म है। इससे प्रतीत होता है कि धर्म-धर्मी व्यवहार काल्पनिक है। यदि धर्म और धर्मी वास्त-विक होते तो धर्म सदा धर्म ही रहता और धर्मी सदा धर्मी ही रहता। पदार्थोंमें दूर और निकटकी कल्पना की जाती है। किसीकी अपेक्षासे वही पदार्थ दूर कहा जाता है, और अन्यकी अपेक्षासे वही पदार्थ निकट कहा जाता है। अत. आपेक्षिक होनेसे जिस प्रकार दूर और निकटकी कल्पना मिथ्या है, उसी प्रकार धर्म और धर्मीकी कल्पना भी मिथ्या है। प्रत्यक्षके द्वारा भी धर्म-धर्मीकी प्रतीति नही होती है। प्रत्यक्षके द्वारा जिस वस्तुका जैसा प्रतिभास होता है, वह वस्तु सदा वैसी ही रहती है। नील-स्वलक्षण अथवा ज्ञानस्वलक्षण । प्रतिभास सदा उसी रूपसे होता है, नीलका प्रतिभास कभी भी पीतरूपसे नहीं होता, और ज्ञानका प्रतिभास

कभी भी ज्ञेयरूपसे नहीं होता। अतः विशेषण-विशेष्य, सामान्य-विशेष, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, कार्य-कारण, साध्य-साधन, ग्राह्य-ग्राहक, इन सबकी सिद्धि आपेक्षिक होनेसे इन सबका व्यवहार काल्पनिक है। ऐसा बौद्धोंका अभिप्राय है।

बौद्धोंका उक्त कथन अविचारितरम्य है। यदि धर्म, धर्मी आदिकी सिद्धि आपेक्षिक है, और आपेक्षिक होनेसे धर्म-धर्मी आदि मिथ्या हैं, तो स्वयं बौद्धोंके यहाँ किसी तत्त्वकी व्यवस्था नही बन सकेगी। नील-स्वलक्षण और नीलज्ञान परस्पर सापेक्ष है। नील नीलज्ञानके विना नही होता है। यदि नीलज्ञानके विना भी नीलका सद्भाव माना जाय, तो असत् वस्तुका भी सद्भाव मानना होगा। नीलज्ञान भी नीलके विना नही हो सकता है। क्योंकि नीलसे नीलज्ञानकी उत्पत्ति होती है। बौद्ध मानते हैं कि जिनकी आपेक्षिक सिद्धि होती है, वे मिथ्या है। इस मान्यताके अनुसार नील और नीलज्ञानकी सिद्धि परस्पर सापेक्ष होनेसे वे भी मिथ्या होगे। जब दो वस्तुओका सद्भाव सर्वथा परस्परकी अपेक्षासे होता है, और स्वतत्ररूपसे किसीका अस्तित्व नही है, तो यह निश्चित है कि उनमेंसे किसीका भी सद्भाव सिद्ध नही हो सकता है। इस कारणसे सर्वथा आपेक्षिक सिद्धि मानना ठीक नही है। कार्य-कारण, सामान्य-विशेष आदिकी सत्ता सर्वथा आपेक्षिक नही है। किन्तु कार्य-कारण आदिकी स्वतन्त्र सत्ता है, कार्य अपनी सत्ताके लिये कारणकी अपेक्षा नही करता है, और कारण अपनी सत्ताके लिये कार्यकी अपेक्षा नही करता है। एक पदार्थमे किसीकी अपेक्षासे जो दूर व्यवहार, और अन्यकी अपेक्षासे निकट व्यवहार होता है, वह भी सर्वथा आपेक्षिक नही है। पदार्थोंमें ऐसी स्वाभाविक विशेषता मानना होगी, जिसके कारण उनमे दूर और अदूर व्यवहार होता है। यदि पदार्थोंमे ऐसी स्वाभाविक विशेषता नही है, तो समान देश, और समान कालमें स्थित दो पदार्थोंमे भी दूर और निकट व्यवहार होना चाहिए। इसलिये दूर-निकटकी तरह धर्म-धर्मी, कार्य-कारण आदि सर्वथा सापेक्ष नही हैं। क्योंकि उनको सर्वथा सापेक्ष मानने पर दोनोके अभावका प्रसंग उपस्थित होता है। इस प्रकार बौद्धोका सर्वथा सापेक्षवाद युक्तिसगत नही है।

वैशेषिक कहते हैं कि धर्म, धर्मी आदिकी सिद्धि सर्वथा अनापेक्षिक है। क्योंकि धर्म और धर्मी दोनों प्रतिनियत बुद्धिके विषय होते हैं।

उनको सर्वथा आपेक्षिक मानने पर वे गगनकुसुमकी तरह प्रतिनियत बुद्धिके विषय नही हो सकते हैं। वैशेषिकका उक्त मत असंगत है। क्योंकि धर्म-धर्मी आदिकी सत्ता सर्वथा निरपेक्ष माननेमें अनेक दोष आते हैं। यदि धर्म धर्मीसे सर्वथा निरपेक्ष हो, तो उसमे धर्म व्यवहार ही नही हो सकता है। उसको धर्म तभी कहते हैं, जब वह किसी धर्मीका धर्म होता है। इसी प्रकार धर्मीको भी धर्मसे सर्वथा निरपेक्ष होने पर वह धर्मी नही कहा जा सकता है। कोई धर्मी तभी होता है, जब उसमें किसी धर्मका सद्भाव हो। सामान्य और विशेषकी सिद्धि सर्वथा निरपेक्ष मानने पर न सामान्य सिद्ध हो सकता है, और न विशेष। अन्वय अथवा अभेदको सामान्य कहते हैं, और व्यतिरेक अथवा भेदको विशेष कहते हैं। भेदनिरपेक्ष अभेद अन्वयबुद्धिका विषय नही होता है, और अभेद निरपेक्ष भेद व्यतिरेकबुद्धिका विषय नहीं होता है। सामान्यरहित विशेष और विशेषरहित सामान्य दोनो खरविषाणके समान असत् हैं। इसी प्रकार कार्य-कारण, गुण-गुणी आदिकी सत्ता भी यदि सर्वथा निरपेक्ष मानी जायगी तो, ऐसा मानने पर सबके अभावका प्रसग उपस्थित होता है। कारणनिरपेक्ष कार्य और कार्यनिरपेक्ष कारण, गुणीनिरपेक्ष गुण और गुणनिरपेक्ष गुणी आदिकी कल्पना कैसे की जा सकती है। अत. धर्म, धर्मी आदिकी सत्ता सर्वथा आपेक्षिक अथवा सर्वथा अनापेक्षिक मानना किसी भी प्रकार उचित नही है।

उभयैकान्त तथा अवाच्यतैकान्तमे दूषण बतलानेके लिये आचार्य कहते हैं—

> विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
> अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥७४॥

स्याद्वादन्यायसे द्वेष रखनेवालोंके यहाँ विरोध आनेके कारण उभयैकात्म्य नही बन सकता है। और अवाच्यतैकान्तपक्षमें भी 'अवाच्य' शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

धर्म-धर्मी आदिकी सत्ता सर्वथा सापेक्ष है, यह एक एकान्त है। उनकी सत्ता सर्वथा निरपेक्ष है, यह दूसरा एकान्त है। ये दोनों एकान्त एक साथ नहीं माने जा सकते। क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध है। यदि धर्म-धर्मीकी सत्ता सर्वथा सापेक्ष है, तो उसे निरपेक्ष नही माना जा

सकता। और उनकी निरपेक्ष सत्ता मानने पर उसे सापेक्ष नहीं माना जा सकता। इसलिये धर्म-धर्मी आदि सर्वथा निरपेक्ष भी हैं, और सर्वथा सापेक्ष भी हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। जो लोग अवाच्यतैकान्त मानते हैं, उनका भी पक्ष ठीक नहीं है। क्यों कि यदि धर्म, धर्मी आदि सर्वथा अवाच्य हैं, तो अवाच्य शब्दके द्वारा भी उनका कथन नहीं हो सकता है।

आपेक्षिक सिद्धि आदिके एकान्तका निराकरण करके अनेकान्तकी सिद्धि करनेके लिये आचार्य कहते हैं—

धर्मधर्म्यविनाभावः सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया।
न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारकज्ञापकाङ्गवत् ॥७५॥

धर्म और धर्मीका अविनाभाव ही परस्परकी अपेक्षासे सिद्ध होता है, उनका स्वरूप नहीं। वह तो कारक और ज्ञापकके अंगोंकी तरह स्वतः सिद्ध है।

धर्म धर्मी आदिकी सत्ता न तो सर्वथा सापेक्ष है और न सर्वथा निरपेक्ष। किन्तु कथञ्चित् सापेक्ष और कथञ्चित् निरपेक्ष पक्षका आश्रय लेना ही उचित है। धर्म और धर्मीका परस्परमें जो अविनाभाव है, केवल वही परस्परकी अपेक्षासे सिद्ध होता है। धर्म और धर्मीका स्वरूप परस्परकी अपेक्षा से सिद्ध नहीं होता। वह तो स्वतः सिद्ध है। धर्मीके विना धर्म नहीं रह सकता है और धर्मके विना कोई धर्मी नहीं कहा जा सकता है। यह धर्म और धर्मीका अविनाभाव है। सामान्य और विशेषमें भी अविनाभाव ही परस्पर सापेक्ष है, स्वरूप नहीं। सामान्यके विना विशेष व्यवहार नहीं हो सकता है और विशेषके विना सामान्य व्यवहार नहीं हो सकता है। किन्तु दोनोंका स्वरूप स्वयं सिद्ध है। सामान्यके स्वरूपके लिये विशेषकी अपेक्षा नहीं होती है, और विशेषके स्वरूपके लिये सामान्यकी अपेक्षा नहीं होती है। कारकके अङ्ग कर्ता और कर्म हैं। ज्ञापकके अंग प्रमाण और प्रमेय हैं। कर्ता और कर्म परस्पर सापेक्ष भी हैं, और निरपेक्ष भी। कर्ता अपने स्वरूपके लिये कर्मकी अपेक्षा नहीं रखता है और कर्म अपने स्वरूपके लिये कर्ताकी अपेक्षा नहीं रखता है। इसी प्रकार प्रमाण भी अपने स्वरूपके लिये प्रमेयकी अपेक्षा नहीं रखता है और प्रमेय अपने स्वरूपके लिये प्रमाणकी अपेक्षा नहीं रखता है। किन्तु कर्ता और कर्म व्यवहार तथा प्रमाण और प्रमेय व्यवहार परस्पर सापेक्ष होते हैं। कर्ता कोई तभी कहा जाता है जब उसका

कोई कर्म होता है, और कर्म कोई तभी होता है जब उसका कोई कर्ता होता है। यही बात प्रमाण-प्रमेय, धर्म-धर्मी आदिके विषयमें है।

इसलिये धर्म, धर्मी आदिकी सत्ता १ कथंचित् आपेक्षिक है, २. कथंचित् अनापेक्षिक है, ३. कथंचित् उभयरूप है। ४. कथंचित् अवक्तव्य है। ५ कथंचित् आपेक्षिक और अवक्तव्य है, ६. कथंचित् अनापेक्षिक और अवक्तव्य है, तथा ७ कथंचित् उभय और अवक्तव्य है। इस प्रकार धर्म-धर्मी आदिकी आपेक्षिक और अनापेक्षिक सत्ताके विषयमें सत्त्व, असत्त्व आदि धर्मोंकी तरह सप्तभंगीकी प्रक्रियाको समझ लेना चाहिये।

षष्ठ परिच्छेद

उपेय तत्त्वकी व्यवस्था करके उपाय तत्त्वकी व्यवस्था बतलानेके प्रसंगमें हेतुसिद्ध और आगमसिद्ध पदार्थोंकी सदोषता बतलानेके लिये आचार्य कहते हैं—

सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः ।
सिद्धं चेदागमात् सर्वं विरुद्धार्थमतान्यपि ॥७६॥

यदि हेतुसे सबकी सिद्धि होती है, तो प्रत्यक्ष आदिसे पदार्थोंका ज्ञान नहीं होना चाहिए। और यदि आगमसे सबकी सिद्धि होती है, तो परस्परविरुद्ध अर्थके प्रतिपादक मतोंकी भी सिद्धि हो जायगी।

लौकिक और परीक्षक पुरुष पहले उपेय तत्त्वकी व्यवस्था करके बादमें उपाय तत्त्वकी व्यवस्था करते हैं। कृषि-कार्यमें प्रवृत्ति करनेवाले कृषकको कृषिजन्य धान्य आदि उपेयका जब निश्चय हो जाता है तभी वह खेतको जोतने आदि उपायोंमें प्रवृत्ति करता है। मोक्षार्थी पुरुष मोक्षके उपाय सम्यग्दर्शनादिमें तभी प्रवृत्ति करते हैं, जब उनको उपेय तत्त्व मोक्षकी निश्चित व्यवस्थाका अनुभव हो जाता है। जिनके यहाँ मोक्ष तत्त्वकी व्यवस्था नहीं है उनको उसके उपाय खोजनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। चार्वाक मोक्षको नहीं मानते हैं, तो उनके मतमें मोक्षके उपायोंकी भी कोई व्यवस्था नहीं है। प्रमाणके विषयभूत द्रव्य, गुण आदि पदार्थ उपेय कहलाते हैं, और उनके जानने वाले प्रमाणको उपाय कहते हैं।

कुछ लोग मानते हैं कि हेतुसे ही सब तत्त्वोंकी सिद्धि होती है। युक्तिसे जिस वस्तुकी सिद्धि नहीं होती है उसको वे देखकर भी माननेको तैयार नहीं हैं। यहाँ तक कि वे प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभासकी व्यवस्था भी अनुमानसे करते हैं। यह प्रत्यक्ष है, और यह प्रत्यक्षाभास है, इसका निर्णय प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है, किन्तु इसका निर्णय अनुमानसे ही होता है। क्योंकि अर्थ और अनर्थका विवेचन अनुमानके ही आश्रित है। यदि अर्थ और अनर्थका विवेचन प्रत्यक्षके आश्रित माना जाय तो ऐसा माननेमें संकर, व्यतिकर आदि दोषोंकी संभावना रहेगी। अतः अनुमानसे जो वस्तु सिद्ध हो वही ठीक है, अन्य नहीं।

युक्ति पूर्वक विचार करने इन लोगोंका मत असंगत ही प्रतीत होता है। यदि प्रत्यक्षसे किसी उपेय तत्त्वका ज्ञान न हो तो अनुमानसे भी किसी वस्तुका ज्ञान संभव नही होगा। प्रत्यक्षसे धर्मीका, साधनका और उदाहरणका ज्ञान न होने पर किसी वस्तुकी सिद्धिके लिये अनुमानकी प्रवृत्ति कैसे होगी। एक अनुमानमें धर्मी आदिका ज्ञान अनुमानान्तरसे मानने पर अनवस्था दोषका प्रसग अनिवार्य है। अतः धर्मी आदिके साक्षात्कारके विना स्वार्थानुमानकी प्रवृत्ति असंभव है। और ऐसी स्थितिमें परार्थानुमानरूप शास्त्रोपदेशका भी कोई प्रयोजन शेष नही रहता है। इस कारणसे अभ्यस्त विषयमें प्रत्यक्षसे ज्ञान मानना आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तो शब्दमें सत्त्व हेतुसे अनित्यत्वकी सिद्धि करते समय धर्मी (शब्द) और लिङ्ग (सत्त्व) का ज्ञान न होनेसे स्वार्थानुमानके अभावमे परार्थानुमानरूप शास्त्रोपदेश भी नहीं बन सकेगा।

कुछ लोगोंका मत है कि आगमसे ही सब पदार्थोंकी सिद्धि होती है। आगमके विना प्रत्यक्ष पदार्थमे भी यथार्थ निर्णय नही हो सकता है। वैद्य रोगीको प्रत्यक्ष देखकर और नाड़ी-परीक्षा द्वारा रोगका अनुमान करके भी [illegible]शास्त्रका सहारा लेता है। जिस अनुमानका पक्ष आगमसे बाधित होता है वह अनुमान साध्यका साधक नही होता है। ब्रह्मकी सिद्धि आगमसे ही होती है। प्रत्यक्ष और अनुमानकी प्रवृत्ति अविद्यासे प्रतिभासित पर्यायोंमें ही होती है। शुद्ध सन्मात्र तत्त्व तो आगमके द्वारा ही जाना जाता है। इस प्रकार इन लोगोंके मतसे आगम ही एक सम्यक् प्रमाण है, और आगमके द्वारा सिद्ध वस्तु ही ठीक है।

उक्त मत समीचीन नही है। यदि आगम ही एक मात्र प्रमाण हो तो जितने आगम हैं उन सबको प्रमाण मानना पड़ेगा। किन्तु हम देखते हैं कि जितने आगम हैं उन सबमें परस्पर विरोधी तत्त्वोंका प्रतिपादन किया गया है। इसलिये आगममात्रको प्रमाण माननेवालोंके अनुसार परस्पर विरुद्धार्थप्रतिपादक सब आगम प्रमाण हो जायेंगे। और ऐसा होने पर परस्परमें विरुद्ध अर्थोंकी सिद्धि भी हो जायगी। जिस आगममे सम्यक् उपदेश हो वह प्रमाण है, और इससे भिन्न आगम अप्रमाण है, ऐसा निर्णय युक्तिको छोड़कर कैसे किया जा सकता है। अतः केवल आगमको प्रमाण माननेवालोंको भी युक्ति तो मानना ही पड़ेगी। युक्तिसहित जो आगम है वह प्रमाण है, और युक्तिरहित आगम अप्रमाण है, इस प्रकारकी व्यवस्थाके अभावमें सब आगमोंमें प्रमाणताका निराकरण नही किया जा

सकता है। आगमसे परम ब्रह्मकी सिद्धि होती है, यज्ञ आदि कर्मकाण्डकी नहीं, इसका नियामक क्या है ? श्रावण प्रत्यक्षमें प्रामाण्यके अभावमें वैदिक शब्दोंको सुनकर वेदके अर्थका भी यथार्थ निश्चय नहीं हो सकेगा। अनुमान प्रमाणके अभावमें 'वैदिकशब्दजन्य श्रावण प्रत्यक्ष प्रमाण है, अन्य नहीं', ऐसा निर्णय भी नहीं हो सकता है। इसलिये आगमसे तत्त्वकी सिद्धि करनेवालोंको भी प्रत्यक्ष और अनुमान मानना आवश्यक है।

कुछ लोगोंका कहना है कि प्रत्यक्ष और अनुमानसे ही पदार्थोंकी सिद्धि होती है, आगमसे नहीं। यह बात भी ठीक नहीं है। चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण और इनके फल आदिका ज्ञान ज्योतिषशास्त्रसे ही होता है। ज्योतिषशास्त्रके बिना प्रत्यक्ष या अनुमानसे ग्रहण आदि का ज्ञान नहीं हो सकता है। जो योगी प्रत्यक्षदर्शी हैं उनको भी योगिप्रत्यक्षकी उत्पत्तिके पहले परोपदेश (आगम)का आश्रय लेना पड़ता है। परोपदेशके अभावमें योगिप्रत्यक्षकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार परार्थानुमानरूप श्रुतमयी और स्वार्थानुमानरूप चिन्तामयी भावनाके चरम प्रकर्षके बिना अतीन्द्रिय प्रत्यक्षकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अनुमानसे ज्ञान करने वालोंको भी अत्यन्त परोक्ष पदार्थोंमें साध्यके अविनाभावी साधन-का ज्ञान करनेके लिए आगमका आश्रय लेना पड़ता है। अतः केवल अनु-मानसे या केवल आगमसे अथवा आगमनिरपेक्ष प्रत्यक्ष और अनुमानसे ही पदार्थोंकी सिद्धि मानना किसी भी प्रकार ठीक नहीं है।

उभयैकान्त तथा अवाच्यतैकान्तका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

> विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
> अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥७७॥

स्याद्वादन्यायसे द्वेष रखने वालोंके यहाँ विरोध आनेके कारण उभ-यैकान्त नहीं बन सकता है। और अवाच्यतैकान्तमें भी 'अवाच्य' शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

पहले यह बतलाया जा चुका है कि पदार्थोंकी सिद्धि न तो केवल हेतुसे होती है, और न केवल आगमसे। जो लोग केवल हेतुसे ही पदार्थों की सिद्धि मानते हैं, अथवा केवल आगमसे ही पदार्थोंकी सिद्धि मानते हैं, उनके मतोंका खण्डन भी किया जा चुका है। अब यदि कोई दोनों एकान्तों-को मानना चाहे तो ऐसा मानना सर्वथा असंभव है। क्योंकि परस्परमें सर्वथा विरोधी दोनों बातें कैसे हो सकती हैं। यदि पदार्थोंकी सिद्धि हेतुसे

ही होती है, तो आगमसे उनकी सिद्धि नहीं हो सकती है। और यदि आगमसे ही सब पदार्थोंकी सिद्धि होती है, तो हेतुसे उनकी सिद्धि नही हो सकती है। इसलिए उभयैकान्त किसी भी प्रकार सभव नही है। उक्त दोषोंके भयसे कुछ लोग तत्त्वको अवाच्य कहते हैं। उनका कहना भी युक्तिसंगत नही है। यदि तत्त्व अवाच्य है तो उसके विषयमे चुप रहना ही अच्छा है। उसको अवाच्य कहनेसे तो वह 'अवाच्य' शब्दका वाच्य हो जाता है। इस प्रकार उभयैकान्त और अवाच्यतैकान्त दोनो ही अयुक्त एव असगत हैं।

एकान्तका निराकरण करके अनेकान्तकी सिद्धि करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम् ।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साध्यमागमसाधितम् ॥७८॥

वक्ताके अनाप्त होने पर जो हेतुसे सिद्ध किया जाता है वह हेतुसाधित है। और वक्ताके आप्त होने पर उसके वचनोंसे जो सिद्ध किया जाता है वह आगमसाधित है।

यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि आप्त क्या है, और अनाप्त क्या है। जो जहाँ अविसंवादक होता है वह वहाँ आप्त होता है। और इससे विपरीत अनाप्त होता है। तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होनेसे आप्तके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वोमें कोई विरोध न होनेका नाम अविसवाद है। आप्तके वचन अविसवादी होते हैं। और अनाप्तके वचनोंमें सर्वत्र विरोध पाया जाता है। अत अनाप्तके वचन विसंवादी होते हैं। वक्ता जहाँ आप्त होता है, वहाँ उसके वचनोंसे साध्यकी सिद्धिकी जाती है। तथा आप्तके वचनोंमे की गयी सिद्धिमे किसी दोष या विरोधकी संभावना नही रहती है। आप्त यथार्थ वक्ता होता है। उसमे यथार्थ ज्ञान आदि गुण पाये जाते हैं। किन्तु जहाँ वक्ता आप्त नही है वहाँ उसके वचनो पर कोई विश्वास नही किया जा सकता है। जहाँ वक्ता अनाप्त होता है वहाँ उसके वचनोंसे साध्यकी सिद्धि नही हो सकती है। इसलिए वहाँ साध्यकी सिद्धिके लिए हेतुका मानना आवश्यक है।

जो लोग अतीन्द्रिय पदार्थोंमें केवल श्रुति (वेद) को ही प्रमाण मानते हैं वे आप्त नही हो सकते हैं, चाहे वे जैमिनि हो या अन्य कोई। क्योंकि उनको श्रुतिके अर्थका परिज्ञान नहीं है। जैमिनि आदि सर्वज्ञ

नहीं है, क्योंकि उनका ज्ञान दोष और आवरणके क्षयसे उत्पन्न नहीं हुआ है। जैमिनिका ज्ञान श्रुतिजन्य है। और श्रुतिकी अविसंवादिताका निर्णायक कोई नहीं है। 'श्रुति यथार्थरूपसे पदार्थोंको जानती है, इसलिए वह अविसंवादी है' ऐसा कहनेमें अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है। क्योंकि श्रुतिसे यथार्थज्ञान सिद्ध होने पर अविसंवादिता सिद्ध हो सकती है, और अविसंवादिता सिद्ध होने पर यथार्थज्ञान सिद्ध हो सकता है। अचेतन होनेसे श्रुति स्वयं भी प्रमाणभूत नहीं है। संनिकर्षके अचेतन होने पर भी अविसंवादी ज्ञानमें कारण होनेसे उसको उपचारसे प्रमाण माना जा सकता है, किन्तु श्रुति तो उपचारसे भी प्रमाण नहीं हो सकती है। क्योंकि श्रुति अविसंवादी ज्ञानकी कारण नहीं है। आप्तका वचन प्रमाण कहलाता है, क्योंकि वह प्रमाणका कारण और कार्य दोनों है। आप्तके वचनोंसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है, इसलिए वह प्रमाणका कारण है। और केवलज्ञानसे आप्त वचनकी उत्पत्ति होती है, इसलिए वह प्रमाणका कार्य है। किन्तु श्रुतिके आप्त प्रतिपादित न होनेसे उसमें प्रमाण व्यपदेश संभव नहीं है।

अनाप्तके वचन होनेसे मीमांसक पिटकत्रय (सुत्त पिटक, विनय पिटक और अभिधर्म पिटक) को प्रमाण नहीं मानते हैं। यही बात श्रुतिके विषयमें भी कही जा सकती है। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है कि वक्ताके दोषके कारण पिटकत्रय अप्रमाण हैं, और वक्ताके न होनेसे श्रुति प्रमाण है, क्योंकि पिटकत्रयका कोई वक्ता है और श्रुतिका कोई वक्ता नहीं है, इसका निर्णय कैसे होगा। यदि कहा जाय कि स्वयं बौद्धोंने पिटकत्रयको पौरुषेय माना है, और मीमांसकने श्रुतिको अपौरुषेय माना है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि किसीके माननेसे पौरुषेयत्वकी और न माननेसे अपौरुषेयत्वकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। यदि ऐसा माना जाय कि पिटकत्रयके कर्ताका स्मरण होनेके कारण उसका कोई कर्ता है, और श्रुति के कर्ताका स्मरण न होनेसे उसका कोई कर्ता नहीं है, तो ऐसा मानना भी असंगत है। क्योंकि यदि माननेमात्रसे कोई व्यवस्था होती है, तो बौद्ध ऐसा भी कह सकते हैं कि पिटकत्रयका भी कोई कर्ता नही है, और उसके कर्ताका स्मरण भी नहीं होता है। अतः पिटकत्रय और वेदमें कोई विशेषता नहीं है। यदि वेद प्रमाण हैं, तो पिटकत्रयको भी प्रमाण मानना चाहिए। यदि पिटकत्रयका वक्ता बुद्ध है, तो वेदका भी वक्ता ब्रह्मा आदि है। बौद्ध अष्टक ऋषियोंको वेदका कर्ता मानते हैं। वैशेषिक और पौराणिक ब्रह्माको वेदका कर्ता

मानते हैं। और जैन कालासुरका वेदका कर्ता मानते हैं। इसलिए वेदका कोई कर्ता नहीं है, ऐसा कहने मात्रसे वेदमें कर्ताका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है।

मीमांसक मानते हैं कि वेद अपौरुषेय है। और वेदका अध्ययन सदा वेदके अध्ययन पूर्वक होता चला आया है। क्योंकि वह वेदका अध्ययन है, जैसे कि वर्तमानकालीन वेदका अध्ययन[1]। किसीने वेदको बनाकर वेदका अध्ययन नहीं कराया। किन्तु यही बात पिटकत्रय आदि ग्रन्थोंके विषयमें भी कही जा सकती है। ऐसा कहनेमें कोई भी बाधा नहीं है कि पिटकत्रयका अध्ययन उनके अध्ययन पूर्वक ही होता आया है। और किसीने बनाकर उनका अध्ययन नही कराया। इसलिए वेदकी तरह पिटकत्रयको भी अपौरुषेय मानना चाहिए, अथवा पिटकत्रयकी तरह वेदको भी पौरुषेय मानना चाहिए। वेदमें जो अतिशय पाये जाते हैं, वे सब अतिशय पिटकत्रय आदिमें भी पाये जाते हैं। वैदिक मंत्रोंमें जो शक्ति है, वह अन्य मंत्रोंमें भी है। ऐसा नहीं है कि वैदिक मंत्रोंका प्रयोग करनेसे ही उनका फल मिलता है, और अन्य मंत्रोंका प्रयोग करनेसे उनका फल नहीं मिलता है। मीमांसक वेदको अनादि मानते हैं। किन्तु अपौरुषेयत्वकी तरह वेदमें अनादित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता है। थोडी देरके लिए वेदको अनादि मान भी लिया जा, फिर भी वेदमें पौरुषेयत्वके अभावमें अविसंवादिता नही आ सकती है। यदि अनादि होनेसे ही कोई बात प्रमाण हो तो मातृविवाहादिरूप म्लेच्छव्यवहार तथा चोरी, व्यभिचार आदिको भी प्रमाण मानना चाहिए[2]। वेदको अपौरुषेय मानने पर भी उसमें प्रमाणता नहीं आसकती है, क्योंकि प्रमाणताके कारणभूत गुण वेदमें नहीं हैं। गुणोंका आश्रय पुरुष है। और पुरुषके अभावमें वेद-में गुण कैसे आ सकते हैं।

मीमांसकोंका कहना है कि वेदका कोई कर्ता न होनेसे वेदमें दोषों-का सर्वथा अभाव है। दोषोंका होना पुरुषके आश्रित है। और जब वेदका

---

१ वेदाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा॥—मीमांसाश्लोकवा०
अ० ७ श्लोक ३५५

२. म्लेच्छादिव्यवहाराणां नास्तिक्यवचसामपि। अनादित्वात् तथाभावः।
—प्रमाणवा० ३।२४६

कर्ता कोई पुरुष नहीं है, तो उसमें दोषोंका सद्भाव किसी भी प्रकार संभव नहीं है। दोष निराश्रित नही रह सकते हैं[1]। और दोषोंके अभावमें प्रमाणताके कारणभूत गुणोंका सद्भाव वहाँ स्वयमेव सिद्ध है। मीमांसकका उक्त कथन भी विचारसंगत नही है। कारणमें दोषोंकी निवृत्ति होनेसे कार्यमे भी दोषोकी निवृत्ति हो जाती है, ऐसा मीमांसक स्वयं मानते हैं। तब दोष रहित कर्ताकी भी संभावना होनेसे उसके वचनोंमें दोषका अभाव होनेके कारण प्रामाण्य क्यों नही होगा। जब निर्दोष कर्ताके होनेसे पौरुषेय वचनोंमें दोषोंका अभाव है, तब प्रामाण्यके कारणभूत गुणोंका सद्भाव स्वतः सिद्ध हो जाता है।

यदि मीमांसक किसी पुरुषको निर्दोष नही मानते हैं, तो वेदके अर्थका सम्यक् व्याख्यान भी नही हो सकता है। अल्पज्ञ पुरुषोंको वेदका व्याख्याता माननेसे वेद वाक्योंका अर्थ मिथ्या भी किया जा सकता है[2]। क्योंकि वेद वाक्यका यह अर्थ है और यह अर्थ नही है, ऐसा शब्द तो कहते नहीं हैं, किन्तु रागादि दोषोंसे दूषित पुरुष ही अर्थकी कल्पना करते हैं। यद्यपि यह कहा जाता है कि अनादि परम्परासे वेदका अर्थ ऐसा ही चला आ रहा है, किन्तु दुष्ट अभिप्राय आदिके कारण वेदका अर्थ अन्यथा भी तो किया जा सकता है। वेदके अध्ययन करनेवाले, व्याख्यान करनेवाले और सुननेवाले, सभीको रागादि दोषोंसे दूषित होनेके कारण वेद वाक्योंका सम्यक् अर्थ होना नितान्त असंभव है[3]। वचनोमे जो प्रमाणता आती है वह

---

१ शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितम्।
तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः॥
तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसंभवात्।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः॥

मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६२-६३

२. अयमर्थो नायमर्थो इति शब्दा वदन्ति न।
कल्प्योऽयमर्थः पुरुषैस्ते च रागादिसंयुताः॥
तेनाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतौ।
खादेत् श्वमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमा॥

—प्रमाणवा० ३।३१२, ३१९

३ स्वयं रागादिमान्नार्थं वेत्ति वेदस्य नान्यतः।
न वेदयति वेदोऽपि वेदार्थस्य कुतो गतिः॥

—प्रमाणवा० ३।३१८

वक्ताके गुणोंकी अपेक्षासे आती है। वक्ता यदि निर्दोष है, तो उसके वचन प्रमाण हैं, और वक्ता यदि सदोष है, तो उसके वचन अप्रमाण हैं। जैसे पीलिया रोगवाले व्यक्तिको चक्षुसे पदार्थोंका जो ज्ञान होता है, वह मिथ्या है, और निर्दोष चक्षुसे जो ज्ञान होता है, वह सम्यक् है। जो पुरुष अनाप्त है, असर्वज्ञ है, रागादि दोषोंसे दूषित है, वह दूसरोंको पदार्थोंका सम्यक् ज्ञान नहीं करा सकता है। जैसे जन्मसे अन्धा पुरुष दूसरे पुरुषोंको रूपका दर्शन नहीं करा सकता है। वेदके निर्दोष होनेपर ही वेदके द्वारा पदार्थोंका ठीक-ठीक ज्ञान हो सकता है। और वेदमें निर्दोषता दो प्रकारसे संभव है—वेदके अपौरुषेय होनेसे अथवा वेदका कर्ता गुणवान् होनेसे। किन्तु जो बात युक्तिसंगत हो उसीका मानना ठीक है। वेदमें अपौरुषेयत्व युक्तिविरुद्ध है, और पौरुषेयत्व युक्तिसंगत है। अथवा वेदको अपौरुषेय मान लेनेपर भी उसमें जो बात युक्तिसंगत हो उसीका मानना ठीक है। जैसे 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्', 'द्वादश मासाः संवत्सरः'—'अग्नि ठण्डकी औषधि है', 'बारह मासोंका एक वर्ष होता है' इत्यादि वाक्योंको मानना ठीक है। किन्तु जो बात युक्तिसंगत नहीं है उसका मानना ठीक नहीं है। जैसे 'अग्निष्टोमेन यजेत् स्वर्गकामः'—'जिसको स्वर्गकी इच्छा हो वह अग्निष्टोम यज्ञ करे' इत्यादि वाक्योंको मानना ठीक नहीं है। इसलिए जो बात तर्ककी कसौटीपर ठीक उतरती हो उसीका मानना ठीक है, सबका नहीं। जब यह सिद्ध हो जाय कि यह आप्तका वाक्य है, तो उसको प्रमाण माननेमें कोई बाधा नहीं है। अतः जैसे हेतुवाद (अनुमान) प्रमाण है, वैसे ही आज्ञावाद (आगम) भी प्रमाण है।

यहाँ ऐसी शंका करना ठीक नहीं है कि सराग पुरुषोंको भी वीतराग-के समान आचरण करनेके कारण आप्त और अनाप्तका निर्णय करना कठिन है। क्योंकि जितने एकान्तवाद हैं, वे सब स्याद्वादके द्वारा प्रतिहत हो जाते हैं। जिसके वचन युक्ति और आगमसे अविरोधी हैं वह निर्दोष है, और जिसके वचन युक्ति और आगमसे विरुद्ध हैं, वह सदोष है। इस प्रकार निर्दोषता और सदोषताके ज्ञानसे आप्त और अनाप्तका निर्णय करना कठिन नहीं है। जिसके वचन अनिश्चित हैं, उसमें आप्त और अनाप्तका संदेह हो सकता है। किन्तु जिसके वचन निश्चित हैं, उसके आप्त होनेमें कोई सन्देह नहीं है। आप्तका व्युत्पत्त्यर्थ होता है—आप्तिर्यस्यास्तीत्याप्तः—जिसमें आप्ति पायी जाय वह आप्त है। आप्ति-के दो अर्थ होते हैं—'साक्षात्करणादि-गुणः सम्प्रदायाविच्छेदो वा'—सूक्ष्म,

अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंका साक्षात्कार करना आप्ति है, अथवा सम्प्रदायका विच्छेद न होना आप्ति है। साक्षात्कार आदि गुणोंके बिना पदार्थका प्रतिपादन करना वैसा ही है, जैसे एक अन्धा व्यक्ति दूसरे अन्धे व्यक्तिको मार्ग-दर्शन कर रहा हो। सम्प्रदायके अविच्छेदका तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञसे तत्प्रणीत आगम होता है, और आगमके अर्थका अनुष्ठान करनेसे कोई पुरुष सर्वज्ञ बन जाता है। और वही आप्त कहलाता है।

इसलिए कोई पदार्थ कथंचित् हेतुसे सिद्ध होता है, क्योंकि उसमें इन्द्रिय, आगम आदिकी अपेक्षा नहीं होती है, कोई पदार्थ कथंचित् आगमसे सिद्ध होता है, क्योंकि उसमें हेतु, इन्द्रिय आदिकी अपेक्षा नहीं होती है। इसी प्रकार कोई पदार्थ कथंचित् दोनों प्रकारसे सिद्ध होता है। पदार्थ कथंचित् अवक्तव्य भी है। इत्यादि प्रकारसे पदार्थोंकी हेतुसे सिद्धि और आगमसे सिद्धिमें पहलेकी तरह सप्तभंगी प्रक्रियाको लगा लेना चाहिए।

सप्तम परिच्छेद

अन्तरङ्ग अर्थको ही प्रमाण माननेवालोंके मतका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

> अन्तरङ्गार्थतैकान्ते बुद्धिवाक्यं मृषाखिलम् ।
> प्रमाणाभासमेवातस्तत्प्रमाणादृते कथम् ॥७९॥

केवल अन्तरङ्ग अर्थकी ही सत्ता है, ऐसा एकान्त माननेपर सब बुद्धि और वाक्य मिथ्या हो जावेंगे। और मिथ्या होनेसे वे प्रमाणाभास ही होंगे। किन्तु प्रमाणके विना कोई प्रमाणाभास कैसे हो सकता है।

इस कारिकाके द्वारा ज्ञानाद्वैतका खण्डन किया गया है। ज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि अन्तरङ्ग अर्थ (ज्ञान) ही सत्य है, और जड़रूप बहिरङ्ग अर्थ असत्य है, क्योंकि उसमें स्वयं प्रतिभासित होनेकी योग्यता नहीं है। जो स्वयं प्रतिभासित नहीं होता है, वह सत्य नहीं है। ज्ञानाद्वैतवादियोंका उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है। यदि अन्तरङ्ग अर्थ ही सत्य है, तो बुद्धि और वाक्य भी मिथ्या हो जायगे। यहाँ बुद्धिका तात्पर्य अनुमानसे है, तथा वाक्यका तात्पर्य आगमसे है। जब ज्ञानको छोड़कर अन्य कोई वस्तु सत्य नहीं है, तो अनुमान और आगम कैसे सत्य हो सकते हैं। असत्य होनेसे अनुमान और आगम प्रमाणाभास होंगे। क्योंकि जो सत्य है वह प्रमाण होता है, और जो असत्य है वह प्रमाणाभास होता है। किन्तु प्रमाणभास व्यवहार प्रमाणके होनेपर ही हो सकता है। जब ज्ञानाद्वैतवादियोंके यहाँ कोई प्रमाण ही नहीं है, तो बुद्धि और वाक्यको प्रमाणाभास कैसे कह सकते हैं।

ज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि एक अद्वितीय ज्ञानका ही वेद्य-वेदकरूपसे प्रतिभास होता है। अन्य लोग वेद्य और वेदकका जैसा लक्षण मानते हैं, वह ठीक नहीं है। अर्थ वेद्य है, और अर्थग्राहक ज्ञान वेदक है, अथवा ज्ञानगत नीलाकार वेद्य है, और नीलाकार ज्ञान वेदक है, इत्यादि प्रकारसे वेद्य और वेदकका लक्षण माना गया है। सौत्रान्तिक मानते हैं कि जो अर्थसे उत्पन्न हो, अर्थके आकार हो, और जिसमें अर्थका अध्यवसाय हो, वह ज्ञान है। यह लक्षण ठीक नहीं है। ज्ञान चक्षुसे उत्पन्न

होता है, फिर भी चक्षुको नही जानता है, एक ही अर्थको जाननेवाले प्रथम ज्ञानसे जो द्वितीय ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रथम ज्ञानसे उत्पन्न भी है, और प्रथम ज्ञानके आकार भी है, फिर भी प्रथम ज्ञानको नही जानता है। शुक्ल शखमें जो पीताकार ज्ञान होता है, उसमें तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य और तदध्यवसाय होनेपर भी वह मिथ्या है। इसलिए तदुत्पत्ति आदिको यथार्थ ज्ञानका लक्षण मानना सदोष एवं मिथ्या है। नैयायिक मानते हैं कि अर्थ ज्ञानका निमित्त कारण होता है, अर्थात् ज्ञान इन्द्रिय, और पदार्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न होता है। यह लक्षण भी सदोष है। क्योंकि इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न ज्ञान अर्थको ही जानता है, इन्द्रियको नहीं। चाक्षुषज्ञान चक्षुको नही जानता है। इसलिए ज्ञानमात्र ही तत्त्व है, ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कोई वेद्य नही है। ज्ञान ही स्वय वेद्य और वेदक है।

ज्ञानाद्वैतवादीका उक्त कथन तब ठीक होता, जब वह किसी प्रमाणकी सत्ता स्वीकार करता। प्रमाणके अभावमें स्वपक्षसिद्धि, और परपक्षदूषण किसी भी प्रकार संभव नहीं है।

विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञानको क्षणिक, अनन्यवेद्य, और नानासन्तानवाला मानते हैं, किन्तु किसी प्रमाणके अभावमे इस प्रकारके ज्ञानकी सिद्धि कैसे हो सकती है। स्वसवेदनसे ज्ञानाद्वैतकी सिद्धि मानना ठीक नहीं है। जैसे नित्य, एक और सर्ववेद्य ब्रह्मकी सिद्धि स्वसंवेदनसे नही होती है, वैसे ही क्षणिकादिरूप ज्ञानकी सिद्धि भी स्वसवेदनसे नही हो सकती है। ज्ञानका स्वसंवेदन मान भी लिया जाय, किन्तु निर्विकल्पक होनेसे वह तो असंवेदनके समान ही होगा। तथा उसमें प्रमाणान्तर (विकल्पज्ञान)की अपेक्षा मानना ही पड़ेगी। विज्ञानाद्वैतवादी क्षणिक आदिरूप जिस प्रकारके ज्ञानका वर्णन करते हैं उस प्रकारका ज्ञान कभी भी अनुभवमें नहीं आता है। इसलिये स्वसंवेदनसे विज्ञानमात्रकी सिद्धि नहीं होती है। अनुमानसे भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि हेतु और साध्यमें अविनाभावका ज्ञान करानेवाला कोई प्रमाण नहीं है। निर्विकल्पक होनेसे तथा निकटवर्ती पदार्थोंको विषय करनेके कारण प्रत्यक्षसे अविनाभावका ज्ञान नहीं हो सकता है। अनुमानसे अविनाभावका ज्ञान करनेमें अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष आते हैं। और मिथ्याभूत विकल्पादिके द्वारा विज्ञानमात्रकी सिद्धि करने पर बहिरर्थकी सिद्धि भी उसी प्रकार क्यों नहीं हो जायगी।

यदि किसी प्रमाणसे विज्ञानाद्वैतकी सिद्धि होती है, तो उसी प्रमाणसे बहिरर्थकी भी सिद्धि होनेमें कौनसी बाधा है। स्वपक्षकी सिद्धि और पर-पक्षमें दूषण देनेके लिए किसी प्रमाणभूत ज्ञानको मानना परमावश्यक है। प्रमाणके अभावमें विज्ञानमें सत्यता और बहिरर्थोमें असत्यता सिद्ध नहीं हो सकती है। विज्ञानाद्वैतवादीका यह कहना भी ठीक नहीं है कि जो ग्राह्याकार और ग्राहकाकार होता है, वह भ्रान्त होता है, जैसे स्वप्नज्ञान, इन्द्रजाल आदिका ज्ञान। और स्वप्नज्ञानकी तरह प्रत्यक्ष आदि भी भ्रान्त हैं। यहाँ हम विज्ञानाद्वैतवादीसे पूँछ सकते हैं कि स्वप्नज्ञानमें भ्रान्तताका ग्राहक जो ज्ञान है, वह भ्रान्त है, या अभ्रान्त। यदि भ्रान्त है, तो भ्रान्त ज्ञानके द्वारा स्वप्नज्ञान आदिमें भ्रान्तता सिद्ध नहीं हो सकती है। और यदि वह ज्ञान अभ्रान्त है, तो उसीकी तरह प्रत्यक्षादि-को भी अभ्रान्त मानना चाहिए।

इसलिए यदि विज्ञानमात्र ही तत्त्व है, तो यह निश्चित है कि अनुमान, आगम आदि सब मिथ्या हैं। अर्थात् प्रमाणभास हैं। किन्तु प्रमाणाभास प्रमाणके बिना नहीं हो सकता है। ऐसी स्थितिमें विज्ञाना-द्वैतवादीको प्रमाणका सद्भाव अवश्य मानना पड़ेगा। विज्ञानमात्रकी सिद्धिके लिए भी प्रमाणका सद्भाव मानना आवश्यक है। और जब प्रमाणका सद्भाव मान लिया तो उस प्रमाणसे जैसे अन्तरङ्ग अर्थकी सिद्धि होती है, वैसे ही बहिरङ्ग अर्थकी भी सिद्धि हो सकती है। अतः केवल अन्तरङ्ग अर्थका सद्भाव मानना युक्तिविरुद्ध एवं असंगत है।

यदि माना जाय कि अनुमानसे विज्ञप्तिमात्रताकी सिद्धि होती है, तो अनुमानमें भी साध्य और साधनकी विज्ञप्तिको विज्ञानरूप माननेमें जो दोष आते हैं, उन्हें बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

साध्यसाधनविज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता।
न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञाहेतुदोषतः ॥८०॥

साध्य और साधनके ज्ञानको यदि विज्ञानमात्र ही माना जाय तो प्रतिज्ञादोष और हेतुदोषके कारण न कोई साध्य बन सकता है और न हेतु।

विज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि अर्थ और ज्ञानमें अभेद है, क्योंकि अर्थ

और ज्ञानकी उपलब्धि एक साथ देखी जाती है[1]। नील पदार्थ और नील-ज्ञान भिन्न-भिन्न नही हैं। जैसे तिमिर रोग वालेको एक चन्द्रमें भ्रान्तिके कारण दो चन्द्रका दर्शन हो जाता है, वैसे ही एक ही विज्ञानमें भ्रान्तिके कारण अर्थ और ज्ञानकी प्रतीति हो जाती है। अत सहोपलम्भनियम-रूप हेतुके द्वारा ज्ञान और अर्थमे अभेदरूप साध्यकी सिद्धि होती है।

विज्ञानाद्वैतवादियोंका उक्त कथन समीचीन नही है। क्योंकि सहोप-लम्भनियमरूप हेतुसे ज्ञान और अर्थमें अभेद सिद्धि करने पर प्रतिज्ञादोष होता है। यहाँ प्रतिज्ञादोषका तात्पर्य स्ववचन विरोधसे है। साध्ययुक्त पक्षके वचनको प्रतिज्ञा कहते हैं। विज्ञप्तिमात्र तत्त्वके मानने पर धर्म, धर्मी, हेतु, दृष्टान्त आदिका भेद कैसे बन सकता है। यहाँ अर्थ और ज्ञान धर्मी है, अभेद साध्य अथवा धर्म है, सहोपलम्भनियम हेतु है, और द्विचन्द्र दृष्टान्त है। विज्ञानमात्रके सद्भावमे इन सबका सद्भाव नहीं हो सकता है। धर्म और धर्मीके भेदके वचनका तथा हेतु और दृष्टान्तके भेदके वचनका ज्ञानाद्वैतके वचनके साथ विरोध है। अर्थात् ज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान और अर्थमे अभेदकी सिद्धि करता हुआ भी हेतु, दृष्टान्त आदिके भेदका वचन करता है। इस प्रकार अपने वचनोके विरोधको अपने वचनों-के द्वारा प्रकट करने वाला ज्ञानाद्वैतवादी स्वस्थ कैसे हो सकता है। जैसे कि 'मैं मौनी हूँ' ऐसा कहने वाला व्यक्ति स्ववचन विरोध स्वय करता है। यदि विज्ञप्तिमात्रकी ही सत्ता है, तो धर्म-धर्मी आदिके भेदका वचन नही हो सकता है। और यदि भेदका वचन किया जाता है, तो विज्ञप्ति-मात्रकी सिद्धि नही हो सकती है। विज्ञानाद्वैतवादी प्रतिज्ञामें विशेषण-विशेष्यभावको भी नही मान सकते हैं। क्योंकि ऐसा माननेपर प्रतिज्ञादोष होगा। प्रतिज्ञामे विशेषण-विशेष्यभावका होना आवश्यक है। नील और

1. सकृत्संवेद्यमानस्य नियमेन धिया सह।
विषयस्य ततोऽन्यत्वं केनाकारेण सिध्यति॥
भेदश्च भ्रान्तविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये।
संविन्नियमो नास्ति भिन्नयोर्नीलपीतयो.॥
नार्थोऽसंवेदन: कश्चिदनर्थं वापि वेदनम्।
दृष्टं संवेद्यमानं तत् तयोर्नास्ति विवेकिता॥
तस्मादर्थस्य दुर्वारं ज्ञानकालावभासिनः।
ज्ञानाद्व्यतिरेकित्वम्।

—प्रमाणवा० २।३८८–३९१

नीलबुद्धि विशेष्य है, और अभेद उनका विशेषण है। यदि विज्ञप्तिमात्रकी ही सत्ता है, तो विशेषण और विशेष्यका भेद नहीं हो सकता है। और यदि भेद है तो विज्ञप्तिमात्रकी सिद्धि नहीं हो सकती है। इसप्रकार प्रतिज्ञा-दोषका प्रतिपादन किया गया है।

इसीप्रकार हेतुदोष भी होता है। विज्ञानाद्वैतवादी पृथगनुपलम्भरूप (पृथक् उपलभ न होना) हेतुसे ज्ञान और अर्थमें भेदाभावकी सिद्धि करते हैं। किन्तु पृथगनुपलम्भ (हेतु) और भेदाभाव (साध्य) ये दोनों अभावरूप हैं, इस कारणसे इनमें किसी प्रकारका सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे गगनकुसुम और शशविषाणमें कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है। धूम और पावकमें कार्यकारणसम्बन्धका ज्ञान होने पर ही धूमसे पावककी सिद्धि होती है। पृथगनुपलभ हेतु और भेदाभाव साध्यमें किसी प्रकारके सम्बन्धके अभावमें पृथगनुपलभ हेतुसे भेदाभाव साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। इसी प्रकार असहानुपलंभ (एक साथ अनुपलभ न होना) हेतुसे ज्ञान और अर्थमें अभेदकी सिद्धि करना भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ हेतु अभावरूप है, और साध्य भावरूप है। किन्तु भाव और अभावमें कोई सम्बन्ध नहीं होता है। तादात्म्य, तदुत्पत्ति आदि सम्बन्ध भावमें ही पाये जाते हैं, अभावमें नहीं। अर्थ और ज्ञानमें पृथग-नुपलभ हेतुसे भेदाभावमात्र सिद्ध होने पर भी ज्ञानमात्रकी सिद्धि नहीं हो सकती है। उससे तो केवल इतना ही सिद्ध होता है कि अर्थ और ज्ञानमें भेदाभाव है। और यदि पृथगनुपलभ हेतुसे विज्ञानमात्रकी सिद्धि होती है, तो अनुमान और विज्ञानमात्रमें ग्राह्यग्राहकभाव मानना पड़ेगा। तथा अनुमान और विज्ञानमात्रमें ग्राह्य-ग्राहकभाव मान लेने पर विज्ञान और अर्थमें भी ग्राह्यग्राहकभाव माननेमें कौन सी आपत्ति है।

कुछ लोग सह शब्दको एक शब्दका पर्यायवाची मानकर सहोपलंभ-नियमरूप हेतुके स्थानमें एकोपलभनियमरूप हेतुका प्रयोग करते हैं। ज्ञान और अर्थमें अभेद है, क्योंकि उनमें एकोपलम्भनियम है। अर्थात् एक (ज्ञान) का ही उपलभ होता है, अन्य (अर्थ) का नहीं। यहाँ भी साध्य और साधनके एक होनेसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। अर्थ और ज्ञानमें अभेद (एकत्व) साध्य है, और एकोपलंभ हेतु है। ये दोनों एक ही अर्थको कहते हैं। इसी प्रकार अर्थ और ज्ञानमें एकज्ञानग्राह्यत्व हेतुसे एकत्व सिद्ध करना भी ठीक नहीं है। क्योंकि यह हेतु व्यभिचारी है। द्रव्य और पर्याय एक ज्ञानसे ग्राह्य होने पर भी एक नहीं हैं। सौत्रा-

न्तिक मतमें रूपादि परमाणु चक्षुरादि एक ज्ञानसे ग्राह्य होने पर भी एक नहीं हैं। ज्ञानाद्वैतवादीके यहाँ ज्ञान परमाणु भी सुगतके एक ज्ञानसे ग्राह्य होने पर भी एक नहीं हैं। अतः एकज्ञानग्राह्यत्व हेतुसे अर्थ और ज्ञानमें एकत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है। अर्थ और ज्ञान अनन्यवेद्य होनेसे एक हैं, ऐसा कहना भी उचित नहीं है। अनन्यवेद्यका अर्थ है कि ज्ञानसे भिन्न अर्थका अनुभव नहीं होता है। किन्तु वास्तविक बात यह है कि अर्थकी प्रतिति ज्ञानसे भिन्न ही होती है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि अर्थका अनुभव बाह्यमे होता है, और ज्ञानका अनुभव अन्तरङ्गमें होता है। इसलिए जो ज्ञान और अर्थमे अशक्यविवेचनत्व हेतुसे अभेदकी सिद्धि करते हैं, उनका वैसा करना भी ठीक नहीं है। अशक्यविवेचनत्वका अर्थ है कि ज्ञान और अर्थको पृथक्-पृथक् नही किया जा सकता है। किन्तु ज्ञान और अर्थकी प्रतीति अन्तरङ्ग और बहिरङ्गमें होनेसे उनमे शक्यविवेचनत्वकी ही उपलब्धि होती है। और यह बात सबको अनुभव सिद्ध है।

विज्ञानाद्वैतवादी अर्थ और ज्ञानमें सहोपलम्भ (एक साथ उपलम्भ) होनेसे उनमें अभेदकी सिद्धि करते हैं। यदि यहाँ सहोपलम्भका अर्थ एकदा उपलम्भ (एक समयमें उपलंभ) किया जाय, तो भी ठीक नही है। क्योकि एकक्षणवर्ती अनेक पुरुषोंके ज्ञानोका भी एक समयमें उपलंभ होता है, फिर भी वे ज्ञान एक नही हैं। अर्थ और ज्ञानमे अभेदकी सिद्धिके लिए प्रदत्त दो चन्द्रदर्शनका दृष्टान्त भी साध्य-साधन विकल है। क्योकि अभेदरूप साध्य और सहोपलंभरूप साधन वस्तुमे ही पाये जाते हैं, भ्रान्तिमें नहीं। सहोपलंभनियमके होनेपर भी भेदकी सिद्धिमें कोई विरोध नहीं है। रूप और रसमें सहोपलम्भ नियम पाया जाता है, फिर भी वे एक नहीं हैं। विज्ञानाद्वैतवादी दूसरोंको समझानेके लिए शास्त्रोंकी रचना करते हैं, और उनका ज्ञान करते हैं, फिर भी वचनका तथा वचनजन्य तत्त्वज्ञानका निषेध करते हैं, यह कितने बड़े आश्चर्यकी बात है। इस प्रकार विज्ञानाद्वैतवादीका वचन न किसी बातकी सिद्धि करता है, और न किसी बातमें दूषण देता है। इसलिए विज्ञानाद्वैतवादी-का निग्रह स्वयं हो जाता है। अतः विज्ञानाद्वैतकी सिद्धि न स्वतः होती है और न परतः। तथा अन्तरङ्गार्थतैकान्त माननेमें बुद्धि और वाक्य, जो कि उपाय तत्त्व हैं, भी संभव नहीं हैं।

बहिरङ्गार्थतैकान्तमें दोष बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं :—

बहिरङ्गार्थतैकान्ते प्रमाणाभासनिह्नवात् ।
सर्वेषां कार्यसिद्धिः स्याद्विरुद्धार्थाभिधायिनाम् ॥८१॥

केवल बहिरग अर्थका ही सद्भाव है, ऐसा एकान्त माननेपर प्रमाणाभासका निह्नव हो जानेसे विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवाले सब लोगोंके कार्यकी सिद्धि हो जायगी।

केवल बहिरग अर्थका ही सद्भाव मानना बहिरङ्गार्थतैकान्त है। इसका यह भी तात्पर्य है कि जितना भी बहिरग अर्थ है, वह सब सत्य है। प्रत्येक ज्ञानका विषय, चाहे वह सम्यग्ज्ञान हो या मिथ्याज्ञान, सत्य है। इस प्रकारके मतमे सब ज्ञान प्रमाण हैं, कोई भी ज्ञान प्रमाणभास नही है। प्रमाणाभासका सर्वथा अभाव है। और प्रमाणभासके अभावमे परस्परमे विरुद्ध अर्थोंका कथन करनेवाले लोगोके वचनोको तथा ज्ञानको प्रमाण मानना पड़ेगा।

बहिरगार्थतैकान्तवादियोका मत है कि जितना भी ज्ञान है, वह सब साक्षात् अथवा परम्परासे बहिरर्थसे सम्बद्ध है। क्योंकि उसमे विषयाकारका निर्भास होता है। अग्निका प्रत्यक्ष भी होता है, और अनुमान भी। प्रत्यक्षज्ञान साक्षात् अग्निसे सम्बद्ध है, और अनुमानज्ञान परम्परासे बहिरर्थसे सम्बद्ध है। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोमे बहिरर्थ अग्निका निर्भास होता है। स्वप्नज्ञानमें भी बहिरर्थका निर्भास होता है। इसलिए स्वप्नज्ञान भी साक्षात् या परम्परासे बहिरर्थसे सम्बद्ध है। इस प्रकार सब ज्ञानोमे बाह्य विषयका अभिनिवेश होता है।

उक्त मत समीचीन नही है। उक्त मतके अनुसार परस्परमें विरुद्ध अर्थके प्रतिपादक शब्दोंका और स्वप्नादिज्ञानोंके अपने विषयके साथ वास्तविक सम्बन्धका प्रसंग प्राप्त होगा। इस मतके अनुसार 'एक तृणके अग्रभागपर सौ हाथियोंका समूह रहता है', इत्यादिवचन, स्वप्नज्ञान, मरीचिकामे जलज्ञान आदि सब प्रमाण हो जावेंगे। कोई कहता है कि अर्थ सर्वथा क्षणिक है, दूसरा कहता है कि अर्थ सर्वथा अक्षणिक है। उक्त दोनो वचनों तथा ज्ञानोंका सम्बन्ध बाह्य अर्थसे होनेके कारण दोनोको प्रमाण मानना पड़ेगा।

बहिरर्थवादीका कहना है कि अर्थ दो प्रकारका होता है, एक लौकिक और दूसरा अलौकिक। लौकिक अर्थ वह है, जिसमें लौकिक जनोंको परितोष होता है। जैसे नदीमें जल। वह सत्य ज्ञानका विषय

माना गया है। और अलौकिक अर्थ वह है, जिसमें लौकिक जनोंको पारितोष नहीं होता है, किन्तु विद्वज्जनोंको परितोष होता है। जैसे मरीचिकामें जल। मरीचिकामें जलका ज्ञान विना विषयके नहीं होता है, किन्तु वहाँ विषयके अलौकिक होनेसे लौकिक जनोंको उसका प्रतिभास नहीं होता है। जो विषय सर्वथा अविद्यमान है, उसका न तो प्रतिभास हो सकता है, और न उसका कथन ही हो सकता है। स्वप्नज्ञान, खर-विषाणज्ञान आदि मिथ्या माने गये ज्ञान भी अलौकिक अर्थको विषय करते हैं। अतः वे निर्विषय और मिथ्या नही हैं।

बहिरर्थैकान्तवादीका उक्त कथन सर्वथा अलौकिक ही है। यदि सब वचनों और सब ज्ञानोका विषय सत्य है, तो ससारमे असत्य नामकी कोई वस्तु ही न रहेगी। बाह्यार्थवादी स्वप्नज्ञान आदि ज्ञानोंको साव-लम्बन सिद्ध करता है। किन्तु इससे विपरीत भी सिद्ध किया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि स्वप्नप्रत्ययकी तरह सब जाग्रत्प्रत्यय निरालम्बन हैं। यदि बहिरर्थवादी विषयाकारनिर्भास हेतुसे स्वप्नादि प्रत्ययोंको भी जाग्रत्प्रत्ययोंकी तरह सालम्बन सिद्ध करता है, तो उसी हेतुसे जाग्रत्प्रत्ययोंको भी स्वप्नादि प्रत्ययोकी तरह निरालम्बन सिद्ध करमें कौनसी बाधा है। इस प्रकार अन्तरगार्थतैकान्तवाद सर्वथा असंगत है। जो लोग उसे मानते हैं, उनके यहाँ प्रमाणाभासके अभावमें सब प्रकारके वचनों तथा ज्ञानोंमें प्रमाणताका प्रसग प्राप्त होगा, और परस्पर विरुद्ध अर्थोंकी सिद्धि भी हो जायगी।

उभयैकान्त तथा अवाच्यतैकान्तका निरास करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

> विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
> अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥८२॥

स्याद्वादन्यायसे द्वेष रखनेवालोंके यहाँ विरोध आनेके कारण उभयै-कान्त नहीं बन सकता है। और अवाच्यतैकान्त माननेमें भी 'अवाच्य' शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

बहिरर्थैकान्त और अन्तरङ्गार्थैकान्त परस्पर विरोधी हैं। बहिर-र्थैकान्तके सद्भावमे अन्तरङ्ग अर्थका सद्भाव नहीं हो सकता है। इसी प्रकार अन्तरङ्गार्थैकान्तके सद्भावमें बहिरर्थका सद्भाव नहीं हो सकता

है। इस लिए दोनों एकान्तोंके सर्वथा विरोधी होनेसे उभयैकान्तकी सिद्धि किसी प्रकार संभव नहीं है। जो लोग अवाच्यतैकान्त मानते हैं, उनका मत भी ठीक नहीं है। क्योंकि यदि अन्तरङ्गार्थैकान्त और बहिरङ्गार्थैकान्त इन दोनों दृष्टियोंसे तत्त्व सर्वथा अवाच्य है, तो वह 'अवाच्य' शब्दका भी वाच्य नहीं हो सकता है। क्योंकि अवाच्य शब्दका वाच्य होने पर तत्त्व कथंचित् वाच्य हो जाता है। अतः अवाच्यतैकान्त भी युक्तिविरुद्ध है।

प्रमाण और प्रमाणाभासके विषयमें अनेकान्त की प्रक्रिया को बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं।

भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः ।
बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते ॥८३॥

हे भगवन्! आपके मतमें भाव (ज्ञान) को प्रमेय माननेकी अपेक्षासे कोई ज्ञान प्रमाणाभास नहीं है। और बाह्य अर्थको प्रमेय माननेकी अपेक्षासे ज्ञान प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों होता है।

इस कारिकामें जो भाव शब्द आया है, वह ज्ञानके लिए प्रयुक्त किया गया है। ज्ञानको प्रमेय माननेकी अपेक्षासे अर्थात् ज्ञानके स्वसंवेदनकी अपेक्षासे सब ज्ञान प्रमाण हैं। सम्यग्ज्ञानका भी स्वसंवेदन होता है, और मिथ्याज्ञानका भी। इस दृष्टिसे दोनों ज्ञान प्रमाण हैं। सब ज्ञानोंका स्वसंवेदनप्रत्यक्ष होता है। सब ज्ञानोंमें सत्त्व, चेतनत्व, ज्ञानत्व, आदि धर्मोंकी दृष्टिसे समानता भी है। अतः इस अपेक्षासे सब ज्ञान कथंचित् प्रमाण हैं, और कोई ज्ञान प्रमाणाभास नहीं है। सब ज्ञानोंके स्वसंवेदनप्रत्यक्षमें बौद्धोंको भी कोई विवाद नहीं है। उन्होंने सब चित्त (सामान्य ज्ञान) और चैत्तों (विशेष ज्ञान) का स्वसंवेदनप्रत्यक्ष[1] माना है। प्रत्येक ज्ञानका स्वसंवेदनप्रत्यक्ष मानना आवश्यक भी है। ऐसा मानना ठीक नहीं है कि निर्विकल्पक होनेसे स्वसंवेदनप्रत्यक्ष प्रमाण है, और सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाणाभास है। क्योंकि कोई भी ज्ञान तभी प्रमाण हो सकता है, जब वह स्वार्थव्यवसायात्मक हो। निर्विकल्पक या अनिश्चयात्मक कोई भी ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है। यदि ज्ञानका स्वसंवेदनप्रत्यक्ष न माना जाय तो ज्ञानकी सिद्धि अनुमानसे मानना

१. सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्। —न्यायबि० पृ० १४

पड़ेगी। किन्तु परोक्ष ज्ञानका साधक कोई लिङ्ग (हेतु) न होनेके कारण अनुमानसे भी परोक्ष ज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

मीमांसक अनुमानसे परोक्ष ज्ञानकी सिद्धि करते हैं। उनके अनुसार अर्थप्राकटच हेतुके द्वारा ज्ञानका अनुमान किया जाता है। यद्यपि ज्ञान-का प्रत्यक्ष नही होता है, फिर भी 'ज्ञानमस्ति अर्थप्राकटचान्यथानुप-पत्तेः', 'ज्ञान है, यदि ज्ञान न होता तो अर्थका प्रत्यक्ष कैसे होता' इस अनुमानके द्वारा परोक्ष ज्ञानकी सिद्धि की जाती है। 'ज्ञाते त्वनुमानादव-गच्छति बुद्धिम्', अर्थके ज्ञात हो जानेपर अनुमानसे बुद्धिका ज्ञान होता है, ऐसा मीमासकोका मत है।

मीमासकका उक्त कथन युक्तिसगत नहीं है। मीमांसक ज्ञानको स्वसवेदी नही मानते हैं। और अर्थप्राकटचके द्वारा ज्ञानका अनुमान करते हैं। किन्तु अर्थप्राकटच भी तो ज्ञानके समान अप्रत्यक्ष एव अस्व-संवेदी ही होगा। जब अर्थको जानने वाला ज्ञान अप्रत्यक्ष है, तो उससे होने वाला अर्थप्राकटच प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है। यदि ज्ञानसे अर्थप्राकटचमे स्वसवेदनरूप विशेषता पायी जाती है, तो फिर स्वसवेदी अर्थप्राकटचको ही मान लीजिए, और तब अस्वसवेदी ज्ञानको मानने-की कोई आवश्यकता नही है। अथवा स्वसवेदी पुरुषको ही मान लेनेसे अर्थका प्रत्यक्ष हो जायगा। अस्वसवेदी ज्ञानको माननेसे कोई लाभ नही है। यहाँ मीमासक कह सकता है कि ज्ञान अर्थसवित्तिका करण है, और पुरुष कर्ता है, इसलिए करणभूत ज्ञानका मानना आवश्यक है, क्योंकि करणके बिना सवित्तिरूप क्रिया नही हो सकती है। किन्तु उक्त कथन असगत ही है। ऐसा एकान्त नही है कि पुरुष कर्ता ही होता है, करण नही। पुरुष कर्ता होनेके साथ करण भी हो सकता है। जिस प्रकार पुरुष [illegible]मे कर्ता भी होता है, और करण भी होता है, उसी प्रकार अर्थ[illegible]में भी पुरुषको करण होनेमें कौनसी बाधा है। अथवा अर्थपरि[illegible]त्तिमें अर्थप्राकटचको ही करण मान लेना चाहिए। अतः करणभूत परोक्षज्ञानको माननेकी कोई आवश्यकता नही है।

यहाँ हम यह भी पूँछ सकते हैं कि मीमांसक जिस अर्थप्राकट[illegible] परोक्ष ज्ञानका साधक मानते हैं, वह अर्थप्राकटच किसका धर्म है। अर्थका धर्म है, अथवा ज्ञानका धर्म है। यदि अर्थ[illegible]कटच अर्थका धर्म है, तो वह ज्ञानके अभावमें भी रहेगा। क्योंकि ज्ञानके नहीं होनेपर भी अर्थका सद्भाव रहता है। अतः अर्थधर्मरूप अर्थप्राकटच हेतुका ज्ञानके अभावमें भी

सद्भाव होनेसे हेतु व्यभिचारी हो जाता है। और व्यभिचारी हेतुसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि अर्थप्राकट्य ज्ञानका धर्म है, तो वह ज्ञानके समान ही अप्रत्यक्ष होगा। तब उसके द्वारा भी परोक्ष ज्ञानकी सिद्धि कैसे हो सकती है।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष अथवा मानस प्रत्यक्षसे भी ज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि इन्द्रियादि प्रत्यक्ष भी अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष) होनेसे अप्रत्यक्ष ज्ञानके समान ही हैं, परोक्ष ज्ञानसे उनमें कोई विशेषता नहीं है। यदि इन्द्रियादि प्रत्यक्षमें परोक्ष ज्ञानसे स्वसंवेदनरूप विशेषता पायी जाती है, तो इन्द्रियादि प्रत्यक्षसे ही अर्थकी परिच्छित्ति हो जायगी। तब परोक्ष ज्ञानको माननेकी कोई आवश्यकता नही है। इसलिए ज्ञान चाहे प्रत्यक्ष हो या परोक्ष, सबका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। ज्ञानको अप्रत्यक्ष कहना प्रत्यक्ष एवं अनुमान विरुद्ध है। आत्मामें जो सुख और दुःखका ज्ञान होता है, वह यदि प्रत्यक्ष न हो तो आत्मामें सुखके निमित्तसे हर्ष और दुःखके निमित्तसे विषाद नही होना चाहिए। जैसे कि एक आत्माके सुख और दुःखसे आत्मान्तरमें हर्ष और विषाद नही होता है। इसलिए सब ज्ञानोंका स्वसंवेदन मानना परमावश्यक है। और स्वसंवेदनकी अपेक्षासे सब ज्ञान प्रमाण हैं, कोई भी ज्ञान प्रमाणाभास नही है।

बौद्ध संवेदनका प्रत्यक्ष मानकर भी यह कहते हैं कि संवेदन प्रतिक्षण निरंश होता है। अर्थात् एक क्षणवर्ती संवेदनका दूसरे क्षणवर्ती संवेदनके साथ कोई अन्वय नहीं है। उनका ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि जैसा वे मानते हैं, वैसा अनुभव नहीं होता है और जैसा अनुभव होता है, वैसा वे मानते नहीं हैं। प्रत्यक्षसे अनुभूयमान सुख-दुःखादिबुद्धिरूप स्थिर आत्मामें ही हर्ष, विषाद आदिका अनुभव होता है। यदि ऐसा माना जाय कि यह अनुभव भ्रान्त है, तो प्रश्न होता है कि वह सर्वथा भ्रान्त है या कथंचित्। सर्वथा भ्रान्त माननेपर बाह्य अर्थकी तरह स्वरूपमें भी भ्रान्त होनेसे वह अप्रत्यक्ष ही रहेगा। और ऐसा होनेपर परोक्षज्ञानवादका प्रसंग उपस्थित होगा। और उक्त अनुभवको कथंचित् भ्रान्त माननेपर स्याद्वादन्यायका ही अनुसरण करना पड़ेगा। केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें ही परोक्ष ज्ञानसे समानता नहीं है, किन्तु निर्विकल्पकके व्यवस्थापक सविकल्पकमें भी यही बात है। यदि सविकल्पक भी सर्वथा भ्रान्त है, तो बाह्य अर्थकी तरह स्वरूपमें भी भ्रान्त होनेसे वह अप्रत्यक्ष ही होगा। क्योंकि 'अभ्रान्तं प्रत्यक्षम्' प्रत्यक्ष अभ्रान्त होता है, ऐसा बौद्धोंने माना

है। और कथंचित् भ्रान्त मानने पर अनेकान्तकी सिद्धि होती है।

इस लिए स्वसंवेदनकी अपेक्षासे कोई भी ज्ञान सर्वथा अप्रमाण नहीं है। इस दृष्टिसे मिथ्याज्ञान भी प्रमाण है। प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था बाह्य अर्थकी अपेक्षासेकी जाती है। आकाशमें जो केशमशकादिका ज्ञान होता है वह प्रमाण भी है, और प्रमाणाभास भी है। जितने अंशमें वह संवादक है उतने अंशमें प्रमाण है, और जितने अंशमें विसंवादक है उतने अंशमें अप्रमाण है। स्वरूपमें संवादक होनेसे स्वरूपकी अपेक्षासे वह प्रमाण है। किन्तु बाह्यमें विसंवादक होनेसे बाह्य अर्थकी अपेक्षासे वह अप्रमाण है। इस प्रकार स्याद्वादन्यायके अनुसार एक ही ज्ञान प्रमाण और अप्रमाण दोनों होता है। एक ही ज्ञानको प्रमाण और अप्रमाणरूप माननेमें कोई विरोध नही है। जिस प्रकार कालिमाके अभावविशेषके कारण सुवर्णमें उत्कृष्ट-जघन्य परिणाम बनता है, उसी प्रकार जीवमें आवरणके अभावविशेषके कारण सत्य-असत्य प्रतिभासरूप संवेदन परिणामकी सिद्धि होती है।

जीव तत्त्वकी सिद्धि करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वाद्धेतुशब्दवत् ।
मायादिभ्रान्तिसंज्ञाश्च मायाद्यैः स्वैः प्रमोक्तिवत् ॥८४॥

जीव शब्द संज्ञा शब्द होनेसे हेतु शब्दकी तरह बाह्य अर्थ सहित है। जिस प्रकार प्रमा शब्दका बाह्य अर्थ पाया जाता है, उसी प्रकार माया आदि भ्रान्तिकी संज्ञाएँ भी अपने भ्रान्तिरूप अर्थसे सहित होती हैं।

इस कारिकामें जो 'बाह्य अर्थ' शब्द आया है उसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक संज्ञाका अपनेसे अतिरिक्त कोई वास्तविक प्रतिपाद्य अर्थ होता है। जीव शब्दका जो व्यवहार देखा जाता है वह वस्तुभूत बाह्य अर्थके बिना नहीं हो सकता है। जीव शब्द एक संज्ञा (नाम) है। जो संज्ञा शब्द होता है उसका वस्तुभूत बाह्य अर्थ भी पाया जाता है। हेतु शब्द एक संज्ञा है, तो उसका बाह्य अर्थ (धूमादि) भी विद्यमान है। कोई यहाँ शंका कर सकता है कि यदि संज्ञाका बाह्य अर्थ नियमसे विद्यमान रहता है, तो माया आदि भ्रान्तिसंज्ञाओंका बाह्य अर्थ भी विद्यमान मानना होगा। उक्त शंका ठीक ही है। क्योंकि माया आदि भ्रान्ति-संज्ञाओंका भी माया आदि भ्रान्तिरूप बाह्य अर्थ विद्यमान रहता ही है। अतः जीव शब्दका सुख,

दुःख, बुद्धि आदि स्वरूप बाह्य अर्थ अवश्य मानना चाहिए। वास्तविक बाह्य अर्थके बिना जीव शब्दका व्यवहार नहीं हो सकता है।

कुछ लोग मानते हैं कि शरीर, इन्द्रिय आदिको छोड़कर जीव शब्द-का अन्य कोई बाह्य अर्थ नहीं है। जीव शब्दकी सार्थकता शरीर, इन्द्रिय आदिमें ही है। उनका ऐसा कथन नितान्त अयुक्त है। जीव शब्दके अर्थको समझनेके लिए लोकरूढ़ि क्या है इस बातको जानना आवश्यक है। लोक-रूढ़िके अनुसार जीव गमन करता है, ठहरता है, इत्यादि रूपसे जिसमें व्यवहार होता है वही जीव है। अचेतन होनेसे शरीरमें उक्त व्यवहार नहीं हो सकता है। भोगके अधिष्ठान (आश्रय)में जीव शब्द रूढ़ है। अचे-तन शरीर भोगका अधिष्ठान नही हो सकता है। इन्द्रियोंमें भी जीव शब्दका व्यवहार नही होता है। क्योंकि इन्द्रियाँ भोगकी अधिष्ठान नही हैं, किन्तु साधन हैं। शब्द आदि विषयमें भो जीव व्यवहार नही होता है, क्योंकि विषय भोग्य है, भोक्ता नही। इसलिए भोक्तामें ही जीव शब्द रूढ़ है।

चार्वाक जीवको पृथिवी आदि भूतोंका कार्य मानते हैं। उनका ऐसा मानना सर्वथा असंगत है। पृथिवी आदिके अचेतन होनेसे उनका कार्य जीव भी अचेतन होगा। जैसा कारण होता है कार्य भी वैसा ही होता है। यदि जोव पृथिवी आदिका कार्य है, तो पृथिवी आदिसे जीवमे अत्यन्त विलक्षणता नही हो सकती है। चैतन्य केवल गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त ही नहीं रहता है, किन्तु गर्भसे पहले और मरणके बाद भी रहता है। जीव सादि और सान्त नही है, किन्तु अनादि और अनन्त है। इस प्रकारके चैतन्य सहित शरीरमें जीवका व्यवहार चैतन्य और शरीर में अभेदका उपचार करके किया जाता है। संसार अवस्थामे जीवको शरीरसे पृथक् नहीं किया जा सकता है। अतः लोग अज्ञानवश शरीर-को ही जीव मान लेते हैं। इस प्रकार जीव शब्दका अर्थ शरीर आदि नहीं है, किन्तु उपयोग जिसका लक्षण है, एवं जो कर्ता तथा भोक्ता है वही जीव है। जीव शब्दका अर्थ काल्पनिक नहीं है, किन्तु वास्तविक है।

जीव शब्द संज्ञा शब्द है। इसलिये जीव शब्दका वास्तविक अर्थ मानना आवश्यक है। बौद्ध मानते हैं कि संज्ञा केवल वक्ताके अभिप्राय-को सूचित करती है। अतः संज्ञाका अर्थ वस्तुभूत पदार्थ नहीं है। बौद्धोंका उक्त कथन न्यायसंगत नहीं है। यदि संज्ञा अभिप्रायमात्रका कथन करती है, वास्तविक अर्थका नहीं, तो संज्ञाके द्वारा अर्थक्रियाका नियम नहीं हो सकता है। किन्तु जब संज्ञाके द्वारा अवरूप पदार्थका

ज्ञान होनेपर प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषको अर्थक्रियामें किसी प्रकारका विसंवाद नहीं देखा जाता है। जैसे कि इन्द्रियके द्वारा पदार्थका ज्ञान होनेपर अर्थक्रियामें विसंवाद नहीं होता है। इसलिये हेतु शब्दकी तरह जीव शब्दका भी वास्तविक बाह्य अर्थ (जीव शब्दके अतिरिक्त वस्तुभूत अर्थ) विद्यमान है। हेतुको माननेवाले सब लोग हेतु शब्दका वास्तविक बाह्य अर्थ मानते हैं। यदि हेतु शब्दका कोई वास्तविक अर्थ न हो, और हेतु शब्द केवल वक्ताके अभिप्रायको सूचित करे, तो हेतु और हेत्वाभासमें कुछ भी भेद नहीं रहेगा। क्योंकि दोनों ही किसी बाह्य अर्थको न कहकर केवल वक्ताके अभिप्रायको कहेंगे। किसी शब्दके विषयमें कहीं व्यभिचार (दोष) देखकर सर्वत्र व्यभिचारकी कल्पना करना ठीक नहीं है। अन्यथा इन्द्रियज्ञानमें भी एक स्थानमें व्यभिचार होनेसे सर्वत्र व्यभिचार मानना होगा। शुक्तिकामें रजतज्ञानके मिथ्या होनेसे रजतमें होनेवाले रजतज्ञानको भी मिथ्या मानना होगा। इसी प्रकार कार्यकारण-सम्बन्धमें कहीं व्यभिचार होनेसे सर्वत्र व्यभिचारकी कल्पना ठीक नहीं है, अन्यथा धूमसे अग्निका ज्ञान नहीं हो सकेगा। अग्निकी उत्पत्ति जैसे काष्ठसे होती है, वैसे सूर्यकान्तमणिसे भी होती है। अतः कार्यकारण-सम्बन्धमें भी व्यभिचार देखा जाता है।

यदि कार्यकारण-सम्बन्धके विषयमें यह कहा जाय कि सुपरीक्षित कार्यमे कारणका व्यभिचार कभी नहीं देखा जाता है, तो उक्त कथन शब्दके विषयमें भी चरितार्थ होता है। हम कह सकते हैं कि सुपरीक्षित शब्द कभी भी अर्थका व्यभिचारी नहीं होता है। यह अवश्य है कि राग, द्वेष आदि दोषोंसे दूषित वक्ताके विचित्र अभिप्रायके कारण किसी शब्दके अर्थमें व्यभिचार देखा जाता है। जैसे द्वेषादिके कारण किसीने कह दिया कि बच्चो ! दौड़ो, नदीके किनारे लड्डू बट रहे हैं। किन्तु बच्चे जब नदीके किनारे जाते हैं, तो वहाँ लड्डू नहीं मिलते हैं। यहाँ शब्दका अर्थके साथ व्यभिचार है। किन्तु एक स्थानमें व्यभिचार होनेसे सब स्थानोंमें व्यभिचार नहीं माना जा सकता। कहीं-कहीं व्यभिचार तो प्रत्यक्ष और अनुमानमें भी पाया जाता है। जब प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द सबमें कहीं-कहीं व्यभिचार पाया जाता है, तो प्रत्यक्ष और अनुमानको अर्थका प्रतिपादक मानना और शब्दको अर्थका प्रतिपादक न मानकर अभिप्रायमात्रका सूचक मानना कहाँ तक ठीक है। क्योंकि युक्ति और न्यायको सर्वत्र समान होना चाहिए।

बौद्ध शब्दका उपादान (आश्रय अथवा वाच्य) अभाव (अन्यापोह) को मानते हैं। उनका ऐसा मानना सर्वथा अनुचित है। शब्दका उपादान अभाव तभी हो सकता है, जब पहले उसका उपादान भाव माना जाय। गो शब्द पहले गौका कथन करके ही अन्य पदार्थोंका निषेध करता है। गो शब्दका वाच्य गौ भी है, और अगोव्यावृत्ति भी है। किन्तु मुख्य वाच्य गौ ही है, अगोव्यावृत्ति तो गौणरूपसे गो शब्दका वाच्य है। अतः शब्दका उपादान अभाव नहीं है, किन्तु भाव ही है। इसलिए समस्त संज्ञाओंका अपना वास्तविक बाह्य अर्थ मानना आवश्यक है। माया आदि भ्रान्ति-संज्ञाओंका भी भ्रान्तिरूप बाह्य अर्थ होता है। यदि माया आदि भ्रान्ति-संज्ञाओंका भ्रान्तिरूप बाह्य अर्थ न हो तो उनके द्वारा भ्रान्तिरूप अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है। और ऐसा होनेपर भ्रान्ति-संज्ञाओंमें भी प्रमाणत्वका प्रसंग उपस्थित होगा। अर्थात् भ्रान्तिको भी सम्यग्ज्ञान मानना पड़ेगा। अतः जिस प्रकार प्रमाका ज्ञानरूप बाह्य अर्थ है, उसीप्रकार माया आदि भ्रान्तिसंज्ञाओंका भी भ्रान्तिरूप बाह्य अर्थ है। खरविषाण, गगनकुसुम आदि संज्ञाओंका भी अपना बाह्य अर्थ होता है। उनका बाह्य अर्थ अभाव है। अभावरूप बाह्य अर्थके न मानने-पर उनके भावका प्रसंग उपस्थित होता है। जब सब संज्ञाओंका बाह्य अर्थ पाया जाता है, तो जीव शब्दका भी वस्तुभूत बाह्य अर्थ मानना आवश्यक है। और वह अर्थ हर्ष, विषाद, सुख, दुःख आदि अनेक पर्याय-रूप है, ज्ञान-दर्शनवान् है, प्रत्येक शरीरमे भिन्न-भिन्न है, एवं प्रत्येक प्राणीको स्वानुभवगम्य है।

संज्ञात्व हेतुको निर्दोष सिद्ध करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचिकाः।
तुल्या बुद्ध्यादिबोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः ॥८५॥

बुद्धि संज्ञा, शब्द संज्ञा और अर्थ संज्ञा ये तीन संज्ञाएँ क्रमशः बुद्धि, शब्द और अर्थकी समानरूपसे वाचक हैं। और उन संज्ञाओंके प्रतिबिम्ब स्वरूप बुद्धि आदिका बोध भी समानरूपसे होता है।

मीमांसक कहते हैं—'अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामानः' अर्थ, शब्द और ज्ञान ये तीनों समान संज्ञाएँ हैं। अतः जीव अर्थ, जीव शब्द और जीव बुद्धि इन तीनोंकी जीवसंज्ञा है। उनमेंसे जीव अर्थ-वाचक जीव शब्दका ही बाह्य अर्थ पाया जाता है, शब्द और बुद्धि-वाचक जीव शब्दका कोई बाह्य अर्थ नहीं है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि जो संज्ञा

होती है, उसका बाह्य अर्थ पाया जाता है। अतः शब्दवाचक और बुद्धि-वाचक जीव संज्ञाका कोई बाह्य अर्थ नहीं है। अतः संज्ञात्व हेतु व्यभिचारी है। उसके द्वारा बाह्य अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

मीमांसक का उक्त कथन अविचारित एवं अयुक्त है। ऐसा नहीं है कि जीव संज्ञा जीव-अर्थकी ही वाचक हो, किन्तु वह जीव-शब्द और जीव-बुद्धिकी भी वाचक है। जीव-बुद्धि संज्ञा जीव-बुद्धिकी वाचक है, जीव-शब्द संज्ञा जीव-शब्दकी वाचक है, और जीव-अर्थ संज्ञा जीव-अर्थ-की वाचक है। प्रत्येक संज्ञा अपनेसे भिन्न अर्थकी वाचक होती है। जिस शब्दके उच्चारण करनेसे जिस पदार्थका बोध होता है, वह पदार्थ नियमसे उस शब्दका वाच्य होता है। जिस प्रकार 'जीवो न हन्तव्यः', 'जीवको नहीं मारना चाहिए' यहाँ अर्थ-वाचक जीव शब्दसे जीव-अर्थका प्रतिबिम्बक बोध होता है, उसी प्रकार 'जीव इति बुध्यते' किसीने 'जीव' ऐसा जाना, तो यहाँ बुद्धि-वाचक जीव शब्दसे जीव-बुद्धिका प्रतिबिम्बक बोध होता है, और 'जीव इत्याह' किसीने 'जीव' ऐसा कहा, तो यहाँ शब्द वाचक जीव शब्दसे जीव-शब्दका प्रतिबिम्बक बोध होता है। तीन संज्ञाओंके द्वारा तीन प्रकारका अर्थ जाना जाता है, और उनके प्रतिबिम्ब स्वरूप बोध भी तीन प्रकारका होता है। जीव-अर्थके ज्ञानमें जीव-अर्थ-का प्रतिबिम्ब रहता है, जीव-शब्दके ज्ञानमें जीव-शब्दका प्रतिबिम्ब रहता है, और जीव-बुद्धिके ज्ञानमें जीव-बुद्धिका प्रतिबिम्ब रहता है। अतः संज्ञात्व हेतु व्यभिचारी नहीं है। उसके द्वारा जीव अर्थकी सिद्धि नियमसे होती है।

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी कहता है कि विज्ञानके अतिरिक्त संज्ञाका कोई अस्तित्व नहीं है। इसलिये संज्ञात्व हेतु असिद्ध है। 'हेतु शब्द' का जो दृष्टान्त दिया गया है वह भी साधनविकल है, क्योंकि हेत्वाकार ज्ञानको छोड़कर अन्य कोई हेतु शब्द नहीं है। यदि संज्ञात्वको हेतु न मानकर संज्ञाभासज्ञानको हेतु माना जाय अर्थात् 'जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञाभासज्ञानत्वात्' 'जीव शब्द बाह्य अर्थ सहित है, संज्ञाभास (शब्दा-कार) ज्ञान होनेसे', ऐसा कहा जाय, तो यह हेतु शब्दाभास स्वप्नज्ञानके साथ व्यभिचारी है। क्योंकि स्वप्नमें शब्दाभास ज्ञानके होने पर भी बाह्य अर्थका अभाव है।

इस मतका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

वक्तृश्रोतृप्रमातॄणां बोधवाक्यप्रमाः पृथक् ।
भ्रान्तावेव प्रमाभ्रान्तौ बाह्यार्थौ तादृशेतरौ ॥८६॥

वक्ता, श्रोता और प्रमाताको जो बोध, वाक्य और प्रमा होते हैं वे सब पृथक्-पृथक् व्यवस्थित हैं। प्रमाणके भ्रान्त होने पर अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेयरूप बाह्य अर्थ भी भ्रान्त ही होंगे।

पहले वक्ता वाक्यका उच्चारण करता है, बादमें श्रोताको वाक्यार्थका बोध होता है। तदनन्दर प्रमाताको प्रमिति होती है। यदि वक्ताको अभिधेयका ज्ञान न हो तो वाक्यकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि वाक्यकी प्रवृत्तिका कारण अभिधेयका बोध ही है। वाक्यके अभावमें श्रोताको भी अभिधेयका ज्ञान नही हो सकता है। और यदि प्रमाताको प्रमिति न हो तो प्रमेयकी सिद्धि नही हो सकती है। वक्ता आदि एवं वाक्य आदिके अभावमें विज्ञानाद्वैतवादी भी अपने इष्ट तत्त्वकी सिद्धि नही कर सकता है। इसलिए वक्ता, वाक्य आदिका सद्भाव मानना आवश्यक है। अतः सज्ञात्व हेतु असिद्ध नही है, और दृष्टान्त भो साधनविकल नही है।

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी पुनः कह सकता है कि बाह्य अर्थका अभाव होनेसे वक्ता आदि बुद्धिसे पृथक् नही है, किन्तु बुद्धिरूप ही हैं। क्योंकि वक्ता आदिके आकाररूप बुद्धिमें ही वक्ता आदिका व्यवहार होता है, बोधके अतिरिक्त वाक्यका भी कोई अस्तित्व नही है, और प्रमा तो बोधरूप है ही। अतः हेतुमें असिद्धता और दृष्टान्तमें साधनविकलता बनी ही रहती है।

विज्ञानाद्वैतवादीका उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है। विज्ञानाद्वैतवादी रूपादि अभिधेयको तथा इसके ग्राहक वक्ता और श्रोताको मिथ्या मानता है। और इन सबसे पृथक् विज्ञानसन्तानको सत्य मानता है। तथा स्वांशमात्रावलम्बी ज्ञानको प्रमाण मानता है। यदि रूपादि अभिधेय और उसके ग्राहक वक्ता तथा श्रोता मिथ्या हैं, तो इन सबसे पृथक् विज्ञानसन्तानकी सिद्धि भी नहीं हो सकती है। विज्ञानको स्वांशमात्रावलम्बी होनेके कारण विज्ञानसन्तानके अनेक अंशोंमें परस्परमें संचार (गमकत्व) न होनेसे अभिधान ज्ञान और अभिधेय ज्ञानका भेद भी नहीं बन सकता है। और स्वांशमात्रावलम्बी ज्ञानको भी यदि विभ्रमरूप माना जाय तो प्रमाणरूप ज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि

बौद्धोंके यहाँ अभ्रान्त ज्ञानको प्रमाण माना गया है। जब प्रमाण ही मिथ्या है तो विज्ञानाद्वैतवादीके इष्ट तत्त्व अन्तर्ज्ञेयरूप अर्थकी सिद्धि कैसे हो सकती है। और प्रमाणके अभावमें भी इष्ट तत्त्वकी सिद्धि मानने पर सभीके इष्ट तत्त्वोंको माननेका प्रसंग उपस्थित होगा।

उक्त कारिकामे 'बाह्यार्थौ तादृशेतरौ' ऐसा द्विवचनान्त पाठ है। इससे प्रतीत होता है कि अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेयके भेदसे बाह्य अर्थ दो प्रकारका माना गया है। घटादि पदार्थ तो बाह्य अर्थ हैं ही, किन्तु ग्राहक-की अपेक्षासे अन्तर्ज्ञेयको भी बाह्य अर्थ कहा है। विज्ञानका ग्रहण भी विज्ञानके द्वारा होता है, अतः विज्ञान भी बाह्य अर्थ है। विज्ञानाद्वैत-वादीको अन्तर्ज्ञेय इष्ट एव प्रमाण है, किन्तु बहिर्ज्ञेय अनिष्ट एव अप्रमाण है। किन्तु प्रमाणके भ्रान्त होने पर दोनों बाह्य अर्थ अनुमानरूपसे मिथ्या होंगे। फिर एकको हेय और दूसरेको उपादेय कैसे बतलाया जा सकता है। अत अन्तर्ज्ञेयकी सिद्धिके लिए अभ्रान्त प्रमाणका मानना आवश्यक है। और जब अभ्रान्त प्रमाणको मान लिया तो प्रमाणसे प्रतिपन्न बाह्य अर्थके माननेमे कौनसी बाधा है।

बाह्य अर्थके अभावमे प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था नही बन सकती है। इस बातको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थे सति नासति।
सत्यानृतव्यवस्थैवं युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु ॥८७॥

बुद्धि और शब्दमे प्रमाणता बाह्य अर्थके होनेपर होती है, बाह्य अर्थके अभावमे नही। अर्थकी प्राप्ति होनेपर सत्यकी व्यवस्था और प्राप्ति न होनेपर असत्यकी व्यवस्था की जाती है।

प्रमाण दो प्रकारका माना जा सकता है—एक बुद्धिरूप और दूसरा शब्दरूप। स्वयं अपनेको ज्ञान करनेके लिए बुद्धि प्रमाणकी आवश्यकता होती है, और दूसरोंको ज्ञान करानेके लिए शब्द प्रमाणकी आवश्यकता होती है। बुद्धि प्रमाणके द्वारा दूसरोंके लिए प्रतिपादन न हो सकनेके कारण शब्द प्रमाणका मानना आवश्यक है। बुद्धि और शब्दमें प्रमाणता तभी हो सकती है, जब बाह्य अर्थका सद्भाव हो, तथा बुद्धि और शब्दने जिस अर्थको जाना है, उसकी प्राप्ति हो। बुद्धि और शब्दने जिस अर्थको जाना है, यदि वह प्राप्त नहीं होता है, तो वहाँ बुद्धि और शब्द अप्रमाण हैं। बुद्धि और शब्दका काम स्वपक्षसिद्धि करना और परपक्षमें दूषण देना है। स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष-दूषण भी बाह्य अर्थके होनेपर ही हो सकते

है। बाह्य अर्थके अभावमें स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष दूषणका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता है। बाह्य अर्थके अभावमें भी यदि साधन और दूषणका प्रयोग किया जाय तो स्वप्नप्रत्यय और जाग्रत् प्रत्ययमें भी कोई भेद नहीं रहेगा। फिर किसी प्रमाणके द्वारा किसीकी सिद्धि और किसी में दूषण कैसे संभव है। बाह्य अर्थके अभावमे भी साधनका प्रयोग होनेसे विज्ञानाद्वैतवादी सहोपलंभनियमरूप हेतुसे विज्ञानाद्वैतकी सिद्धि कैसे कर सकेगा। क्योंकि विज्ञानके अभावमें भी साधनका प्रयोग संभव है। सन्तानान्तरकी सिद्धि भी कैसे हो सकेगी। स्वसन्तानकी सिद्धि तथा स्वसंतानमें क्षणिकत्व आदिकी सिद्धि भी कैसे हो सकेगी तात्पर्य यह है कि बाह्य अर्थके अभावमें भी साधन और दूषणका प्रयोग माननेसे किसी भी अर्थकी सिद्धि नही हो सकती है। यतः साधन और दूषणका प्रयोग देखा जाता है, अतः बाह्य अर्थका सद्भाव मानना आवश्यक है।

विज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि जैसे तिमिर रोग वाले पुरुषको एक-चन्द्रमें भी दो चन्द्रका ज्ञान हो जाता है, किन्तु वह ज्ञान भ्रान्त है, उसी प्रकार बाह्य अर्थका जो ज्ञान होता है, अथवा ज्ञान और ज्ञेयका जो व्यवहार होता है, वह सब भ्रान्त है। विज्ञानाद्वैतवादीके इस कथनकी सत्यता तभी हो सकती है, जब तत्त्वज्ञानको प्रमाण माना जाय। क्योंकि अर्थके व्यवहारमे भ्रान्तताकी सिद्धि तत्त्व ज्ञानसे ही हो सकती है। यहाँ प्रश्न यह है कि तत्त्वज्ञान प्रमाण है या नहीं। यदि वह प्रमाण नही है, तो उसके द्वारा अर्थके व्यवहारमें भ्रान्तताकी सिद्धि नही हो सकती है, और यदि वह प्रमाण है, तो सर्वव्यवहार भ्रान्त नही हो सकता है, क्योंकि प्रमाण व्यवहारको तो अभ्रान्त मानना ही पड़ेगा। क्योंकि अभ्रान्त प्रमाणके न मानने पर विज्ञानाद्वैतकी भी सिद्धि नहीं हो सकती है। जिस प्रकार विज्ञानाद्वैतवादी बाह्य अर्थका निराकरण करता है, उसी प्रकार प्रमाणके अभावमें विज्ञानका निराकरण भी स्वयं हो जायगा। परमाणु आदिके विषयमें दूषण देनेमें भी तत्त्वज्ञानको प्रमाण मानना आवश्यक है। प्रमाणके बिना किसीमें भी दूषण नहीं दिया जा सकता है। इष्टसाधन और अनिष्टदूषण प्रमाणके द्वारा ही संभव हो सकते हैं। इसलिए प्रमाणका सद्भाव माने बिना काम नहीं चल सकता है। जब प्रमाणके अभावमें विज्ञानकी सन्तानका निश्चय करना भी कठिन है, तब बहिरर्थका अभाव बतलाना तो नितान्त अयुक्त है। यद्यपि बाह्य अर्थके परमाणु अदृश्य है, फिर भी स्कन्धके दृश्य होनेसे स्कन्धाकार परिणत परमाणुओंका

निषेध नहीं किया जा सकता है। विज्ञानाद्वैतवादी अदृश्य अन्तरंग (ज्ञान) परमाणुओंकी सिद्धि भी दृश्य संवित्ति रूप तत्त्वसे ही करते हैं। वे जो दूषण बहिरंग परमाणुओंके माननेमें देते हैं, वे दूषण अन्तरङ्ग परमाणुओंके माननेमें भी आते हैं।

विज्ञानाद्वैतवादी बहिरंग परमाणुओंमें इस प्रकार दूषण देते हैं। एक परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ सम्बन्ध एक देशसे होता है, या सर्व देशसे। यदि एक देशसे होता है, तो पूर्व आदि छह दिशाओंसे छह परमाणुओंका सम्बन्ध एक परमाणुके साथ होनेपर उसमें छह अंश मानना पड़ेंगे, किन्तु परमाणुको निरंश माना गया है। और यदि परमाणुओंका सम्बन्ध सर्व देशसे होता है, तो अनेक परमाणुओंका समूह भी अणुमात्र हो रहेगा। क्योंकि सर्व देशसे सम्बन्धके कारण सब परमाणु अणुरूप ही हो जांयगे। इसी प्रकार परमाणुओंके प्रचय (स्कन्ध)के विषयमें भी विकल्प होते हैं। परमाणुओंका जो प्रचय है, उसको परमाणुओंसे भिन्न माननेपर वह एक देशसे परमाणुअमें रहेगा या सर्व देशसे। एक देशसे रहनेपर प्रचयको अंश सहित मानना पड़ेगा तथा शेष अंशोंके रहनेके लिए अन्य अन्य परमाणुओंकी कल्पना करना पड़ेगी। और सर्व देशसे रहनेपर जितने परमाणु हैं उतने ही प्रचय या समूह मानना पड़ेंगे। इत्यादि प्रकारसे बहिरंग परमाणुओंके माननेमें जो दूषण दिया जाता है, वह दूषण अन्तरंग परमाणुओंके माननेमें भी समानरूपसे आता है। और अन्तरंग परमाणुओंके विषयमें दोषोंका जो परिहार किया जाता है, वह बहिरंग परमाणुओंके विषयमें भी किया जा सकता है।

इसलिए ज्ञान अपनेसे भिन्न अर्थको ग्रहण करता है, क्योंकि वह ग्राह्याकार और ग्राहकाकार है। जिस प्रकार व्यापार और व्याहारके प्रतिभाससे सन्तानान्तरकी सिद्धि की जाती है, उसी प्रकार ग्राह्याकार और ग्राहकाकारके प्रतिभाससे ज्ञानसे भिन्न अर्थकी सिद्धि भी होती है। यह कहना ठीक नहीं है कि ज्ञानमें ग्राह्याकार और ग्राहकाकारका प्रतिभास वासनाभेदसे होता है, बाह्य अर्थके सद्भावसे नहीं। क्योंकि फिर संतानान्तरका प्रतिभास भी वासनाभेदसे ही मानना पड़ेगा, संतानान्तरके सद्भावसे नहीं। हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार जाग्रत् अवस्थामें बाह्य अर्थकी वासनाके दृढ़ होनेसे बहिरर्थाकार जो ज्ञान होता है, वह सत्य माना जाता है, और स्वप्न अवस्थामें बाह्य अर्थकी वासनाके दृढ़ न होनेसे जो ज्ञान होता है, वह असत्य माना जाता है, अर्थात् बाह्य अर्थका सद्भाव न

होनेपर भी वासनाभेदसे सब काम बन जाता है, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्थामें वासनाके दृढ़ होनेसे संतानान्तरका जो ज्ञान होता है, वह सत्य है और स्वप्न अवस्थामें वासनाके दृढ़ न होनेसे संतानान्तरका जो ज्ञान होता है, वह है। इस प्रकार सन्तानान्तरका सद्भाव वासनाभेदसे ही मानना चाहिए, संतानान्तरके सद्भावसे नहीं। और संतानान्तर-के अभावमें स्वसंतानकी भी सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिए ऐसा ज्ञान मानना आवश्यक है, जो अपने इष्ट तत्त्वका अवलम्बन करता हो। और इस प्रकारके ज्ञानका सद्भाव माननेपर बाह्य अर्थको अवलम्बन करनेवाले ज्ञानके सद्भावकी सिद्धि होनेमें कोई बाधा नहीं है। यथार्थमें बाह्य अर्थके सद्भावमें ही कोई ज्ञान प्रमाण और कोई ज्ञान अप्रमाण होता है। यदि ज्ञानके द्वारा ज्ञात अर्थकी प्राप्ति होती है, तो वह प्रमाण है, और अर्थकी प्राप्तिके अभावमें वह अप्रमाण है।

इस प्रकार बाह्य अर्थकी सिद्धि होने पर वक्ता, श्रोता और प्रमाता-की सिद्धि नियमसे होती है, तथा उनमें बोध, वाक्य और प्रमाकी भी सिद्धि होती है। और जीव शब्दका बाह्य अर्थ भी सिद्ध हो जाता है। इसलिए सब ज्ञान कथंचित् अभ्रान्त हैं, क्योंकि स्वसंवेदनकी अपेक्षासे सब ज्ञान प्रमाण हैं। कथंचित् भ्रान्त हैं, क्योंकि बाह्य अर्थके सद्भावमें ही प्रमाणता और प्रमाणाभासता देखी जाती है। यदि बाह्य अर्थमें विस-वाद पाया जाता है तो वह ज्ञान अप्रमाण है, और अविसंवादके होने पर वह प्रमाण है। इसी प्रकार ज्ञान कथंचित् भ्रान्त और अभ्रान्त है, कथ-चित् अवक्तव्य है, इत्यादि प्रकारसे पहलेकी तरह सप्तभंगीकी प्रक्रियाको लगा लेना चाहिए।

आठवाँ परिच्छेद

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि दैव से ही सब अर्थोंकी प्राप्ति होती है। उनके मतका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषतः कथम्।
दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥८८॥

यदि दैवसे ही अर्थकी सिद्धि होती है, तो पुरुषार्थसे दैवकी सिद्धि कैसे होगी। और दैवसे ही दैवकी सिद्धि मानने पर कभी भी मोक्ष नहीं होगा। तब मोक्ष प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना निष्फल ही होगा।

इस परिच्छेद मे कारकरूप उपाय तत्त्वकी परीक्षा की गयी है। उपाय तत्त्व ज्ञापक और कारकके भेदसे दो प्रकार का है। ज्ञापक उपायतत्त्व ज्ञान है और कारक उपायतत्त्व पुरुषार्थ, दैव आदि है। यहाँ इस बातका विचार किया गया है कि पुरुषो को अर्थकी सिद्धि कैसे होती है। कुछ लोग मानते हैं कि दैवसे ही अर्थकी सिद्धि होती है। अर्थात् दैव ही दृष्ट और अदृष्ट कार्यकी सिद्धिका साधन है। और कुछ लोग कहते हैं कि पुरुषार्थसे ही अर्थकी सिद्धि होती है। अन्य लोग मानते हैं कि स्वर्गादिकी प्राप्ति दैवसे होती है, और कृषि आदिकी प्राप्ति पुरुषार्थसे होती है। जो लोग कहते हैं कि दैवसे ही अर्थ की सिद्धि होती है, उनसे यह पूँछा जा सकता है, कि दैव की सिद्धि का नियामक क्या है। दैवकी सिद्धि पुरुषार्थसे होती है या दैवसे। यदि दैव की सिद्धि पुरुषार्थ से होती है, तो 'सब अर्थों की सिद्धि दैव से ही होती है', इस कथन में विरोध आता है। यह प्रतिज्ञाहानि है। और दैवसे दैवकी सिद्धि मानने पर सदा ही पूर्व दैवसे उत्तर दैवकी उत्पत्ति होती रहेगी। और कभी भी दैव-परम्परा का नाश नहीं होगा। इस प्रकार दैवका कभी अभाव न होने से किसी को भी मोक्ष नहीं हो सकेगा। अतः मोक्ष प्राप्ति के लिए तपश्चरण आदि पुरुषार्थ करनेसे कोई लाभ नहीं है।

यदि कहा जाय कि पुरुषार्थसे दैव का क्षय होने पर मोक्ष होता है,

अतः पुरुषार्थ निष्फल नहीं है, तो ऐसा कहनेसे पूर्ववत् प्रतिज्ञाहानि का प्रसंग उपस्थित होता है। क्योंकि पुरुषार्थसे मोक्ष मानने पर 'दैवसे ही अर्थकी सिद्धि होती है' इस सिद्धान्त को छोड़ना पड़ेगा। यदि पुनः यह माना जाय कि मोक्षके कारण पौरुष को दैवकृत होने से परम्परासे मोक्ष भी दैवकृत ही होता है, और ऐसा माननेपर प्रतिज्ञाहानि भी नही होती है, तो इससे यही सिद्ध होता है कि पौरुषसे ही वैसा दैव उत्पन्न हुआ। और ऐसा मानने पर 'धर्मसे ही अभ्युदय तथा निःश्रेयसको सिद्धि होती है' ऐसा एकान्त निरस्त हो जाता है। दैवैकान्तमें महेश्वरकी सिसृक्षाके व्यर्थ होनेका प्रसग भी उपस्थित होता है। जब सृष्टिकी उत्पत्ति दैवाधीन है तब महेश्वर सिसृक्षा (सृष्टि रचनेको इच्छा) का कारण कैसे हो सकता है। अतः दैवैकान्त का पक्ष युक्तिसंगत नहीं है।

एक दैवैकान्त निम्न प्रकार भी है। जो स्वयं प्रयत्न नही करता है, उसको इष्ट और अनिष्ट अर्थको प्राप्ति अदृष्टमात्रसे होती है। और जो प्रयत्न करता है उसको प्रयत्न नामक दृष्ट पौरुषसे इष्ट और अनिष्ट अर्थकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार का पाक्षिक दैवैकान्त भी श्रेयस्कर नही है। क्योंकि कृषि आदि कार्य के लिए समानरूपसे प्रयत्न करने वालों में से किसी को फल प्राप्ति होतो है और किसी को नहीं होती है। इससे यही सिद्ध होता है अदृष्ट (दैव) भी वहाँ कारण होता है। उसी प्रकार प्रयत्न न करने वालों को अर्थ की प्राप्ति हो जाने पर भी विना प्रयत्नके वे उसका उपभोग नहीं कर सकते हैं। अतः प्रत्येक कार्य में दृष्ट और अदृष्ट दोनों कारण होते हैं।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि पुरुषार्थसे ही सब अर्थोंकी सिद्धि होती है। उनके मतका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

पौरुषादेवसिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम्।
पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥८९॥

यदि पौरुषसे ही अर्थकी सिद्धि होती है, तो दैवसे पौरुषकी सिद्धि कैसे होगी। और पौरुषसे ही पौरुषकी सिद्धि मानने पर सब प्राणियोंके पुरुषार्थ को सफल होना चाहिए।

यदि सब पदार्थोंकी सिद्धि पुरुषार्थसे ही होती है, तो प्रश्न यह है कि पुरुषार्थकी सिद्धि कैसे होती है। पौरुषसे ही सब पदार्थोंकी सिद्धि मानने वाले दैवसे पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं मान सकते हैं। क्योंकि ऐसा माननेसे

उनकी प्रतिज्ञाकी हानि होती है। देखा जाता है कि दैवके बिना पुरुषार्थ भी नहीं होता है। कहा भी है—

ताहशी जायते [illegible]बुद्धिर्व्यवसायश्च ताहशः।
[illegible]स्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता॥

जैसा भाग्य होता है वैसी ही बुद्धि हो जाती है, प्रयत्न भी वैसा ही होता है और उसीके अनुसार सहायक भी मिल जाते हैं।

यदि ऐसा माना जाय कि बुद्धि, व्यवसाय आदि सब प्रकारके पुरुषार्थकी सिद्धि पौरुषसे ही होती है अर्थात् पौरुषकी सिद्धिमें भाग्य कारण नहीं है, तो इसका क्या कारण हैकि किसीका पौरुष सफल होता है और किसीका निष्फल। सब किसान समानरूपसे खेत जोतते हैं, बीज बोते हैं, अन्य परिश्रम भी समानरूपसे करते हैं। फिर क्या कारण है कि एकके खेतमें अधिक धान्य उत्पन्न होता है और दूसरेके खेतमें कम या बिलकुल नहीं। दो विद्यार्थी समानरूप से परीक्षाके लिए परिश्रम करते हैं, किन्तु उनमेंसे एक प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होता है, और दूसरा तृतीय श्रेणीमें उत्तीर्ण होता है, अथवा अनुत्तीर्ण हो जाता है। अतः समान पुरुषार्थ होनेपर भी फलमें जो विषमता देखी जाती है, उससे ज्ञात होता है कि पुरुषार्थमें तथा पुरुषार्थके फलमें दैव कारण होता है।

कोई कहता है कि पौरुष दो प्रकारका होता है—एक सम्यग्ज्ञान[illegible]र्वक और दूसरा मिथ्याज्ञान[illegible]र्वक। सम्यग्ज्ञानपूर्वक जो पौरुष है उसमें व्यभिचार नहीं देखा जाता है। केवल मिथ्याज्ञान पूर्वक पौरुषमें ही व्यभिचार पाया जाता है। इसलिए सम्यग्ज्ञान पूर्वक पौरुष सफल होता है, निष्फल नहीं। यह कथन भी ठीक नहीं है। हम पूँछ सकते हैं कि सम्यग्ज्ञान पूर्वक जिस पुरुषार्थ को सफल बतलाया गया है उसमें दृष्ट कारणों का सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है या अदृष्ट कारणोंका। दृष्ट कारणोंका सम्यग्ज्ञान होने पर भी फलमें व्यभिचार देखा जाता है। जैसेकि कृषि आदिके फलमें। और अदृष्ट कारणोंका सम्यग्ज्ञान अल्पज्ञोंके लिए असंभव ही है। ऐसी स्थितिमें यह कहना ठीक नहीं है कि सम्यग्ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थ निष्फल नहीं होता है। इसप्रकार दैवैकान्तकी तरह पौरुषैका[illegible] पक्ष भी ठीक नहीं है।

उभयैकान्त तथा अवाच्यतैकान्तका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥९०॥

स्याद्वादन्यायसे द्वेष रखने वालोंके यहाँ विरोध आनेके कारण उभयैकात्म्य नहीं बनता है। और अवाच्यतैकान्तमें भी 'अवाच्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

दैवैकान्त और पौरुषैकान्त ये दो एकान्त सर्वथा विरोधी है। यदि सब अर्थोंकी सिद्धि दैवसे ही होती है, तो पौरुषसे अर्थोंकी सिद्धि होनेमें विरोध है। और यदि पौरुषसे ही सब अर्थोंकी सिद्धि होती है, तो दैवसे अर्थोंकी सिद्धि होनेमें विरोध है। एक साथ दोनों एकान्त किसी भी प्रकार संभव नहीं हैं। जो लोग पदार्थोंकी सिद्धिके विषयमें अवाच्यतैकान्त मानते हैं, उनका वैसा मानना भी उचित नहीं है। क्योंकि अवाच्यतैकान्तमें अवाच्य शब्दका प्रयोग संभव नहीं है। यदि अर्थ सर्वथा अवाच्य है, तो अवाच्य शब्दका वाच्य कैसे हो सकता है। इस प्रकार उभयैकान्त और अवाच्यतैकान्त दोनों असगत हैं।

एकान्तका निराकरण करके अनेकान्तकी सिद्धि करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः ।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥९१॥

किसी को अबुद्धिपूर्वक जो इष्ट और अनिष्ट अर्थकी प्राप्ति होती है वह अपने दैवसे होती है। और बुद्धिपूर्वक जो इष्ट और अनिष्ट अर्थकी प्राप्ति होती है वह अपने पौरुषसे होती है।

बिना विचारे ही अथवा बिना इच्छाके ही जो वस्तु प्राप्त हो जाती है, चाहे वह अनुकूल हो या प्रतिकूल, वह दैवसे प्राप्त होती है। अर्थात् इस प्रकारकी प्राप्तिका प्रधान कारण दैव होता है, और वहाँ पुरुषार्थ गौणरूपसे विद्यमान रहता है। ऐसा नहीं है कि वहाँ पुरुषार्थका सर्वथा अभाव रहता हो। इसीप्रकार विचार पूर्वक जो वस्तुकी प्राप्ति होती है, चाहे वह अनुकूल हो या प्रतिकूल, उस प्राप्तिका प्रधान कारण पुरुषार्थ है, और दैव वहाँ गौणरूपसे कारण होता है। दैवका वहाँ सर्वथा अभाव नहीं रहता है। किसी भी पदार्थकी सिद्धि न तो सर्वथा दैवसे होती है, और न सर्वथा पुरुषार्थसे, किन्तु दोनोंकी अपेक्षासे ही सिद्धि होती है।

अब यहाँ यह विचार करना है कि दैवका अर्थ क्या है, और पुरु-

पार्थका अर्थ क्या है ? 'योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयमदृष्टं, पौरुषं पुनरिहचेष्टितं दृष्टम्।' योग्यता अथवा पूर्व कर्मका नाम दैव है। अर्थात् दैव शब्दके द्वारा योग्यता और पूर्व कर्मका ग्रहण किया गया है। ये दोनों बातें अदृष्ट हैं, देखनेमें नहीं आती हैं। इसीलिए दैवके लिए अदृष्ट शब्दका भी प्रयोग होता है। यह भी कहा जा सकता है कि अदृष्टका सम्बन्ध इस लोकसे न होकर परलोकसे है, अर्थात् अदृष्ट परलोकसे जीवके साथ आता है, और परलोकमें साथमें जाता है। किन्तु पुरुषार्थ इससे विपरीत होता है। इस लोकमें की गयी चेष्टाका नाम पुरुषार्थ है। इस लोकमें पुरुष जो प्रयत्न करता है, वह पुरुषार्थ कहलाता है। इसलिए पौरुषको दृष्ट कहा गया है। दैव और पुरुषार्थ इन दोनोंके द्वारा ही अर्थकी सिद्धि होती है। पहिले कार्यकी सिद्धिके लिए योग्यताका होना आवश्यक है। योग्यताके होनेपर जो पुरुषार्थ करता है, उसको फलकी प्राप्ति नियमसे होती है। समानरूपसे परिश्रम करनेपर भी जो विद्यार्थी अनुत्तीर्ण हो जाता है, उसका कारण यह है कि उसमें उत्तीर्ण होनेकी योग्यता नहीं थी। योग्यताके अभावमें सैकड़ों प्रयत्न करनेपर भी फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार किसीमें योग्यताके होनेपर भी यदि वह हाथपर हाथ रखे बैठा रहे, और कुछ भी प्रयत्न न करे, तो उसको कभी भी अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। भोजनसामग्रीके थालके सामने रखे रहनेपर भी हाथके व्यापारके बिना ग्रास मुखमें नहीं जा सकता है। इसलिए किसी भी अर्थकी सिद्धि न तो सर्वथा दैवसे होती है, और न सर्वथा पुरुषार्थसे होती है, किन्तु परस्पर सापेक्ष दैव और पुरुषार्थ दोनोंसे अर्थकी सिद्धि होती है।

दैवकी प्रधानरूपसे अपेक्षा होनेपर पदार्थकी सिद्धि कथंचित् दैवसे होती, पुरुषार्थकी प्रधानरूपसे अपेक्षा होनेपर पदार्थकी सिद्धि कथंचित् पुरुषार्थसे होती है, क्रमसे दोनोंकी अपेक्षा होनेपर दोनोंसे अर्थकी सिद्धि होती है। और युगपत् दोनोंकी अपेक्षा करनेपर अर्थकी सिद्धिके विषयमें मौनावलम्बन करना पड़ता है, इसलिए अर्थकी सिद्धि कथंचित् अवाच्य है। इत्यादि प्रकारसे दैव और पुरुषार्थसे अर्थकी सिद्धिके विषयमें पहले-की तरह सप्तभंगीकी प्रक्रियाको लगा लेना चाहिए।

परको दुःख देनेसे पापका बन्ध होता है, और सुख देनेसे पुण्यका बन्ध होता है। इस प्रकारके एकान्तका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि ।
अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः ॥९२॥

यदि परको दुःख देनेसे पापका बन्ध निश्चितरूपसे होता है, और सुख देनेसे पुण्यका बन्ध होता है, तो परके सुख और दुःखमें निमित्त होनेसे अचेतन पदार्थ और कषाय रहित जीवको भी कर्मबन्ध होना चाहिए।

यहाँ इस बातका विचार किया गया है कि दैवका उपार्जन या बन्ध कैसे होता है। दैव दो प्रकारका है—एक पुण्य और दूसरा पाप। पुण्य प्राणियोंको इष्ट वस्तुकी प्राप्ति कराता है, और पाप अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति कराता है। यदि परके दुःखका कारणभूत पुरुष पापका बन्ध करता है, और परके सुखका कारणभूत पुरुष पुण्यका बन्ध करता है, तो इस प्रकार पुण्य-पाप-बन्धैकान्त माननेपर अचेतन पदार्थमें भी बन्धकी प्राप्ति होगी। क्योंकि अचेतन दुग्ध, मिष्टान्न आदि किसी पुरुषमें सुखके कारण होते हैं, तथा तृण, कण्टक, विष आदि किसी पुरुषमें दुःखके कारण होते हैं। ऐसी स्थितिमें दुग्ध आदिको पुण्यबन्ध और तृण आदिको पापबन्ध होना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि बन्ध अचेतनमे नही होता है, किन्तु चेतनमें ही होता है, तो वीतराग साधुमें भी बन्धकी प्राप्ति होगी। क्योंकि वीतराग आचार्य अपने शिष्योंके सुख और दुःखका कारण होता है। वह उपदेश, शिक्षा आदिके द्वारा उनके सुखका कारण होता है, और दीक्षा, दण्ड आदिके द्वारा दुःखका कारण होता है। इसलिए वीतराग [illegible] भी पुण्य और पापका बन्ध होना चाहिए। किन्तु न तो अचेतन पदार्थ बन्ध करता है और न वीतराग ही बन्ध करता है। इस प्रकार परके दुःखका हेतु होनेसे पाप बन्ध और सुखका हेतु होनेसे पुण्य बन्ध होता है, ऐसा एकान्त मानना ठीक नहीं है।

अपनेको दुःख देनेसे पुण्य-बन्ध होता है, और अपनेको सुख देनेसे पाप-बन्ध होता है। इस प्रकारके एकान्तका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात् पापं च सुखतो यदि ।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥९३॥

यदि अपनेको दुःख देनेसे पुण्यका बन्ध निश्चितरूपसे होता है, और सुख देनेसे पापका बन्ध होता है, तो वीतराग और विद्वान् मुनिको भी कर्म बन्ध होना चाहिए, क्योकि वे भी अपने सुख और दुःखमे निमित्त होते हैं।

एक वीतराग मुनि कायक्लेश आदि नाना प्रकारके कष्टोंको समता-पूर्वक सहन करता है। वह उन कष्टोंके द्वारा अपने दुःखका कारण होता है। साथ ही ज्ञानवान् होनेसे वह तत्त्वज्ञानजन्य सतोषरूप सुखका कारण भी होता है। यदि ऐसा एकान्त माना जाय कि अपनेको दुःख देनेसे पुण्यका बन्ध और सुख देनेसे पापका बन्ध होता है, तो वीतराग मुनिको भी पुण्य और पापका बन्ध प्राप्त होगा। क्योंकि वह भी अपनेको दुःख और सुखका कारण होता है। और वीतरागको भी पुण्य-पापका बन्ध होने पर किसीको कभी भी मुक्तिकी प्राप्ति नही हो सकेगी। क्योंकि पुण्य-पापके बन्धका कभी अभाव न होनेसे ससारका कभी नाश ही नही होगा, और ससारका नाश हुए विना मुक्ति सभव नही है। और यदि पुण्य-पापके बन्धके रहते भी मुक्ति हो जाय तो फिर ससारका अभाव हो जायगा। इस प्रकार अपनेको पुण्य और पापके बन्ध होनेका एकान्त भी दृष्ट और इष्ट विरुद्ध होनेसे सर्वथा त्याज्य है।

उभयैकान्त तथा अवाच्यतैकान्तका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥९४॥

स्याद्वादन्यायसे द्वेष रखने वालोंके यहाँ विरोध आनेके कारण उभयैकान्त नही बन सकता है। और अवाच्यतैकान्तमें भी 'अवाच्य' शब्दका प्रयोग नही किया जा सकता है।

पुण्य और पापके विषयमें एक एकान्त तो यह है कि परको दुःख

देनेसे पापका बन्ध होता है, और सुख देनेसे पुण्यका बन्ध होता है। तथा दूसरा एकान्त यह है कि स्वको दुःख देनेसे पुण्यका बन्ध होता है, और सुख देनेसे पापका बन्ध होता है। इन दोनों एकान्तोंमें सर्वथा विरोध है। यदि परको दुःख देनेसे पापका बन्ध होता है, तो स्वको दुःख देनेसे भी पापका बन्ध होना चाहिए, पुण्यका नहीं। और यदि परको सुख देनेसे पुण्यका बन्ध होता है, तो स्वको सुख देनेसे भी पुण्यका बन्ध होना चाहिए। इसके विपरीत यदि स्वको दुःख देनेसे पुण्यका बन्ध होता है, तो परको दुःख देनेसे भी पुण्यका बन्ध होना चाहिए। और यदि स्वको सुख देनेसे पापका बन्ध होता है, तो परको सुख देनेसे भी पापका बन्ध होना चाहिए। इस प्रकार दोनों एकान्तोंमें विरोध आनेके कारण दोनों-का एक साथ सद्भाव नहीं हो सकता है। बन्धके विषयमें अवाच्यतैकान्त पक्षका अवलम्बन भी नहीं लिया जा सकता है। यदि बन्धके विषयमें कुछ नही कहना है तो चुप ही रहना चाहिए। और अवाच्य शब्दका उच्चारण भी नही करना चाहिए। क्योंकि ऐसा करनेसे तो बन्धमें अवाच्य शब्दकी वाच्यता ही सिद्ध होती है। अतः अवाच्यतैकान्त पक्ष भी ठीक नही है।

इस प्रकार एकान्तका निराकरण करके अनेकान्तकी सिद्धि करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखम् ।
पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद्व्यर्थस्तवार्हतः ॥९५॥

स्व और परमें होने वाला सुख और दुःख यदि विशुद्धिका अंग है, तो पुण्यका आस्रव होता है। और यदि संक्लेशका अंग है, तो पापका आस्रव होता है। हे भगवन्! आपके मतमें यदि स्व-परस्थ सुख और दुःख विशुद्धि और संक्लेशके कारण नही हैं, तो पुण्य और पापका आस्रव व्यर्थ है। अर्थात् उसका कोई फल नहीं होता है।

आर्त्त और रौद्र परिणामोंको संक्लेश कहते हैं, और इनके अभाव-का नाम विशुद्धि है। अर्थात् धर्म और शुक्ल ध्यानरूप शुभ परिणामोंका नाम विशुद्धि है। विशुद्धिके होने पर आत्माका अपनेमें अवस्थान हो जाता है। विशुद्धिके कारण, विशुद्धिके कार्य और विशुद्धिके स्वभावको 'विशुद्धि अंग' कहते हैं। इसी प्रकार संक्लेशके कारण, संक्लेशके कार्य तथा संक्लेशके स्वभावको 'संक्लेशांग' कहते हैं। सम्यग्दर्शनादि विशुद्धिके कारण हैं, निर्विकल्प परिणाम विशुद्धिका कार्य है, तथा धर्म्य ध्यान और

शुक्ल ध्यान विशुद्धिका स्वभाव है। इसी प्रकार मिथ्यादर्शनादि संक्लेशके कारण हैं, हिंसादि क्रिया संक्लेशका कार्य है, तथा आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान संक्लेशका स्वभाव है।

अपनी आत्मामें होने वाला सुख यदि विशुद्धिका अंग है, तो उससे पुण्यका आस्रव होता है, और यदि संक्लेशका अंग है, तो उससे पापका आस्रव होता है। तथा अपनी आत्मामें होने वाला दुःख यदि विशुद्धिका अंग है, तो उससे पुण्यका आस्रव होता है, और यदि संक्लेशका अंग है, तो उससे पापका आस्रव होता है। इसी प्रकार दूसरेकी आत्मामें होने वाला सुख यदि विशुद्धिका अंग है, तो उसे पुण्यका आस्रव होता है। और यदि संक्लेशका अंग है, तो उससे पापका आस्रव होता है। तथा दूसरेको आत्मामें होनेवाला दुःख यदि विशुद्धिका अंग है, तो उससे पुण्यका आस्रव होता है। और यदि संक्लेशका अंग है, तो उससे पापका आस्रव होता है। इस प्रकार परको दुःख देनेसे पापका ही बन्ध नहीं होता है, किन्तु पुण्यका भी बन्ध होता है। तथा परको सुख देनेसे पुण्यका ही बन्ध होता है, किन्तु पापका भी बन्ध होता है। इसी प्रकार स्वको दुःख देनेसे पुण्यका ही बन्ध नहीं होता है, किन्तु पापका भी बन्ध होता है। तथा स्वको सुख देनेसे पापका ही बन्ध नहीं होता है, किन्तु पुण्यका भी बन्ध होता है। तात्पर्य यह है कि चाहे किसीको सुख हो, अथवा दुःख हो, इससे पुण्य और पापके बन्धमें कोई अन्तर नही आता है। विशुद्धि और संक्लेशके द्वारा अन्तर अवश्य आता है। विशुद्धिके होनेपर पुण्यास्रव होता है, और संक्लेशके होनेसे पापास्रव होता है, चाहे स्व और परको सुख हो या दुःख। विशुद्धि और संक्लेशके अभावमें कर्मका आस्रव नहीं होता है। अथवा उसका कोई फल नहीं होता है।

तत्त्वार्थसूत्रमें 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' इस सूत्रके द्वारा मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगके रूपमें बन्धके जिन कारणोंका निर्देश किया गया है, वे सब संक्लेश परिणाम ही हैं। क्योंकि आर्त्त और रौद्र परिणामोंके कारण होनेसे वे संक्लेशांग होते हैं। जैसे कि आर्त्त और रौद्र परिणामोंके कार्य होनेसे हिंसादि क्रिया संक्लेशांग है। अतः स्वामी समन्तभद्रके कथनसे उक्त सूत्रका कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार 'कायवाङ्मनःकर्म योगः', 'स आस्रवः', 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य' इन तीन सूत्रों द्वारा शुभ योगको पुण्यास्रवका और अशुभ योगको पापास्रवका जो कारण बतलाया है, उसमें भी

कोई विरोध नहीं है। क्योंकि संक्लेश और विशुद्धिके कारण और कार्य होनेसे कायादि योग संक्लेशका अथवा विशुद्धिका अंग हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि स्व-परको सुख-दुःखकी कारणभूत कायादि क्रियाएँ यदि संक्लेशके कारण, कार्य और स्वभावरूप होती हैं, तो वे संक्लेशका अंग होनेके कारण, विषभक्षणादिरूप कायादिक्रियायोंकी तरह, प्राणियोंको अशुभ फलदायक कर्मके बन्धका कारण होती हैं। और यदि वे ही क्रियायें विशुद्धिके कारण कार्य और स्वभावरूप होती हैं, तो विशुद्धिका अंग होनेके कारण, पथ्य आहारादिरूप कायादिक्रियायोंकी तरह, प्राणियोंको शुभ फलदायक कर्मके बन्धका कारण होती हैं। इस प्रकार उक्त कारिकामें संक्षेपमें शुभाशुभरूप पुण्य-पापकर्मोंके आस्रव और बन्धका कारण सूचित किया गया है।

इस प्रकार स्व और परमें होनेवाले सुख और दुःख कथंचित् (विशुद्धिके अंग होनेकी अपेक्षासे) पुण्यास्रवके कारण होते हैं। कथंचित् (संक्लेशके अंग होनेकी अपेक्षासे) पापास्रवके कारण होते हैं। कथंचित् (दोनोंकी क्रमशः विवक्षासे) पुण्यास्रव और पापास्रव दोनोंके कारण होते हैं। और कथंचित् (दोनोंकी युगपत् विवक्षासे) अवाच्य होते हैं। इत्यादि प्रकारसे स्व-परस्थ सुख और दुःखको पुण्यास्रव और पापास्रवके कारण होनेके विषयमें सप्तभंगीकी प्रक्रियाको पूर्ववत् लगा लेना चाहिए।

●

दशम परिच्छेद

अज्ञानसे बन्ध होता है, और अल्प ज्ञानसे मोक्ष होता है, इस प्रकारके एकान्तका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

> अज्ञानाच्चेद् ध्रुवो बन्धो ज्ञेयानन्त्यान्न केवली ।
> ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद् बहुतोऽन्यथा ॥९६॥

यदि अज्ञानसे नियमसे बन्ध होता है, तो ज्ञेयके अनन्त होनेसे कोई भी केवली नही हो सकता है। और यदि अल्प ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति हो, तो बहुत अज्ञानसे बन्धकी प्राप्ति भी होगी।

यहाँ सांख्य मतमें माने गये बन्ध, मोक्ष तथा उनके कारणोंके विषयमें विचार किया गया है। सांख्य मानते हैं कि प्रकृति और पुरुषमें भेद-विज्ञान न होनेसे अर्थात् अज्ञानसे बन्ध होता है। ज्ञान पुरुषका धर्म या गुण नही है, किन्तु प्रकृतिका धर्म है। मोक्षमें ज्ञानका किंचिन्मात्र भी सद्भाव नही रहता है। वहाँ पुरुष केवल चैतन्यमात्र स्वरूपमें अवस्थित रहता है। जब मोक्षमे प्रकृति और पुरुषका संसर्ग नही है, तब प्रकृतिके ससर्गके अभावमे प्रकृतिका धर्म ज्ञान मोक्षमे कैसे रह सकता है। ऐसा साख्यका मत है।

यहाँ सबसे पहले अज्ञान शब्द पर विचार किया जायगा। अज्ञान अभाववाचक शब्द है। अभाव दो प्रकारका होता है—एक प्रसज्यरूप और दूसरा पर्युदासरूप। उनमेसे प्रसज्यरूप अभाव सदा अभावरूप ही रहता है, किन्तु पर्युदासरूप अभाव भावान्तरस्वरूप होता है। प्रसज्य-पक्षमें ज्ञानके अभावका नाम अज्ञान है। और पर्युदासपक्षमें मिथ्याज्ञान-का नाम अज्ञान है। यदि ज्ञानके अभावसे बन्ध होता है, तो कोई भी पुरुष केवली नही हो सकता है। क्योंकि ज्ञेय अनन्त है। उन अनन्त ज्ञेयोंका ज्ञान सम्भव न होनेसे सदा बन्ध होता रहेगा। केवलज्ञानकी उत्पत्तिके पहले सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान सम्भव नहीं है। क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्षसे अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान नही हो सकता है। अनुमान भी अत्यन्त परोक्ष अर्थको नहीं जानता है। और आगमसे भी पदार्थोंका सामान्यरूपसे ही ज्ञान होता है। इस प्रकार अनन्त अर्थोंका ज्ञान किसी

प्रमाणसे सम्भव न हो सकनेके कारण उनके विषयमें सदा अज्ञान बना रहेगा, और कोई भी केवली नहीं हो सकेगा।

सांख्य कहता है कि तत्त्वोंके अभ्यासस्वरूप और आगमके बलसे होने वाले प्रकृति और पुरुषके अल्प भेदविज्ञानसे युक्त पुरुष को केवली कहनेमे कोई हानि नही है। अर्थात् केवली बननेके लिए समस्त ज्ञेयोंके ज्ञानकी आवश्यकता नही है, केवल प्रकृति और पुरुषके भेदविज्ञानसे पुरुष केवली हो जाता है। और इसी भेदविज्ञानका नाम मोक्ष है। क्योंकि उक्त प्रकारका भेदविज्ञान होने पर आगामी बन्धका निरोध हो जानेसे संसारका अभाव हो जाता है।

सांख्य का उक्त कथन ठीक नही है। क्योंकि प्रकृति और पुरुषमे जो भेदविज्ञान होता है वह अल्प है, तथा अनन्त पदार्थोंका जो अज्ञान है वह बहुत है। इसलिए प्रकृति और पुरुषमें भेदविज्ञान होने पर भी बहुत अज्ञानके कारण बन्ध का अभाव नही हो सकेगा। और बन्धका अभाव न होनेसे मोक्षका होना असंभव है। यदि ऐसा कहा जाय कि अल्प तत्त्व-ज्ञान द्वारा बहुत अज्ञान की शक्तिका प्रतिबन्ध हो जानेके कारण अज्ञानके निमित्तसे बन्ध नही होगा, तो ऐसा कहनेमें स्ववचन विरोधका प्रसग आता है। पहले कहा था कि अज्ञानसे बन्ध होता। उक्त कथन का इस कथनसे विरोध है कि अज्ञान रहने पर भी बन्ध नही होता है।

ऐसा मानना भी ठीक नही है कि सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान न होनेसे जो अज्ञान है उससे बन्ध होता है, किन्तु अल्पज्ञान सहित अज्ञानसे बन्ध नही होता है। क्योंकि ऐसा माननेसे बन्धका अभाव हो जायगा। ऐसा कोई भी प्राणी या पुरुष नहीं है जिसमें थोड़ा ज्ञान न हो। अतः सब प्राणियोंमें अल्पज्ञान होनेसे बन्धका अभाव मानना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि मुक्तिमें भी बन्धकी प्राप्ति होगी। क्योंकि मुक्तिमें सकल पदार्थोंके ज्ञानका अभाव रहता है। और सकल पदार्थोंके ज्ञानके अभावको बन्धका कारण माना है। यह भी माना है कि असंप्रज्ञात योग अवस्थामें द्रष्टा अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है। उस समय पुरुष को सकल पदार्थोंका ज्ञान नहीं रहता है, और वह केवल चैतन्य-मात्रमे स्थित रहता है। जब जीवन्मुक्तिमें ही ज्ञानका अभाव हो जाता है, तो परम मुक्तिमें तो ज्ञानका अभाव होना स्वाभाविक ही है। इसलिए मुक्तिमें अज्ञानका सद्भाव होनेसे बन्धकी प्राप्ति नियमसे होगी।

यहाँ सांख्य कह सकता है कि ज्ञानके प्रागभावसे बन्ध होता है, प्रध्वंसाभावसे नहीं, और मुक्तिमें ज्ञानका प्रध्वंसाभाव है, अतः वहाँ बन्धकी प्राप्तिका प्रसंग नहीं होगा। किन्तु सांख्यका उक्त कथन उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा माननेपर उस व्यक्ति को बन्ध नहीं होना चाहिए, जिसके तत्त्वज्ञानका प्रध्वंस विपर्यय ज्ञानसे हो गया है। क्योंकि उस व्यक्तिमें ज्ञानका प्रध्वंसाभाव है, जैसे कि मुक्त आत्मामे ज्ञानका प्रध्वंसाभाव है। इसलिए ज्ञानाभावरूप अज्ञानसे बन्ध मानना और अल्पज्ञानसे मोक्ष मानना ये दोनों पक्ष ठीक नहीं हैं।

दूसरा पक्ष यह है कि मिथ्याज्ञानरूप अज्ञानसे बन्ध होता है। कहा भी है—

> धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ।
> ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥
>
> —सांख्यका० ४४

धर्मसे जीवका ऊर्ध्व गमन होता है, और अधर्मसे अधोगमन होता है। ज्ञानसे मोक्ष होता है, और विपर्यय (मिथ्याज्ञान) से बन्ध होता है। मिथ्याज्ञानके सहज (नैसर्गिक) आहार्य (किसी निमित्तसे उद्भूत) आदि अनेक भेद हैं। मिथ्याज्ञानसे बन्ध होता है, ऐसा पक्ष स्वीकार करनेमें भी केवलीके अभावका प्रसंग आता है। क्योंकि सांख्य-आगमके बलसे उत्पन्न तत्त्वज्ञानके द्वारा आहार्य मिथ्याज्ञानका नाश होनेपर भी सहज मिथ्याज्ञान बना ही रहेगा। और मिथ्याज्ञानके सद्भावमें बन्ध भी अवश्य होता रहेगा। ऐसी स्थितिमे केवलज्ञानकी उत्पत्ति असंभव है। आगम आदि अन्य किसी प्रमाणसे भी समस्त तत्त्वोंका ज्ञान संभव नहीं है, जिससे कि सम्पूर्ण मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेपर केवलज्ञानकी उत्पत्ति संभव हो। अल्प ज्ञानसे मुक्ति मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि बहुत मिथ्याज्ञानके सद्भावमें बन्ध होता ही रहेगा। अल्पज्ञानसे बहुत मिथ्याज्ञानका प्रतिबन्ध नहीं हो सकता है, अन्यथा 'मिथ्याज्ञानसे नियमसे बन्ध होता है', इस कथनमें विरोध आता है। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है कि अन्तिम मिथ्याज्ञानसे बन्ध नहीं होता है, क्योंकि ऐसा कहनेमें पूर्ववत् प्रतिज्ञाविरोध है। ऐसा मानना भी ठीक नहीं है कि रागादि दोष सहित मिथ्याज्ञानसे बन्ध होता है, और निर्दोष मिथ्याज्ञानसे बन्ध नहीं होता है, क्योंकि ऐसा माननेपर भी प्रतिज्ञाविरोध बना ही रहता है। पहले कहा था कि मिथ्याज्ञानसे बन्ध होता है, और अब यह मान लिया

कि निर्दोष मिथ्याज्ञानसे बन्ध नहीं होता है। यही प्रतिज्ञाविरोध है। वैराग्य सहित तत्त्वज्ञानसे मोक्ष माननेमें भी प्रतिज्ञाविरोध है। क्योंकि ऐसा माननेपर 'अल्प ज्ञानसे मोक्ष होता है', इस कथनमें विरोध आता है। अतः मिथ्याज्ञानसे बन्ध होता है, और अल्पज्ञानसे मोक्ष होता है, ऐसा पक्ष सर्वथा असंगत है।

नैयायिक मानते हैं—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।
(न्या०सू० १।१।२)

दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, और मिथ्याज्ञान इनमेंसे उत्तर-उत्तरके विनाशसे पूर्व-पूर्वका विनाश होता है। अर्थात् मिथ्याज्ञानके विनाशसे दोषका विनाश, दोषके विनाशसे प्रवृत्तिका विनाश, प्रवृत्तिके विनाशसे जन्मका विनाश और जन्मके विनाशसे दुःखका विनाश होनेपर मोक्ष होता है।

इस मतमें भी कोई केवली नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सम्पूर्ण तत्त्वोंका ज्ञान संभव न होनेसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति संभव नहीं है। और मिथ्याज्ञानकी निवृत्तिके अभावमें दोष आदिकी निवृत्ति भी नहीं हो सकेगी। ऐसी स्थितिमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति और मोक्षकी प्राप्ति नितान्त असंभव है। यदि ऐसा माना जाय कि मोक्ष प्राप्तिके लिए समस्त पदार्थोंके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, अल्पज्ञानसे अर्थात् आत्मा, शरीर, इन्द्रिय आदि बारह प्रकारके प्रमेयका ज्ञान होनेसे ही मोक्ष हो जाता है, तो ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि अल्प ज्ञान होनेपर भी बहुत मिथ्याज्ञानके सद्भावमें बन्ध अवश्यंभावी है। इस प्रकार न्यायमतमें मिथ्याज्ञानसे बन्ध और तत्त्वज्ञानसे मोक्ष सिद्ध नहीं होता है।

वैशेषिकका मत है—'इच्छाद्वेषाभ्यां बन्धः'।

अर्थात् इच्छा और द्वेषके द्वारा बन्ध होता है। इस मतमें भी केवलीके अभावका प्रसंग आता है। क्योंकि तत्त्वज्ञानके द्वारा मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेपर इच्छा और द्वेषकी निवृत्ति संभव है। किन्तु किसी भी प्रमाणसे समस्त तत्त्वोंका ज्ञान संभव नहीं है। अतः योगिज्ञानके पहले इच्छा और द्वेषके कारणभूत मिथ्याज्ञानका सद्भाव सदा बने रहनेके

कारण इच्छा और द्वेषकी निवृत्ति कैसे होगी। और किसीको केवलज्ञान कैसे होगा। इस प्रकार केवलीका अभाव सुनिश्चित है।

बौद्ध मानते हैं—'अविद्यातृष्णाभ्यां बन्धोऽवश्यंभावी'।

अर्थात् अविद्या और तृष्णाके द्वारा बन्ध नियमसे होता है। तथा—

दुःखे विपर्यासमतिस्तृष्णा वा बन्धकारणम्।
जन्मिनो यस्य ते न स्तो न स जन्माधिगच्छति॥

दुःखमें सुख बुद्धि (विपरीत बुद्धि या अविद्या) और तृष्णा बन्धके कारण हैं। जिस प्राणीमें अविद्या और तृष्णा नहीं हैं उसको जन्म धारण नहीं करना पड़ता है।

बौद्धका उक्त मत युक्तिसंगत नहीं है। बौद्धमतमें भी सर्वज्ञके अभावका प्रसंग पहलेकी तरह बना रहता है। क्योंकि ज्ञेयोंके अनन्त होनेसे प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा समस्त तत्त्वोंके ज्ञानरूप विद्याकी उत्पत्ति संभव नहीं है। विद्याकी उत्पत्तिके अभावमें अविद्याकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। और अविद्याकी निवृत्ति न होनेसे तृष्णाकी निवृत्ति भी नहीं होगी। अतः सदा अविद्या और तृष्णाके सद्भावमें बन्ध होता ही रहेगा और मोक्ष कभी नहीं होगा। यहाँ बौद्ध कह सकता है कि मोक्ष प्राप्तिके लिए समस्त तत्त्वोंके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु अल्प ज्ञानसे ही मुक्ति हो जाती है। कहा भी है—

हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः॥

उपाय सहित हेय और उपादेय तत्त्वोंका जो ज्ञाता है वही प्रमाणरूपसे इष्ट है, ऐसा नहीं है कि सबको जानने वाला ही प्रमाण (आप्त) हो। बौद्धोंका उक्त कथन युक्त नहीं है। क्योंकि अल्प ज्ञानसे मोक्ष मानने पर भी बहुत अज्ञानसे बन्धकी सिद्धि अवश्यंभावी है। यदि अल्प ज्ञानके होने पर बहुत मिथ्याज्ञानसे बन्ध न हो, तो 'अविद्या और तृष्णासे बन्ध अवश्य होता है', इस कथनकी सत्यता कैसे रहेगी। इसलिए अविद्या और तृष्णाके द्वारा बन्ध माननेका सिद्धान्त ठीक नहीं है।

वृद्ध बौद्धोंने कहा है—'अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः, संस्कारप्रत्ययं विज्ञानं, विज्ञानप्रत्ययं नामरूपं, नामरूपप्रत्ययं षडायतनं, षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः, स्पर्शप्रत्यया वेदना, वेदनाप्रत्यया तृष्णा, तृष्णाप्रत्ययमुपादानं,

[illegible]त्ययो भवः, भवप्रत्यया जातिः, [illegible]यं जरामरणम्' अर्थात् अविद्यासे संस्कार, संस्कारसे विज्ञान, विज्ञानसे नामरूप, नामरूपसे, षडायतन, षडायतनसे स्पर्श, स्पर्शसे वेदना, वेदनासे तृष्णा, तृष्णासे उपादान, उपादानसे भव, भवसे जाति, और जातिसे जरामरण उत्पन्न होता है। यह द्वादशांग प्रतीत्य[illegible]त्पाद है।

इस मतके अनुसार संसारका मूल कारण अविद्या है। और विद्यासे अविद्याकी निवृत्ति हो जाने पर क्रमशः संस्कार आदिकी भी निवृत्ति हो जाती है। और तब मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः अविद्या बन्धका कारण और विद्या मोक्षका कारण है।

यह मत भी समीचीन नहीं है। क्षणिक, निरात्मक, अशुचि और दुःख-रूप पदार्थों में अक्षणिक, सात्मक, शुचि और सुखरूपकी कल्पना करना अविद्या है। इस अविद्याके होने पर किसी ज्ञेयमें अविद्या[illegible] संस्कार उत्पन्न होंगे ही। और इस क्रमसे अविद्यासे लेकर जरामरणपर्यन्त कार्यकारण-की परम्परा बराबर बनी रहेगी। ऐसी स्थितिमें सुगतका केवली होना असंभव ही है। समस्त तत्त्वोंके यथार्थ ज्ञानसे ही अविद्याकी निवृत्ति हो सकती है। किन्तु समस्त तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान संभव न होने अविद्याकी निवृत्ति नहीं होगी। और अविद्याकी निवृत्तिके अभावमें संस्कार आदिकी निवृत्ति भी नहीं होगी। इस प्रकार अविद्या आदिके सद्भावमें सदा बन्ध होता रहेगा और कभी भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होगी। अतः अविद्यासे बन्ध और विद्यासे मोक्ष मानना ठीक नहीं है।

इसलिए यह ठीक ही कहा है कि यदि अज्ञानसे बन्ध होता है, तो कोई भी मुक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि ज्ञेयोंके अनन्त होनेसे किसी न किसी ज्ञेयमें सबको अज्ञान बना ही रहेगा, और अज्ञानसे बन्ध भी होता ही रहेगा।

उपर्युक्त कारिकाके—'अज्ञानात् [illegible]ल्पात्' ।

इस वाक्यका अर्थ आचार्य [illegible]नन्दने यही किया है कि बहुत अज्ञानसे बन्धकी प्राप्ति होगी। किन्तु अकल[illegible]देवने उक्त वाक्यका अर्थ भिन्न प्रकारसे भी किया है। उन्होंने कहा है—'यदि [illegible]नज्ञाननिर्ह्रासाद् [illegible]प्राप्तिरज्ञानात् सुतरां प्रसज्येत, दुःख[illegible]तोरिव सुखप्राप्तिः।' यदि ज्ञानके ह्रास (अल्पज्ञान) से मोक्षकी प्राप्ति होती है, तो यह बात स्वतः सिद्ध है कि बहुत अज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होता है। जैसे कि अल्प दुःखकी निवृत्ति होने पर सुखकी प्राप्ति होती है, तो बहुत दुःखकी निवृत्ति

होने पर सुखकी प्राप्ति स्वयं सिद्ध है। इसी बातको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि यदि अल्प ज्ञान हानिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, तो सम्पूर्ण ज्ञान हानिसे मोक्षको प्राप्ति नियमसे होगी। इस प्रकार अज्ञानसे बन्ध होता है, और अल्प ज्ञानसे मोक्ष होता है, ये दोनों एकान्त ठीक नहीं हैं।

उभयैकान्त तथा अवाच्यतैकान्तका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

> विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
> अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥९७॥

स्याद्वादन्यायसे द्वेष रखनेवालोंके यहाँ विरोध आनेके कारण उभयैकान्त नहीं बन सकता है। और अवाच्यतैकान्तमें भी 'अवाच्य' शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

एक एकान्त यह है कि अज्ञानसे बन्ध होता है, और दूसरा एकान्त यह है कि अल्प ज्ञानसे मोक्ष होता है। ये दोनों एकान्त परस्परमें सर्वथा विरोधी हैं। यदि अज्ञानसे बन्ध होता है, तो अल्प ज्ञानसे मोक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि अल्प ज्ञानके होनेपर भी बहुत अज्ञान बना रहेगा, और बहुत अज्ञानके सद्भावमें बन्ध होता रहेगा। इस प्रकार मोक्ष कभी संभव न होगा। और यदि अल्प ज्ञानसे मोक्ष होता है, तो 'अज्ञानसे बन्ध होता है' इस कथनमें विरोध आता है। अल्प ज्ञानके होने पर भी बहुत अज्ञानका सद्भाव बना रहता है, फिर भी बन्धका न होना और मोक्षका हो जाना आश्चर्यजनक बात है। अतः दोनों एकान्त परस्परमें विरोधी होनेके कारण युक्तिसंगत नहीं हैं। बन्ध और मोक्षके विषयमें अवाच्यतैकान्त मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि अवाच्यतैकान्त पक्षमें अवाच्य शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता है। अवाच्य शब्दके प्रयोगसे अवाच्यतैकान्तका त्याग हो जाता है, और तत्त्वमें अवाच्य शब्दका वाच्यत्व सिद्ध हो जाता है।

बन्ध और मोक्षके वास्तविक कारणोंको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

> अज्ञानान्मोहिनो बन्धो नाज्ञानाद्वीतमोहतः।
> ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥९८॥

मोह सहित अज्ञानसे बन्ध होता है और मोह रहित अज्ञानसे बन्ध

नहीं होता है। इसी प्रकार मोहरहित अल्प ज्ञानसे मोक्ष होता है, किन्तु मोह सहित अल्प ज्ञानसे मोक्ष नहीं होता है।

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंमें से मोहनीय एक कर्म है। उस मोहनीय कर्मकी कषाय आदि २८ प्रकृतियां हैं। मोहनीय कर्म सहित अथवा क्रोधादि कषाय सहित जो मिथ्याज्ञान है उसीसे बन्ध होता है। कहा भी है—सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।

कषाय सहित होनेके कारण जीव कर्मके योग्य पुद्गलोंका जो ग्रहण करता है वह बन्ध है। इससे सिद्ध होता है कि बन्धका प्रधान कारण कषाय हैं। बन्ध चार प्रकारका है—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। इनमेंसे प्रथम दो बन्ध योगसे होते हैं, और अन्तिम दो बन्ध कषायसे होते हैं। कषायनिमित्तक बन्धमें फलदानसामर्थ्य होने उसीका प्राधान्य है। अतः मोह सहित अज्ञानसे ही बन्ध होता है। मोह रहित अज्ञानसे बन्ध मानना उचित नही है। उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थानमें और क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानमें केवलज्ञान न होनेसे अज्ञान तो है, किन्तु कषाय नहीं है। यदि कषायरहित अज्ञानसे बन्ध हो, तो वहाँ भी बन्धका प्रसग प्राप्त होगा। और ऐसा मानना आगमविरुद्ध है। कषाय स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धका कारण है। इसलिए ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें प्रकृति और प्रदेश बन्धके होने पर भी स्थिति और अनुभाग बन्ध नहीं होता है। स्थिति और अनुभाग बन्धके अभावमें प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध अभिमत फल देनेमें समर्थ नहीं होते हैं। प्रकृति और प्रदेशबन्ध सयोगकेवलीके भी होते हैं, किन्तु वे कोई फल नहीं देते हैं। कषाय सहित अज्ञान ही कर्मफलका कारण होता है, इस बातकी सिद्धि अनुमान से भी होती है, वह अनुमान इस प्रकार है—'प्राणिनामिष्टानिष्टफलदानसमर्थ पुद्गलविशेषसम्बन्धः कषायैकार्थसमवेताज्ञाननिबन्धनस्तथात्वात्।' प्राणियोंको इष्ट और अनिष्ट फल देनेमें समर्थ जो कर्मरूप परिणत पुद्गलका सम्बन्ध है, वह एक ही आत्मामें स्थित कषायसहित अज्ञानके कारण है, क्योंकि वह इष्ट और अनिष्टफल देनेमें समर्थ है। इस बातमें कोई विवाद नहीं है कि कर्मबन्ध इष्ट और अनिष्ट फलको देनेमें समर्थ है। क्योंकि सुख और दुःखका अनुभव प्रत्येक प्राणी करता है। इस सुख और दुःखका कारण क्या है। इसका कारण यदि दृष्ट

स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति आदि माना जाय तो दृष्ट कारणमें व्यभिचार देखा जाता है। स्त्री, पुत्रादिके होने पर भी एक सुखी होता है, तो दूसरा दु:खी होता है। इसलिए दृष्ट कारणमें व्यभिचार होनेसे सुख और दु:खका अदृष्ट कारण (कर्म) मानना पड़ता है। ऐसा भी नहीं है कि कर्म-बन्ध पौद्गलिक न हो, क्योंकि प्रत्येक कर्मका विपाक (फल) पुद्गल द्रव्यके सम्बन्धसे ही होता है। ऐसा कोई भी कर्म नहीं है जो साक्षात् अथवा परम्परासे पुद्गलके सम्बन्धके बिना फल देनेमें समर्थ हो। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि इष्ट और अनिष्ट फल देनेमें समर्थ जो कर्मबन्ध है वह पौद्गलिक है, तथा कषायसहित अज्ञानके कारण ही वह फल देता है। तात्पर्य यह है कि मोह सहित अज्ञान बन्धका कारण है, मोह रहित नहीं।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि यदि मोहसहित अज्ञानसे ही बन्ध होता है, तो

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः"

इस सूत्रके अनुसार तत्त्वार्थसूत्रकारके वचनोंमें विरोध आता है। क्योंकि सूत्रकारने कषायके साथ मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और योगको भी बन्धका कारण बतलाया है। उक्त शंका उचित ही है। यद्यपि कषाय सहित अज्ञानको बन्धका कारण माननेमें विरोध प्रतीत होता है, किन्तु सूक्ष्मरीतिसे विचार करने पर विरोधका लेश भी नहीं है। आचार्य समन्तभद्र और सूत्रकारके अभिप्रायमें कोई अन्तर नहीं है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और योगके निमित्तसे जो इष्ट और अनिष्ट फल मिलता है, वह तभी मिलता है जब मिथ्यादर्शन आदिका सद्भाव कषाय एवं अज्ञानसहित आत्मामें विद्यमान हो। आचार्य समन्तभद्रका जो वचन है, वह संक्षेप वचन है। उसके द्वारा मिथ्यादर्शन आदिका भी संग्रह हो जाता है। अतः आचार्य समन्तभद्र और सूत्रकारके वचनोंमें कोई विरोध नहीं है। इसलिए यह निर्विवादरूपसे सिद्ध होता है कि मोह सहित अज्ञानसे बन्ध होता है, और मोह रहित अज्ञानसे बन्ध नहीं होता है।

इसी प्रकार मोह रहित अल्प ज्ञानसे भी मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है, किन्तु मोह सहित अल्प ज्ञानसे मुक्ति नहीं मिल सकती है। मोह सहित जो ज्ञान है वह अज्ञान ही है। उससे तो कर्मबन्ध ही होगा। बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें छद्मस्थ वीतराग पुरुषमें जो उत्कृष्ट श्रुतादि ज्ञान होते हैं, यद्यपि वे क्षायोपशमिक हैं और केवलज्ञानकी अपे-

ज्ञानसे अल्प हैं, फिर भी उनसे [illegible] अवस्थाकी प्राप्ति होती है। इससे सिद्ध होता है कि मोह रहित अल्प ज्ञानसे भी जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति होती है। इसके विपरीत मिथ्या[illegible] नामक प्रथम गुणस्थानसे लेकर [illegible]क्ष्मसाम्पराय नामक दसम गुणस्थान पर्यन्त गुणस्थानोंमें रहने वाले जीवोंको कर्मका बन्ध होता ही रहता है। क्योंकि उनका ज्ञान मोह सहित है, और मोह सहित ज्ञानसे त्रिकालमें भी मुक्ति संभव नहीं है। इस प्रकार यह भी निर्विवाद रूपसे सिद्ध होता है कि मोह रहित अल्प ज्ञानसे भी मुक्ति हो जाती है, किन्तु मोह सहित अल्प ज्ञानसे मुक्ति नहीं होती है।

'प्रत्येक कार्य ईश्वर कृत है, कर्मनिमत्तक नहीं,' इस प्रकारके न्याय-वैशेषिक मतके निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

कामा[illegible]प्रभवश्चित्रः कर्मबन्धा[illegible]रूपतः ।
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्धयशुद्धितः ॥९९॥

इच्छा आदि नाना प्रकारके कार्योंकी उत्पत्ति कर्मबन्धके अनुसार होती है। और उस कर्मकी उत्पत्ति अपने हेतुओंसे होती है। जिन्हें कर्मबन्ध होता है वे जीव शुद्धि और अशुद्धिके भेदसे दो प्रकारके होते हैं।

संसारमें इच्छा, द्वेष, शरीर, आदि अनेक कार्योंकी जो उत्पत्ति देखी जाती है, वह अपने-अपने कर्मके अनुसार होती है। उस उत्पत्तिका कारण ईश्वर आदि नहीं है। और कर्मकी उत्पत्ति भी राग, द्वेष आदि अपने कारणोंसे होती है। जिस प्रकार बीजसे अंकुर और अंकुरसे बीज उत्पन्न होता है, अर्थात् बीज और अंकुरकी अनादि सन्तति चलती रहती है, उसी प्रकार कर्मसे रागादिकी उत्पत्ति और रागादिसे कर्मकी उत्पत्ति होती रहती है। अर्थात् द्रव्य कर्म और भाव कर्मकी अनादि सन्तति चलती रहती है। संसारका सारा चक्र कर्मके अनुसार ही चलता है। द्रव्यकर्म और भावकर्मके भेदसे कर्म दो प्रकारका है। रागादिके निमित्तसे पौद्गलिक कार्मण-वर्गणाएँ ज्ञानावरणादिरूपसे परिणत होकर आत्माके साथ मिल जाती हैं। यही द्रव्यकर्म है। तथा राग, द्वेष और मोह ये भावकर्म कहलाते हैं।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि यदि कर्मबन्धके अनुसार ही संसार होता है, तो किसीको मुक्ति और किसीको संसार क्यों होता है। कर्मबन्ध होते रहनेके कारण सबको समान [illegible] संसार ही होना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि जीव शुद्धिके कारण मुक्तिको प्राप्त करता है

और अशुद्धिके कारण संसारमें परिभ्रमण करता है। स्याद्वादियोंके यहाँ मीमांसकोंकी तरह जीव न तो सर्वदा अशुद्ध है, और सांख्योंकी तरह न सर्वदा शुद्ध है। संसारी जीवके अनादिकालसे चले आ रहे मिथ्यादर्शनादिके सम्बन्धसे अशुद्ध होने पर भी उसमें सम्यग्दर्शनादिके प्रादुर्भावसे शुद्ध होनेकी शक्ति है। और काललब्धिके मिलने पर वह शुद्ध होकर मुक्तिको प्राप्त करता है। जो जीव शुद्ध हो जाते हैं वे मोक्षमें चले जाते हैं, और अशुद्ध जीव संसारमें परिभ्रमण करते रहते हैं। शुद्ध अथवा शुद्ध होने योग्य जीवोंकी अपेक्षा अशुद्ध जीव बहुत अधिक हैं। सब जीवोंके शुद्ध हो जानेकी कल्पना करना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि सब जीव शुद्ध हो जावें तो संसार शून्य ही हो जायगा। इस प्रकार जीव संसारी और मुक्तके भेदसे दो प्रकारके होते हैं।

अब विचार यह करना है कि संसारका कारण ईश्वरादि क्यों नहीं है। यह एक साधारण नियम है कि अनेक कार्य एक स्वभाववाले एक कारणसे उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। अनेक कार्योंकी उत्पत्तिके लिए अनेक कारणोंकी या अनेक स्वभाववाले कारणकी आवश्यकता होती है। इस संसारमें सुख, दुःख, शरीर आदि अनेक कार्योंकी उपलब्धि देखी जाती है। इसलिए इस संसारका कर्ता एक स्वभाववाला ईश्वर नहीं हो सकता है। शालिके बीजसे शालिके अंकुरकी ही उत्पत्ति होती है, यव, गोधूम आदिके अंकुरकी नहीं। क्योंकि शालिके बीजका स्वभाव केवल शालिके अंकुरको उत्पन्न करनेका है। कारणके एकरूप होने पर नाना कार्य नहीं हो सकते हैं। जो पदार्थ सर्वथा अपरिणामी है, चाहे वह नित्य हो या क्षणिक, उसमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। वस्तुका लक्षण अर्थक्रिया करना है। जो कुछ भी अर्थक्रिया नहीं करता है उसका अस्तित्व ही संभव नहीं है। अर्थक्रिया दो प्रकारसे होती है–क्रमसे और युगपत्। जिसमें कुछ भी परिणमन नहीं होता है, चाहे वह क्षणिक हो या नित्य, उसमें न क्रमसे अर्थक्रिया हो सकती है और न युगपत्। सांख्य द्वारा माने गये नित्य पदार्थमें और बौद्ध द्वारा माने गए क्षणिक पदार्थमें अर्थक्रियाका अभाव पहले बतलाया जा चुका है। न्याय-वैशेषिक द्वारा माना गया ईश्वर भी अपरिणामी और नित्य है। इसलिए उसके द्वारा क्रमसे अथवा युगपत् अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। और अर्थक्रियाके अभावमें सत्त्वका अभाव भी सुनिश्चित है। फिर उसमें वस्तुत्व की संभावना कैसे की जा सकती है। जिस ईश्वरके सद्भावकी ही संभावना नहीं है उसको देश, काल, अवस्था और स्वभावसे भिन्न शरीर, इन्द्रिय, भुवन आदि का

कर्ता कहना कितने आश्चर्य की बात है।

जिस प्रकार एक स्वभाववाला ईश्वर संसारका कर्ता नहीं हो सकता है, उसी प्रकार ईश्वरकी एक स्वभाव युक्त इच्छा भी संसारका कारण नहीं है। नित्य, अपरिणामी और एकस्वभाववाली इच्छामें वस्तुत्व ही संभव नहीं है, फिर उससे विचित्र कार्योंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है। नित्य इच्छाका ईश्वरके साथ सम्बन्ध भी नहीं बन सकता है। क्योंकि ईश्वरके द्वारा इच्छाका कुछ भी उपकार नहीं होता है, और उपकारके अभावमें उन दोनोंमें सम्बन्ध कैसे होगा। यदि माना जाय कि ईश्वर नित्य इच्छाका उपकार करता है, तो वह उपकारको इच्छासे अभिन्न करता है या भिन्न। यदि अभिन्न उपकार करता है, तो इच्छा नित्य नहीं रहेगी। और भिन्न उपकार करनेमें 'यह उपकार इच्छाका है' ऐसा कथन नहीं हो सकता है। तात्पर्य यह है कि ईश्वरके द्वारा इच्छा-का उपकार नहीं होता है, और उपकारके अभावमें ईश्वरके साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता है। अतः यह ईश्वरकी इच्छा या सिसृक्षा है, ऐसा कथन भी संभव नहीं है। ईश्वरकी इच्छाको अनित्य माननेमें भी वही पूर्वोक्त दूषण आते हैं। अनित्य इच्छाका भी ईश्वर द्वारा उपकार न होनेसे ईश्वरके साथ उसका सम्बन्ध नहीं होगा और सम्बन्धके अभावमें यह ईश्वरकी इच्छा है, ऐसा व्यपदेश नहीं होगा।

सम्पूर्ण कार्योंकी उत्पत्ति, विनाश और स्थितिमें यदि ईश्वरकी इच्छा एक ही रहती है, तो एक साथ ही सब पदार्थोंकी उत्पत्ति, विनाश और स्थिति होना चाहिए। एक समयमें एक पदार्थकी उत्पत्ति और दूसरेका विनाश नहीं होना चाहिए।

उक्त दोषका निवारण करनेके लिए ईश्वरकी इच्छाको अनेक मानने-से भी कोई लाभ नहीं है। क्योंकि अनेक इच्छाओंके विषयमें दो विकल्प होते हैं—अनेक इच्छाएँ क्रम रहित हैं, या क्रम सहित। यदि क्रम रहित हैं, तो सब पदार्थोंकी उत्पत्ति आदि एक साथ ही होना चाहिए। और यदि अनेक इच्छाएँ क्रमसे होती हैं, तो एक समयमें एक ही इच्छाका सद्भाव होनेसे एक ही कार्यकी उत्पत्ति या विनाश या स्थिति होना चाहिए। और ऐसा होनेपर एक समयमें अनेक कार्योंकी जो उत्पत्ति आदि देखी जाती है, वह कैसे होगी। ईश्वरकी अनित्य इच्छाकी उत्पत्तिके विषयमें भी दो विकल्प होते हैं—इच्छाकी उत्पत्ति बिना इच्छाके ही होती है या इच्छा पूर्वक होती है। यदि बिना इच्छाके इच्छाकी उत्पत्ति होती

है, तो तनु आदि कार्योंकी उत्पत्ति भी बिना इच्छाके हो जाना चाहिए। और यदि इच्छा पूर्वक इच्छाकी उत्पत्ति होती है, तो इच्छाओंकी उत्पत्तिमें ही शक्ति क्षीण हो जानेसे तनु आदि कार्योंकी उत्पत्तिका कभी अवसर ही प्राप्त नहीं होगा। यदि इच्छाकी उत्पत्ति बुद्धि पूर्वक मानी जाय तो नित्य और एक स्वभाववाली बुद्धिसे अनेक इच्छाओंकी उत्पत्ति कैसे संभव होगी। इस प्रकार तनु आदिकी उत्पत्तिका कारण न तो ईश्वरकी नित्य इच्छा हो सकती है, और न अनित्य इच्छा, और न स्वयं ईश्वर ही संसारका निमित्त कारण हो सकता है। अतः कर्मके अनुसार इच्छादि कार्योंकी उत्पत्ति मानना ठीक है। अपने-अपने कर्मके अनुसार तनु आदि कार्योंकी उत्पत्ति माननेमें कोई विरोध नहीं है, और सब व्यवस्था भी बन जाती है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि शरीर, पृथिवी आदि कार्योंकी उत्पत्ति सदा नहीं होती रहती है, किन्तु कभी-कभी होती है, उनमें विशेष रचना भी पायी जाती है। इत्यादि कारणोंसे उनका कर्ता कोई बुद्धिमान् अवश्य होना चाहिए। और जो बुद्धिमान् उनका कर्ता है, वही ईश्वर है। अतः विरम्यप्रवृत्ति, सन्निवेश विशेष, कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, अर्थक्रियाकारित्व आदि हेतुओंसे तनु आदिके कर्ता ईश्वरकी सिद्धि होती है।

उक्त प्रकारसे ईश्वरकी सिद्धि करना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि प्रत्येक आत्मा धर्माधर्म (अदृष्ट) के द्वारा ही शरीर, इन्द्रिय आदि कार्योंकी उत्पत्ति करनेमें समर्थ है। और कभी-कभी उत्पत्ति, रचना विशेष, आदि बातें बुद्धिमान् कारणके बिना भी अदृष्टके द्वारा हो सकती हैं। अतः रचना विशेष आदि हेतुओंसे भी ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती है।

यहाँ नैयायिक कह सकता है कि शरीर और इन्द्रियोंकी उत्पत्तिके पहले आत्मा अचेतन है, धर्म और अधर्म भी अचेतन हैं। अतः उनमें नाना प्रकारके भोग करनेमें समर्थ शरीर, इन्द्रिय आदिको उत्पन्न करनेका कौशल संभव न होनेसे शरीर आदिकी उत्पत्तिके लिए किसी बुद्धिमान् कर्ताकी आवश्यकता है। जैसे कि घटकी उत्पत्तिमें कुम्भकारकी आवश्यकता होती है। अचेतन होनेसे मृत्पिण्ड, दण्ड, चक्र आदिमें घटको उत्पन्न करनेका कौशल नहीं हो सकता है। बुद्धिमान् कुम्भकारके होनेपर ही मृत्पिण्ड आदिसे घटकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिए शरीर आदिका कर्ता बुद्धिमान् ईश्वरको मानना आवश्यक है।

नैयायिकका उक्त कथन समीचीन नहीं है। क्योंकि जिन हेतुओंसे ईश्वरकी सिद्धि की गयी है, उनका ईश्वरके साथ व्यतिरेक नहीं है। ईश्वरके बिना भी सन्निवेश विशेष, कार्यत्व आदि हेतुओंके संभव होनेसे व्यतिरेकका अभाव सुनिश्चित है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि शरीर और इन्द्रिय रहित आत्मासे शरीर आदिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यदि ऐसा है तो शरीर और इन्द्रिय रहित ईश्वरसे शरीर और इन्द्रियकी उत्पत्ति कैसे होगी। यदि शरीर और इन्द्रिय रहित ईश्वर प्राणियोंके शरीर और इन्द्रियकी उत्पत्तिका कारण होता है, तो अचेतन कर्मको भी शरीर आदिकी उत्पत्तिका कारण माननेमें कौनसी बाधा है। दृष्टान्तका व्यतिक्रम तो दोनोंमें समानरूपसे है। नैयायिकने ईश्वरको शरीर आदिका कर्ता सिद्ध करनेके लिए कुम्भकारका दृष्टान्त दिया है। किन्तु यह दृष्टान्त विषम है। कुम्भकार शरीर और इन्द्रिय सहित है, परन्तु ईश्वर शरीर और इन्द्रिय रहित है। दृष्टान्तके बलसे तो ईश्वर भी शरीर और इन्द्रिय सहित ही सिद्ध होगा। फिर भी ईश्वरको शरीर और इन्द्रिय रहित माना जाय, तो जिस प्रकार शरीर और इन्द्रिय रहित ईश्वर शरीर और इन्द्रियका कर्ता होता है, उसीप्रकार अचेतन कर्म भी शरीर आदिका कर्ता हो सकता है। इसलिए ईश्वरको शरीर आदिका कर्ता मानना आवश्यक नहीं है।

इस विषयमें नैयायिकका कहना है कि कर्तृत्वके प्रति सशरीरत्व या अशरीरत्व प्रयोजक नहीं है, किन्तु बुद्धि, इच्छा और प्रयत्नके द्वारा कार्यकी उत्पत्ति होती है। शरीर सहित कुम्भकार भी बुद्धि आदि तीनके द्वारा ही घटका कर्ता होता है। प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिके लिए पहले उसके कारण, उत्पन्न करनेकी विधि आदिके ज्ञानकी आवश्यकता है, पुनः कार्यको उत्पन्न करनेकी इच्छा होना चाहिए, और इच्छा होने पर तदनुकूल प्रयत्न करना चाहिए, तब कार्यकी उत्पत्ति होती है। अतः शरीर रहित होने पर भी बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न सहित ईश्वर शरीर आदिका कर्ता होता है।

उक्त कथन भी तथ्यसे रहित है। क्योंकि शरीर रहित ईश्वरमें बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न संभव नहीं हैं। जिस प्रकार अन्य मुक्तात्माओंमें बुद्धि आदि नहीं होते हैं, तथा संसारी आत्माओंमें शरीरसे बाहर बुद्धि आदि नहीं होते हैं, उसी प्रकार ईश्वरमें भी बुद्धि आदि नहीं हो सकते हैं। नैयायिकमतके अनुसार शरीर रहित होने पर मुक्तात्मामें बुद्धि आदिका अभाव हो जाता है। प्रत्येक आत्मा व्यापक है, किन्तु संसारी आत्माओंमें

बुद्धि आदि उतने ही प्रदेशमें रहते हैं जितने प्रदेशमें शरीर रहता है। इससे सिद्ध होता है कि शरीरके होने पर ही बुद्धि आदि होते हैं, और शरीरके अभावमें नहीं होते हैं। अतः शरीर रहित ईश्वरमें बुद्धि इच्छा और प्रयत्नका सद्भाव संभव न होने से वह शरीर आदिका कर्ता नहीं हो सकता है।

यहाँ ऐसी आशंका हो सकती है कि शरीर आदिकी उत्पत्तिका प्रधान कारण कोई चेतन विशेष (ईश्वर) अवश्य होना चाहिए। शरीर आदि-की उत्पत्तिके परमाणु आदि जो कारण हैं वे अचेतन हैं। अतः वे वास्य आदिकी तरह चेतनसे अधिष्ठित होकर ही कार्यकी उत्पत्ति करते हैं। बढ़ईका जो वास्य (वसूला) है, वह चेतन बढ़ईसे अधिष्ठित होकर ही काष्ठमें छेदन-भेदन आदि अर्थक्रिया करता है। अतः जो चेतन समस्त कारकोंका अधि-ष्ठाता है वही बुद्धिमान् ईश्वर है। वह अनादि और अनन्त कार्य-सन्तानमें निमित्त कारण होनेसे अनादि और अनन्त है। अनादि और अनन्त होनेसे ईश्वर शरीर और इन्द्रिय रहित भी सिद्ध होता है। इस प्रकार ईश्वरमें अशरीरत्व अनादि है, तथा बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न भी अनादि हैं। शरीरादिके अचेतन कारणोंमें जो स्थित्वाप्रवर्तन (ठहर कर प्रवृत्ति करना) अर्थक्रियाकारित्व आदि पाये जाते हैं, वे चेतनाधिष्ठित अचेतनमें ही संभव हैं। इसलिए अचेतन कारणोंका जो अधिष्ठाता है वही ईश्वर है।

उक्त कथन भी सारहीन है। क्योंकि ईश्वरमें अनादि और अनन्त अशरीरत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है। न्यायमतके अनुसार काय और इन्द्रियकी उत्पत्तिके पहले संसारी आत्माओंमें अशरीरत्व तो है, किन्तु वह अनादि और अनन्त नहीं है। उसी प्रकार ईश्वरका अशरीरत्व भी अनादि और अनन्त नहीं होगा। इसी प्रकार संसारी प्राणियोंकी बुद्धि आदिकी तरह ईश्वरकी बुद्धि आदि भी नित्य नहीं हो सकते हैं। ईश्वरमें अश-रीरत्वकी सिद्धि न हो सकनेसे यदि ईश्वरको शरीर सहित माना जाय तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि यदि ईश्वरके शरीरका कारण कोई बुद्धि-मान् नहीं है, तो उसके द्वारा कार्यत्व आदि हेतुओंमें व्यभिचार आयगा। यदि ईश्वरके शरीरका कारण ईश्वर ही है तो वह अपने अनेक शरीरों-की उत्पत्तिमें ही लगा रहेगा! इस प्रकार उसे अन्य कार्योंको करनेका अव-सर ही नहीं मिलेगा। अतः अपने उपभोग योग्य शरीरादिकी उत्पत्तिमें संसारी आत्माओंको ही निमित्त कारण मानना युक्तसंगत है, ईश्वरको नहीं। अतः कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, सन्निवेशविशिष्टत्व आदि हेतु ईश्वरके साधक नहीं हैं।

अचेतन कारणोंमें स्थित्वाप्रवर्तन अर्थक्रियाकारित्व आदि चेतनसे अधिष्ठित होकर ही होते हैं, ऐसा नियम माननेमें ईश्वरमें भी स्थित्वाप्रवर्तन, अर्थक्रियाकारित्व आदि नहीं हो सकते हैं। क्योंकि ईश्वर भी अचेतन है। न्यायमतके अनुसार सब आत्माएं स्वतः अचेतन हैं। उनमें जो चेतन व्यवहार होता है वह चेतनाके समवायसे होता है। अतः ईश्वर स्वतः अचेतन है। और अचेतन ईश्वरमें भी क्रमसे उत्पन्न होने वाले सब कार्यों की अपेक्षासे स्थित्वाप्रवर्तन, अर्थक्रियाकारित्व आदि होते हैं। किन्तु उक्त नियमानुसार अचेतन ईश्वरमें स्थित्वाप्रवर्तन आदि नहीं होना चाहिए। यदि अचेतन ईश्वरमें स्थित्वाप्रवर्तन आदि होता है, तो ईश्वर भी चेतनसे अधिष्ठित होकर स्थित्वाप्रवर्तन आदि करता है, ऐसा मानना पड़ेगा। यदि अचेतन ईश्वर अन्य चेतनसे अधिष्ठित हुए बिना ही कार्य करता है तो इस नियममें व्यभिचार आता है कि अचेतन चेतनसे अधिष्ठित होकर ही कार्य करता है। इसलिए यह मानना चाहिए कि एक ईश्वर दूसरे ईश्वरसे अधिष्ठित होकर कार्य करता है। और ऐसा माननेमें अनवस्था दोषका निवारण होना असंभव है। अतः अचेतनको चेतनाधिष्ठित होकर कार्य करनेका नियम मानना युक्तिसंगत नहीं है। इसीलिए ईश्वर भी शरीर आदिकी उत्पत्तिमें अचेतन परमाणु आदिका अधिष्ठाता नहीं होता है।

उक्त दोषोंके भयसे यदि ऐसा कहा जाय कि बुद्धिमान् होनेसे ईश्वर अन्य चेतनसे अनधिष्ठित होकर ही कार्य करनेमें समर्थ है, और उसको अन्य चेतनसे अधिष्ठित होनेकी आवश्यकता नहीं है। तो ऐसा कहना भी असंगत है। क्योंकि यदि ईश्वर बुद्धिमान् है, तो वह अन्धे, लूले, लंगड़े, कुबड़े आदि निकृष्ट शरीर वाले प्राणियोंको क्यों उत्पन्न करता है। ऐसा देखा जाता है कि जो अधिक ज्ञानवान् होता है, वह अपने कार्यको अधिक से अधिक सुन्दर और अच्छा बनानेका प्रयत्न करता है। एक उच्च कोटिका कलाकार यह कभी नहीं चाहेगा कि उसके चित्रमें किसी प्रकारकी कोई त्रुटि रह जाय। ईश्वर केवल बुद्धिमान् ही नहीं है, किन्तु सातिशय बुद्धिमान् है। इसलिए सातिशय बुद्धिमान् ईश्वरका कर्तव्य है कि वह अन्धे, लूले आदि प्राणियोंको उत्पन्न न करे। और यदि वह इस प्रकारके प्राणियोंको उत्पन्न करता है, तो इसका अर्थ यही होगा कि उसका ज्ञान पूर्ण नहीं है, किन्तु अपूर्ण है।

यहाँ ईश्वरवादियोंकी ओरसे यह कहा जा सकता है कि ईश्वर

कर्मके अनुसार प्राणियोंको फल देता है। जो जैसा कर्म करता है, उसको वैसा फल मिलता है। अन्धा, लूला आदि होना यह सब कर्मका फल है। यदि ऐसा है, तो हम पूछ सकते हैं कि ईश्वर प्राणियोंके कर्मका कारण होता है या नहीं? यदि ईश्वर प्राणियोंके कर्मका कारण होता है, तो उसको सदा पुण्य कर्मका ही कारण होना चाहिए, पाप कर्मका नहीं। कोई भी बुद्धिमान् पिता यह नहीं चाहेगा कि उसकी सन्तान कुरूप या दुश्चरित्र हो। फिर सर्वाधिक बुद्धिमान् ईश्वर अपनी सन्तान-को ऐसे पाप कर्मोंमें प्रवृत्ति कैसे करने देता है, जिनका फल अन्धा, लूला आदि होना हो। और यदि ईश्वर प्राणियोंके कर्मका कारण नहीं होता है, तो उसको शरीर, इन्द्रिय आदिका भी कारण नहीं होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि बुद्धिमान् ईश्वर द्वारा अन्धे, लूले आदि प्राणियोंकी सृष्टि नहीं होना चाहिए। यतः अन्धे, लूले आदि प्राणी देखे जाते हैं, अतः यह सुनिश्चित है कि ईश्वर न तो उनके कर्मका कारण होता है, और न उनके शरीर, इन्द्रिय आदिका कर्ता है।

इसलिए काम, क्रोध, शरीर, इन्द्रिय आदि नाना प्रकारके कार्योंका कारण कर्मको ही मानना उचित प्रतीत होता है। संसारी प्राणी अपने अपने भावोंके अनुसार कर्मका बन्ध करता रहता है, और कर्मका फल भोगता रहता है। प्राणियोंके शरीरकी रचना नामकर्मके अनुसार होती है। ईश्वर न तो शरीर आदिका कर्ता है, और न पृथिवी, पर्वत, समुद्र आदिका। क्योंकि पृथिवी आदि अनादि हैं। ऐसा नहीं है कि पहले पृथिवी आदि कुछ न हो और बादमें ईश्वरने अपनी इच्छासे संसार-का निर्माण किया हो। क्योंकि असत्‌से सत्‌की उत्पत्ति कभी नहीं होती है।

नैयायिक अनुमान प्रमाणसे ईश्वरकी सिद्धि करते हैं। ईश्वर साधक अनुमान इस प्रकार है—'तनुकरणभुवनादयः बुद्धिमन्निमित्तकाः कार्य-त्वात् घटवत्' 'शरीर, इन्द्रिय, भुवन आदिका कर्ता कोई बुद्धिमान् है, क्योंकि ये कार्य हैं, जैसे घट'। यहाँ यह बात विचारणीय है कि शरीर आदिका कर्ता एक बुद्धिमान् है, या अनेक। यदि उनका कर्ता एक बुद्धिमान् है, तो अनेक बुद्धिमान् पुरुषों द्वारा निर्मित प्रासाद आदिके द्वारा कार्यत्व हेतु व्यभिचारी हो जाता है। क्योंकि प्रासादमें एक बुद्धि-मत्कारणत्वके अभावमें भी कार्यत्व रहता है। यदि अनेक बुद्धिमान् पुरुषोंको शरीर आदिका कर्ता माना जाय तो ऐसा माननेमें सिद्धसाधन दोष आता है। क्योंकि अपने-अपने उपभोग योग्य शरीर आदिकी

उत्पत्तिमें अनेक प्राणी निमित्त कारण होते ही हैं। यह पक्ष हमें सिद्ध (इष्ट) है। अतः इस पक्षको स्वीकार करनेसे हमारी इष्टसिद्धि और नैयायिकोंको अनिष्टापत्ति होती है। कर्तृत्वके सम्बन्धमें एक बात यह भी विचारणीय है कि शरीर आदिका कर्ता सर्वज्ञ और वीतराग है, अथवा असर्वज्ञ और अवीतराग। प्रथम पक्षमें घटादि द्वारा कार्यत्व हेतु व्यभिचारी हो जाता है। घटमें कार्यत्व तो है, किन्तु उसका कर्ता कुम्भकार सर्वज्ञ और वीतराग नहीं है। यदि शरीर आदिका कर्ता असर्वज्ञ और अवीतराग है, तो ऐसा माननेसे नैयायिकको अनिष्टका प्रसंग उपस्थित होता है। क्योंकि उन्होंने ईश्वरको सर्वज्ञ और वीतराग माना है। कार्यत्व हेतुमें भी दो विकल्प होते हैं। शरीर आदिमें सर्वथा कार्यत्व है या कथंचित्। शरीर आदिमें सर्वथा कार्यत्व असिद्ध है। क्योंकि शरीर आदि कथंचित् कारण भी होते हैं। और शरीर आदिमें कथंचित् कार्यत्व माननेपर कथंचित् बुद्धिमान् कर्ताकी ही सिद्धि होगी, सर्वथा बुद्धिमान्की नहीं। ईश्वर साधक अनुमानको 'अकृत्रिम जगत् दृष्टकर्तृकविलक्षणत्वात्', 'संसारका कोई कर्ता नहीं है, क्योंकि जिनका कर्ता देखा गया है, उनसे वह विलक्षण है', इस अनुमानसे बाधित होनेके कारण यह सिद्ध होता है कि संसार ईश्वरकृत नहीं है।

संसारका चक्र अनादिसे चला आ रहा है। जीव और कर्मका सम्बन्ध भी अनादि है। परन्तु अनादि होनेपर भी वह सान्त है। संवर और निर्जराके द्वारा कर्मका नाश हो जानेपर यह जीव कर्मबन्धनसे मुक्त होकर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यको प्राप्त करके लोकके अग्रभागमें स्थित सिद्धशिलापर विराजमान हो जाता है। और फिर कभी भी वहाँसे लौटकर संसारमें नहीं आता है। किन्तु संसार अवस्थामें कर्मबन्धसे रागादि और रागादिसे कर्मबन्ध उसी प्रकार होता रहता है, जैसे बीजसे अंकुर और अंकुरसे बीज उत्पन्न होता रहता है।

यहाँ कोई कह सकता है कि अचेतन कर्मबन्ध रागादिको कैसे उत्पन्न कर सकता है। तथा चेतन रागादि अचेतन कर्मबन्धको कैसे कर सकता है। इसका उत्तर यही है कि उसका ऐसा ही स्वभाव है। और किसीके स्वभावके विषयमें उपालम्भ नहीं दिया जा सकता। ऐसा कहना ठीक नहीं है कि अग्नि उष्ण क्यों है, और जल ठण्डा क्यों है। अचेतन पदार्थ चेतन पर और चेतन पदार्थ अचेतनपर अपना प्रभाव डालता

है, यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। मदिरा, धतूरा आदि अचेतन हैं, फिर भी चेतन आत्मापर इनका प्रभाव देखा जाता है। मदिरापानसे आदमी उन्मत्त हो जाता है। और धतूराके भक्षणसे सब पदार्थ पीले दिखने लगते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अचेतनका चेतनपर प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार चेतनका प्रभाव अचेतनपर भी पड़ता है। यदि पापड़ बनाते समय रजस्वला स्त्रीकी दृष्टि उनपर पड़ जाय तो सेकनेपर पापड़का रंग लाल हो जाता है। कर्म सर्वथा अचेतन भी नहीं है। चेतन आत्मासे सम्बन्धित होनेके कारण उनमें कथंचित् चेतनता भी है। यथार्थमें कर्म दो प्रकारके हैं—भावकर्म और द्रव्यकर्म। उनमेंसे भावकर्म (रागादि) चेतन हैं, और द्रव्यकर्म (ज्ञानावरणादि) अचेतन है। अतः कर्मबन्धके अनुसार ही राग, शरीर आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है। ईश्वर शरीरादिका कर्ता नहीं है, किन्तु अपने-अपने शरीर आदिका कर्ता प्रत्येक जीव है। और शुद्धि तथा अशुद्धिके भेदसे जीव दो प्रकारके होते हैं।

शुद्धि और अशुद्धिका स्वरूप बतलानेके लिए लिए आचार्य कहते हैं—

शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् ।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥

पाक्य और अपाक्य शक्तिकी तरह शुद्धि और अशुद्धि ये दो शक्तियाँ हैं। शुद्धिकी व्यक्ति सादि और अशुद्धिकी व्यक्ति अनादि है। क्योंकि स्वभाव तर्कका विषय नहीं होता है।

शुद्धि और अशुद्धि ये दो शक्तियाँ हैं। भव्यत्व शुद्धिका पर्यायवाची शब्द है, और अभव्यत्व अशुद्धिका पर्यायवाची शब्द है। मूँग या उड़द आदिमें पकनेकी शक्ति होती है, उस शक्तिको पाक्य शक्ति कहते हैं। कोई मूँग या उड़द ऐसा भी होता है कि उसको कितना भी पकाया जाय किन्तु वह कभी पकता ही नहीं है। इस शक्तिका नाम है, अपाक्य शक्ति। इसी प्रकार जीवोंमें भी दो प्रकारकी शक्तियाँ होती हैं—एक भव्यत्व शक्ति और दूसरी अभव्यत्व शक्ति। जिस जीवमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको उत्पन्न करनेकी शक्ति है, वह भव्य है। और जिसमें सम्यग्दर्शनादिको उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं है, वह अभव्य है। भव्यत्वकी व्यक्ति (प्रकट होना) सादि है, क्योंकि उसकी

अभिव्यक्ति करनेवाले सम्यग्दर्शन आदि सादि हैं। और [illegible] व्यक्ति अनादि है, क्योंकि उसके अभिव्यंजक मिथ्यादर्शन आदि अनादि हैं। जीव अनादिकालसे मिथ्यादृष्टि है, परन्तु काललब्धि आदिके मिलनेपर जब उसमें सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्ति हो जाती है, तब उसकी भव्यत्व शक्तिकी अभिव्यक्ति होती है। उसके पहले भव्यत्व शक्ति अव्यक्तरूपमें रहती है। अतः भव्यत्व शक्तिकी व्यक्ति सादि है। किन्तु जो जीव अभव्य है, वह अनादिसे अभव्य है, और सदा अभव्य रहेगा। इसलिए अभव्यत्व शक्तिकी अभिव्यक्ति अनादि है। भव्य जीवोंमें ऐसे जीवोंकी भी एक श्रेणी है, जिनमें सम्यग्दर्शनादिके उत्पन्न होनेकी योग्यता तो है, परन्तु सम्यग्दर्शनादिकी उत्पत्ति कभी नहीं होगी। ऐसे जीवोंको दूरानदूर भव्य कहते हैं। सधवा, पतिव्रता विधवा और वन्ध्या ये तीन प्रकारकी स्त्रियाँ क्रमशः भव्य, दूरानदूरभव्य और अभव्य जीवोंके उदाहरण हैं। सधवा स्त्रीमें सन्तान उत्पन्न करनेकी योग्यता है, और उसके सन्तानकी उत्पत्ति होती भी है। इसी प्रकार भव्य जीवमें सम्यग्दर्शनादिको उत्पन्न करनेकी योग्यता है, और निमित्त मिलनेपर सम्यग्दर्शनादिकी उत्पत्ति होती भी है। पतिव्रता विधवा स्त्रीमें सन्तानको उत्पन्न करनेकी योग्यता तो है, किन्तु उसके पतिव्रता होनेसे सन्तान उत्पन्न करनेका निमित्त कभी नहीं मिल सकता है। इसी प्रकार दूरानदूर भव्य जीवोंमें सम्यग्दर्शनादिको उत्पन्न करनेकी योग्यता तो है, परन्तु सम्यग्दर्शनादिकी उत्पत्तिका निमित्त कभी नहीं मिलता है। इसलिए दूरानदूर भव्य जीव भव्य होते हुए भी अभव्यके समान है। वन्ध्या स्त्रीसे कभी भी सन्तानकी उत्पत्ति नहीं होती है। उसमें सन्तानको उत्पन्न करनेकी योग्यताका सर्वथा अभाव है। इसी प्रकार अभव्य जीवमें भी सम्यग्दर्शनादिकी कभी भी उत्पत्ति नहीं होती है। उसमें सम्यग्दर्शनादिको उत्पन्न करनेकी योग्यताका सर्वथा अभाव है। अतः भव्यत्व शक्तिकी व्यक्ति सादि है, और अभव्यत्व शक्तिकी व्यक्ति अनादि है। शक्ति द्रव्यकी अपेक्षासे ही अनादि है, पर्यायकी अपेक्षासे नहीं। पर्यायकी अपेक्षासे तो शक्ति सादि है। अतः शक्ति और अभिव्यक्ति दोनों कथंचित् अनादि हैं।

अकलंकदेवने शुद्धि और अशुद्धिका एक अन्य अर्थ भी किया है। सम्यग्दर्शनादि परिणामका नाम शुद्धि है, और मिथ्यादर्शनादि परिणामका नाम अशुद्धि है। भव्य जीवमें ही इन दोनों शक्तियोंकी अभिव्यक्ति कथंचित् सादि होती है, और कथंचित् अनादि होती है। सम्यग्दर्शनादि-

की उत्पत्तिके पहले मिथ्यादर्शनादिकी अनादि संततिरूप अशुद्धिकी अभिव्यक्ति अनादि है। और सम्यग्दर्शनादिकी उत्पत्तिरूप शुद्धिकी अभिव्यक्ति सादि है।

एक शक्तिकी व्यक्ति सादि और दूसरी शक्तिकी व्यक्ति अनादि क्यों है? ऐसा प्रश्न उचित नहीं है। क्योंकि वस्तुका स्वभाव तर्कका विषय नहीं होता है। अग्नि उष्ण क्यों है, ऐसा तर्क करना ठीक नहीं है। अग्नि उष्ण इसलिए है कि उसका स्वभाव उष्ण होनेका है। इसी प्रकार एक शक्तिकी व्यक्ति सादि है, और दूसरीकी व्यक्ति अनादि है, क्योंकि उनका स्वभाव ही वैसा है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि जो वस्तु प्रत्यक्षसिद्ध है उसके विषयमें किये गये प्रश्नोंका उत्तर उसके स्वभावके द्वारा देना ठीक है। किन्तु अप्रत्यक्ष वस्तुओंके विषयमें किये गये प्रश्नोंका उत्तर उनके स्वभावसे देना उचित नहीं है। उक्त शंका ठीक नहीं है। क्योंकि जो वस्तु प्रमाणसिद्ध है, चाहे वह प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध हो, चाहे अनुमान प्रमाण सिद्ध हो, और चाहे आगम प्रमाण सिद्ध हो, वह समानरूपसे प्रामाणिक है, और उसमें स्वभावके द्वारा उत्तर देना भी समान रूपसे युक्त एवं तर्कसंगत है। अतः भव्यत्व और अभव्यत्व नामक शक्तियाँ यद्यपि छद्मस्थ पुरुषोंको परोक्ष हैं, फिर भी स्वभावके अनुसार उनकी सादि और अनादि अभिव्यक्ति मानने में कोई दोष नहीं है।

प्रमाण और नयका निरूपण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥१०१॥

हे भगवन्! आपके मतमें तत्त्वज्ञानका नाम प्रमाण है। तत्त्वज्ञान दो प्रकारका है—अक्रमभावी और क्रमभावी। जो एक साथ सम्पूर्ण पदार्थोंको जानता है, ऐसा केवलज्ञान अक्रमभावी है। तथा जो क्रमसे पदार्थोंको जानते हैं, ऐसे मति आदि चार ज्ञान क्रमभावी हैं। अक्रमभावी ज्ञान स्याद्वादरूप होता है। किन्तु क्रमभावी ज्ञान स्याद्वाद और नय दोनों रूप होता है।

यहाँ प्रमाणके विषयमें विचार किया गया है। प्रमाणके विषयमें मुख्यरूपसे चार बातें विचारणीय हैं—लक्षण, संख्या, विषय और फल। प्रमाण मानने वालोंको इन चार बातोंके विषयमें विवाद है। बौद्ध

निर्विकल्पक ज्ञानको प्रमाण मानते हैं, नैयायिक सन्निकर्षको प्रमाण मानते हैं, और सांख्य इन्द्रियवृत्तिको प्रमाण मानते हैं। इन लोगोंके द्वारा माने गए प्रमाणके लक्षण सदोष हैं। सन्निकर्ष आदिमें स्व-विषयकी प्रमिति (अज्ञाननिवृत्ति) करानेकी सामर्थ्य न होनेसे वे प्रमाण नहीं हो सकते हैं। बौद्ध द्वारा माना गया निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अनिश्चयात्मक होनेसे प्रमाण नहीं है। नैयायिक द्वारा माना गया सन्निकर्ष अज्ञानरूप होनेसे प्रमाण नहीं है। सांख्य द्वारा मानी गयी इन्द्रियवृत्ति भी अचेतन एवं अज्ञानरूप होनेसे प्रमाण नहीं है। सांख्यमतमें इन्द्रियाँ प्रकृति-जन्य होनेसे अचेतन हैं। इसलिए इन्द्रियवृत्ति भी अचेतन है। अतः सन्निकर्ष आदि अपने विषयकी प्रमितिके प्रति साधकतम न होनेसे प्रमाण नहीं हैं। जो स्व और पर (अर्थ) का निश्चयात्मक ज्ञान है, वही प्रमितिके प्रति साधकतम होता है, अज्ञानरूप सन्निकर्षादि नहीं। जिसके होने पर प्रमिति हो और जिसके न होने पर प्रमिति न हो वह प्रमिति-का साधकतम होता है। सन्निकर्ष आदिके होने पर भी विषयकी प्रमिति नहीं होती है, जैसे कि संशय आदि में। और सन्निकर्ष आदिके अभाव में भी प्रमिति हो जाती है। जैसे कि विशेष्यके साथ सन्निकर्ष न होने पर भी विशेषणके ज्ञानसे विशेष्यका ज्ञान हो जाता है। इसलिए सन्नि-कर्ष आदि प्रमाण नहीं हैं, किन्तु तत्त्वज्ञान ही प्रमाण है। तत्त्वज्ञानका ही पर्यायवाची शब्द सम्यग्ज्ञान है। प्रमाणके लक्षणमें ज्ञान विशेषणसे अज्ञानरूप सन्निकर्ष आदिका व्यवच्छेद हो जाता है। और तत्त्व विशे-षणसे संशय आदि मिथ्याज्ञानोंका व्यवच्छेद हो जाता है। प्रमाण प्रमितिके प्रति साधकतम होता है। किन्तु प्रमाता और प्रमेय प्रमितिके प्रति साधकतम नहीं हैं, साधक अवश्य हैं। प्रमाता कर्ता है और प्रमेय कर्म है। इनको प्रमितिका साधकतम न होनेसे इनमें प्रमाणत्वका प्रसंग नहीं आता है। इसलिए 'तत्त्वज्ञान प्रमाण है' यह लक्षण निर्दोष होनेसे सर्वजनग्रा[illegible] है।

तत्त्वज्ञान सर्वथा प्रमाणरूप ही हो, ऐसी बात नहीं है। तत्त्वज्ञान को प्रमाण माननेमें भी अनेकान्त है। अर्थात् तत्त्वज्ञान कथंचित् प्रमाण है, सर्वथा नहीं। एक वस्तुमें अनेक आकार रहते हैं। उन आकारों-मेंसे जिस आकारसे तत्त्व का ज्ञान होता है उसकी अपेक्षासे वह ज्ञान प्रमाण है, और शेष आकारोंकी अपेक्षासे वह प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभासमें भी मिश्रित प्रामाण्य और अप्रामाण्य रहता है। एक सर्व-था प्रमाण और दूसरा सर्वथा अप्रमाण नहीं है। प्रत्यक्षमें भी कथंचित्

अप्रमाणता है, और प्रत्यक्षाभासमे भी कथंचित् प्रमाणता है। चक्षु इन्द्रियके द्वारा चन्द्र, सूर्य आदि का यथार्थ प्रत्यक्ष होता है, उस प्रत्यक्षके द्वारा यह भी प्रतीत होता है कि चन्द्र, सूर्य आदि हमारे निकट है। यहाँ चन्द्र, सूर्य आदिका प्रत्यक्ष तो सत्य है, किन्तु उनमें जो निकटताकी प्रतीति होती है, वह मिथ्या है। क्योंकि चन्द्र, सूर्य आदि प्रत्यक्षदर्शीसे बहुत दूर हैं। इसलिए चन्द्र, सूर्य आदिके प्रत्यक्षमें कुछ अंश अप्रमाणता का भी है। इसी प्रकार तिमिर आदि रोगवाले व्यक्तिको एक चन्द्रमें जो दो चन्द्र का ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्षाभास माना जाता है। किन्तु यहाँ भी द्वित्वसंख्याका ज्ञान ही अप्रमाण है, चन्द्र का जो ज्ञान होता है वह तो प्रमाण ही है। उस ज्ञान का अपराध केवल इतना ही है कि उसने एक चन्द्रके स्थानमें दो चन्द्रमाओंको जान लिया। इसलिए प्रत्यक्षाभासमे भी कुछ अंश प्रमाणताका रहता है।

यहाँ एक शंका हो सकती है कि जब सब ज्ञान उभयात्मक (प्रमाण और अप्रमाणरूप) हैं तो किसीको प्रमाण और किसीको अप्रमाण क्यों कहा जाता है। इसका उत्तर यह है कि संवाद और विसंवादके प्रकर्षकी अपेक्षासे ज्ञानमे प्रमाण और अप्रमाण व्यवहार होता है। जिस ज्ञानमे संवादके अंश अधिक होते है और विसंवादके अंश कम होते है, उसको प्रमाण कहते हैं। और जिस ज्ञानमें विसंवादके अंश अधिक होते हैं और संवादके अंश कम होते है, उसको अप्रमाण कहते है। जैसे कस्तूरीमें गन्ध गुणकी अधिकता होनेसे उसको गन्ध द्रव्य कहते है। इसी प्रकार अनुमान, आगम आदि प्रमाणो एवं प्रमाणाभासोंको भी कथंचित् प्रमाण और कथंचित् अप्रमाण समझना चाहिए। जितने अंशमे व तत्त्वकी प्रतिपत्ति करते हैं उतने अंशमें प्रमाण है, और शेष अंशमें अप्रमाण है। इस प्रकार अनेकान्त शासनमें सत्त्व, नित्यत्व आदि धर्मोंकी तरह प्रमाण और अप्रमाणके विषयमे भी अनेकान्त है।

प्रमाण और अप्रमाणके विषयमें सर्वथा एकान्तकी कल्पना करने पर न तो अन्तरंग तत्त्वका संवेदन सिद्ध हो सकता है, और न बहिरंग तत्त्व का संवेदन। बौद्धमतमें अन्तरङ्ग तत्त्व (ज्ञान) अद्वय (ग्राह्यग्राहकाकार रहित) क्षणिक आदि स्वरूप माना गया है। किन्तु इस प्रकारके तत्त्वका ज्ञान ग्राह्यग्राहकरूप एवं सक्षणिकादिरूपसे होता है। इसलिए बौद्धदर्शनमें अन्तरंग तत्त्वका ज्ञान स्वसंवेदनकी अपेक्षासे प्रमाण होने पर भी ग्राह्यग्राहकाकार आदिकी अपेक्षासे अप्रमाण है। यदि अन्तरङ्ग तत्त्वका ज्ञान

सर्वथा प्रमाण हो, तो उसको ग्राह्यग्राहकाकाररूपसे भी प्रमाण मानना चाहिए। बौद्धों द्वारा बहिरंग तत्त्व रूपादि स्वलक्षणोंका भी जैसा वर्णन किया गया है वैसी उनकी उपलब्धि नहीं होती है। रूपादि परमाणुओंको अस्थूल, क्षणिक, निरंश आदि रूपसे बतलाया गया है। किन्तु बहिरङ्ग तत्त्वका जो ज्ञान होता है उसमें स्थिर, स्थूल, सांश आदि स्वरूप तत्त्वकी ही प्रतीति होती है। अतः बहिरङ्ग तत्त्वका जो ज्ञान है उसको [illegible] जाननेमें प्रमाण होने पर भी स्थिरता, स्थूलता आदिके जाननेकी अपेक्षासे वह अप्रमाण है। यदि बहिरङ्ग तत्त्वका ज्ञान सर्वथा प्रमाण हो, तो उसको स्थिरता आदिके जाननेकी अपेक्षासे भी प्रमाण मानना चाहिए।

बौद्ध मानते हैं कि पदार्थ निरंश है, इसलिए पदार्थका प्रत्यक्ष होने पर उसमें ऐसा कोई धर्म नहीं रहता है जिसका प्रत्यक्ष न हो।

कहा भी है—

तस्मात् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः।
भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति साधनं सम्प्रवर्तते॥

—प्रमाणवा० ३।४५

पदार्थका प्रत्यक्ष होने पर उसके क्षणिकत्व आदि समस्त धर्मोंका भी प्रत्यक्ष हो जाता है। किन्तु सदृश अपर-अपर क्षणोंकी उत्पत्ति होनेसे भ्रान्तिके कारण लोग पदार्थको अक्षणिक समझ लेते हैं। यही कारण है कि वस्तुमें क्षणिकत्वका ज्ञान करानेके लिए 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' 'सब क्षणिक है, सत् होनेसे' इस प्रकारके अनुमानकी प्रवृत्ति होती है। बौद्धोंका उक्त कथन समीचीन नहीं है। क्योंकि उनके यहाँ तत्त्व प्रतिपत्तिका कोई भी उपाय नहीं है। निर्विकल्पक होनेसे प्रत्यक्षके द्वारा अर्थकी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है। और अनुमान संवृतिसत् सामान्यको विषय करनेके कारण तत्त्वकी प्रतिपत्ति करनेमें असमर्थ है।

बौद्ध कहते हैं कि यद्यपि अनुमान संवृतिसत् सामान्यको विषय करता है, फिर भी स्वलक्षणकी प्राप्तिमें कारण होनेसे उसको प्रमाण माना गया है। उसके द्वारा तत्त्वकी प्रतिपत्ति होनेमें कोई बाधा नहीं है। इसी बातको एक उदाहरण द्वारा समझाया गया है। किसी पुरुषको मणिप्रभामें मणिका ज्ञान हुआ और किसी पुरुषको प्रदीपप्रभामें मणिका ज्ञान हुआ, उन दोनोंका ज्ञान समानरूपसे मिथ्या है। फिर भी जिसको मणिप्रभामें मणिका ज्ञान हुआ है, उसको मणिकी प्राप्ति हो जाती है,

और जिसको प्रदीपप्रभामें मणिका ज्ञान हुआ उसको मणिकी प्राप्ति नहीं होती है। इसी प्रकार अनुमान और अनुमानाभास दोनोंके अयथार्थ होने पर भी एक अर्थक्रियाका साधक होता है, और दूसरा उसका साधक नहीं होता है। अनुमानसे परम्परया स्वलक्षणकी प्राप्ति हो जाती है, और अनुमानाभाससे नहीं होती है। अतः अनुमान प्रमाण है और अनुमानाभास अप्रमाण है।

यहाँ बौद्धोंने जो मणिप्रभाका दृष्टान्त दिया है, वह उन्हींके मतका विघटन करनेवाला है। मणिप्रभादर्शनको स्वयं बौद्धोंने संवादक माना है, और संवादक होनेसे वह प्रमाण भी है। किन्तु मणिप्रभादर्शन नामक प्रमाणको प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे अतिरिक्त तृतीय प्रमाण मानना पड़ेगा। मणिप्रभादर्शनका प्रत्यक्षमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि वह अपने विषयका विसंवादक है, जैसे कि शुक्तिकामें रजतका ज्ञान अपने विषयका विसंवादक है। यदि ऐसा कहा जाय कि जिस पुरुषको व्यभिचार (मणिप्रभा और मणिमें पृथकत्व) का ज्ञान नहीं हुआ है, वह समझता है कि मैंने जिसको देखा था उसको प्राप्त किया है, अतः मणिप्रभा और मणिमें एकत्वका अध्यवसाय करके मणिप्रभादर्शनको भी प्रत्यक्ष मान लेनेमें कोई बाधा नहीं है। यदि ऐसा है तो शुक्तिकामें रजतका ज्ञान, अवस्थित वृक्षोंमें गतिशीलताका ज्ञान आदि भ्रान्त ज्ञानोंको भी प्रमाण मानना चाहिए। और तब 'अभ्रान्तं प्रत्यक्षम्' ऐसा कहना व्यर्थ है। यदि विसंवाद पाये जानेके कारण भ्रान्त ज्ञान प्रमाण नहीं है, तो मणिप्रभामें जो मणिदर्शन होता है, उसमें भी विसंवाद पाया जाता है। अतः वह प्रमाण कैसे होगा। कुञ्चिकाविवर (कुञ्जीका छिद्र)में मणिदर्शन होता है और कक्षके अन्दर मणिकी प्राप्ति होती है। अतः भ्रान्त होनेके कारण मणिप्रभादर्शनको प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता है। वह अनुमान भी नहीं है। क्योंकि उसमें लिङ्ग और लिङ्गीके सम्बन्धका ज्ञान नहीं है। तथा साध्य और साधनके ज्ञानके अभावमें अनुमान कैसे हो सकता है। मणिप्रभादर्शन दृष्टान्त है, दार्ष्टान्त नहीं। फिर भी मणिप्रभादर्शनको अनुमान माना जाय तो दृष्टान्त और दार्ष्टान्तके एक हो जानेसे किसके द्वारा किसकी सिद्धि होगी। और तब क्षणिकत्वादि साधक अनुमान भी कैसे बनेगा। कदाचित् संवाद पाये जानेके कारण मणिप्रभादर्शनको प्रमाण मानना ठीक नहीं है। क्योंकि कदाचित् संवाद तो मिथ्याज्ञानमें भी पाया जाता है। कभी कभी मिथ्याज्ञानसे भी अर्थकी प्राप्ति हो जाती है। अतः उसे भी प्रमाण मानना चाहिए।

अन्यथा भ्रान्तप्रमादर्शन ो तथा अनुमानका भी विसंवादी होनेसे प्रमाण मत मानिए।

यहाँ बौद्ध कहते हैं कि मिथ्याज्ञानमें संवाद कभी-कभी ही पाया जाता है, किन्तु अनुमानमें संवाद सदा पाया जाता है। यद्यपि अनुमान अवस्तुभूत सामान्यको विषय करता है, फिर भी परम्परासे वस्तु (स्वलक्षण) की प्राप्तिका कारण होनेसे वह संवादक है। कहा भी है—

> लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि।
> प्रतिबन्धात्तदाभासशून्ययोरप्यवञ्चनम्॥
>
> —प्रमाणवा० २।८२

लिङ्गबुद्धि (हेतुका ज्ञान) और लिङ्गिबुद्धि (साध्यका ज्ञान) में वस्तुका साक्षात् प्रतिभास न होनेपर भी परम्परासे वस्तुके साथ सम्बन्ध होनेके कारण अनुमानमें संवादकता है।

बौद्धोंका उक्त कथन असंगत ही है। यदि अनुमानमें सर्वदा संवादकता विद्यमान रहती है, तो प्रत्यक्षकी तरह उसे भी अभ्रान्त मानना चाहिए। किन्तु बौद्धोंने प्रत्यक्षको अभ्रान्त माना है, और अनुमानको भ्रान्त माना है। धर्मोत्तरने कहा है कि अनुमान भ्रान्त है[1], क्योंकि वह अपने विषय सामान्यमें, जो कि अनर्थ है, अर्थका अध्यवसाय करके प्रवृत्त होता है। इस प्रकार यदि अनुमान भ्रान्त है तो वह संवादक कैसे हो सकता है। और संवादकताके अभावमें वह प्रमाण भी नहीं हो सकता है। यथार्थमें अनुमान प्रमाण है, अप्रमाण नहीं। और उसका विषय सामान्य भी मिथ्या नहीं है। यदि अनुमानका आलम्बन (सामान्य) मिथ्या है, तो प्राप्य (स्वलक्षण) भी मिथ्या होगा। और यदि अनुमान द्वारा प्राप्य विषय वास्तविक है, तो उसके आलम्बनको भी वास्तविक मानना चाहिए।

इसलिए 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणम्' यह प्रमाणका लक्षण पूर्णरूपसे निर्दोष है। इस लक्षणमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोषोंमेंसे कोई भी दोष संभव नहीं है। जितने प्रमाण हैं वे सब तत्त्वज्ञानरूप ही हैं। प्रमाणोंमें जो प्रतिभास भेद पाया जाता है, वह कारणसामग्रीके भेदसे होता है। इन्द्रियजन्य होनेसे प्रत्यक्ष विशद होता है, और लिङ्ग आदि-

---

१. भ्रान्तं ह्यनुमानं स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तत्वात्।

—न्यायबि० टीका, पृ० ९।

से उत्पन्न होनेके कारण अनुमान आदि अविशद होते हैं। परन्तु प्रतिभास-भेद होने पर भी उनकी प्रमाणतामें कोई अन्तर नहीं आता है।

'तत्त्वज्ञान प्रमाण है।' यहाँ प्रमाण लक्ष्य है और तत्त्वज्ञान उसका लक्षण है। 'तत्त्वज्ञानमेव प्रमाणम्' और 'प्रमाणमेव तत्त्वज्ञानम्' इस प्रकार 'एव शब्दका प्रयोग 'तत्त्वज्ञान' और 'प्रमाण' दोनों शब्दोंके साथ किया जा सकता है। 'तत्त्वज्ञानमेव प्रमाणम्' कहनेका अर्थ यह है कि तत्त्वज्ञान ही प्रमाण होता है, अतत्त्वज्ञान नहीं। और 'प्रमाणमेव तत्त्व-ज्ञानम्', कहनेका अर्थ यह है कि तत्त्वज्ञान प्रमाण ही होता है, अप्रमाण नहीं। तत्त्वज्ञानसे जो फलज्ञानकी उत्पत्ति होती है वह फल ज्ञान भी आगेके फलको उत्पन्न करनेके कारण प्रमाण भी है। इसलिए बौद्धोंका यह कहना ठीक नहीं है कि निर्विकल्पक दर्शनके बाद जो सविकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है वह अप्रमाण है। यदि अनधिगत अर्थको न जाननेके कारण सविकल्पक प्रत्यक्षको प्रमाण न माना जाय, तो अनुमानको भी प्रमाण नहीं मानना चाहिए। क्योंकि 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' यह अनुमान भी निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें अधिगत क्षणिकत्वका ज्ञान करता है। अतः अधिगत क्षणिकत्वको जाननेके कारण वह प्रमाण कैसे हो सकता है। यदि कहा जाय कि क्षणिकत्वके अनुमान द्वारा अनिश्चित क्षणिकत्वका अध्यवसाय होता है, तो ऐसा भी कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षसे भी अनिर्णीत अर्थका निर्णय होता है। अतः निर्विकल्पकके बाद होनेवाला सविकल्पक भी निर्विकल्पकके समान ही प्रमाण है। तत्त्वज्ञानका नाम प्रमाण है। तत्त्वज्ञान से ही तत्त्वकी व्यवस्था होती है। तत्त्वज्ञानके बिना तो निर्विकल्पक भी प्रमाण नहीं हो सकता है। इसलिए तत्त्व-ज्ञानको प्रमाण माननेमें कोई दोष नहीं है।

प्रमाणके दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्षके दो भेद हैं—मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीन मुख्य प्रत्यक्ष हैं। ये तीनों ज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना केवल आत्मासे उत्पन्न होते हैं। इसलिए इनको मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं। ये तीनों ज्ञान अपने विषयको पूर्णरूपसे विशद जानते हैं। पाँच इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानका नाम सांव्यवहा-रिक प्रत्यक्ष है। यह प्रत्यक्ष अपने विषयको एकदेशसे विशद जानता है। इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न ज्ञान यथार्थमें परोक्ष ही है, फिर भी लोकव्यवहारमें इसको प्रत्यक्ष कहते हैं। इसीलिए इसका नाम सांव्य-वहारिक प्रत्यक्ष है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये

पाँच ज्ञान परोक्ष प्रमाणके अन्तर्गत हैं।

कुछ लोग अधिगत अर्थको जाननेके कारण स्मृतिको प्रमाण नहीं मानते हैं। उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है। स्मृतिके विषयमें दो विकल्प होते हैं। पूर्वमें प्रत्यक्षसे गृहीत अर्थमें जो स्मृति होती है वह प्रमिति विशेषको उत्पन्न करती है या नहीं। यदि स्मृति प्रमिति विशेषको उत्पन्न नहीं करती है, तो अधिगत अर्थको जाननेके कारण उसको प्रमाण न माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। जैसे कि प्रत्यक्षसे वह्निका निश्चय होजाने पर भी ज्वाला आदिसे वह्निकी जो लौकिक स्मृति होती है, वह प्रमिति विशेषके न होनेसे प्रमाण नहीं है। किन्तु जहाँ प्रमिति विशेषकी उत्पत्ति होती है वहाँ स्मृतिको प्रमाण मानना आवश्यक है। यदि सब स्मृतियाँ अप्रमाण हैं, तो अनुमानकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती है। क्योंकि अविनाभाव सम्बन्ध की स्मृतिके बिना अनुमानकी उत्पत्ति असंभव है। तथा अविनाभाव सम्बन्धकी स्मृतिके अप्रमाण होनेसे अनुमान भी अप्रमाण होगा। स्मृतिका प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि किसी प्रमाणमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि स्मृतिका विषय सब प्रमाणोंसे भिन्न है। स्मृति केवल भूत अर्थको जानती है। अधिगत अर्थको जाननेके कारण स्मृतिको अप्रमाण नहीं माना जा सकता है। अन्यथा अनुमानके अनन्तर होनेवाला वह्निका प्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो जायगा। यद्यपि स्मृति अधिगत अर्थको जानती है, फिर भी उसके जाननेमें प्रमिति विशेषका सद्भाव पाया जाता है। पूर्वमें अधिगत अर्थ भी समारोपके कारण अनधिगतके समान हो जाता है। अतः अधिगत अर्थमें उत्पन्न समारोप (संशयादि)का व्यवच्छेद करनेके कारण स्मृति प्रमाण है।

स्मृतिकी तरह प्रत्यभिज्ञान भी एक पृथक् प्रमाण है। प्रत्यभिज्ञानके द्वारा भी अपने विषयमें व्यवसायरूप अतिशय उत्पन्न होता है। प्रमाणका अस्तित्व व्यवसायके ऊपर ही निर्भर है। व्यवसाय (निश्चय)के अभावमें कोई भी ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है। अपने विषयका व्यवसाय न होनेके कारण ही संशयादि ज्ञानोंमें प्रमाणता नहीं है। प्रत्यभिज्ञान अव्यवसायात्मक नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा 'तदेवेदं'—'यह वही है', '[illegible]'—'यह उसके सदृश ही है', इस प्रकारका [illegible]ात्मक ज्ञान होता है। प्रत्यभिज्ञानका अन्य किसी प्रमाणमें अन्तर्भाव भी नहीं हो सकता है। क्योंकि कोई भी प्रमाण प्रत्यभिज्ञानके विषयको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है। अतीत और वर्तमान अवस्थाव्यापी एकत्व आदि प्रत्यभिज्ञानका विषय है। इस विषयमें किसी प्रमाणकी प्रवृत्ति न होनेके कारण

कोई प्रमाण प्रत्यभिज्ञानका बाधक भी नहीं है। अतः प्रत्यभिज्ञान भी एक पृथक् प्रमाण है।

इसी प्रकार तर्क भी एक पृथक् प्रमाण है। क्योंकि उसके द्वारा एक ऐसे अर्थका ज्ञान किया जाता है जिसको अन्य कोई प्रमाण नहीं जान सकता। साध्य और साधनमें अविनाभाव सम्बन्धका ज्ञान करना तर्कका काम है। बौद्ध अविनाभाव सम्बन्धका ज्ञान प्रत्यक्षसे नहीं कर सकते हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष निकटवर्ती वर्तमान अर्थको ही जानता है। तथा निर्विकल्पक होनेसे वह व्याप्तिज्ञान करनेमें समर्थ भी नहीं है। यदि अनुमानसे व्याप्तिज्ञान किया जाय तो यहाँ दो विकल्प होते हैं—प्रकृत अनुमानसे व्याप्तिज्ञान होगा या अनुमान्तरसे। प्रकृत अनुमानसे व्याप्तिज्ञान करनेमें अन्योन्याश्रय दोष आता है। क्योंकि व्याप्तिज्ञान होने पर अनुमान होगा और अनुमान होने पर व्याप्तिज्ञान होगा। और अनुमान्तरसे व्याप्तिज्ञान माननेमें अनवस्था दोषका समागम अनिवार्य है। क्योंकि अनुमानान्तरमें भी व्याप्तिज्ञानके लिए अनुमानान्तर मानना होगा। व्याप्तिज्ञानको अप्रमाण भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्याप्तिज्ञानके अप्रमाण होने पर अनुमान भी अप्रमाण ही होगा। इसलिए व्याप्तिका ज्ञान करने वाला प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमानसे भिन्न ही है। उपमान, आगम आदिमें भी तर्कका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। क्योंकि उपमान आदि प्रमाण व्याप्तिज्ञान करनेमें समर्थ नहीं है। अतः व्याप्तिको ग्रहण करने वाला तर्क एक पृथक् प्रमाण है।

इस प्रकार स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क ये तीनों पृथक् पृथक् प्रमाण हैं। अनुमान और आगमको तो प्रायः सबने प्रमाण माना है। कुछ लोगोंने उपमान, अर्थापत्ति आदिको भी प्रमाण माना है। किन्तु उपमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणोंका अन्तर्भाव परोक्ष प्रमाणमें ही हो जाता है। उपमानका अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञानमें और अर्थापत्तिका अन्तर्भाव अनुमानमें किया जा सकता है। अतः यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रमाण हैं। कहा भी है—

> प्रत्यक्षं विशदज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लवम्।
> परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति संग्रहः॥

—प्रमाणसंग्रह श्लो० २

विशद ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष। तथा श्रुतज्ञान, प्रत्यभिज्ञान आदि

परोक्ष हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्षमें सब प्रमाणोंका संग्रह हो जाता है।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलके भेदसे आगममें ज्ञानके पाँच भेद बतलाये गये हैं[1]। इनमेंसे मति और श्रुत ये दो ज्ञान परोक्ष हैं[2]। तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं[3]। ज्ञानवरण कर्मके पूर्ण क्षयसे उत्पन्न केवलज्ञान सम्पूर्ण पदार्थोंको युगपत् जानता है। इसीलिए उसको अक्रमभावी कहा है। केवली सम्पूर्ण पदार्थोंको युगपत् जानता ही नहीं है, किन्तु देखता भी है। उसके ज्ञान और दर्शन दोनों एक साथ ही होते हैं, छद्मस्थकी तरह क्रमसे नहीं। यदि केवलीमें ज्ञान और दर्शन क्रमसे हों, तो वह सर्वज्ञ ही नहीं हो सकता है। क्योंकि दर्शनके समय ज्ञान नहीं रहेगा और ज्ञानके समय दर्शन नहीं रहेगा। इसलिए केवलीमें सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व एक साथ ही मानना चाहिए, तभी वह सर्वज्ञ हो सकता है। ऐसा कोई कारण भी नहीं है जिससे केवलीमें ज्ञान और दर्शन एक साथ न हो सकें। ज्ञानका प्रतिबन्धक ज्ञानावरण है और दर्शनका प्रतिबन्धक दर्शनावरण है। केवलीमें दोनोंका ही एक साथ क्षय हो जाता है। अतः केवलीमें ज्ञान और दर्शन एक साथ ही होते हैं। केवल ज्ञानको छोड़कर अन्य सब ज्ञान क्रमवर्ती हैं। मति आदि ज्ञान दर्शनके साथ नहीं होते हैं; किन्तु पहिले दर्शन होता है और इसके बाद मति आदि ज्ञान होते हैं।

मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञानोंको क्रमभावी बतलाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि मति आदि प्रत्येक ज्ञान अपने सब विषयोंको एक साथ नहीं जानता है, किन्तु क्रमशः ही जानता है। क्योंकि मति आदि ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। जितने अंशमें मतिज्ञानावरणादिका क्षयोपशम होता है, उतने ही अंशमें ये ज्ञान पदार्थोंको जानते हैं। क्रमभावीका एक अर्थ यह भी होता है कि ये चारों ज्ञान किसी आत्मामें एक साथ नहीं होते हैं, किन्तु क्रमशः ही होते हैं।

कोई यहाँ ऐसी आशंका कर सकता है कि मति आदि ज्ञान क्रमवर्ती नहीं हैं, किन्तु युगपद्वर्ती हैं। क्योंकि—'तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः' ऐसा सूत्रकारका वचन है। यहाँ शंकाकारका ऐसा अभिप्राय है कि मति आदि चारों ज्ञान एक साथ किसी अर्थको जान

१. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।
२. आद्ये परोक्षम्।
३. प्रत्यक्षमन्यत्। —तत्त्वार्थसूत्र १।९, ११, १२

सकते हैं। किन्तु ऐसा नहीं है। सूत्रकारके उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि एक साथ एक जीवमें चार ज्ञानोंका सद्भाव तो रह सकता है, किन्तु उपयोग तो एक समयमें एक ही ज्ञानका होता है। कहा भी है—

'सह द्वौ न स्त उपयोगात्'

अर्थात् उपयोग की अपेक्षासे एक साथ दो ज्ञान नहीं हो सकते हैं। अतः मति आदि चार ज्ञानोंकी सत्ता एक साथ एक जीवमें रह सकती है, किन्तु एक समयमें दो ज्ञानोंका उपयोग नही हो सकता है। कुछ लोग कहते हैं कि दीर्घशष्कुलीके भक्षणके समय एक साथ चाक्षुष ज्ञान आदि पाँचों ज्ञानोंका सद्भाव पाया जाता है, अतः अनेक ज्ञानोंके एक साथ होनेमें कोई विरोध नहीं है। उनका ऐसा कथन ठीक नहीं है। क्योंकि रूप आदि पाँच विषयोंका ज्ञान एक साथ किसी भी प्रकार संभव नहीं है। दीर्घशष्कुली भक्षणके समय भी रूप आदिका ज्ञान क्रमसे ही होता है, किन्तु भ्रमके कारण उन पाँच ज्ञानोंमें क्षणक्षयकी तरह क्रमका ज्ञान नहीं हो पाता है। बौद्धोंके यहाँ प्रत्येक पदार्थके क्षणिक होने पर भी सादृश्यके कारण उसमें 'यह वही है' ऐसा बोध हो जाता है। तथा रूपज्ञान आदि पाँच ज्ञानोंको युगपत् मानने पर भी उनमें सन्तान भेद मानना ही पड़ेगा। अन्यथा सन्तानान्तरके समान उनमें परस्परमें परामर्श (प्रत्यभिज्ञान) नहीं हो सकता है। तथा पुरुषान्तरके समान स्पर्शादिका प्रत्यवमर्श भी (प्रत्यभिज्ञान) नहीं हो सकता है। दो सन्तानवर्ती पृथक् पृथक् ज्ञानोंमें परामर्श संभव नहीं है। एक पुरुषने स्पर्शको जाना और दूसरेने रूपको जाना, तो इन दोनोंमें स्पर्शादिका प्रत्यवमर्श सम्भव नहीं है। यतः रूपज्ञान आदि पाँच ज्ञानोंमें परस्परमें परामर्श होता है, और स्पर्शादिका प्रत्यवमर्श होता है, अतः रूपज्ञान आदि पाँच ज्ञान युगपत् नहीं होते हैं, किन्तु क्रमसे ही होते हैं।

एक साथ सम्पूर्ण पदार्थोंको जानने वाला केवलज्ञान स्याद्वादसे उपलक्षित है। और क्रमसे होने वाले मति आदि ज्ञान स्याद्वाद और नय दोनोंसे उपलक्षित होते हैं। स्याद्वाद समग्र पदार्थको जानता है, और नय पदार्थके एक देशको जानता है। स्याद्वादको प्रमाण भी कहते हैं। अतः केवलज्ञान सर्वथा प्रमाणरूप है। किन्तु मति आदि चार ज्ञान प्रमाणरूप भी हैं, और नयरूप भी। जब किसी ज्ञानकी दृष्टि समग्रवस्तु-पर होती है, तब वह प्रमाण कहलाता है, और जब वह उसके एक अंशपर दृष्टि रखता है, तब वही ज्ञान नय कहलाता है। इसीलिए मति आदि चार ज्ञानोंको प्रमाण और नयसे संस्कृत कहा है।

अथवा 'स्याद्वादनय' शब्दका सम्बन्ध 'तत्त्वज्ञान' शब्दके साथ किया जा सकता है। अर्थात् 'तत्त्वज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतं' ऐसा सम्बन्ध करके तत्त्वज्ञानमें सप्तभंगीकी प्रक्रियाको लगाया जा सकता है। तत्त्वज्ञानमें कई धर्मोंकी अपेक्षासे सप्तभंगीका कथन करनेमें कोई विरोध नहीं है। तत्त्वज्ञान सम्पूर्ण पदार्थोंको विषय करनेके कारण कथंचित् अक्रमभावी है, और कुछ पदार्थोंको विषय करनेके कारण कथंचित् क्रमभावी है। इसी प्रकार कथंचित् उभय, अवक्तव्य आदि भी है। अथवा तत्त्वज्ञान अपने अर्थकी प्रमितिको उत्पन्न करनेके कारण कथंचित् प्रमाण है, और प्रमाणान्तरसे अथवा स्वतः प्रमेय होनेके कारण कथंचित् अप्रमाण (प्रमेय) है। उसी प्रकार कथंचित् उभय, अवक्तव्य आदि भी है। अथवा तत्त्वज्ञान कथंचित् सत् है, कथंचित् असत् है, कथंचित् उभय आदि भी है। इस तरह तत्त्वज्ञानके विषयमें प्रमाण और नयकी अपेक्षासे अनेक सप्तभंगियाँ बन सकती हैं। इस प्रकार उक्त कारिकाके द्वारा प्रमाणके विषयमें स्वरूपविप्रतिपत्ति, संख्याविप्रतिपत्ति और विषयविप्रतिपत्ति इन तीन विप्रतिपत्तियोंका निराकरण किया गया है।

अब प्रमाणके फलमें विप्रतिपत्तिका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

> उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः ।
> पूर्वावाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२॥

प्रथम जो केवल ज्ञान है, उसका फल उपेक्षा है। अन्य ज्ञानोंका फल आदान और हान (ग्रहण और त्याग) बुद्धि है। अथवा उपेक्षा भी उनका फल है। वास्तवमें अपने विषयमें अज्ञानका नाश होना सब ज्ञानोंका फल है।

यथार्थमें प्रमाणका फल दो प्रकारका है—एक साक्षात्फल और दूसरा परम्पराफल। अपने विषयमें अज्ञानका नाश होना सब ज्ञानोंका साक्षात् फल है। किसी वस्तुको ग्रहण करना या छोड़ देना अथवा उसकी उपेक्षा कर देना ये तीन ज्ञानके परम्पराफल हैं। केवलज्ञानका परम्पराफल उपेक्षा है। क्योंकि कृतकृत्य होनेसे केवलीको किसी वस्तुसे कोई प्रयोजन नहीं रहता। यही कारण है कि सब विषयोंमें उनकी उपेक्षा रहती है।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि केवली परम कारुणिक होते हैं। दूसरे प्राणियोंके दुःखको दूर करनेकी उनकी इच्छा रहती है। तब उनमें

उपेक्षा कैसे संभव है। और यदि वे उपेक्षक हैं, तो आप्त कैसे हो सकते हैं। उक्त शंकाका समाधान यह है कि करुणाके अभावमें भी केवली भगवान् स्वभावसे दूसरोंके दुःखोंको दूर करनेके लिए प्रवृत्ति करते हैं। केवलीके मोहनीय कर्मका अभाव होनेसे मोहके उदयसे होने वाली करुणा संभव नहीं है। ऐसी बात नहीं है कि जो दयालु होता है, वही परके दुःखको दूर करता है। कोई प्राणी करुणाके अभावमें भी स्वभावसे ही दीपककी तरह स्व और परके दुःखकी निवृत्ति करनेमें प्रवृत्ति कर सकता है। दीपक दयालु होनेके कारण अन्धकारकी निवृत्ति नहीं करता है, किन्तु अन्धकार निवर्तक स्वभाव होनेके कारण ही वैसा करता है। यदि केवलीमें करुणाका सद्भाव है, तो उस करुणाको उत्पन्न करनेका स्वभाव भी मानना पड़ेगा। क्योंकि घातिया कर्मोंका नाश हो जानेसे केवलीमें मोहनीय कर्म करुणाका कारण नहीं हो सकता है। और यदि केवलीमें करुणाको उत्पन्न करनेका स्वभाव माना जाता है, तो उसके स्थानमें स्व और परके दुःखकी निवृत्ति करनेका स्वभाव मान लेनेमें कौन-सी बाधा है। यथार्थमें केवली भगवान् तीर्थङ्कर नामकर्मके उदयसे हितोपदेशमें प्रवृत्ति करते हैं। और हितोपदेशके अनुसार आचरण करनेसे संसारके प्राणियोंके दुःखका निराकरण हो जाता है। अतः बुद्धके[1] समान केवली भगवान्की परदुःखनिवृत्तिमें प्रवृत्ति करुणासे नहीं होती है।

अतः केवलज्ञानका साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है, और परम्पराफल उपेक्षा है। मति आदि ज्ञानोंका साक्षात्फल अज्ञाननिवृत्ति ही है, किन्तु परम्पराफल हान, उपादान और उपेक्षा है। यदि मत्यादि ज्ञानोंसे अज्ञाननिवृत्ति न हो तो वे सन्निकर्ष आदिकी तरह प्रमाण ही नहीं हो सकते हैं। मति आदिके द्वारा किसी अर्थको जानकर यदि वह अर्थ इष्ट है, तो उसका ग्रहण किया जाता है, तथा अनिष्ट होनेपर उसको छोड़ दिया जाता है। और प्रयोजनके अभावमें उसकी उपेक्षा कर दी जाती है। प्रमाणका फल प्रमाणसे कथंचित् भिन्न होता है, और कथंचित् अभिन्न। यदि प्रमाणसे फल सर्वथा भिन्न हो तो 'यह प्रमाणका फल है' ऐसा कहना भी कठिन है। और प्रमाणसे फलको अभिन्न माननेपर दोनोंमेंसे किसी एकका ही सद्भाव रहेगा। इस प्रकार समस्त ज्ञानोंका साक्षात्फल अज्ञाननिवृत्ति है। केवलज्ञानका परम्पराफल उपेक्षा है। और मत्यादि ज्ञानोंका परम्पराफल हान, उपादान और उपेक्षा है।

---

१. निष्फलत्वेन करुणैव तेषां तु महती कृपा। —प्रमाणवा० १।२०१

यह फल प्रमाणसे कथंचित् भिन्न है, और कथंचित् अभिन्न। करण (प्रमाण) और क्रिया (फलज्ञान) कथंचित् एक है, और कथंचित् नाना हैं।

स्याद्वाद शब्दके अन्तर्गत स्यात् विशेषणका अर्थ बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

> वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
> स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥१०३॥

हे भगवन्! आपके मतमें 'स्यात्' शब्द अर्थके साथ सम्बद्ध होनेके कारण 'स्यादस्ति घटः' इत्यादि वाक्योंमें अनेकान्तका द्योतक होता है। और गम्य अर्थका विशेषण होता है। 'स्यात् शब्द निपात है, तथा केवलियों और श्रुतकेवलियोंको भी अभिमत है।

यहाँ व्याकरणशास्त्रकी दृष्टिसे 'स्यात्' शब्दका विचार करना आवश्यक है। 'अस्' धातुसे विधिलिङ्मे 'स्यात्' शब्द बनता है। 'स्याद्वाद'में 'स्यात्' विधिलिङ्में निष्पन्न शब्द नहीं है, किन्तु तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। संज्ञा, सर्वनाम, अव्यय आदिके भेदसे शब्द कई प्रकारके होते हैं। जो सदा एकसे रहते हैं और जिनके 'भवति' 'बालकः' इत्यादिकी तरह रूप नहीं चलते हैं, वे 'यथा' अपि' 'सदा' इत्यादि शब्द अव्यय कहलाते हैं। और निपात शब्द अव्ययके ही विशेषरूप अथवा अव्ययके अन्तर्गत ही होते हैं। 'हि' 'च' 'एव' 'स्यात्' इत्यादि शब्द निपात कहलाते हैं। निपात शब्द अर्थके द्योतक होते हैं। कहा भी है—'द्योतकाश्च भवन्ति निपाताः'। किन्हीं वैयाकरणोंके मतसे निपात वाचक भी होते हैं। 'स्यात्' तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। 'स्यात्'के विधिलिङ्में विधि, विचार, प्रश्न आदि अनेक अर्थ होते हैं। उनमेंसे यहाँ अनेकान्त अर्थ विवक्षित है। स्यात् शब्द कथंचित् (किसी सुनिश्चित) अपेक्षाके अर्थमें प्रयुक्त होता है, संशय, संभावना या कदाचित् अर्थमें नहीं। 'स्यादस्त्येव घटः', 'स्यान्नास्त्येव घटः' इत्यादि वाक्योंमें स्यात् शब्द अनेकान्तका द्योतन करता है।

वस्तु अनेकान्तात्मक है। सत्, असत्, नित्य, अनित्य आदि सर्वथैकान्तके निराकरण पूर्वक उक्त विरोधी धर्मोंका एक वस्तुमें पाया जाना अनेकान्त है। 'स्यात्' शब्द इसी अनेकान्तका द्योतन करता है। 'स्यादस्ति घटः', यहाँ 'स्यात्' शब्द कहता है कि घट 'अस्तिरूप ही नहीं है,

किन्तु नास्तिरूप भी है। घट सर्वथा अस्तिरूप नहीं है किन्तु कथंचित् अस्तिरूप है। इसी प्रकार घट सर्वथा नास्तिरूप नहीं है, किन्तु कथंचित् नास्तिरूप है। घटको सर्वथा अस्तिरूप माननेमें वह पट आदिकी अपेक्षासे भी अस्तिरूप ही होगा। तथा सर्वथा नास्तिरूप होनेपर उसका अस्तित्व ही न रहेगा। इसलिए स्यात् शब्दका मुख्य काम है अनेकान्तका द्योतन करना। स्यात् शब्द बतलाता है कि वस्तु एकरूप नहीं है, किन्तु अनेकरूप है। वस्तुमें सत्त्वके साथ ही असत्त्व आदि अनेक धर्म रहते हैं।

स्यात् शब्दका दूसरा काम है, गम्य अर्थका समर्थन करना। 'स्यादस्ति घटः' यहाँ घटका अस्तित्व गम्य है, और 'स्यान्नास्ति घटः' यहाँ घटका नास्तित्व गम्य है। स्यात् शब्द बतलाता है कि घटमें अस्तित्व किस अपेक्षासे है, और नास्तित्व किस अपेक्षासे है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे घटमें अस्तित्व है। और परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे घटमें नास्तित्व है। स्यात् शब्द निश्चित अपेक्षासे गम्य अर्थका सूचक होता है। वह ऐसा नहीं कहता कि शायद घट है, शायद घट नहीं है। जो लोग स्याद्वादका अर्थ संशयवाद या संभावनावाद करते हैं वे स्यात् शब्दका ठीक अर्थ न समझनेके कारण ही वैसा करते हैं। अनेकान्तके प्रकरणमें 'स्यात्' का अर्थ न संशय है और न संभावना, किन्तु निश्चय है। 'स्यादस्त्येव घटः', यहाँ स्यात्के साथ एव शब्द भी लगा हुआ है, जो बतलाता है कि घट एक निश्चित अपेक्षासे है ही। ऐसी स्थितिमें स्यात्का अर्थ संशय या संभावना कैसे हो सकता है।

स्यात् शब्द निरर्थक नहीं है, किन्तु अर्थके साथ उसका सम्बन्ध है। यही कारण है कि वह अनेकान्तका द्योतन करता हुआ गम्य अर्थका समर्थन करता है। स्यात् शब्द बतलाता है कि अर्थ अनेकान्तात्मक है, और इस समय उन अनन्त धर्मोंमेंसे किस धर्मका प्रतिपादन किस अपेक्षासे किया जा रहा है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि स्यात् शब्द निश्चयात्मक है, अ[illegible] या सन्देहात्मक नहीं। यह स्यात् शब्द केवलियों और श्रुतकेवलियोंको भी अभिमत है। क्योंकि इसके बिना [illegible]नेकान्तरूप अर्थकी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है। केवली या श्रुतकेवलीका भी वचन केवलज्ञानकी तरह सम्पूर्ण वस्तुका युगपत् अवगाहन (प्रतिपादन) नहीं कर सकता है। अतः स्यात् शब्दके प्रयोगके बिना अनेका[illegible] प्रतिपत्ति संभव नहीं है।

स्यात् शब्दके विषयमें आचार्य समन्तभद्रने इस कारिकामें बतलाया है कि वह अनेकान्तद्योती और गम्यका विशेषण होता है। अकलंक देवने अष्टशती नामक भाष्यमें लिखा है—

'स्याद्[illegible] ज्यमानः स्याच्छब्दस्तद्विशेषणतया [illegible]र्थतत्त्वमवयवेन सूचयति, प्रायशो निपातानां तत्स्वभावत्वादेवकारादि[illegible]' ।

अर्थात् 'स्यादस्ति घटः' इत्यादि स्थलमें प्रयुक्त स्यात् शब्द उसका विशेषण होनेसे प्रकृत अर्थके स्वरूपको पूर्णरूपसे सूचित करता है। प्रायः एवकार आदिकी तरह निपातोंका वैसा ही स्वभाव होता है।

आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें लिखा है—

द्योतकाश्च भवन्ति निपाता इति वचनात् स्या[illegible]स्यानेकान्तद्योतकत्वेऽपि न कश्चिद्दोषः, सामान्योपक्रमे विशेषाभिधानमिति न्यायाज्जी-[illegible]पदोपाद[illegible]प्यविरोधात् स्या[illegible]मात्रयोगादनेकान्तसामान्यप्रति-पत्तेरेव सम्भवात्। [illegible]चकत्वपक्षे तु गम्यमर्थरूपं प्रति विशेषणं स्याच्छब्द-स्तस्य वि[illegible]त्वात्। न हि केवलज्ञानवदखिलमक्रममवगाहते किञ्चि-द्वाक्यं येन तदभिधेयाविशेष[illegible]चकः स्यादिति न प्रयुज्यते।

अर्थात् निपात द्योतक भी होते हैं। इसलिए स्यात् शब्दको अने-कान्तका द्योतक होने पर भी कोई दोष नहीं है। 'सामान्यका उपक्रम होने पर विशेषका कथन होता है' इस न्यायसे 'स्याज्जीवः' यहाँ जीवादि पदके ग्रहण करनेमें भी कोई विरोध नहीं है। केवल स्यात् शब्दके प्रयोग-से अनेकान्तसामान्यकी ही प्रतिपत्ति संभव है। सूचक पक्षमें तो गम्य अर्थका विशेषक (भेदक या समर्थक) होनेसे स्यात् शब्द गम्य अर्थका विशेषण होता है। कोई भी वचन केवलज्ञानकी तरह सम्पूर्ण वस्तुका युगपत् अवगाहन नहीं कर सकता है, जिससे कि उस वाक्यके अभिधेय अर्थके विशेषरूप (स्वरूप) का सूचक स्यात् शब्दका वाक्यमें प्रयोग न किया जाय।

आचार्य [illegible]नन्दिकी वृत्तिसहित मुद्रित आप्तमीमां[illegible]में 'गम्यं प्रति विशेषणम्' के स्थानमें 'गम्यं प्रति विशेषकः' ऐसा पाठ है। 'विशेषणम्' के स्थानमें 'विशेषकः' पाठ अधिक उपयुक्त मालूम पड़ता है। पुल्लिंग निपात शब्दके साथ 'विशेषकः' की संगति भी बैठ जाती है। आचार्य [illegible]ने भी 'तस्य विशेषकत्[illegible]' कह कर उसको विशेषक माना भी है।

आचार्य वसुनन्दिने अपनी वृत्तिमें लिखा है—

'स्याद्वादः । गम्यमानमेवेष्मस्ति घट इत्यादिवाक्यमस्तित्वादि तत्प्रति विशेषकः समर्थकः' । अर्थात् 'अस्ति घटः' इत्यादि वाक्योंमें अस्तित्वादि गम्य है, और स्यात् शब्द अस्तित्वादिका समर्थक होता है ।

यहाँ विशेषकका अर्थ समर्थक बतलाया गया है । किन्तु विशेषकका अर्थ भेदक भी होता है । 'स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्...विशेषकः' यहाँ विशेषकका अर्थ भेदक (भेद कराने वाला) ही है । स्यात् शब्द भी अस्तित्वादि धर्मोंका भेदक होता है । अर्थात् घट अस्ति क्यों है और नास्ति क्यों है ऐसा भेद कराता है ।

इस प्रकार समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानन्द और वसुनन्दि इन चारों आचार्योंके मतानुसार स्यात् शब्दके विषयमें यहाँ कुछ विशेष प्रकाश डाला गया है ।

कारिकामें वाक्य शब्द आया है । अतः वाक्यके लक्षणका विचार करना भी आवश्यक है । वाक्यका लक्षण इस प्रकार है—'पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम् ।' परस्पर सापेक्ष पदोंके निरपेक्ष समुदायका नाम वाक्य है । 'मैं जाता हूँ" यह एक वाक्य है । इसमें तीन पद हैं—मैं, जाता और हूँ । मैं, जाता और हूँ, ये तीनों पद एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हैं । दूसरे पदोंकी अपेक्षाके अभावमें प्रत्येक पदका अर्थ अधूरा ही रहेगा, उसका कोई विशेष अर्थ नहीं निकल सकता है । यदि कोई केवल 'मैं' इतना ही कहे तो वह क्या कहना चाहता है, यह कुछ समझमें नहीं आयगा । इसलिए प्रत्येक पद अपने अर्थकी पूर्तिके लिए दूसरे पदोंकी अपेक्षा रखता है । अतः कुछ पदोंका ऐसा समुदाय जो अपने अर्थको समझानेके लिए किसी अन्य पदकी अपेक्षा नहीं रखता है, वाक्य कहलाता है । 'मैं जाता हूँ' यह तीन पदोंका ऐसा समुदाय है, जो स्वयं अपनेमें पूर्ण है । पदोंके निरपेक्ष समुदायका नाम वाक्य है । जब तक अन्य पदोंकी अपेक्षा रहेगी, तब तक वह समुदाय वाक्य नहीं कहला सकता है । सापेक्षत्व और निरपेक्षत्व ये प्रतिपत्ताके धर्म हैं । प्रतिपत्ताको जितने पदोंसे अर्थका पूर्ण ज्ञान हो जाय, उतने ही पदोंका नाम वाक्य है । किसी प्रतिपत्ताको कुछ पदोंसे ही किसी अर्थका ज्ञान हो सकता है । दूसरे प्रतिपत्ताके लिए उन पदोंके साथ अन्य पदोंकी भी अपेक्षा रहती है । इसलिए एक प्रतिपत्ताके लिए जो वाक्य होता है, वह दूसरे प्रतिपत्ताके लिए वाक्य नहीं भी हो सकता है । कहीं 'सत्य-भामा' आदि एक पदको सुनकर ही प्रकरण आदिके द्वारा गम्य अर्थका

पूरा ज्ञान हो जाता है, वहाँ एक पद ही वाक्य हो जाता है। क्योंकि वाक्यका लक्षण निराकांक्षत्व वहाँ पाया जाता है। वहाँ एक ही पदसे पूरा ज्ञान हो जाता है, और अन्य पदोंकी कोई अपेक्षा नहीं रहती है।

स्याद्वादका समर्थन करनेके लिए आचार्य पुनः कहते हैं—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥

सर्वथा एकान्तका त्याग करके कथंचित् विधान करनेका नाम स्याद्वाद है। वह सात भंगों और नयोंकी अपेक्षा रखता है, तथा हेय और उपादेयके भेदको भी बतलाता है।

किंवृत्तचिद्विधिका अर्थ है 'किम्'से चित् प्रत्ययका विधान करनेपर बनने वाला शब्द, अर्थात् कथंचित्। कथंचित् और स्यात् ये दोनों पर्याय-वाची शब्द हैं। स्याद्वाद एकान्तका त्याग करके अनेकान्तका प्रतिपादन करता है। यहाँ अनेकान्त और स्याद्वादमें भेद समझ लेना भी आवश्यक है। यथार्थमें अर्थका नाम अनेकान्त है। एकसे अधिकका नाम अनेक है। और धर्मका नाम अन्त है। जिस पदार्थमें सत्त्व, असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनेक विरोधी धर्म पाये जाते हैं, उसका नाम अनेकान्त है। अनेकान्त और स्याद्वाद ये दोनों पर्यायवाची नहीं है, किन्तु अनेकान्तवाद और स्याद्वाद पर्यायवाची हो सकते हैं। अनेक धर्मोंके प्रतिपादन करनेकी शैलीका नाम स्याद्वाद है। इस प्रकार ऐसा कहनेमें कोई दोष नहीं है कि अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है। उन अनेक धर्मोंमेंसे स्याद्वाद एक समयमें एक धर्मका किसी निश्चित अपेक्षासे कथन करता है। 'स्याद्वाद'में दो शब्द हैं—स्यात् और वाद। स्यात्का अर्थ है, कथंचित्—किसी अपेक्षासे। और वादका अर्थ है कथन। घटमें स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे अस्तित्व धर्म है, और पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे नास्तित्व धर्म है, इत्यादि प्रकार-से कथन करना स्याद्वाद है। स्याद्वादमें सात भंगोंकी अपेक्षा होती है। प्रत्येक धर्मकी अपेक्षासे बनने वाले सात भंगोंका वर्णन पहले किया जा चुका है। इसी प्रकार स्याद्वादमें नयोंकी भी अपेक्षा होती है। जैसे 'स्यात् द्रव्यं नित्यम्, स्यादनित्यम्।' द्रव्य कथंचित् नित्य है और कथं-चित् अनित्य है। यह कथन नयकी अपेक्षासे किया गया है। अर्थात् द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे द्रव्य नित्य है, और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा-

से अनित्य है। अतः नयसापेक्ष कथन भी स्याद्वाद ही है। इस समय कौन धर्म हेय है, और कौन धर्म उपादेय है, अथवा कौन धर्म मुख्य है और कौन धर्म गौण है, इस बातको भी स्याद्वाद बतलाता है। जिस समय जिस धर्मकी विवक्षा होती है उस समय वही धर्म मुख्य या उपादेय होता है। शेष समस्त धर्म गौण या हेय हो जाते हैं। किन्तु दूसरे समयमें गौण धर्म मुख्य हो जाता है और मुख्य धर्म गौण हो जाता है। मुख्यता और गौणता 'धर्मोंमें किसी गुण या दोषसे नहीं होती है, किन्तु विवक्षाभेदसे होती है। विवक्षित धर्म मुख्य होता है और शेष अविवक्षित धर्म गौण हो जाते हैं। इस प्रकार स्याद्वाद मुख्य और गौणकी विवक्षापूर्वक सात भंगों और नयोंकी अपेक्षासे अनेकान्तात्मक अर्थका प्रतिपादन करता है।

उक्त कारिकामें 'नय' शब्द आया है। उसका संक्षेपमें विचार करना आवश्यक है। नयोंका विषय बहुत गंभीर और व्यापक है। प्रमाण समग्र वस्तुको विषय करता है और नय वस्तुके एक देशको विषय करता है। कहा भी है—'सकलादेशः प्रमाणाधीनः विकलादेशो नयाधीनः'। मूल और उत्तरके भेदसे नयोंके अनेक भेद हैं। द्रव्य और पर्यायकी दृष्टिसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो मूल नय हैं। अध्यात्मकी दृष्टिसे निश्चय और व्यवहार ये दो मूल नय हैं। शुद्धि और अशुद्धिकी दृष्टिसे भी नयोंके दो दो भेद किये गये हैं। जैसे शुद्ध द्रव्यार्थिक, अशुद्ध द्रव्यार्थिक, शुद्ध पर्यायार्थिक, अशुद्ध पर्यायार्थिक, शुद्ध निश्चय, अशुद्ध निश्चय, सद्भूत व्यवहार, असद्भूत व्यवहार इत्यादि। द्रव्यार्थिक नयके उत्तर भेद तीन हैं—नैगम, संग्रह और व्यवहार। पर्यायार्थिक नयके उत्तरभेद चार हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, और एवंभूत।

इन सात नयोंमें प्रथम चार अर्थनय और शेष तीन शब्दनय कहे जाते हैं। इन सबके उत्तरोत्तर भेद असंख्य हैं। जितने शब्दभेद हैं तथा उन शब्दोंसे होनेवाले ज्ञानके जितने विकल्प हैं उतने ही नयोंके भेद हैं। इनके स्वरूप आदिका विशेष कथन 'नयचक्र' आदि ग्रन्थोंसे जानना चाहिए।

स्याद्वाद और केवलज्ञानमें भेदको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥

सम्पूर्ण तत्त्वोंके प्रकाशक स्याद्वाद और केवलज्ञान में प्रत्यक्ष और परोक्षका भेद है। जो वस्तु दोनों ज्ञानोंमें से किसी भी ज्ञानका विषय नहीं होती है वह अवस्तु है।

स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों ही सम्पूर्ण अर्थोंको जानते हैं। उनमें अन्तर केवल यही है कि स्याद्वाद परोक्षरूपसे अर्थोंको जानता है, और केवलज्ञान प्रत्यक्षरूपसे उनको जानता है। उक्त कारिकामें स्याद्वादको श्रुतज्ञानका पर्यायवाची बतलाया गया है। जो सम्पूर्ण श्रुतका ज्ञाता हो जाता है वह श्रुतकेवली कहलाता है। श्रुतकेवली श्रुतज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंको जानता है। श्रुतकेवली और केवलीमें ज्ञानकी अपेक्षासे कोई भेद नहीं है। भेद केवल प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे जाननेका है। कारिकामें पहले स्याद्वाद शब्दका प्रयोग किया है और बादमें केवलज्ञान शब्द है। इससे प्रतीत होता है कि दोनोंमेंसे कोई एक ही पूज्य नहीं है। अर्थात् दोनों समान रूपसे पूज्य हैं। इसका कारण यह है कि दोनों परस्परहेतुक हैं। क्योंकि केवलज्ञानसे स्याद्वादकी उत्पत्ति होती है और स्याद्वादरूप आगमसे केवल ज्ञानकी उत्पत्ति होती है।

यहाँ कोई शंका कर सकता है कि स्याद्वाद सर्व तत्त्वोंका प्रकाशक कैसे हो सकता है। क्योंकि श्रुतज्ञान द्रव्योंकी सब पर्यायोंको नहीं जानता है। कहा भी है—'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' मति और श्रुतज्ञान द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंको ही जानते हैं, सबको नहीं। उक्त शंकाका उत्तर यह है कि यहाँ जो स्याद्वादको सर्वतत्त्वप्रकाशक बतलाया गया है, वह द्रव्यकी अपेक्षासे बतलाया गया है, पर्यायकी अपेक्षासे नहीं। जीवादि सात पदार्थोंका नाम तत्त्व है। 'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्' ऐसा सूत्रकारका वचन है। इन सात तत्त्वोंका प्रकाशन केवलज्ञानकी तरह स्याद्वाद भी करता है। जिस प्रकार केवली दूसरोंके लिए जीवादि तत्त्वोंका प्रतिपादन करता है, उसी प्रकार आगम भी करता है। उनमें इतनी विशेषता अवश्य है कि केवली अर्थोंको प्रत्यक्ष जानता है, और स्याद्वाद परोक्षरूपसे जानता है। तथा केवली सब तत्त्वोंकी सब पर्यायोंको जानता है, और स्याद्वाद सब तत्त्वोंकी कुछ पर्यायोंको जानता है। क्योंकि केवलज्ञान ही सब पर्यायोंको जाननेमें समर्थ है, वचन या आगम नहीं। केवली भी वचनोंके द्वारा सब पर्यायोंका प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि सब पर्यायें वचनके अगोचर हैं। इस प्रकार स्याद्वाद और केवल-

ज्ञानमें कथंचित् साम्य भी है और कथंचित् वैषम्य भी। परन्तु दोनों सर्वतत्त्वप्रकाशक हैं, यह सुनिश्चित है।

पहले बतलाया गया है कि तत्त्वज्ञान स्याद्वादनयसे युक्त होता है। यहाँ स्याद्वादनयका अर्थ प्रमाण और नय भी है। स्याद्वादका नाम प्रमाण है, और यह स्याद्वाद सप्तभंगीवचनरूप होता है। तथा नैगम आदिका नाम नय है। अथवा अहेतुवादरूप आगमका नाम स्याद्वाद है, और हेतुवादका नाम नय है। और इन दोनोंसे अलंकृत तत्त्वज्ञान प्रमाण होता है।

अब उसी नय (हेतु) के स्वरूपको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः ।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः ॥१०६॥

साध्यका साधर्म्य दृष्टान्तके साथ साधर्म्य द्वारा और वैधर्म्य दृष्टान्त के साथ वैधर्म्य द्वारा बिना किसी विरोधके जो स्याद्वादके विषयभूत अर्थके विशेष (नित्यत्व आदि) का व्यंजक होता है, वह नय कहलाता है।

इस कारिकामें नय और हेतु दोनोंका लक्षण एक साथ बतलाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कारिकाके प्रथमार्धके द्वारा हेतुका और द्वितीयार्धके द्वारा नयका लक्षण बतलाया गया है। हेतु साध्यका साधक होता है। साध्य शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध होता है[1]। स्याद्वाद (परमागम) का विषयभूत अर्थ भी शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध रूपसे विवादका विषय है। अतः हेतु ऐसे साध्यरूप अर्थका साधर्म्य दृष्टान्तके साधर्म्यसे और वैधर्म्य दृष्टान्तके वैधर्म्यसे व्यंजक (प्रकाशक) होता है।

'सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यात्' इस वाक्यके द्वारा त्रैरूप्यको हेतुका लक्षण बतलाया गया है, और 'अविरोधतः' इस पदके द्वारा अन्यथानुपपत्तिको हेतुका लक्षण कहा है। वास्तवमें अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) ही हेतुका यथार्थ लक्षण है। पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति ये हेतुके तीन रूप हैं। बौद्ध त्रैरूप्यको हेतुका लक्षण मानते हैं[2]।

---

१. शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं साध्यम्। —न्यायविनिश्चय, श्लोक १७२

२. हेतोस्त्रैरूप्यं पक्षेषु निर्णयस्तेन वर्णितः।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः ॥ —प्रमाणवा० ३।१५

तीन रूपोंमें अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व इन दो रूपोंको मिला देनेसे हेतुके पाँच रूप हो जाते हैं। नैयायिक पाञ्चरूप्यको हेतु-का लक्षण मानते हैं। कई हेतुओंमें त्रैरूप्य अथवा पाञ्चरूप्य पाया जाता है। 'पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्त्वात्', 'इस पर्वतमें अग्नि है, धूम होते से।' यहाँ धूम हेतुमें त्रैरूप्यका सद्भाव है। पर्वतमें रहनेके कारण धूम पक्ष (पर्वत) का धर्म है। सपक्ष (भोजनशाला) में भी उसका सत्त्व है। और विपक्ष (सरोवर) से उसकी व्यावृत्ति (अभाव) है। किन्तु त्रैरूप्य हेतुका वास्तविक लक्षण नही हो सकता है। क्योंकि त्रैरूप्यको हेतुका लक्षण माननेमें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष आते हैं। 'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्' एक मुहूर्तके बाद शकट (रोहिणी) नक्षत्रका उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिका नक्षत्रका उदय है। यहाँ शकट पक्ष है, उसका उदय साध्य है और कृत्तिकोदय हेतु है। कृत्तिको-दय हेतु शकट (पक्ष) में नहीं रहता है। फिर भी (पक्षधर्मत्वके अभावमें भी) अपने साध्यकी सिद्धि करता है। यहाँ सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तिका कोई प्रश्न ही नही है। क्योंकि उक्त अनुमानमें न तो कोई सपक्ष है और न विपक्ष है। इससे सिद्ध होता है कि त्रैरूप्यके अभावमें भी हेतु साध्यका गमक होता है। अतः सब हेतुओंमें त्रैरूप्यके न होनेसे हेतुके लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है। इसी प्रकार अतिव्याप्ति दोष भी होता है।

'गर्भस्थः मैत्रतनयः श्यामः तत्पुत्रत्वात् इतरपुत्रवत्' 'गर्भमें स्थित मैत्रका पुत्र श्याम है, मैत्रका पुत्र होनेसे, जैसे कि उसके दूसरे पुत्र।' यहाँ तत्पुत्रत्व हेतुमें त्रैरूप्य रहने पर भी वह सम्यक् हेतु नहीं है, किन्तु हेत्वाभास है। क्योंकि तत्पुत्रत्व हेतुका श्यामत्व साध्यके साथ अविना-भाव सिद्ध नहीं होता है। श्यामत्व और मैत्रपुत्रत्वमे कार्य-कारण आदि कोई सम्बन्ध नहीं है। यतः हेत्वाभासमें भी त्रैरूप्य रहता है, अतः इसमें अतिव्याप्ति दोष है। इस प्रकार त्रैरूप्य हेतुका लक्षण सिद्ध नहीं होता है। और जब त्रैरूप्य हेतुका लक्षण नहीं है, तब पाञ्चरूप्य भी हेतुका लक्षण कैसे हो सकता है।

अतः अविनाभाव या अन्यथानुपपत्ति ही हेतुका वास्तविक लक्षण है। अविनाभावका अर्थ है—साध्यके बिना हेतुका न होना। अन्यथानु-पपत्तिका भी यही अर्थ है। साध्यके बिना हेतुका न होना ही अन्यथा-नुपपत्ति है। त्रैरूप्य या पाञ्चरूप्यके होने पर भी अन्यथानुपपत्तिके

अभावमें हेतु साध्यका साधक नहीं होता है। और त्रैरूप्य या पाञ्च-रूप्यके न होने पर भी केवल अन्यथानुपपत्तिके होनेसे हेतु साध्यकी सिद्धि करता है। कहा भी है—

> अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
> नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥
> अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः।
> नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः॥

हेतुका विचार करके अब नयका विचार करना आवश्यक है। स्याद्वाद समग्र वस्तुको ग्रहण करता है, और नय वस्तुके एक देशको ग्रहण करता है। इसीलिए नयको स्याद्वादसे गृहीत अर्थके विशेष (एक देश या धर्म) का व्यञ्जक कहा गया है। वस्तुमें अनन्त धर्म होते हैं। नय उन अनन्त धर्मोंमेंसे क्रमसे एक-एक धर्मका व्यञ्जक होता है। 'घटः स्यान्नित्यः' यह एक नय वाक्य है। क्योंकि अनन्तधर्मात्मक घटके एक धर्म नित्यत्वको यह व्यक्त करता है। 'घटः स्यादनित्यः' यह भी एक नय वाक्य है। क्योंकि यह अनन्तधर्मात्मक घटके एक धर्म अनित्यत्वको व्यक्त करता है। अतः नय प्रमाणसे गृहीत अर्थके एक देशको जानता है। कहा भी है—

> अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः।
> नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः॥

अनेकधर्मात्मक अर्थका ज्ञान प्रमाण है, और उसके एक अंशका ज्ञान नय है। यद्यपि नय एक धर्मको ग्रहण करता है, किन्तु इसके साथ ही वह दूसरे धर्मोंकी अपेक्षा भी रखता है, तथा उनका निराकरण नही करता है। परन्तु जो दुर्नय होता है, वह दूसरे धर्मोंका निराकरण करके एक धर्मका निरपेक्ष अस्तित्व सिद्ध करता है। घटके नित्यत्वको ग्रहण करने वाला नय यदि अनित्यत्व आदि धर्मोंका निराकरण न करके उनकी अपेक्षा रखता है, तो वह सम्यक् नय है। और यदि वह अनित्यत्व आदि धर्मोंका निराकरण करता है, तो वही दुर्नय या मिथ्या-नय हो जाता है।

मूलमें नयके दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। द्रव्यार्थिक नय द्रव्यको ग्रहण करता है, और पर्यायार्थिक नय पर्यायको ग्रहण करता है। नयोंके उत्तर भेद सात होते हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। इनमेंसे नैगम आदि तीन

नय द्रव्यार्थिकके भेद हैं, और ऋजुसूत्र आदि चार नय पर्यायार्थिकके भेद हैं। नैगम आदि चारको अर्थनय भी कहते हैं, क्योंकि इनमें अर्थकी प्रधानता रहती है। और शब्द आदि तीनको शब्दनय कहते हैं। क्योंकि इनमें शब्दकी प्रधानता रहती है।

नैगम नय द्रव्य और पर्यायमें भेद नहीं करता है। इस दृष्टिसे वह कालमें भी भेद नहीं करता है। अतः यह नय जो पर्याय निष्पन्न नहीं हुई है उसका संकल्प करके उसका कथन करता है। जैसे कोई व्यक्ति पकानेके लिए चावल धो रहा है। किसीने उससे पूँछा कि क्या कर रहे हो। तब वह कहता है कि ओदन (भात) पका रहा हूँ। यहाँ अभी ओदन पर्याय निष्पन्न नहीं हुई है। फिर भी उसका कथन किया गया है। ओदन पर्यायका काल दूसरा है, और चावलका काल दूसरा है। चावल द्रव्य है, ओदन उसकी पर्याय है। यहाँ द्रव्य और पर्यायमें तथा चावलके काल और ओदनके कालमें अभेद मान लिया गया है। फिर भी नैगम नयकी दृष्टिसे उक्त कथन ठीक है।

संग्रह नय सजातीय समस्त पदार्थोंका संग्रह करके उनका ग्रहण करता है। द्रव्यके कहनेसे समस्त द्रव्योंका ग्रहण हो जाता है, घटके कहनेसे समस्त घटोंका ग्रहण हो जाता है। व्यवहार नय संग्रह नयसे गृहीत अर्थोंका यथाविधि भेद पूर्वक व्यवहार करता है। जैसे द्रव्यके दो भेद हैं - जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। जीव द्रव्यके भी दो भेद हैं—मुक्त जीव और संसारी जीव। अजीव द्रव्यके पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। स्वर्णघट, रजतघट, मृत्तिकाघट आदिके भेदसे घटके अनेक भेद हैं। इस प्रकारसे भेद पूर्वक व्यवहार करना व्यवहार नय है।

भूत और भविष्यत् कालकी अपेक्षा न करके केवल वर्तमान समयवर्ती एक पर्यायको ग्रहण करने वाले नयको ऋजुसूत्र नय कहते हैं। पर्याय एक क्षणवर्ती होती है। ऋजुसूत्र नय वर्तमान पर्यायको ही ग्रहण करता है, अतीत और अनागत पर्यायको ग्रहण नहीं करता। यथार्थमें अतीतको विनष्ट हो जानेसे तथा अनागतको अनुत्पन्न होनेसे उनमें पर्याय व्यवहार हो भी नहीं सकता। इसीसे ऋजुसूत्र नयका विषय वर्तमान पर्याय मात्र बतलाया गया है। इस नयमें द्रव्य सर्वथा अविवक्षित रहता है।

शब्द नय शब्दोंमें लिङ्ग, संख्या, कारक, काल आदिके व्यभिचार-

का निषेध करता है। और यदि लिङ्ग, संख्या, कारक, काल आदिका भेद है, तो शब्दनयकी दृष्टिसे अर्थमें भी भेद होता है। लिङ्गव्यभिचार—पुष्यः नक्षत्रं तारका चेति। यहाँ पुल्लिङ्ग पुष्य शब्दके साथ नपुंसक लिङ्ग नक्षत्र और स्त्रीलिंग तारा शब्दका प्रयोग करना लिङ्गव्यभिचार है। संख्याव्यभिचार—आपः तोयम्, आम्रा वनम्। यहाँ बहुवचनान्त आपः और आम्र शब्दके साथ एकवचनान्त तोय और वन शब्दका प्रयोग करना संख्याव्यभिचार है। कारकव्यभिचार—सेना पर्वतमधिवसति। यहाँ 'पर्वते' ऐसा अधिकरण कारक होना चाहिए था, किन्तु 'पर्वतम्' ऐसे कर्मकारकका प्रयोग किया गया है। कालव्यभिचार—'विश्वदृश्वा अस्य पुत्रो जनिता', इसके ऐसा पुत्र होगा जिसने विश्वको देख लिया है। यहाँ भविष्यत् कालके कार्यको अतीत कालमें बतलाया गया है। यह कालव्यभिचार है। उक्त प्रकारके सभी व्यभिचार शब्दनय की दृष्टिसे ठीक नहीं हैं। इस नयकी दृष्टिसे उचित लिङ्ग, संख्या आदिका ही प्रयोग करना चाहिए। यद्यपि व्याकरणशास्त्रकी दृष्टिसे उक्त प्रकारके प्रयोग होते हैं, फिर भी नयके प्रकरणमें शब्दनयकी दृष्टिसे वस्तु तत्त्वका विचार किया गया है।

समभिरूढ नयके अनुसार अनेक शब्दोंका एक अर्थ नहीं हो सकता है, और एक शब्दके अनेक अर्थ भी नहीं हो सकते हैं। जैसे इन्द्राणीके पतिके ही इन्द्र, शक्र और पुरन्दर ये तीन नाम हैं। किन्तु समभिरूढ नयकी दृष्टिसे इन तीनों शब्दोंका अर्थ भिन्न-भिन्न है। एक ही व्यक्ति परमैश्वर्यसे युक्त होनेके कारण इन्द्र, शकन (शासन) पर्यायसे युक्त होनेके कारण शक्र और पुरदारण पर्यायसे युक्त होनेके कारण पुरन्दर कहा जाता है। इसी प्रकार गो शब्दका प्रयोग गाय, वाणी, किरण आदि अनेक अर्थोंमें किया जाता है। किन्तु गो शब्दको गायमें रूढ होनेके कारण समभिरूढ नय गो शब्दसे गायका ही प्रतिपादन करता है। तात्पर्य यह है कि इस नयकी दृष्टिसे एक शब्दके अनेक अर्थ नहीं हो सकते हैं। अतः गाय, वाणी, किरण आदिके वाचक गो शब्द भी भिन्न भिन्न हैं।

एवंभूत नयके अनुसार जो पदार्थ जिस समय जिस रूपसे परिणमन कर रहा हो उसको केवल उसी समय उस रूपसे कहना चाहिए। जैसे जब कोई पढ़ा रहा हो तभी उसे अध्यापक कहना चाहिए। और जब कोई पूजा कर रहा हो तभी उसे पुजारी कहना चाहिए। 'इन्दतीति

गौ:' इस व्युत्पत्तिके अनुसार गायको भी गो शब्दसे तभी कहेंगे जब वह गमन कर रही हो, सोने या बैठनेके समय उसको गौ नहीं कहेंगे।

इन सात नयोंमेंसे पूर्व-पूर्व नयोंका विषय महान् है, और उत्तरोत्तर नयोंका विषय अल्प है। अर्थात् नैगम नयके विषयसे संग्रह नयका विषय अल्प है, और संग्रह नयके विषयसे व्यवहार नयका विषय अल्प है। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए। एवंभूत नयके विषयसे समभिरूढ नयका विषय महान् है। और समभिरूढ नयके विषयसे शब्द-नयका विषय महान् है। इसी प्रकार पूर्व पूर्व नयोंमें भी समझ लेना चाहिए। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अनेकान्तात्मक वस्तुका ज्ञान प्रमाण है, और उसके एक धर्मका ज्ञान नय है।

द्रव्यके स्वरूपको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः।
अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥१०७॥

तीनों कालोंको विषय करने वाले नयों और उपनयोंके विषयभूत अनेक धर्मोंके तादात्म्य सम्बन्धको प्राप्त समुदायका नाम द्रव्य है। द्रव्य एक भी है, और अनेक भी।

नैगम आदि सात नय हैं, और इनके भेद, प्रभेदोंका नाम उपनय है। एक नय एक समयमें एक धर्मको विषय करता है। वस्तुमें अनन्त धर्म होते हैं। अतः अनन्त धर्मोंकी अपेक्षासे नय भी अनन्त हो सकते हैं। नय वर्तमान कालवर्ती धर्मका ही ग्रहण नहीं करते हैं, किन्तु तीनों काल-वर्ती धर्मोंका नयों द्वारा ग्रहण होता है। इसीलिए भूतप्रज्ञापन आदि भी नयके भेद बतलाये गये हैं। अतः नय और उपनयों द्वारा त्रिकाल-वर्ती अनन्त धर्मोंका क्रमशः ग्रहण होता है। उन अनन्त धर्मों (पर्याय-विशेषों)के अविभक्त (तादात्म्यसम्बन्धयुक्त) समुदायका नाम द्रव्य है। 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' 'जिसमें गुण और पर्यायें पायी जाँय वह द्रव्य है' तत्त्वार्थसूत्रकारका यह जो द्रव्यका लक्षण है, उसका इस लक्षणसे कोई विरोध नहीं है। किन्तु दोनों लक्षण एक हैं। गुण, और पर्याय वस्तुके धर्म हैं। प्रत्येक वस्तुमें अनन्त गुण और पर्याय पाये जाते हैं। गुण और पर्यायको छोड़कर द्रव्य कुछ भी शेष नहीं रहता है। अतः अनन्त धर्मोंके समुदायका नाम द्रव्य है, अथवा गुण और पर्यायोंके समुदायका नाम द्रव्य

है, ऐसा कहनेमे कोई अर्थभेद नही है, केवल शब्दभेद ही है। द्रव्य एक भी है और अनेक भी है। सामान्यकी अपेक्षासे द्रव्य एक है, और विशेष-की अपेक्षासे अनेक है। अथवा अनन्त धर्मोंमे तादात्म्य सम्बन्धकी अपेक्षासे द्रव्य एक है। और अनन्त धर्मोका स्वरूप आदिकी अपेक्षास पृथक्-पृथक् अस्तित्व होनेके कारण द्रव्य अनेक है। अत त्रिकालवर्ती नय और उपनयोंके विषयभूत पर्याय विशेषोके समूहका नाम द्रव्य है। यह द्रव्यका सक्षेपमे लक्षण है।

कोई कहता है कि यदि पृथक्-पृथक् धर्म मिथ्या है, तो अनन्त मिथ्या धर्मोंका ममुदाय भी मिथ्या ही होगा। अत उन धर्मोका ममुदाय-रूप द्रव्य भी मिथ्या है। इमके उत्तरम आचार्य कहते है—

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥१०८॥

कोई एकान्तवादी कहता है कि नित्यत्व आदि मिथ्या धर्मोका ममु-दायरूप द्रव्य भी मिथ्या है। किन्तु स्याद्वादियोके यहाँ मिथ्यैकान्तता नही है। क्योकि निरपेक्ष नय मिथ्या होते है। हे भगवन्! आपके मतमे नय परस्पर सापेक्ष है, और इसीलिए वे अर्थक्रियाकारी वस्तु है।

यदि नित्यत्व आदि धर्म दूसरे धर्मोका निराकरण करते है, तो वे मिथ्या हैं, और ऐसे मिथ्या धर्मोंका ममुदाय भी मिथ्या ही होगा। मिथ्या धर्मको ग्रहण करनेवाला नय भी मिथ्या है, और उन नयोंका समुदाय भी मिथ्या है। किन्तु स्याद्वादियोंके यहाँ एक धर्म दूसरे धर्मोंका निराकरण नही करता है, किन्तु प्रयोजन होनेसे उनकी उपेक्षा कर देता है, अत इतरधर्म सापेक्ष प्रत्येक धर्म सम्यक् है, और ऐसे धर्मोंका समुदाय भी सम्यक् है। इतरधर्म सापेक्ष एक धर्मको ग्रहण करनेवाला नय भी सम्यक् है, और उन नयोंका समूह भी सम्यक् है। निरपेक्ष नय मिथ्या (अवस्तु) होते है, और सापेक्ष नय वस्तु होते है। निरपेक्षका अर्थ है—दूसरे धर्मोका निराकरण करना, और सापेक्षका अर्थ है—उनकी उपेक्षा कर देना[1]। प्रमाण एक धर्मके साथ अन्य धर्मोंका भी ग्रहण करता है। नय इतर धर्मोकी उपेक्षा कर देता है। यदि नय इतर धर्मोंको

१. निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः, सापेक्षत्वमुपेक्षा, अन्यथा प्रमाणनया-विशेषप्रसङ्गात्। धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्णयानाम्।
—अष्टशती-अष्टसहस्री पृ० २९०

उपेक्षा न करके उनको भी ग्रहण करे, तो प्रमाण और नयमें कोई भेद नहीं रहेगा। प्रमाण विवक्षित और अविवक्षित सब धर्मोंको ग्रहण करता है। अथवा प्रमाणके लिए सब धर्म विवक्षित ही हैं। किन्तु नय विवक्षित एक धर्मको ही ग्रहण करता है, और शेष धर्मोंकी उपेक्षा कर देता है, तथा उनका निराकरण नहीं करता है। परन्तु जो दुर्नय है वह अन्य धर्मोंका निराकरण करके केवल एक धर्मका ही अस्तित्व सिद्ध करता है। निरपेक्ष नयोंके द्वारा कुछ भी अर्थक्रिया संभव नहीं है। उनके द्वारा किसी भी पदार्थका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। किन्तु स्याद्वाद सम्मत नय ऐसे नहीं हैं। वे परस्पर सापेक्ष होते हैं। यही कारण है कि वे सम्यक् नय हैं। और उनके द्वारा पदार्थोंमें अधिगमरूप अर्थक्रिया भी होती है। अर्थात् उनके द्वारा पदार्थका यथार्थ ज्ञान होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अनन्त सत्य धर्मोंका समुदाय रूप द्रव्य भी सत्य ही है, मिथ्या नहीं।

अनेकान्तात्मक अर्थका वाक्यके द्वारा नियमन कैसे होता है, इस बातको बतलानेके लिए आचार्य कहते है—

नियम्यतेऽर्थो वाक्येन विधिना वारणेन वा।
तथाऽन्यथा च सोऽवश्यमविशेष्यत्वमन्यथा ॥१०९॥

अनेकान्तात्मक अर्थका विधिवाक्य और निषेधवाक्यके द्वारा नियमन होता है। क्योंकि अनेकान्तात्मक होनेसे अर्थ विधिरूप भी है, और निषेधरूप भी है। किन्तु इससे विपरीत एकान्तरूप अर्थ अवस्तु है।

यहाँ यह बतलाया गया है कि अनेकान्तात्मक अर्थका वाक्यके द्वारा नियमन कैसे होता है। प्रधानरूपसे वाक्य दो प्रकारके होते हैं—विधिवाक्य और निषेधवाक्य। 'घटोऽस्ति' यह विधिवाक्य है, और 'घटो-नास्ति' यह निषेधवाक्य है। अर्थ भी विधिरूप और निषेधरूप अर्थात् अनेकान्तात्मक है। और अनेकान्तात्मक अर्थ ही अर्थक्रियाको करनेमें समर्थ है। एकान्तरूप अर्थ, चाहे वह सत् रूप हो, या असत्रूप हो, या और कोई रूप हो, अर्थक्रियाको करनेमें सर्वथा असमर्थ है। न तो तत्त्व सर्वथा सत्रूप है, और न असत्रूप है। इसीलिए न सत्त्वैकान्त ही है, और न असत्त्वैकान्त ही। तात्पर्य यह है कि अनेकान्तात्मक अर्थके विधिरूप और निषेधरूप होनेसे विधिवाक्य और निषेधवाक्यके द्वारा उसका नियमन होता है। जिस समय विधिवाक्य अर्थका प्रतिपादन करता है, उस समय विधि अंश प्रधान रहता है, और निषेधांश

गौण हो जाता है। और जिस समय निषेधवाक्य अर्थका प्रतिपादन करता है, उस समय निषेधांश प्रधान रहता है, और विधि अंश गौण हो जाता है। यदि अर्थ उभयरूप (विधि और निषेध रूप) न हो, तो वह वस्तु ही नहीं हो सकता है। विधिरहित निषेध और निषेधरहित विधि आकाश पुष्पके समान अवस्तु हैं। विधि रहित निषेध अर्थका विशेषण नहीं हो सकता है। और निषेधरहित विधि भी अर्थका विशेषण नहीं हो सकती है। और विशेषणके अभावमें अर्थ विशेष्य भी नहीं हो सकता है। ऐसी स्थितिमें अर्थका अविशेष्य (अवस्तु) होना स्वाभाविक ही है। अतः अर्थको विधिरूप और निषेधरूप मानना आवश्यक है। अर्थको उभयरूप होनेके कारण ही विधिवाक्य और निषेधवाक्यके द्वारा उसका नियमन होता है।

वाक्य विधिके द्वारा ही अर्थका नियमन करता है, इस प्रकारके एकान्तका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते है--

तदतद्वस्तु वागेषा तदेवेत्यनुशासती ।
न सत्या स्यान्मृषावाक्यैः कथं तत्त्वार्थदेशना ॥११०॥

वस्तु तत् और अतत् (सत् और असत् आदि) रूप है। 'अर्थ तत्रूप (सत्रूप) ही है' ऐसा कहने वाला वचन सत्य नहीं है। और असत्य वचनोंके द्वारा तत्त्वार्थका प्रतिपादन कैसे हो सकता है।

वस्तुमें परस्पर विरोधी अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्म पाये जाते है फिर भी वस्तुमें उनके रहनेमें कोई विरोध नहीं है। क्योंकि विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म वस्तुमें अविरोधरूपसे रहते है, इस बातकी सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे होती है। कहा भी है—

विरुद्धमपि संसिद्धं तदतद्रूपवेदनम् ।
यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥

विरोधी धर्मोंका अविरुद्ध सद्भाव प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध है। अर्थमें विरोधी धर्मोंका होना अर्थको स्वयं रुचिकर भी है। हम उनके (विरोधी धर्मोंके) निषेध करने वाले कौन होते हैं।

यदि कोई व्यक्ति चिल्ला चिल्ला कर भी कहे कि अर्थ एकान्तरूप है, तो भी अर्थकी प्रतीति अनेकान्तरूपसे ही होगी, एकान्तरूपसे नहीं। 'अर्थ विधिरूप ही है' ऐसा कहनेवाला वचन सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि अर्थ विधिरूप ही नहीं है, किन्तु निषेधरूप भी है। सर्वथा विधिका प्रति-

पादन करने वाले मिथ्या वचनोंके द्वारा अर्थका प्रतिपादन कभी नहीं हो सकता है। अतः विधिवाक्य द्वारा ही वस्तुका नियमन नही होता है, किन्तु प्रतिषेध वाक्य द्वारा भी उसका नियमन होता है।

वाक्य प्रतिषेध द्वारा ही अर्थका नियमन करता है, इस प्रकारके एकान्तका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते है—

वाक्स्वभावोऽन्यवागर्थप्रतिषेधनिरंकुशः ।
आह च स्वार्थसामान्यं तादृग्वाच्यं खपुष्पवत् ॥१११॥

वाक्यका यह स्वभाव है कि वह अपने अर्थ सामान्यका प्रतिपादन करता हुआ अन्य वाक्योके अर्थके प्रतिषेध करनेमें निरकुश (स्वतंत्र) होता है। और सर्वथा निषेधरूप वचन आकाशपुष्प के समान अवस्तु है।

वचनोंके द्वारा स्वार्थका प्रतिपादन होता है, और परार्थका निषेध भी होता है। घट शब्द जहाँ पट आदि अर्थोंका निराकरण करता है, वहाँ घटरूप अर्थका प्रतिपादन भी करता है। क्योंकि वचनोंका ऐसा स्वभाव है कि वे स्वार्थका प्रतिपादन करते हुए ही परार्थका निषेध करते है। ऐसा नही है कि वे परार्थका निषेध ही करते रहे और किंचित् भी स्वार्थका प्रतिपादन न करे। अर्थ भी स्वय विधिरूप ही या निषेधरूप ही नही है, किन्तु दोनो रूप है। यह सत्य है कि वचन परार्थ विशेषका निराकरण करते है, किन्तु इसके साथ ही स्वार्थ सामान्यका प्रतिपादन भी करते है। अर्थ न केवल विशेषरूप है और न सामान्यरूप ही। सामान्यरहित विशेष और विशेषरहित सामान्य तो खपुष्पके समान असत् है। अतः प्रतिषेधवाक्य द्वारा ही अर्थका नियमन नही होता है, किन्तु विधिवाक्य द्वारा भी उसका नियमन होता है। यहाँ बौद्धोंके अन्यापोहवादका निराकरण किया गया है। बौद्धोंकी मान्यता है कि प्रत्येक वाक्य अन्यापोहरूप प्रतिषेधका ही प्रतिपादन करता है, विधिका नही।

अन्यापोहवादियोंका निराकरण करनेके लिए आचार्य पुनः कहते है—

सामान्यवाग् विशेषे चेन्न शब्दार्थो मृषा हि सा ।
अभिप्रेतविशेषाप्तेः स्यात्कारः सत्यलांछनः ॥११२॥

'अस्ति' आदि सामान्य वाक्य अन्यापोहरूप विशेषका प्रतिपादन करते हैं, ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि अन्यापोह शब्दका अर्थ

(वाच्य) नहीं है। अतः अन्यापोहका प्रतिपादन करने वाले वचन मिथ्या हैं। और अभिप्रेत अर्थ विशेषकी प्राप्तिका सच्चा साधन स्यात्कार (स्याद्वाद) है।

यह पहले बतलाया जाचुका है कि अन्यापोह शब्दका अर्थ नहीं है। यथार्थ बात यह है कि शब्द स्वार्थसामान्यका प्रतिपादन करते हुए अन्य अर्थोंका अपोह (निषेध) भी करते हैं। केवल अन्यापोह (अन्यका निषेध) को शब्दार्थ मानना ठीक नहीं है। क्योंकि अन्यापोह शब्दका अर्थ सिद्ध नहीं होता है। शब्दका अर्थ वही हो सकता है जिसमें शब्दकी प्रवृत्ति हो। अन्यापोहमें किसी भी शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः अन्यापोहका प्रतिपादन करने वाला वाक्य मिथ्या है। वास्तवमें वही वाक्य सत्य है, जिसके द्वारा अभिप्रेत अर्थ विशेषकी प्राप्ति होती है, और ऐसा वाक्य 'स्यात्' शब्दसे युक्त होता है। और उसीसे अभिप्रेत अर्थका ज्ञान तथा प्राप्ति होती है। स्यात्कारसे रहित अन्य वाक्योंसे अभिप्रेत अर्थ विशेषकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। यही स्याद्वाद और अन्य वादोंमें अन्तर है। जब सामान्यविशेषात्मक वस्तुका मुख्यरूपसे सामान्यकी अपेक्षासे कथन किया जाता है तब उसका विशेषरूप गौण होकर वक्ताके अभिप्रायमें स्थित रहता है। और इस अभिप्रेत अर्थ विशेषको स्यात् शब्द सूचित करता है। अतः स्याद्वाद ही सर्वथा सत्य और अभिप्रेत अर्थका साधक है। तथा अन्य समस्त वाद मिथ्या हैं।

उक्त अर्थका समर्थन करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

विधेयमीप्सितार्थाङ्गं प्रतिषेध्याविरोधि यत्।
तथैवादेयहेयत्वमिति स्याद्वादसंस्थितिः ॥११३॥

प्रतिषेध्यका अविरोधी जो विधेय है वह अभीष्ट अर्थकी सिद्धिका कारण है। विधेयको प्रतिषेध्यका अविरोधी होनेके कारण ही वस्तु आदेय और हेय है। इस प्रकारसे स्याद्वादकी सम्यक् स्थिति (सिद्धि) होती है।

पदार्थ विधेय भी है और प्रतिषेध्य भी है। भय आदिके विना मनमें अभिप्राय पूर्वक जिसका विधान किया जाता है वह विधेय कहलाता है। 'घटोऽस्ति' 'घट है,' यहाँ घटका अस्तित्व विधेय है। और घटका नास्तित्व प्रतिषेध्य है। प्रत्येक वस्तुमें अस्तित्वादि विधेय नास्तित्वादि प्रतिषेध्य के साथ विना किसी विरोधके रहता है। विधि और प्रतिषेधमें परस्पर-

में अविनाभाव है। विधिके विना प्रतिषेधका और प्रतिषेधके विना विधिका अस्तित्व नहीं बनता है। प्रतिषेध्यके साथ विधेयका कोई विरोध नहीं है। वस्तु अस्तित्वादि धर्मकी अपेक्षासे विधेय होती है। और नास्तित्वादि धर्मकी अपेक्षासे प्रतिषेध्य होती है। वस्तु न सर्वथा विधेय है और न सर्वथा प्रतिषेध्य। विधेयको प्रतिषेध्यका विरोधी न होनेके कारण ही वस्तुमें हेयत्व और आदेयत्वकी व्यवस्थाकी जाती है। विधेयका एकान्त मानने पर वस्तुमें हेयत्वका विरोध होता है। और प्रतिषेध्यका एकान्त मानने पर आदेयत्वका विरोध होता है। जो सर्वथा विधेय है वह प्रतिषेध्य नहीं हो सकता है, और जो सर्वथा प्रतिषेध्य है वह विधेय नहीं हो सकता है। अतः कथंचित् विधेय और प्रतिषेध्य वस्तुमें ही आदेयत्व और हेयत्व बन सकता है।

विधेय और प्रतिषेध्यमें भी सप्तभंगीके आश्रयसे स्याद्वादकी व्यवस्था की जाती है। अस्तित्वादि धर्म कथंचित् विधेय है और कथंचित् अविधेय है। वह स्वकी अपेक्षासे विधेय है और प्रतिषेध्यकी अपेक्षासे अविधेय है। इसी प्रकार नास्तित्व आदि धर्म कथंचित् प्रतिषेध्य है और कथंचित् अप्रतिषेध्य है। वह विधेयकी अपेक्षासे प्रतिषेध्य है, और प्रतिषेध्यकी अपेक्षासे अप्रतिषेध्य है। इसी प्रकार जीवादि पदार्थ भी कथंचित् विधेय और कथंचित् प्रतिषेध्य होते हैं। अतः सर्वत्र युक्ति और शास्त्रसे विरोध न होनेके कारण स्याद्वादकी निर्विरोध और समीचीन सिद्धि होती है।

आप्तमीमांसाकी रचनाके कारणको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

तीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम् ।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥११४॥

अपने हितको चाह वालोंको सम्यक् और मिथ्या उपदेशमें भेदविज्ञान करानेके लिए यह आप्तमीमांसा बनायी गयी है।

आप्तमीमांसाके बनानेका कारण हितेच्छु पुरुषोंको सम्यक् और मिथ्या उपदेशमें भेदविज्ञान कराना है। मन्द बुद्धि आदिके कारण प्राणी यह नहीं समझ पाते हैं कि किसका उपदेश सम्यक् है, और किसका उपदेश मिथ्या है। आप्तमीमांसामें आप्तके स्वरूपका विचार किया गया है। जिसके वचन सत्य हों अर्थात् युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्ध हों वही आप्त है। ऐसी आप्तता अर्हन्तमें ही सिद्ध होती है, अन्यमें नहीं। अब

अर्हन्त ही आप्त हैं तो उनके द्वारा दिया गया उपदेश सम्यक् है, और अन्यके द्वारा दिया गया उपदेश मिथ्या है। यह उपदेश सम्यक् है और यह उपदेश मिथ्या है, ऐसा ज्ञान हो जाने पर प्राणी सम्यक् उपदेशके अनुसार ही आचरण करेंगे। जो भव्य हैं और अपने हितके इच्छुक हैं, उन्हीके लिए यह आप्तमीमासा बनायी गयी है। अपने हितके अनिच्छुक अभव्योके लिए इस ग्रन्थका कोई उपयोग नही है। क्योकि तत्त्व और अतत्त्वकी परीक्षाके करनेमे भव्योका ही अधिकार है। प्राणियोका हित मुख्यरूपसे मोक्ष ही है। मोक्षका कारण होनेसे रत्नत्रय भी हित है। जो बडे बडे आचार्य हुए है उनके हृदयमे सदा यही भावना विद्यमान रही है कि संसारके प्राणियोका कल्याण कैसे हो। उनके उद्धारका एक-मात्र उपाय सम्यक् और मिथ्या उपदेशकी पहिचान है। 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है', यह सम्यक् उपदेश है। क्योकि इनमेसे किसी एकके अभावमे मोक्ष नही हो सकता है। 'ज्ञानसे मोक्ष होता है' यह मिथ्या उपदेश है। क्योकि इसमे प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे बाधा आती है। सम्यक् और मिथ्या उपदेशमे अर्थविशेषकी प्रतिपत्तिके होनेका तात्पर्य यह है कि उनमे सत्य और असत्यका ज्ञान करके हेयका हेयरूपसे और उपादेयका उपादेयरूपसे श्रद्धान, ज्ञान और आचरण करना। यह सम्यक् उपदेश है, इससे हमारा हित होगा, यह मिथ्या उपदेश है, इससे हमारा अहित होगा, ऐसा ज्ञान होने पर प्राणी सम्यक् उपदेशके अनुसार आचरण करके अपना हित कर सकते है। इसी भावनासे प्रेरित होकर आचार्य समन्तभद्रने 'आप्तमीमासा' (सर्वज्ञविशेषपरीक्षा) नामक ग्रन्थकी रचना की है। इसके द्वारा भगवान् अर्हन्तमे ही आप्तत्वकी सिद्धिकी गयी है। इसको पढनेसे आप्तका ज्ञान होगा और उसके द्वारा बतलाये गये मार्ग पर चलकर प्राणी अपना हित कर सकेंगे।

परिशिष्ट-१

आप्तमीमांसा-कारिका अनुक्रमणिका

परिशिष्ट २

तत्त्वदीपिकागत उद्धरणवाक्य-अनुक्रमणिका

परिशिष्ट ३

आप्तमीमांसागत प्रमुखशब्द-अनुक्रमणिका

तत्त्वदीपिकागत विशिष्टशब्द-अनुक्रमणिका

परिशिष्ट ५

ग्रन्थ-संकेत-सारणी

अभि० को० अभिध० को०	अभिधर्मकोश
अष्टश०	अष्टशती
अष्टसह०	अष्टसहस्री
तत्त्वार्थश्लोकवा०	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
न्या० बि०	न्यायबिन्दु
न्या० भा०	न्यायभाष्य
न्या० सू०	न्यायसूत्र
प्रमाणमी०	प्रमाणमीमांसा
प्रमाणवा०	प्रमाणवार्तिक
प्र० पा० भा०	प्रशस्तपादभाष्य
बृहदा० भा० वा०	बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक
बोधिचर्या०	बोधिचर्यावतार
महाभा०	महाभारत
मी० श्लो० मीमांसाश्लोकवा०	मीमांसाश्लोकवार्तिक
यो० भा०	योगभाष्य
यो० सू०	योगसूत्र
रत्नक० श्रावका०	रत्नकरण्डश्रावकाचार
वाक्यप०	वाक्यपदीय
वात्स्यायनन्या० भा०	वात्स्यायनन्यायभाष्य
वैशे० सू०	वैशेषिकसूत्र
शा० भा०	शाबरभाष्य
सांख्यका०	सांख्यकारिका
सां० सू०	सांख्यसूत्र
सम्बन्धप०	सम्बन्धपरीक्षा
स० द० सं०	सर्वदर्शनसंग्रह
स० सि० सं०	सर्वसिद्धांतसंग्रह

विद्वानोंकी दृष्टिमें

"काशी हिन्दू विश्वविद्यालये प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञानसंकायस्य दर्शनविभागे प्राध्यापक श्रीमदुदयचन्द्रो जैन महता परिश्रमेण दुर्बोधमपि विषयं निजया प्राञ्जलया सरलया च शैल्या पाठकानां सुबोधं कुर्वन् राष्ट्रभाषायां तत्त्वदीपिकानाम्ना व्याख्याग्रन्थं रचितवान् इति महत् सन्तोषस्य विषयः। नूनमनेन कार्येण अस्य विदुषः न केवलं जैनदर्शनस्य प्रत्युत इतरभारतीयदर्शनानामपि मर्मज्ञता प्रस्फुटी भवति।"

—पं० केदारनाथ त्रिपाठी

"Shri Uday Chandraji has earned the gratitude of all interested in Indian Philosophy and specially those interested in Jainism by writing this Valuable book. He is scholor not only of Jainism but also of Buddhism and other Indian systems and his scholarship is reflected in this work. I am happy to say that he has done his job excellently well and deserves our Congratulations."

Dr. [illegible] K. Tripathi

"आप्तमीमांसा, अष्टशती और अष्टसहस्री-का सम्यक् आलोडन कर श्री उदयचन्द्र जैनने संक्षेपमें हिन्दी माध्यममें आचार्य समन्तभद्र, अकलङ्क और विद्यानन्दके दर्शनवैभवका जो प्रस्तुतीकरण किया है, वह उनके दर्शनसम्बन्धी गंभीर ज्ञानका महत्त्वपूर्ण निदर्शन है। दार्शनिक जटिलताको संक्षेप और सुबोध बनाकर वास्तवमें उन्होंने इस विषयमें प्रवेशके लिए राजमार्ग खोल दिया है"।

—पं० जगन्नाथ उपाध्याय